ओ३म्

वेदों का यथार्थ स्वरूप

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

ओ३म्

वेदों का यथार्थ स्वरूप

लेखक
श्री पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
प्राप्ति स्थान :-
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक
समर्पण शोध संस्थान

समर्पणानन्द-जन्म शताब्दी संस्करण :–

सम्पादक :-
दीक्षानन्द सरस्वती

प्रकाशक :-
समर्पण शोध संस्थान
४/४२ सै० ५ राजेन्द्र नगर साहिबाबाद
ग़ाज़ियाबाद (उ० प्र०) २०१००५

© प्रकाशकाधीन

वर्ष :-
सम्वत् २०५२ विक्रम

मूल्य :- १२५ रुपये

प्राप्ति स्थान :-

१— समर्पणशोध संस्थान,
४/४२ सै० ५, राजेन्द्र नगर,
साहिबाबाद (ग़ाज़ियाबाद)
पिन - २०१००५ (उत्तर प्रदेश)

२— गोविन्द राम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली
पिन - ११०००६

मुद्रक :-
राधा प्रैस,
कैलाश नगर, दिल्ली

टाइपसैटिंग :-
दि बिज़नेस शॉपी,
१५/१९, डी.डी.ए. शॉपिंग कॉम्प्लेक्स,
नांगल राया, नई दिल्ली - ११००४६
फोन : ५५३०४५३

* ओ३म् *

मेरे प्रेरणा स्रोत

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्वामिनी पंजाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा की वैदिक अनुसन्धान समिति का एक अधिवेशन ३१ दिसम्बर, १९५२ को वैदिक अनुसन्धान-कार्यालय गुरुकुल कांगड़ी में हुआ जिसमें मेरे अतिरिक्त निम्न सदस्य महानुभाव उपस्थित थे—

१. श्री दीवान बद्रीदास जी सभा-प्रधान।

२. श्री पं॰ विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार।

३. श्री आचार्य प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति।

इन के अतिरिक्त श्री प॰ बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार, श्री पं॰ रामनाथ जी वेदालङ्कार, वेदोपाध्याय और श्री पं॰ भगवद्दत्त जी विद्यालङ्कार, अनुसन्धान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी को विशेष रूप से निमन्त्रित कर लिया गया था।

श्री दीवान बद्रीदास जी ने विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली इतिहास की विभिन्न पुस्तकों में से वेद विषयक स्थलों को पढ़कर सुनाया और इस बात पर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया कि इस प्रकार के पाश्चात्य और भारतीय लेखक वेदों पर जो कुछ लिखते हैं उससे वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के हमारे मन्तव्य पर गहरा प्रहार होता है, उसका उत्तर लिखे जाने की प्रबल आवश्यकता है। सब सदस्यों ने श्री दीवान जी के विचारों से सहमति प्रकट की। विचार विमर्श के पश्चात् इस सम्बन्ध में सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि—

पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा वेदों पर किये जाने वाले आक्षेपों और आलोचनाओं का समाधान करने वाला साहित्य तैयार कराने और प्रकाशित कराने का कार्य गुरुकुल के वैदिक अनुसन्धान विभाग की ओर से अविलम्ब प्रारम्भ होना आवश्यक है और इस प्रसंग में बम्बई के भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित The Vedic Age पुस्तक में वेदों पर किये गये आक्षेपों का उत्तर सबसे पहले तैयार कराया जाना चाहिये। इस पुस्तकगत आक्षेपों का उत्तर लिखवाने के लिये श्री पं॰ विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार, श्री पं॰ धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति और श्री पं॰ बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार से प्रार्थना की जाए।

यदि मेरे मान्य उपाध्याय विद्यामार्तण्ड श्री पं॰ विश्वनाथ जी विद्यालंङ्कार, अथवा श्री पं॰ बुद्धदेव जी विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड इस कार्य को अपने हाथ में लेते तो मुझे बहुत ही प्रसन्नता होती और उस अवस्था में मुझे इस पुस्तक को स्वयं लिखने की आवश्यकता न होती किन्तु पुस्तकालयादि की अनुकूलता तथा अन्य सुविधाएं न होने के कारण वे दोनों मान्य सुयोग्य विद्वान् इस कार्य को अपने हाथ में लेने को उद्यत न हुए, अतः उनकी आज्ञा तथा समिति के निश्चयानुसार मैंने ही इस कार्य की तैयारी प्रारम्भ कर दी। मई १९५३ से अगस्त १९५४ तक का मेरा लगभग सारा समय वैदिक एज् तथा तत्सदृश अन्य साहित्य को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़कर उसके उत्तर तैयार करने में लगा। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इस कार्य में मुझे अनेक मान्य विद्वानों के निर्देश प्राप्त होते रहे जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम विद्यामार्तण्ड श्री पं॰ विश्वनाथ जी का है, जिन्होंने न केवल समय-समय पर लिखित और मौखिक रूप में अनेक अत्यन्त उपयोगी निर्देश दिये अपितु पुस्तक तैयार हो जाने पर कई दिन लगा कर उसे आद्योपान्त सुनने का भी कष्ट किया। जिसके लिये मैं उनका चिरऋणी हूँ और उनके प्रति कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद अर्पित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। पुस्तक का नामकरण गुरुकुल के मान्य आचार्य श्री पं॰ प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति का किया हुआ है। गुरुकुल के शिक्षाध्यक्ष श्री पं॰ सुखदेव जी, दर्शनवाचस्पति ने भी समय-समय पर अनेक मन्त्रों के सम्बन्ध में अपने विद्वत्तापूर्ण विचार प्रकट किये। इसी प्रकार श्री पं॰ सुखदेव जी विद्यामार्तण्ड तथा अन्य जिन विद्वानों की पुस्तकों से मुझे कुछ भी सहायता मिली मैं उन सबको धन्यवाद देता हूँ। पंजाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के पूज्य प्रधान श्रद्धेय स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती के प्रति मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन में विशेष रुचि दिखाई और उसके लिये सभा से उचित व्यवस्था कराने की कृपा की।

विद्वान् पाठकों के मन में एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ''वैदिक एज्' की विस्तृत आलोचना को ही क्यों वैदिक अनुसन्धान उपसमिति ने इतना आवश्यक समझा जबकि इस प्रकर की पचासों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इसके उत्तर में निवेदन है कि 'वैदिक

एज्' की भूमिका में भारतीय विद्याभवन, बम्बई के अध्यक्ष, श्री कन्हैयालाल जी मुन्शी ने लिखा था कि —

In the course of my studies I had long felt the inadequacy of our so-called Indian histories. I was planning an elaborate history of India in order that not only that India's past might be described by her sons, but also that the world might catch a glimpse of her soul as Indians see it. The Bharatiya Vidya Bhawan which I founded in 1938, took over the scheme.

— `The Vedic Age' Foreword P.7.

अर्थात् मैंने अपने अध्ययन के समय चिरकाल से तथाकथित भारतीय इतिहासों की अपर्याप्तता को अनुभव किया। अत: अनेक वर्षों से मैं भारत के इतिहास की एक विस्तृत योजना बना रहा था जिससे न केवल भारत माता के पुत्रों द्वारा भारत के भूतकाल का वर्णन किया जाए बल्कि संसार भी उस के आत्मा की एक झांकी ले सके जिस रूप में भारतीय उसे देखते हैं। मेरे द्वारा सन् 1938 में प्रवर्तित भारतीय विद्या भवन ने इस योजना को अपने हाथों में ले लिया इत्यादि। मैंने जब इस भूमिका को पढ़ा तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब भारत का प्राचीन इतिहास यथार्थ रूप में पढ़ने को मिलेगा, किन्तु इस पुस्तक को ज्यों-ज्यों पढ़ा त्यों-त्यों वेदना और निराशा बढ़ती गई क्योंकि यह स्पष्ट ज्ञात हुआ कि वेद और वैदिक काल इत्यादि विषयक इस पुस्तक 'Vedic Age' में प्रकाशित विचारों में न केवल कोई भारतीयता व मौलिकता नहीं प्रत्युत पक्षपातग्रस्त व पाश्चात्य लेखकों का प्राय: अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए उनको भी मात कर दिया गया है जैसे कि मान्य डा॰ अविनाशचन्द्र बोस, एम॰ ए॰, पी॰ एच्॰ डी॰ ने भूमिका में लिखा है। यह पुस्तक अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तक के रूप में नियत है, जिससे विद्यार्थियों में वेद तथा वैदिक काल विषयक अनेक भयंकर भ्रम फैलने की संभावना है, अत: उनको दूर करने की समिति ने विशेष आवश्यकता समझी। वैदिक एज् के पृ॰ २२५ पर बताया गया है कि भाषा सम्बन्धी आधार पर सब से पुराने वेद-ऋग्वेद की भाषा को लगभग १००० ई॰ पू॰ का माना जा सकता है। पृ॰ २७८ पर वैदिक धर्म को बहु देवता, पूजावादी और अन्त में कहीं-कहीं अद्वैतवादी बताने का इसके लेखकों ने यत्न किया है। पृ॰ ३८९ पर लिखा है कि वैदिक काल में विवाह संस्कार के अवसर पर गौओं को मार कर उनके मांस से अतिथियों को तृप्त किया जाता था और पृष्ठ ३९३ पर लिखा है कि 'वैदिक काल में शराब लोकप्रिय पेय था। अथर्ववेद के विषय में बताया गया है कि वह जादू टोने की बातों से भरा पड़ा है, इत्यादि। ऐसे अशुद्ध विचारों को विद्यार्थियों के मस्तिष्क में भरना और उनके मन में वेद शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा पैदा करना कितना अनुचित कार्य है? इसलिये दिन रात लग कर मैंने उन आक्षेपों का सप्रमाण युक्ति-युक्त उत्तर इस पुस्तक के द्वारा देने का यत्न किया है जो इस पुस्तक में अधिकतर पक्षपातपूर्ण पाश्चात्य विद्वानों का अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए बल्कि उन को भी मात करते हुए किये गये हैं। यह हर्ष की बात है कि भारतीय विद्या भवन ने इस भूमिका के सुयोग्य लेखक प्रिन्सिपल डा॰ अविनाशचन्द्र जी की वैदिक शिक्षाओं के महत्त्व प्रदर्शक' 'The Call of the Veda's' नामक पुस्तक और उस के पश्चात् 'Indian Inheritance' नामक पुस्तक को प्रकाशित कर के जिस में वेद विषयक अध्याय डा॰ अविनाशचन्द्र जी बोस का लिखा हुआ है, अपने उस अपराध का (क्योंकि वेद विषयक भ्रान्त विचारों को विद्यार्थियों के मस्तिष्क में भरना वस्तुत: महान् अपराध है) कुछ अंश तक परिमार्जन अथवा प्रायश्चित कर लिया। मैं आशा करता हूँ कि इस युक्ति प्रमाण संगत आलोचना के प्रकाश में वे 'वैदिक एज्' के अगामी संस्करणों में उचित परिवर्तन कर के अपनी सत्यप्रियता का परिचय देंगे।

मुझे इस बात का खेद है कि ग्रन्थ का विस्तार कुछ अधिक हो गया है इसका कारण यह है कि यद्यपि मुख्यतया यह पुस्तक राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखी गई है तथापि अनेक मित्रों की इस इच्छा के अनुसार कि इसे अंग्रेजी जानने वालों के लिये भी उपयोगी बनाया जाए मैंने स्थान-स्थान पर आवश्यक अनेक मंत्रों के अंग्रेजी के मूल उद्धरणादि दे दिये हैं, जिनसे वे भी इस से पर्याप्त लाभ उठा सकें। आशा है इस प्रकार यह ग्रन्थ अधिक मात्रा में शिक्षित व्यक्तियों के लिये उपयोगी हो सकेगा।

मैं अत्यन्त मान्य विद्वान् श्री प्रिन्सिपल अविनाशचन्द्र जी, एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰ (डबलिन) का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक के लिये अत्युत्तम भूमिका अंग्रेजी में लिख कर मुझे अनुगृहीत किया और पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ा दिया है। जिन्होंने उन की भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'The Call of the Veda's' और 'प्रबुद्ध भारत' आदि में प्रकाशित उन के वेद-विषयक उत्तम अंग्रेज़ी लेखों को पढ़ा है वे जानते है कि उन का वेद-विषयक ज्ञान कितना विस्तृत और परिमार्जित है।

—धर्मदेव (वि॰ मा॰)

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय, दानदाता का परिचय एवं आभार, ग्रन्थकार का परिचय, लेखक के कुछ शब्द, Forword, (प्रस्तावना) वेदों के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण, वेद के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो ? १-३६

प्रथम अध्याय

वेदविषयक प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन मतों का निष्पक्ष विवेचन १-४१

प्रथम खण्ड—वेद के विषय में प्राचीन मत १-१२

मनुस्मृति के वेदविषयक वचन : वेद ही धर्म के विषय में परम प्रमाण हैं । याज्ञवल्क्य और अत्रि स्मृति के वचन : मुण्डकोपनिषत्, छान्दोग्य और बृहदारण्यकोपनिषत् के वेदों की ईश्वरीयता-विषयक वचन : ऐतरेय, शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण के वेदों की ईश्वरीयता-सूचक वचन : महाभारत, भगवद्गीता, निरुक्त और दर्शनशास्त्रों के वेद-गौरव विषयक वचन : गीता और मुण्डक उपनिषत् के कुछ वचनों पर विमर्श : क्या उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति है ?

द्वितीय खण्ड—मध्यकालीन आचार्यों का वेदविषयक मत १३-२०

श्री शंकराचार्य जी का वेदविषयक मन्तव्य : श्री मध्वाचार्य आदि का वेदों को परम प्रमाण मानना : मध्यकालीन विद्वानों की भयंकर भूलें : ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों को भी वेद मानना : अपौरुषेय मानकर भी वेदों में अनित्य इतिहास मानना : अनेक देवी-देवता पूजा : अध्वर यज्ञों में पशुहिंसा मानना : शूद्रों और स्त्रियों के वेदाध्ययन का प्रतिषेध : वेद संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड मानना : महात्मा बुद्ध और वेद : गुरुग्रन्थ साहिब और वेद : वेद-महिमा ।

तृतीय खण्ड—वर्तमान युग के विद्वानों के वेदविषयक विचारों का दिग्दर्शन २१-४१

प्रो० मैक्समूलर, विलसन, ब्लूमफील्ड, ह्विटनी, ग्रिफिथ इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों का वेदविषयक प्रयत्न अधिकतर पक्षपातपूर्ण : प्रो मैक्समूलर के ड्यूक आर्गायल और अपनी पत्नी के नाम पत्र : श्री अरविन्द द्वारा इन पाश्चात्य विद्वानों की वेद-विषयक धारणाओं की निष्पक्ष आलोचना : श्री रमेशचन्द्र दत्त, लोकमान्य तिलक, श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री द्विजेन्द्रदास इत्यादि पर पाश्चात्य सरणि का प्रभाव : वैदिक एज् के लेखकों की अनुकरण-प्रवृत्ति : महर्षि दयानन्द का वेदों के महत्त्व-विषयक सिंहनाद : उस समय वेदों की उपेक्षा : राजा राममोहन राय और वेद : शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्यादि मध्यकालीन आचार्यों के वेदाधिकार-विषयक अनुदार विचारों से तुलना : रोमां रोलां की महर्षि दयानन्द की उदारता के प्रति श्रद्धांजलि : सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द के वेद और सायणभाष्य तथा महर्षि दयानन्द के वेदभाष्यादि-विषयक विचार ।

द्वितीय अध्याय

वेदों का महत्त्व और उसके कारण—विविध मतावलम्बी विद्वानों द्वारा समर्पित श्रद्धांजलियां ४२-७४

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता : सम्राट् असुरवाणीपाल, सम्राट् फ्रेडरिक, बादशाह अकबर आदि के परीक्षण : हैवल का मत : सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० फ्लेमिङ्ग द्वारा ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता का समर्थन, सुविख्यात प्लेटो, कान्ट इत्यादि द्वारा इसका अनुमोदन : सदसद्विवेकबुद्धि की अपर्याप्तता : प्रकृतिवादियों की युक्तियों का विवेचन : प्रकृति में जिस की लाठी उसकी भैंस : पारसी विद्वान् फर्दून दादाचान् जी द्वारा वेदों को श्रद्धांजलि : वेदों में अग्नि के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थ : वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद : जैन विद्वान् आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा वेद को अनादिनिधना आदिभगवद्वानी कहना : अरब

के विद्वान् लावी द्वारा वेदों का गुणगान : दारा शिकोह का वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानना : डॉ० रसेल वैलेस, रेवरेन्ड् मॉरिस फिलिप, प्रो० हीरेन, लेओं देल्बा, नोबेल पुरस्कार-विजेता श्री मैटर्लिंग, थोरियो, डॉ० जेम्स कज़िन्स, रूसी विद्वान् श्री बौलगार, मि० मॉस्करो, मि० ब्राउन, शॉपनहार, रागोजिन, जैकोलियट, मिसेज़ ह्वीलर आदि निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वानों और विदुषियों द्वारा वेद का महत्त्व स्वीकार करना : वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों ? बाइबल की अनेक तर्क तथा विज्ञान विरुद्ध बातें : बर्मिङ्घा बिशप डा० बान्स का एतद्विषयक भाषण : वेदों में विविध विद्याओं का मूल निर्देश ।

तृतीय अध्याय

ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं, मन्त्रद्रष्टा थे ७५-१०८

कई आधुनिक विद्वानों के मत में ऋषि मन्त्रकर्ता : इस मत की परीक्षा : ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः इत्यादि वचन ।

वेदों में प्रयुक्त विश्वामित्र, वसिष्ठ, जमदग्नि, भरद्वाज, अत्रि, अंगिरा, प्रियमेध, गृत्समद इत्यादि शब्दों के ब्राह्मण-ग्रन्थादि के आधार पर वास्तविक अर्थ : मीमांसा शास्त्र के अनित्यता-निषेधक सूत्र : सायणाचार्य की वेदभाष्य-भूमिका का एतद्विषयक लेख : सायणकृत वेदभाष्य में अनेक अश्लील आख्यान, इतिहासादि : भावयव्यरोमशा संवादादि : वास्तविक तात्पर्य न जानकर वैदिक एज् में अश्लीलता-विषयक टिप्पणी का सप्रमाण विवेचन : ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने पर प्रबल आक्षेप : एक-एक मन्त्र के सौ और सहस्र तक ऋषि कैसे ? एक ही वेद में भिन्न स्थानों पर एक ही मन्त्र के भिन्न ऋषि : १६ उदाहरण : ऋषि कौन होते हैं ? श्री मुंशी जी कृत ऋषिचरित्र-मीमांसा का विवेचन : सोम शब्द परमेश्वर तथा ज्ञानमय भक्ति-वाचक : ऋषिवाचक पद प्रायः उपनाम : २५ उदाहरण : मन्त्रकृत् शब्द पर विचार : कृञ् धातु के अनेकार्थ : तन्त्रवार्तिक, भट्टभास्कर आदि के प्रमाण : मन्त्रविनियोक्ता अथवा प्रयोक्ता तथा व्याख्याता के अर्थ में मन्त्रकृत्, मन्त्रकारादि : वेदों के ईश्वरकृत होने में वेदों की अन्तःसाक्षिता : १० स्पष्ट मन्त्र : वैदिक भाषा भी ईश्वरप्रदत्त है : ज्ञान और भाषा के सम्बन्ध में हर्डर, शेलिंग, हीगल, सर विलियम हैमिल्टन, वॉन हुम्बोल्ट, प्रो० मैक्समूलर इत्यादि विद्वानों का मत : वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी : बैरन् कुवीर, ऐड्लिंग, बॉप इत्यादि के वचन ।

चतुर्थ अध्याय

वैदिक एकेश्वरवाद और अनेक देवता : वैदिक तत्त्वज्ञान १०९-१६२

वैदिक एज् के लेखकों का अनेकेश्वरवाद समर्थक मत : हीनोथीइज़्म : इन मतों की सप्रमाण आलोचना : वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद : २२ अतिस्पष्ट प्रमाण : चार्ल्स कोलमैन, कौन्ट वियार्न्सटीर्ना, श्लीगल, पारसी विद्वान् फुर्दून दादाचान्जी, सर मुहम्मद यामिनखां इत्यादि विद्वानों द्वारा वैदिक एकेश्वरवाद का समर्थन : क्या वेदों में हीनोथीइज्म है ? इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, रुद्र, पूषादि नाम एकेश्वरवाचक : मि० क्लैटन, श्री अरविन्द, श्री द्विजदास दत्त आदि विद्वानों द्वारा हीनोथीइज़्म की आलोचना : वैदिक देवता : देव शब्द के अनेकार्थ : ३३ देव क्या हैं ? देवाधिदेव पूजनीय एक परमेश्वर : सायण, उव्व, महीधरादि कृत देव शब्दार्थ : अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र इत्यादि के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दृष्टि से अनेकार्थ : अग्निषोमौ, इन्द्राग्नी, अश्विनौ इत्यादि के अर्थ : वेद अद्वैतवाद प्रतिपादक नहीं : त्रैतवाद समर्थक १५ अति स्पष्ट प्रमाण : नासदीय सूक्त पर विशेष विचार ।

पंचम अध्याय

वैदिक यज्ञ विषयक भ्रान्ति-निवारण १६३-२०१

यज्ञ शब्द का धात्वर्थ : यज्ञों में पशुहिंसा-समर्थक वैदिक एज् आदि के लेख : यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का चारों वेदों में प्रयोग : अध्वर का अर्थ हिंसारहित शुभ कर्म : मेध शब्द का अर्थ : अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि शब्दों के वास्तविक

अर्थ : महाभारत आदि में यज्ञों में पशुहिंसा का स्पष्ट निषेध : पशुहिंसा धूर्त कल्पित होने की साक्षी : अहिंसात्मक अश्वमेध : यज्ञों में पशुओं की प्रदर्शनी : आलम्भ, संज्ञपनादि शब्दों के अर्थ : अनेक विवाद-स्पद मन्त्रों का वास्तविक अर्थ : गोवध महापाप : चारों वदों में गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग : महात्मा गौतम बुद्ध की साक्षी : वैदिक एज् के लेखकों का परस्पर विरोध और भ्रम : उक्षा, गोमेध, अजा, वशा, अश्वादि शब्द ओषधिवार्चक : मांस शब्द के अन्यार्थ : अतिथिग्व, गोघ्न, अतिथिनीर्गा इत्यादि शब्दों का विवेचन : वशा के अर्थों पर विशेष विचार : श्री डॉ० सम्पूर्णानन्द जी, स्वा० महादेव नन्द जी और डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के यज्ञ-विषयक लेख ।

षष्ठ अध्याय

वैदिक एज् एक संदिग्ध और सन्देहजनक पुस्तक २०२-२०७

कोरी आनुमानिक कल्पनाओं का भण्डार : अनिश्चयसूचक Perhaps Deewj Probably की भरमार : स्थालीपुलाक-न्याय से २५ स्पष्ट उदाहरण ।

सप्तम अध्याय

वेदों की प्राचीनता—वेदोत्पत्तिकाल-विषयक अटकलपच्चू परस्परविरुद्ध कल्पनाएं २०८-२२६

वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता-विषयक आर्यों का परम्परागत युक्ति-युक्त विश्वास : पाश्चात्य विद्वानों की अटकलपच्चू कल्पनाएं : प्रो० मैक्समूलर का अनिश्चित मत : फ़ॉन श्रीडर, जैकोबी, विन्टर्नीज, वीबर, ब्लूमफील्ड, क्लेटन इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों के परस्पर भिन्न विचार : वैदिक एज् के एतद्विषयक लेख की समीक्षा : लोकमान्य तिलक के वेदोत्पत्ति-कालविषयक विचारों की समालोचना : श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री चुलेट कृत वेदोत्पत्ति-कालनिर्णय ३ लाख के लगभग : महाभारत में सांगोपांग वेद-वर्णन : महाभारत-कालनिर्णय ३१०० ई० पूर्व : रामायण में सांगोपांग वेद-वर्णन : रामायण कालनिर्णय : पृथिवी की आयु-विषयक प्राचीन और नवीन वैज्ञानिक मत का समन्वय लगभग २ अरब वर्ष, डॉ० टेलर, प्रो० सैम्पसन् आदि वैज्ञानिकों द्वारा इसका समर्थन : श्री मैटर्लिक और वेदों की अति प्राचीनता ।

अष्टम अध्याय

आर्य और अनार्य—आर्य, दस्यु, दास, द्राविड़ विवेचन २२७-२६०

आर्य कौन होते हैं ? क्या आर्य और दस्यु पृथक्-पृथक् जातियां हैं ? आर्य शब्द के संस्कृत-कोषों और ग्रन्थों में दिये श्रेष्ठतासूचक अर्थ : रामायण, महाभारत, निरुक्त, भगवद्गीता : धम्मपद आदि से उद्धरण, श्री अरविन्द का आर्य विषयक महत्त्वपूर्ण लेख : दस्यु कौन कहाते हैं ? अव्रत, दुष्ट, सत्कर्मविध्वंसक, दुराचारी : महर्षि दयानन्द का आर्य-दस्यु-विषयक लेख : योगी श्री अरविन्द का दस्यु-विजय-विषयक लेख : प्रिन्सिपल श्रीनिवास आयंगर का लेख : सांस्कृतिक भेद, जातीय नहीं : श्री रामचन्द्र दीक्षित द्वारा इसका समर्थन : म्यूर, प्रो० मैक्समूलर, रॉथ, नैसफील्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति : आर्य और द्राविड़ भाषाओं का परसार सम्बन्ध : कन्नड़, तेलुगु, मलयालम और तमिल का संस्कृत से सम्बन्ध : अनेक स्पष्ट उदाहरण : अनन्तशयनम् अय्यंगार और श्री दौरैस्वामी अय्यंगार का तमिल के संस्कृत से सम्बन्ध पर विचार : तमिल वेद और वेदादि शास्त्र : १५ स्पष्ट उदाहरण : द्राविड़ सभ्यता की देन : वैदिक एज् के लेखकों के विचार की समीक्षा : अयोध्या का वर्णन : देवी पूजा, लिंग पूजा, चन्द्र पूजादि : सर विलियम हन्टर द्वारा 'हिन्दू धर्म में अनार्यों की देन' विषयक महत्त्वपूर्ण लेख ।

नवम अध्याय

वेदों की काट-छांट का अनुचित प्रयत्न २६१-२८७

वैदिक एज् में प्रकाशित विचारों की आलोचना : क्या ऋग्वेद में दशम मण्डल पीछे से मिलाया गया ? भाषा-भेद, विषयभेद, नवीन शब्द तथा दार्शनिक विचारादि विषयक युक्तियों पर विचार : श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी का महत्त्वपूर्ण लेख : क्या अष्टम मण्डल में बालखिल्य सूक्त प्रक्षिप्त है : वेदों की विशुद्धता की रक्षा के अनेक साधन : जटापाठ, घनपाठ, मालापाठादि : देवता, छन्द, ऋषि, स्वरादि विषयक विचित्र अनुक्रमणियां : प्रो मैक्डॉनेल, केगी इत्यादि द्वारा वेदों की रक्षा विषयक अद्‌भुत प्रयत्नों की प्रशंसा : क्या कृष्ण यजुर्वेद वा तैत्तिरीय संहिता शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा अधिक प्राचीन है ? शुक्ल और कृष्ण नामों का कारण : कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण भाग मिश्रण : तैत्तिरीय संहिता में वेदमन्त्र-व्याख्या के कई उदाहरण : क्या अथर्ववेद पीछे से बनाया गया ? वैदिक एज् के लेखकों द्वारा ब्लूमफील्ड, ह्विटनी आदि का अविवेकपूर्ण अनुसरण : त्रयी विद्या का अर्थ : अथर्ववेद की प्रामाणिकता के अनेक स्पष्ट प्रमाण : अथर्ववेद-विषयक परस्पर विरोध : अथर्ववेद में १५वें, १७वें और २०वें काण्ड के पीछे की मिलावट मानने के विचार की निस्सारता : अष्टाध्यायी में अथर्ववेद और तद्विषक साहित्य के अनेक निर्देश : पाणिनि को शुक्ल यजुर्वेद का ज्ञान न था, 'वैदिक एज्' के लेखकों की इस स्थापना की अयथार्थतता अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों द्वारा : क्या सामवेद की पृथक् सत्ता नहीं ? ऋग्वेद में सामवेद का स्पष्ट निर्देश : १६ अति स्पष्ट प्रमाण : यजुर्वेद में सामवेद का निर्देश : शुक्ल यजुर्वेद की काट-छांट : क्या १९ से ४० अध्याय तक प्रक्षिप्त हैं ?

दशम अध्याय

वैदिक शिक्षा-विषयक भ्रान्ति-निवारण २८८-३४८

क्या पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेदों में नहीं ? वैदिक एज् के लेखकों की इस विषय में अशुद्ध धारणा : 'अयं होता प्रथमः पश्यतेमम्, अपश्यं गोपाम्, द्वा सुपर्णा सयुजा, त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, गर्भे सन् जायसे पुनः' इत्यादि द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धांतों का वेदों में स्पष्ट प्रतिपादन : वैदिक ऋषियों पर लोभ, खुशामंद और न्याय भावना के अभाव का असत्य आरोप : वैदिक रयिथ का आध्यात्मिक अर्थ : दैवी सम्पत् अथवा षट्क सम्पत्ति : कर्मानुसार फल : निष्काम कर्म के आदर्श का प्रतिपादन : उदार दान सर्वाधिक बल नहीं ? निष्पापता-विषयक २० मन्त्र : इन्द्र-विषयक भ्रम-निवारण : वेदों में बहुविवाह विधान-विषयक भ्रम का निवारण : एकविवाह-समर्थक अनेक मन्त्र : क्या अथर्ववेद में जादू-टोने हैं ? अथर्ववेद में संकल्प, अभिमर्श, आदेश, कृत्या और अभिचार : मणिबन्धन-विषयक विवेचन : आंजनमणि, शृंगमणि, जङ्गिडमणि, (सोम) पर्ण मणि, दर्भ वरण, शतवार (ऋषभक), राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा आदि शब्दों के अर्थ : कृत्या और अभिचार-विवेचन : ब्लूमफील्ड की भयंकर भूलें : सांमनस्य सूक्त, राज्याभिषेक : सभा, समिति आदि विषयक शिक्षाओं को जादू समझ लेना : ब्रह्म शब्द का अशुद्ध अर्थ जादू : वैदिक एज् के लेखकों का पाश्चात्यों की भूलों का दुहराना : दासी, शूद्रा, बल्हिक, अंग, मगध आदि शब्दों के ओषधिपरक अर्थ : वैदिक ब्राह्मणों पर स्वार्थान्धता का अशुद्ध आरोप : उत यत् पतयो दश आदि मन्त्रों का वास्तविक अर्थ : मांस, मद्य, द्यूत-सेवन वेदविरुद्ध : इसके १६ स्पष्ट प्रमाण : यज्ञों में भी मांस-सेवन निषिद्ध : उपसंहार और सिंहावलोकन ।

प्रकाशकीय

सम्वत् २०५२ विक्रमी वर्ष गुरुवर्य श्री स्वामी समर्पणानन्द जी (पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार) की जन्मशती का वर्ष है । इस वर्ष संस्थान ने जहां एक ओर विद्वद्वर्य श्री पंद सत्यानन्द वेदवागीश द्वारा सम्पादित **भावार्थ प्रकाश** (२०×३०/८ आकार, १००० पृष्ठ) जैसे बृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन किया, वहां दूसरी ओर अपने उद्देश्यानुसारं "पूर्व प्रकाशित किन्तु सम्प्रति दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन की शृङ्खला ही लगा दी-१-आचार्य अभयदेवकृत '**वैदिक विनय**' (२०×३०/८ पृष्ठ ४००) ग्रन्थ, २-श्रीस्वामी वेदानन्द जी तीर्थ द्वारा सम्पादित दुर्लभग्रन्थ '**वेदामृत**' (२०×२६/८ पृष्ठ ४००) और ३-विद्यामार्तण्ड श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित '**वेदों का यथार्थ स्वरूप**' (२०×३०/८ पृष्ठ ४००) नामक ग्रन्थ जो पाठकों के हाथ की शोभा है ।

ग्रन्थ के विषय में :-

ग्रन्थ के विषय में कुछ कहना या लिखना 'सूर्य को दीपक दिखाना है । ग्रन्थ स्वयं अपने नाम के अनुरूप '**वेदों का यथार्थ स्वरूप**' चित्रित करने में पूर्णत: समर्थ है प्रत्येक जिज्ञासु को इसका पढ़ना अनिवार्य है । इसको पढ़ते ही उसकी शंकाएं स्वत: निवृत्त हो जाएंगी ।

वेद शब्द के स्मरण मात्र से अनेक भावनाएं उद्बुद्ध होने लगती हैं । '**अनन्ता वै वेदाः**' महर्षि तित्तिरि-कृत ब्राह्मणान्तर्गत महर्षि भारद्वाज के प्रति इन्द्र का यह सुप्रसिद्ध वाक्य तो वस्तुत: इस वेद-परिचय सम्बन्ध में मानदण्ड है । तथापि महर्षि दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में '**विन्दन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विदन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्या सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वान्सश्च भवन्ति त वेदाः ।**' यह वाक्य अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में वेद का परिचय देने के लिये लिखा है ।

पाणिनीय कृत **विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्** और **विद्लृ लाभें** ये चारों धातुओं को इस क्रम से रखा जाय तो एक वाक्य में कहा जा सकेगा कि "ज्ञानपूर्वक विचार करके सत्ता अर्थात् सत्य का लाभ कर लेना वेद है ।"

आर्य-जाति की प्राण स्थानीय वेद-मन्दाकिनी स्वरूपा वैदिक संस्कृति (Vedic Culture) ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त अविच्छिन्न परम्परा के साथ तपोधन एवं त्यागमूर्ति ऋषि महर्षियों के द्वारा सुप्रवाहित होती रही, किन्तु काल क्रमागत महाभारत युद्ध के उपरान्त देशकालकृत अनेक विघ्न बाधाओं के कारण वेद रहस्य विद्या का शनैः शनैः ह्रास होता रहा । अन्ततो गत्वा पुराण-काल में तो प्रचलित वैदिक साहित्य और उनके अर्थ ज्ञान में इतना अन्तर हो गया जितना गंगोत्री और हुगली के जलों में प्रतीत होता है ।

महाभारत युद्ध के पश्चात् महर्षि दयानन्द पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हुगली से गंगोत्री की ओर चलने को प्रेरित किया और कहा कि यदि इस संस्कृति स्रोत के सच्चे दर्शन करने हैं तो मेरे साथ आओ मैं तुम्हें उस स्रोत के दर्शन कराऊं और गंगोत्री पर लाकर खड़ा कर दिया और घोषणा की कि **वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है** ।

महर्षि दयानन्द ने वैदिक अर्थों के प्रश्न को आमूल चूल झकझोरा । महर्षि को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रतिपादित अर्थ विज्ञान शैली को प्रतिष्ठित किया । उनके प्रदर्शित सिद्धान्त की सहायता से उपलब्ध सामग्री का सर्वाङ्ग प्रयोग अभी कर्तव्य शेष है समस्त विद्याओं का पर्यवसान अध्यात्म विद्या में है, यह दृष्टिकोण महर्षि दयानन्द ने अपनी विशाल प्रज्ञानमयी प्रतिभा से जिस दृढता से रक्खा, उससे वैदिक अर्थों की शैली सचमुच बहुत लाभान्वित हुई । उसी परम्परा की रक्षा में आर्य समाज, एवं उसकी शिक्षण संस्थाएं विशेषकर गुरुकुल कांगड़ी अपने जन्म दिन से ही

अहर्निश लगे रहे वहां से निकले स्नांतकों ने वेद सरिता को हर क्षेत्र तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। वेद के विरोधियों ने चाहे वह पाश्चात्य विद्वान् थे अथवा उनके उपजीव्य तथाकथित भारती विद्वान् थे, जिन्होंने भी वेद-मन्दाकिनी को ज़रा भी गदला करने का प्रयत्न किया तो दयानन्द के शिष्य चुप नहीं बैठे रहे उन्होंने उन सबका प्रक्षालन कर उस प्रवाह को निर्मल कर दिया। उसी परम्परा में गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक **विद्यामार्तण्ड श्री पं० धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति** जो श्री स्वामी धर्मानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए **'वेदों का यथार्थ स्वरूप'** नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ का प्रणयन किया यह ग्रन्थ भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित Vedic Age का मुंहतोड़ उत्तर है, वेद के अध्येता विद्वान् इसका अनुभव स्वत: कर लेंगे **'हाथकङ्गन को आरसी क्या ?'**

'वेदों का यथार्थ स्वरूप' नामक ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है प्रत्येक अध्याय अपने आपमें एक पुस्तक है इसके विषय में हम कुछ कहने के अधिकारी नहीं हां हमारे स्वाध्याय में जो एक दो नये प्रमाण दृष्टिपथ में आए हैं उनकी ओर इंगित कर देना अपना कर्तव्य समझ कर नीचे लिख रहे हैं।

यह सर्वसम्मत आर्षमान्यता है कि वेद अपौरुषेय वाक् है। वेदमंत्रों पर अंकित ऋषि उन मन्त्रों के **अर्थद्रष्टा** है न कि **मन्त्र-कर्ता**। मन्त्रकृत पद का अर्थ मंत्रद्रष्टा है न कि मन्त्र के कर्ता विद्वान् लेखक ने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय **'ऋषि मंत्रकर्ता नहीं मन्त्रद्रष्टा थे'** में जो ७५ पृष्ठ से १०८ पृष्ठ तक ३२ पृष्ठों में आबद्ध है प्रबल और पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है। तैत्तिरीय आरण्यक का एक प्रमाण **'नम: ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य:1'** उद्धृत किया है किन्तु किसी कारण सायणकृत भाष्य छूट गया है उसे देने से यह सिद्धान्त और अधिक पुष्ट हो जाता है।

मन्त्रकृत पर सायण—अपनी वैदिक व्याख्याओं के परम्परानुसार समर्थक चतुर्वेद-भाष्यकार आचार्य सायण को भी अन्तत: इस सत्य को स्वीकार करना पड़ा कि **मंत्रकृत** पद का अर्थ मन्त्रलब्धार: है। तद् यथा आचार्य सायण लिखते हैं-**नम ऋषिभ्यो मत्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य: यथा देवता नमस्कारस्तद्वत् ऋषिभ्योऽपि नमस्कारोऽस्तु। कीदृशेभ्य। मंत्रकृद्भ्य:। मंत्रकृद्भ्य: मन्त्रं कुर्वन्तीति मंत्रकृत:। यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति, तथापि कल्पादवीश्वरानुग्रहेण मत्राणां लब्धारो मंत्रकृत इति उच्यन्ते। तल्लाभश्च स्मर्यते—**

अर्थात् जैसे देवताओं को नमस्कार करते हैं। उसी प्रकार ऋषियों को भी नम हो किस प्रकार के ऋषि ? इसके उत्तर में कहा गया **"मन्त्रकृत:"** इस पर आचार्य सायण की टिप्पणी पठनीय है विचारणीय है। आचार्य सायण का कथन है कि **मन्त्रकृत:** का अर्थ निस्सन्देह मन्त्रंकुर्वन्तीति मन्त्रकृत: जो मंत्रों की रचना करे वह मन्त्रकृत कहलाएंगे। परन्तु आपौरुषेय वेदों का कोई मनुष्य रचनाकार कैसे हो सकता है ? अत: कल्प के आरम्भ में ईश्वर के अनुग्रह से मंत्रों के लाभ करने वाले न कि रचना करनेवाले यहां आचार्य सायण ने कृत: पद का अर्थ **लब्धार:** स्वीकार किया है और उसकी पुष्टि में एकमहाभारत का प्रमाण उद्धृत किया है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय:।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता सयम्भुवा॥

यज्ञों में पशुबलि से उद्विग्न सायण—

इसी प्रकार एक अत्यावश्यक प्रमाण जिसका सम्बन्ध यज्ञों में पशु बलि विषयक है और आचार्य सायण ने प्रतिपादित किया है कि पुरुषमेध यज्ञ में पुरुषबलि देना अवैदिक है और पूर्वों द्वारा कल्पित है। पाठक ग्रन्थ के पांचवें अध्याय का अवलोकन करते समय अधोलिखित प्रमाण को संग्रह करलें। विद्वद्वर्य श्री पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति ने ग्रन्थ के

१- तैत्ति० आ० २- महाभारत १२-२०३-१७

पांचवें अध्याय का शीर्षक **"वैदिक यज्ञविषयक भ्रान्ति निवारण"** दिया है और उसी में 'प्रसङ्गोपात्त यज्ञों में पशु बलि के प्रतिपादक माने जाने वाले **मेध, संज्ञपन, आलभन, अवदानादि** शब्दों पर विस्तृत विचार किया है उनके वास्तविक अर्थ लिखकर यज्ञों में पशुबलि विषयक कलंक को प्रक्षालन करने का सफल प्रयत्न किया है। उसी के साथ यदि आचार्य सायण की सम्मति भी सम्मिलित कर ली जाय तो वैदिक स्थापना को और अधिक बल प्राप्त होगा।'

आचार्य सायण की सत्योक्ति :-

अपनी वैदिक व्याख्याओं में यज्ञिय पशु-हिंसा के परम्परानुसारी समर्थक चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण को भी अन्ततः इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ा। यज्ञशाला के इस मन घडन्त पशु-मारण से उद्विग्न होकर सायणचार्य अपने अथर्ववेदीय केन सूक्त १०.२ के भाष्य की अत्थानिका में लिखते हैं **"अस्मिन् सूक्ते पुरुषस्य अर्थात् मनुष्यस्य माहात्म्यं वर्ण्यते। तच्च तद् भिन्नभिन्नावयवान् को देवोऽकरोद् इत्यादि प्रश्न रूपेण तत्तत्प्रश्नानाम् उत्तररूपेण च। यज्ञ लम्पटाः साम्प्रदायिकास्तु एतत् सूक्तं पुरुषमेधे विनियोजयन्ति[१]।"** इस प्रकार जहां कहीं वैदिक वाङ्मय में पशुहिंसा-सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है वहां जिह्वा लोलुप सुरामांस सेवी तथाकथित याज्ञिकब्रुवों के प्रक्षेप की लीला की दुरभिसन्धि समझनी चाहिये। यह प्रक्षेपलीला महाभारत से पूर्व ही आरंभ हो चुकी थी। अतएव महर्षि व्यास ने वेदघातक लोगों को धूर्त कहकर उनके इस जघन्य कर्म की निन्दा की है—

मद्यं मत्स्यान् सुरां मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

सर्वकर्मस्वहिंसाहि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः॥[२]

सोने में सुगन्ध-

'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत अति प्रसिद्ध है परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता कि सोना हो और उसमें सुगन्ध भी हो इससे खिन्न हुआ कवि परमात्मा को उलहना दे बैठा कि विधाता को किसी ने ये बुद्धि क्यों न दी कि सोने जैसी वस्तु में सुगन्ध भी डाल दे, **गन्धं सुवर्णे फलमिक्षु दण्डे,** —- सोने में सुगन्ध डाल दी होती तो क्या ही अच्छा होता। हमने सोचा कि संस्थान को यह अवसर मिला है कि **'वेदों का यथार्थ स्वरूप'** प्रकाशित कर ही रहे हों और किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप उसका खरापन है और खरापन उसे सोना बना देता है। **'वेदों का यथार्थ स्वरूप'** ग्रन्थ के खरा होने में क्या सन्देह है। बस इस खरे सोने में सुगन्ध डालनी बाकी है तो क्यों न सुगन्ध डालने का श्रेय संस्थान ले ले बस उस सुगन्ध का ध्यान आया कि इस ग्रन्थ की उत्थानिका में स्वामी समर्पणानन्द श्री पं० बुद्धदेव विद्यालंकार कृत **'वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो ?** अभिलेख को प्रकाशित किया है' जिससे यह सोना सुगन्धित हो उठा है। पाठक उसको पढ़कर ही ग्रन्थ में प्रवेश करेगा।

१- इसके लिये देखें डा० कुसुमलता वेदाचार्य द्वारा लिखित पुरुषसूक्त का विवेचन। एक अध्ययन पृ० १५९ से २३४ तक

२- महाभारत- म० भा० १२-२५७८-१०

परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में एक पुण्यात्मा की स्मृति जुड़ी हुई है, जिन्होंने औद्योगिक जगत् में प्रतिष्ठा प्राप्त की । स्वनामधन्य श्री स्व० सीताराम जी ने सीतासम अनुव्रता पत्नी को पाकर अपने कार्यक्षेत्र तथा अपनी दान-गरिमा को बढ़ाया। निधनोपरान्त भी श्रीमती सत्यावती अपने पति के यश:शरीर को अमर करने की इच्छुक हो, प्रस्तुत ग्रन्थ को छपवाने हेतु अपनी पवित्र धन-राशि से सहयोग दे रही हैं ।

मैं उनको तथा समस्त पैराडाइज परिवार को इस पुण्य कार्य हेतु शतशः आशीर्वाद देता हूं और उनके आनन्दमय जीवन की कामना करता हूं। प्रभु ऐसे वेद-भक्तों को सम्पन्न और श्रीयुक्त रखे ताकि उनकी दान-सरिता से यह सरस्वती-वाटिका सिंचित होकर विवेकी जिज्ञासुओं को सुफल देती रहे।

—स्वामी दीक्षानन्द

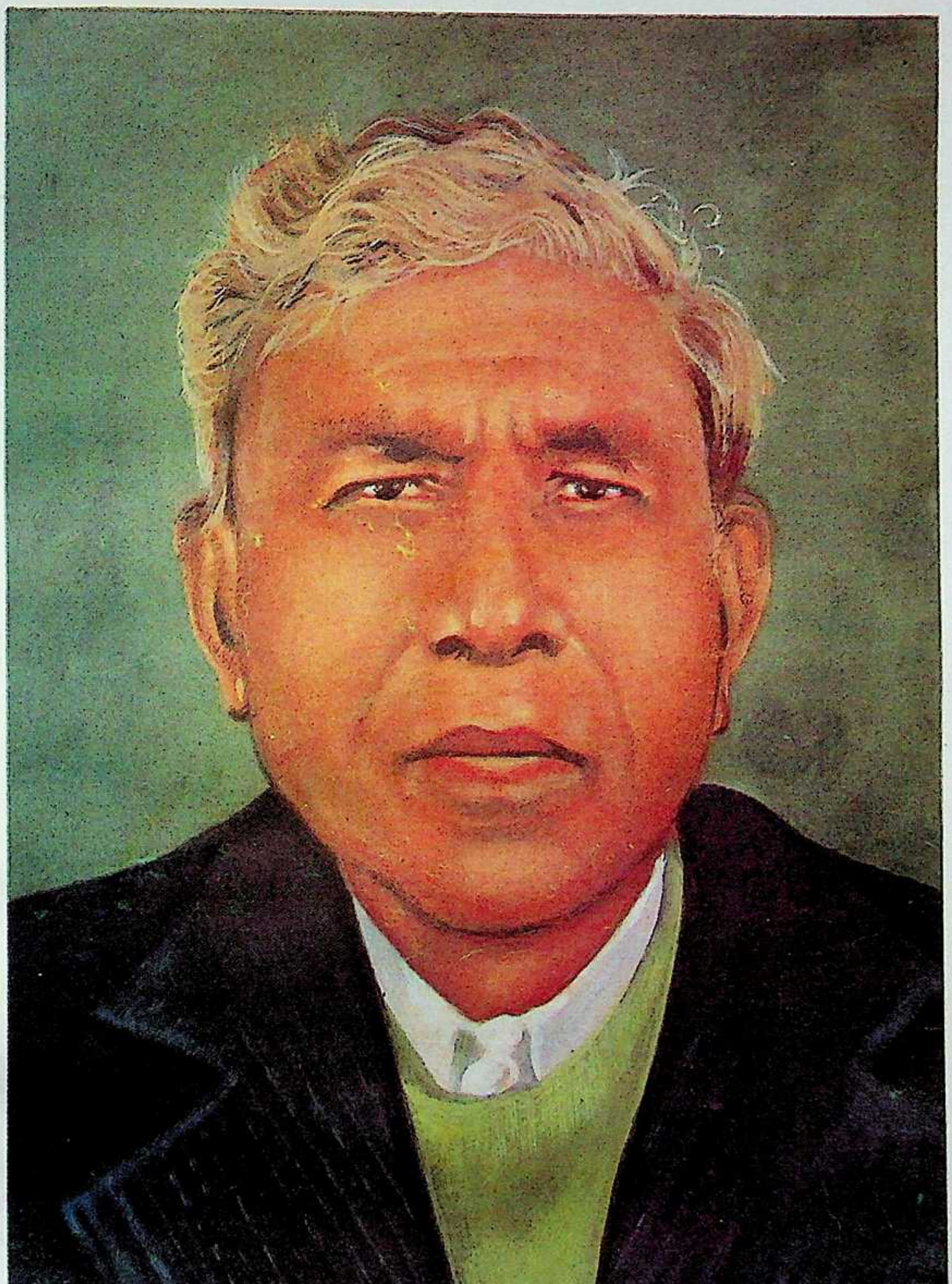

जन्म
१३ फरवरी १९१३

स्व० श्री सीताराम जी

अवसान
२५ फ़रवरी १९९४

लेखक-परिचय

वेदों के अप्रतिम विद्वान्, लेखक, चिन्तक तथा विचारक पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति का जन्म १२ फरवरी १९०१ को मुलतान (पाकिस्तान) ज़िले के दुनियापुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री नंदलाल था। गुरुकुल कांगड़ी के प्रारम्भिक स्नातकों में पंडित धर्मदेव का नाम उल्लेखनीय है। इनकी शिक्षा का आरम्भ गुरुकुल मुलतान में हुआ जहां आपने १९०९ से १९१६ तक प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त १९१७ से १९२१ तक गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द तथा प्रो० रामदेव के चरणों में बैठकर आपने विद्याध्ययन किया। २३ मार्च १९२१ को आपने 'सिद्धान्तालंकार' की उपाधि ग्रहण की तथा कुछ काल पश्चात् 'भारतीय समाजशास्त्र' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखकर विद्यावाचस्पति की उपाधि प्राप्त की। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी ने इनके विशिष्ट वैदिक अध्ययन, पाण्डित्य तथा लेखन प्रतिभा से प्रभावित होकर 'विद्यामार्तण्ड' की मानद उपाधि से विभूषित किया।

प्रारम्भ में पं० धर्मदेव गुरुकुल मुलतान के आचार्य पद पर रहे। तत्पश्चात् आप स्वामी श्रद्धानन्द के आदेशानुसार दक्षिण भारत में वैदिक धर्म प्रचारक के रूप में १९२१ से १९४१ तक रहे। इस बीच आपने कन्नड़, तेलगु, तमिल तथा मलयालम भाषाओं का अध्ययन किया तथा कन्नड़ में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। १९४२ से १९५३ तक आपने सार्वदेशिक सभा के सहायक मन्त्री के रूप में कार्य करते हुए सभा के मासिक मुखपत्र **'सार्वदेशिक'** का सम्पादन किया। १९५४ से १९६३ तक पं० धर्मदेव ने श्री श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान (गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयच के अन्तर्गत) वेदाध्यापन किया और 'संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी कोश' के निर्माण का कार्य किया। इसी समय आपने **'गुरुकुल पत्रिका'** का भी सम्पादन किया। २८ फरवरी १९७६ को मं० आनन्द स्वामी से संन्यास ग्रहण कर वे स्वामी धर्मानन्द सरस्वती बने। ८ नवम्बर १९७८ को आपका निधन हो गया।

पं० धर्मदेव का लेखन विविध विषयों तथा विविध भाषाओं से सम्बन्धित है। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी तथा कन्नड़ में लेखन कार्य किया है। वेदों पर भाष्य रचना, वेद विवेचन, संस्कृत में काव्य प्रणयन तथा विभिन्न शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक विषयों पर आपने विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

ले. का.-अंग्रेजी में वेद भाष्य-

1. Hymns of the Sam Veda (English Translation or Sam Veda with notes and comments (1967), 2. Some Psalms of the Sam Veda Samhita सामवेद के कतिपय सूक्तों का अंग्रेज़ी अनुवाद (1966), 3. The Rig Veda : An English Translation of the Commentary of Swami Dayanand Sarasvati. Vol. 1, 2, 3 & 4.

वेद विषयक अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थ-

१. वैदिक कर्तव्य शास्त्र-वेद मन्त्रों के आधार पर आचारशास्त्र निरूपक ग्रन्थ (१९२८), २. स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार (२००४ वि. १९४८), ३. वेदों का महत्त्व (१९६२), ४. वेदों का यथार्थ स्वरूप-भारतीय विद्या भवन बम्बई द्वारा प्रकाशित 'दि वैदिक एज्' की आलोचना (२०१४ वि.), ६. वेद मूलक आर्य राजनीति, ६. वेदभाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन : भूमिका, ७. एक मन्त्र के अनेक अर्थ, ८. सामसंगीत सुधा ९. वेदों का सर्वभौम सन्देश : भाषण (१९५४)

स्वामी दयानन्द विषयक ग्रन्थ-

१. महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी (१९५१), २. ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों पर तुलनात्मक विचार (१९८१ वि.), ३. उदारतम आचार्य महर्षि दयानन्द, ४. महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषतायें (२०१२ वि.), ५. महर्षि दयानन्द और अन्य वेदभाष्यकार, ६. महर्षि दयानन्द के आदर्श का आर्यसमाज (१९७६), 7. Maharisi Dayanand and Satyarthpraksah. (1945), 8. The Mission and Message of Maharisi Dayanand.

स्फुट ग्रन्थ-

१. भारतीय समाजशास्त्र (१९३२), २. हमारी राष्ट्रभाषा (१९४६), ३. हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि (१९४८), ४. वैदिकधर्म आर्यसमाज प्रश्नोत्तरी (१९३९), ५. आर्य धर्म निबन्ध माला, ६. गोरक्षा परम कर्तव्य और गोहत्या महापाप, ७. बौद्ध मत और वैदिक धर्म, ८. ब्रह्मपारायण यज्ञ की शास्त्रीयता (१९५२), ९. भक्ति कुसुमांजलि भाग-१, १०. भक्ति कुसुमांजलि भाग-२, ११. धर्मशिक्षा (९वीं तथा १०वीं श्रेणी के लिए), १२. वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान, १३. श्रद्धामार्त्त, १४. अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द।

संस्कृत ग्रन्थ-

१. महापुरुष कीर्तनम् (२०१६ वि.), २. महिलामणि कीर्तनम् (२०२० वि.-१९६३)

अंग्रेजी ग्रन्थ-

1. A Catechism of Vedic Dharma and Aryasamaj (1000), 2. The Glory of the Vedas 3. Christianity and the Vedic Dharma, 4. What is Arya Samaj?, 5. Concept of God in Christianity and Vedic Dharma, 6. The Sublimity of the Vedas 7. The Significance of the Vedic Sanskaras, 8. The Mission and Message of the Martyr., 9. Papers on the Vedic Teachings on world peace and Synthesis of Religion and Science., 10. Child Marriage Bill (published by Civil and Social Programme Association Bangalore.), 11. Vedic Sanskrit : Mother of All Languages, 12. Mahatma Buddha : An Arya Reformer.

कन्नड़ भाषा ग्रन्थ-आर्यसमाज मंगलोर द्वारा प्रकाशित-

१. जाति भेदविचार, २. वैदिक ईश्वर कल्पने, ३. ऋषि दयानन्द सरस्वतीवरू श्री मध्वाचार्यरू हतर सिद्धान्तगल तुलनात्मक विचार, ४. पशुबलि निषेध, ५. अस्पृश्यता निवारण, ६. आर्यसमाज वेन्दरेनू?, ७. वैदिक संध्याग्निहोत्र (आर्यसमाज बैंगलोर द्वारा प्रकाशित)।

लेखक के कुछ शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में बम्बई के भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित पुस्तक The Vedic Age द्वारा फैलाई गई भ्रान्तियाँ दूर करने का प्रयत्न किया गया है ।

विद्वान् पाठकों के मन में एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हमने 'वैदिक एज्' की विस्तृत आलोचना की ही क्यों इतना आवश्यक समझा जब कि इस प्रकार की पचासों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं? इसके उत्तर में निवेदन है कि 'वैदिक एज्' की भूमिका में भारतीय विद्याभवन के अध्यक्ष स्वर्गीय कन्हैयालाल जी मुन्शी ने लिखा था कि—

In the course of my studies I had long felt the inadequacy of our so-called Indian histories. I was planning an elaborate history of India in order that not only India's past might be described by her sons, but also that the world might catch a glimpse of her soul as Indians see it. The Bharatiya Vidya Bhavan which I founded in 1938, took over the scheme. —'The Vedic Age' Foreword P. 7

अर्थात् मैंने अपने अध्ययन के समय चिरकाल से तथाकथित भारतीय इतिहासों की अपर्याप्तता को अनुभव किया । अत: अनेक वर्षों से मैं भारत के इतिहास की एक विस्तृत योजना बना रहा था जिससे न केवल भारत माता के पुत्रों द्वारा भारत के भूतकाल का वर्णन किया जाये बल्कि संसार भी उसके आत्मा की वह झांकी ले सके जिस रूप में भारतीय उसे देखते हैं । मेरे द्वारा सन् १९३८ में प्रवर्तित भारतीय विद्याभवन ने इस योजना को अपने हाथों में ले लिया, इत्यादि ।

मैंने जब इस भूमिका को पढ़ा तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब भारत का प्राचीन इतिहास यथार्थ रूप में पढ़ने को मिलेगा; किन्तु इस पुस्तक को ज्यों-ज्यों पढ़ा त्यों-त्यों वेदना और निराशा बढ़ती गई, क्योंकि यह स्पष्ट ज्ञात हुआ कि वेद और वैदिक काल इत्यादि विषयक इस पुस्तक 'Vedic Age' में प्रकाशित विचारों में न केवल कोई भारतीयता वा मौलिकता नहीं प्रत्युत पक्षपातग्रस्त पाश्चात्य लेखकों का प्राय: अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए उनको भी मात कर दिया गया है जैसा कि मान्य अविनाशचन्द्र बोस एम०ए० पी०-एच्०डी० ने भूमिका में लिखा है । यह पुस्तक अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तक के रूप में नियत है जिससे विद्यार्थियों में वेद तथा वैदिक काल विषयक अनेक भयङ्कर भ्रम फैलने की संभावना है, अत: उनको दूर करने की मैंने विशेष आवश्यकता समझी । वैदिक एज् के पृ० २२५ पर बताया गया है कि भाषा-सम्बन्धी आधार पर सबसे पुराने वेद-ऋग्वेद की भाषा को लगभग १००० ई० पू० का माना जा सकता है । पृ० ३७८ पर वैदिक धर्म की बहुदेवता पूजावादी और अन्त में कहीं-कहीं अद्वैतवादी बताने का इसके लेखकों ने यत्न किया है । पृ० ३८९ पर लिखा है कि वैदिक काल में विवाह संस्कार के अवसर पर गौओं को मारकर उनके मांस से अतिथियों को तृप्त किया जाता था और पृष्ठ ३९३ पर लिखा है कि 'वैदिक काल में शराब लोकप्रिय पेय था ।' अथर्ववेद के विषय में बताया गया है कि वह जादू-टोने की बातों से भरा पड़ा है, इत्यादि । ऐसे अशुद्ध विचारों को विद्यार्थियों के मस्तिष्क में भरना और उनके मन में वेदशास्त्रों के प्रति अश्रद्धा पैदा करना कितना अनुचित कार्य है ! इसलिए दिन-रात लगकर मैंने उन आक्षेपों का सप्रमाण युक्ति-युक्त उत्तर इस पुस्तक द्वारा देने का यत्न किया है जो इस पुस्तक में अधिकतर पक्षपातपूर्ण पाश्चात्य विद्वानों का अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए बल्कि उनको भी मात करते हुए किये गये हैं । यह हर्ष की बात है कि भारतीय विद्याभवन ने इस भूमिका के सुयोग्य लेखक प्रिन्सिपल डॉ० अविनाशचन्द्र जी की वैदिक शिक्षाओं के महत्त्व-प्रदर्शक The Call of Vedas नामक पुस्तक और उसके पश्चात् Indian Inheritance नामक पुस्तक को प्रकाशित करके जिसमें वेद विषयक अध्याय डा० अविनाशचन्द्र जी बोस का लिखा हुआ है, अपने उस अपराध का (क्योंकि वेद-विषयक भ्रान्त विचारों को विद्यार्थियों के मस्तिष्क में भरना वस्तुत: महान् अपराध है) कुछ अंश तक परिमार्जन अथवा प्रायश्चित्त

कर लिया। मैं आशा करता हूँ कि इस युक्ति-प्रमाण-संगत आलोचना के प्रकाश में वे 'वैदिक एज्' के आगामी संस्करणों में उचित परिवर्तन करके अपनी सत्यप्रियता का परिचय देंगे।

मुझे इस बात का खेद है कि ग्रन्थ का विस्तार कुछ अधिक हो गया है, इसका कारण यह है कि यद्यपि मुख्यतया यह पुस्तक राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखी गई है तथापि अनेक मित्रों की इस इच्छा के अनुसार कि इसे अंग्रेजी जाननेवालों के लिए भी उपयोगी बनाया जाये मैंने स्थान-स्थान पर आवश्यक अनेक मन्त्रों के अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी के मूल उद्धरणादि दे दिये हैं जिनसे वे भी इससे लाभ उठा सकें। आशा है इस प्रकार यह ग्रन्थ अधिक संख्या में शिक्षित व्यक्तियों के लिए उपयोगी हो सकेगा।

मैं अत्यन्त मान्य विद्वान् श्री प्रिन्सिपल अविनाशचन्द्र जी एम०ए०, पी०-एच्०डी० (डबलिन) का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक के लिए अत्युत्तम भूमिका अंग्रेजी में लिखकर मुझे अनुगृहीत किया और पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ा दिया है। जिन्होंने उनकी भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित The Call of the Vedas और 'प्रबुद्ध भारत' आदि में प्रकाशित उनके वेद-विषयक उत्तम अंग्रेजी लेखों को पढ़ा है वे जानते हैं कि उनका वेद विषयक ज्ञान कितना विस्तृत और परिमार्जित है।

आनन्द कुटीर, ज्वालापुर (सहारनपुर) —धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

संकेत वा संक्षेप निर्देश

अ०	अथर्ववेद	अष्टा०	अष्टाध्यायी
उ०-उप०	उपनिषत्	उ०	उत्तरार्चिक
ऋ०-ऋग्०	ऋग्वेद	ऐ०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० सं०	काण्व संहिता	गृ० सू०	गृह्यसूत्र
गो० उ०	गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध	छा०	छान्दोग्योपनिषत्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण	पू०	पूर्वार्चिक (सामवेद)
बृ० उ० —बृह०	बृहदारण्यक उपनिषत्	बृ० पा०	बृहत्पाराशरी स्मृति
म० भा०	महाभारत	मी०	मीमांसा दर्शन
मु०	मुण्डकोपनिषत्	य०- यजु०	यजुर्वेद
राज नि०	राज निघण्टु	श०- शत०	शतपथ ब्राह्मण
समु०	समुल्लास	V.A.	Vedic Age

FOREWORD

(Principal Abinash Chandra Bose *M.A., Ph.D.*)

I extend a hearty welcome to Pandit Dharmadeva Vidyamartand's book on the Vedas which is the result of life-long work on the subject by this most devoted Vedic scholar.

There are two main aspects of the Vedas : first, the facts about their composition, and second, the contents and their significance. Traditionally the Vedas have been considered to be immortal, without human authorship revealed in the souls of sages. Oriental scholars, on the other hand, have tried to show them as near modern times as possible. But one thing stands out clearly : that the truths dealt with by the Vedas and the values upheld by them are what should be classed as ultimate. In this sense the Vedas are no more bound down to a date than, say, the law of gravitation is bound down to Newton's age.

In respect of contents, different views have been held about the meaning of the Vedas by different schools of interpreters. One of them is Sayanacharya who, in spite of his monumental work, is found to have read the mythologies of his own times (14th century A.D.) into the Vedas. Western orientalists struck out new lines, but, being (some of them with missionary zeal) attached to Christianity (exceptions are rare), they have shown a distinct tendency to consider everything that is at variance with their own religion (with its belief in a God in heaven exercising His will as He likes) to be crude and primitive. Sometimes they were disabled by a repressed mentality to realise the Vedic joy of living and the Vedic ennoblement of human nature through affiliation to a higher spiritual life. To their old-world sin-consciousness and modern 'obscenity'-consciousness, certain robust poetic visions of life, dealing particularly with married love, have appeared shocking. There have been Indian scholars, too, who, unacquainted with the spiritual background of the Vedic religion and its noble history through the ages have indulged in cheap denunciation of the Vedas, often surpassing their 'authorities', the western orientalists, in the virulence of their attack. But their surrender to their authorities is sometimes more dogmatic than the surrender of medieval European scholars to theological authorities. Pandit Dharmadeva has selected a book containing such an approach to the Vedas, for special criticism. It is, 'Vedic Age', published in Bombay, which is found on the list of text-books of many Indian Universities for students of ancient Indian history. The writer on Atharva Veda in that book states :

"Bloomfield's excellent monograph on the Atharva Veda,......offers practically everything that a student of the Vedic literature might wish to know about the Atharva Veda. The Section on the Atharva Veda in this chapter is mainly based on Bloomfield's monograph. (Vedic Age, p. 239, quoted on p. 41 of this book)."

Our enthusiastic worshipper of authority did not know that a student of Vedic literature or any other literature might wish to know many more things than what even a Bloomfield could offer. Our scholar not only accepts Bloomfield as his authority, but gives him a certificate for perfection.

.....there can be no doubt that Bloomfield was perfectly right in characterising the Atharva Veda as follows— On the whole, Atharva Veda is the bearer of the old tradition not only in the line of popular charms, but also to some extent its hieratic material.... (Vedic Age, p. 232)

The disciple outbids the authority in his logic, based on it :

"The 17th Kanda, consisting of only one hymn of purely magical contents, is a curious anomaly and must be regarded as a late accretion, though partly appearing also in the Pippalada text. (Vedic Age, p. 234)

The authority does not say that the 'hieratic material' cannot fill the whole or most of a single chapter.

Speaking of the Rigveda, the learned contributor to the Vedic Age says :

The Rigveda repeatedly refers to the attacks on the aborigines. (V.A., P. 261)

One should ask, does the Rigveda say the aborigines were attacked or do the western authorities say so? Our scholar continues :

They are called Krishnatvach (black-skinned) metaphorically. (V.A. p. 261)

How does our scholar know that Krishnatvach is used metaphorically?

Do the European authorities find a metaphor in the expression?

Pandit Dharmadeva has not mentioned the fact that the writer on the Rigveda in 'Vedic Age' considers the hymns to have been just 'manufactured'. There is at least one trait of the western orientalist that our Indian scholar did not share—the former's wide acquaintance with world literature, ancient and modern, and keen sensitiveness to poetic values. A reason for the lack of the right response to the appeal of the Vedas has been pointed out by a modern Professor of literature, T. Mascaro, whome Pandit Dharmadeva quotes in his book.

"If Sanskrit could find a group of translators with the same feeling for beauty of language and the sacred text in the original as the Bible has found in England, eternal treasures of old wisdom and poetry would enrich the times of today. Among those compositions, some of them living words before writing introduced, the Vedas, the Upanishads and the Bhagavad Gita would rise above the rest like Himalayas of the spirit of man". (The Himalayas of the Soul by T. Mascaro, P. 151)

I congratulate our author on the vast learning that his book discloses and the masterly hold on the subject. As a lover of literature I should wish the contents of the Vedas to be intensively studied for their spiritual, poetic, moral and social significance independently of the question of their divine or human origin. Even when so approached, the Vedas will appear to carry a deeper sense of spiritual, aesthetic and a more comprehensive vision of life than the modern man can claim to have experienced. And they will give a clue to the perennial spring at which the sages, saints and philosophers of the land have drunk through the millenniums and kept the soul of India alive.

प्रस्तावना

(प्राचार्य अविनाश चन्द्र बोस एम०ए०, पी एच०डी०)

वेदाध्ययन में समर्पित विद्वान् पण्डित धर्मदेव विद्या-मार्तण्ड द्वारा रचित पुस्तक (वेदों का यथार्थ स्वरूप) का, जो उनकी आजीवन साधना का परिणाम है, मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ।

वेदों के दो पहलू हैं - प्रथम, उनकी संरचना से संबंधित तथ्य, और द्वितीय, उनकी विषय वस्तु का महत्त्व। परम्परा से वेद शाश्वत हैं, नित्य हैं; वेद मनुष्य द्वारा रचित नहीं वरन् ऋषियों के हृदयाकाश में ईश्वरादिष्ट ज्ञान हैं। दूसरी ओर प्राच्यविद् विद्वानों का प्रयास यह दर्शाने का रहा कि वेदों को निर्मित हुए कुछ सहस्र वर्ष हुए हैं तथा वह संभाव्य सीमा तक आधुनिक समय के निकट हैं, परन्तु एक बात उभर कर सामने आती है कि वेदों में जिन सत्यों का लेखा-जोखा दिया गया है और उनमें जो मूल्य स्थापित किए गए हैं वह मूलभूत हैं। इस अर्थ में वेदों को उसी तरह किसी तिथि से नहीं बाँधा जा सकता जिस तरह कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को उसके समय से नहीं बाँधा जा सकता।

वेदों में वर्णित विषय के बारे में विचार करने वालों ने वेदों के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। इनमें से एक सायणाचार्य हैं, परन्तु उनकी बृहत् एवं स्मारकीय रचना वेदों को चौदहवीं शती की पौराणिक कथाओं के संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास मात्र प्रतीत होती है। पाश्चात्य प्राच्युवेत्ताओं ने वेदों के नए अर्थ सुझाए, लेकिन (कुछ ने मिशनरी उत्साह वश) ईसाई सम्प्रदाय से जुड़े होने के कारण (थोड़े से अपवाद भी हैं) उनमें अपने सम्प्रदाय से भिन्न विचारों को (एक ऐसे ईश्वर में आस्था, जो स्वर्ग में बैठकर जैसा चाहता है वैसा करता है) असभ्य तथा असंस्कृत समझने की प्रवृत्ति झलकती है। कभी-कभी वे अपनी दमित मानसिकता के कारण वेद वर्णित जीवन के प्रति हर्ष एवं उत्साह तथा उच्च आध्यात्मिक जीवन के माध्यम से मानव प्रकृति का उत्कर्ष अनुभव करने में असफल रहे हैं। उनके पुरातन पाप-बोध तथा आधुनिक अश्लीलता-बोध को मुखर काव्यात्मक जीवन कल्पनाएँ, विशेष रूप से विवाहित प्रेम को दिखाने वाली, चौंकाती-सी प्रतीत होती हैं। ऐसे भारतीय विद्वान् भी, जो वैदिक धर्म की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तथा इसे युगों के गरिमापूर्ण इतिहास से अनभिज्ञ थे, वेदों की ओछी भर्त्सना में संलग्न रहे हैं तथा अपनी उग्रताओं में वे बहुधा अपने पाश्चात्य विशेषज्ञों से भी आगे निकल गए हैं। लेकिन उनका अपने इन विशेषज्ञों के प्रति समर्पण अक्सर मध्यकालीन यूरोप के उन विद्वानों के ऐसे समर्पण से भी अधिक कट्टर है जो उन्होंने धर्म-विज्ञानियों के प्रति किया। पं० धर्मदेव जी ने वेदों के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण का समावेश करने वाली जिस पुस्तक को आलोचना के लिए चुना उसका नाम है **"वैदिक एज"**। यह पुस्तक बम्बई से छपी है तथा बहुत से भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तकों की उस सूची में सम्मिलित है जो प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए निर्धारित है।

इस पुस्तक में अथर्व वेद के बारे में लेखक कहता है-"ब्लूम फ़ील्ड का अथर्व वेद पर उत्कृष्ट निबन्ध वस्तुतः वह सब कुछ प्रस्तुत करता है, जो कि-वैदिक साहित्य का विद्यार्थी अथर्ववेद के सम्बन्ध में जानने की इच्छा रखता है। इस अध्याय में अथर्व वेद पर दिया परिच्छेद मुख्यतः- ब्लूम फील्ड की पुस्तक पर आधारित है। (वैदिक एज, पृष्ठ २३९), इस ग्रन्थ के पृष्ठ ४१ पर उदधृत है।"

विशेषता को पूजने वाले हमारे उत्साही लेखक नहीं जानते थे कि वैदिक साहित्य या अन्य किसी साहित्य का विद्यार्थी उससे कहीं अधिक जानने की इच्छा दर्शा सकता है ब्लूम फ़ील्ड भी नहीं दे सका है। हमारे विद्वान् ब्लूम फ़ील्ड को आधिकारिक तौर से प्रामाणिक ही स्वीकार नहीं कर रहे हैं, वरन् उसे पूर्णता का भी प्रमाण पत्र दे रहे हैं।

अथर्व-वेद के लक्षण वर्णन में ब्लूम फील्ड ने जो निम्नलिखित बात कही है वहनिःसन्देह बिल्कुल सही है "कुल मिलाकर अथर्व-वेद जादू टोने की जनप्रिय शृंखला तथा कुछ हद तक इसकी पौरोहित्य सामग्री की पुरानी परम्परा का वाहक है" (वै० एज-पृ० २३२)

शिष्य उन लेखकों से भी दो कदम आगे है जिनके कथन पर उसका तर्क आधारित है: "सत्रहवें काण्ड में विशुद्ध जादुई-विचार-तत्त्व का केवल एक ही मन्त्र, उनके अनुसार विस्मय जनक असंगति है और बाद में जोड़ा गया समझा जाना चाहिये यद्यपि इसका कुछ अंश पिप्पलाद पाठ में भी है। (वैदिक एज० पृ० २३४)

लेखक यह नहीं कहना है कि पौरोहित्य सामग्री, पूरे परिच्छेद या उसके अधिकांश भाग नहीं भर सकती। वैदिक एज का विद्वान् लेखक ऋग्वेद के बारे में बताते हुए कहता है:

ऋग्वेद में आदिवासी जातियों पर आक्रमण का वर्णन पुनः पुनः आया है। (वै० एज पृ० २६१)

यहां यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि क्या ऋग्वेद कहता है कि आदिवासियों पर आक्रमण किये गये या पाश्चात्य लेखक ही ऐसा कहते हैं? हमारे विद्वान् कहना जारी रखते हैं: आदिवासी आलंकारिक रूप से कृष्ण त्वच कहलाते हैं। (वै० एज २६१)

हमारा विद्वान् यह कैसे जानता है कि कृष्णत्वच् आलंकारिक रूप से प्रयोग किया गया है?

क्या यूरोप के प्रामाणिक लेखक इस शब्द में अलंकार पाते हैं?

पं० धर्मदेव ने इस तथ्य का उल्लेख नहीं किया है कि 'वैदिक एज' के लेखक ऋग्वेद के मन्त्र को बाद में 'निर्मित' हुआ मानते हैं। पाश्चात्य प्राच्य वेत्ताओं की कम-से-कम एक विशेषता यानी प्राचीन तथा आधुनिक विश्व साहित्य की विस्तृत जानकारी और काव्य मूल्यांकन की तीक्ष्ण सुग्राह्यता में हमारे भारतीय विद्वानों की कोई भागीदारी नहीं है। साहित्य के आधुनिक आचार्य- टी० मास्करो द्वारा: वेदों पर सही प्रतिक्रिया न होने का दिया गया, एक कारण पं० धर्मदेव ने अपनी पुस्तक में उदधृत किया है। यदि संस्कृत से अनुवाद के लिए भी भाषा के और पुनीत ग्रन्थों के मूल पाठ के लालित्य के लिये संवेदन शीलता रखने वाले वैसे ही व्यक्ति उपलब्ध होते जैसे कि इंगलेण्ड में बाइबल के अनुवादक थे, तो प्राचीन ज्ञान तथा काव्य की शाश्वत निधि से वर्तमान समृद्ध हो गया होता। इन रचनाओं में, जो लेखन विद्या से आरम्भ से पूर्व जीवित शब्दों में थे, वेद-उपनिषदद्द और भगवद् गीता सर्वोपरि होते तथा अन्य सब (ग्रंथों) की तुलना में मनुष्य की हिमालय समान मानव आत्मा के रूप में दिखाई देते। (आत्मा के हिमालय, लेखक मास्करो पृ० १५१)

इस पुस्तक से विस्तृत पाण्डित्य तथा विषय पर अप्रतिम अधिकार के लिए मैं लेखक को बधाई देता हूँ। साहित्य प्रेमी होने के नाते मेरी कामना है कि वेदों का गहन अध्ययन केवल इस विषय पर ही नहीं, कि उनका उद्गम दैविक है, या वह मनुष्य रचित है, बल्कि उनके आध्यात्मिक काव्यात्मक व नैतिक और सामाजिक महत्त्व पर भी हो। वेदों को यदि इन पहलूओं से भी परखा जाता है तो ज्ञात होगा कि इनमें आध्यात्मिकता, सौन्दर्य परकता और जीवन की व्यापक दृष्टि का गहन बोध उससे कहीं अधिक है जितने का दावा आधुनिक मानव अपने अनुभव के आधार पर कर सकता है। इनसे इस बात की कुंजी भी मिलेगी कि इस माटी के ऋषियों, सिद्धों तथा दार्शनिकों ने किस निर्झर से सहस्रों वर्षों तक अपनी ज्ञान पिपासा बुझाई है, और भारत की आत्मा को जीवित रखा है।

वेदों के संबंध में महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण

वेद निर्भ्रम और स्वतःप्रमाण क्यों हैं ?

क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्या-युक्त, तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है, और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे (जीव) सर्व-विद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान नहीं होते, इसलिए उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेद विषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है, अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों को भी प्रकाशित करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का (यदि) अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ-ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतःप्रमाण अर्थात वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण कहे जाते हैं और उनके भिन्न ऐतरेय, शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, ये परतःप्रमाण के योग्य हैं।

—ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका

मैं ब्राह्मण पुस्तकों को भी वेद नहीं मानता क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है। —जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, वे सब ऋषि-मुनि-प्रणीत और संहिता ईश्वर-प्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे (अर्थात् जीव) सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं, इससे जैसे वेद-विरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों को त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणों ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय हैं।

—भ्रमोच्छेदन

वेद किन का नाम है ?

जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको वेद कहते हैं।

—आर्योद्देश्य रत्नमाला

सृष्टि के आदि में वेदों का ज्ञान किन्हें और कैसे दिया गया ?

अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा, इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्त मान किया था।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

वेदों का श्रुति नाम क्यों है ?

सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्य विद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का "श्रुति" नाम पड़ा क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनानेवाले को साक्षात् कभी नहीं देखा। इस कारण से जाना गया कि 'वेद' निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए और उनको सुनते-सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

वेदों का ज्ञान नित्य है

जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं, इस प्रकार से पूर्व-कल्प में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि ईश्वर की जो विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उनकी वृद्धि, क्षय, और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्य स्वरूप ही मानना चाहिए। **—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**

क्या वेदों में इतिहास है ?

ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं, और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्म के पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं किन्तु विशेष जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है, किसी मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं। **—सत्यार्थप्रकाश समु० ७**

प्रत्येक मन्त्र के साथ ऋषि किसलिए लिखा होता है ?

ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद-मंत्रों के अर्थों का प्रचार करने लगे; फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है, इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेद-मन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेद-मन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं। **—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें; वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक है।

—सत्यार्थ प्रकाश

ऋषि लोगों को वेदों के अर्थ किसने और कैसे बताए ?

परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि जब-जब जिस-जिस के अर्थ जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो (कर) परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने सभी इष्ट मन्त्रों के अर्थ बताये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ-प्रकाश हुआ, तब ऋषि-मुनियों ने इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये, उसका नाम "ब्राह्मण" अर्थात् ब्रह्म जो वेद (है) उसका व्याख्यान-ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ।" **—स० प्र०, स० ७**

ऋषियों ने वेद-मन्त्रों का प्रकाश क्यों किया ?

वेद-प्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिए तथा जो लोग वेद-शास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिए निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिनके सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदांगों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश करें। **—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**

वेद संस्कृत भाषा में क्यों प्रकाशित किये गये ?

जो किसी देश-भाषा में प्रकाशित करता, तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाशित करता, उनकी सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिए संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं और वेद-भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है, उसी में वेदों का प्रकाश किया। **—सत्यार्थप्रकाश**

वेद के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो ?

विद्यामार्तण्ड पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार (स्वा० सर्मपणानन्द)

ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली

ऋषि दयानन्द अपने समय में अपने ढंग के अकेले थे। अकेले बिल्कुल अकेले, सौ में अकेले, हजार में अकेले, लाख में अकेले, करोड़ में अकेले, दुनिया के दो अरब मनुष्यों में अकेले। बस, साथी था तो वह भगवान् था जिसने उन्हें सारे विश्व से निराले होकर वेद के सच्चे अर्थ समझाने की सामर्थ्य दी।

उन्हें किस-किस का सामना करना पड़ा?

भारत में अन्ध-विश्वास तो थे ही, किंतु वेद के अर्थ को विपरीत करने में उनके सामने जो सबसे बड़ा अन्धविश्वास खड़ा था, वह विकासवाद का अन्धविश्वास था। इस घोर अन्धविश्वास को पश्चिमीय विज्ञान तथा पश्चिम की कुटिल राजनीति दोनों का समर्थन प्राप्त था। पश्चिमी विकासवादी कहते थे, 'प्राचीना आर्या मूर्खाः, प्राचीनत्वात्, अस्मदीय-प्राचीन-पुरुषवत्।' इस हेत्वाभासभरे अनुमान को देखकर हँसी भी आती थी और रोना भी। हँसी इसलिये आती थी मानो कोई किसी सती को कह रहा हो 'सति पत्यौ त्वं विधवा, स्त्रीत्वात्, प्रतिवेशिनीवत्'।

वेद में कितनी ही बुद्धिमत्तापूर्ण बात लिखी हो, किन्तु उसका अर्थ उलटा ही होना चाहिये, नहीं तो समझ लो कि वेद का पाठ विकृत हो गया है। वेद में बुद्धि-पूर्वक बात हो ही नहीं सकती, क्योंकि मानव के वैदिक पूर्वज हमारी अपेक्षा बन्दर के अधिक समीप थे। यदि आप इस विकासवाद के अन्धविश्वास का खेल देखना चाहें तो अथर्ववेद के इस मंत्र का सायण तथा ग्रिफिथ का अनुवाद देख लीजिये—

मुग्धा देवा उत शुनाऽयजन्त उत गोरंगैः पुरुधाऽयजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ (अथर्व कां ७, सू० ५; मंत्र ५)

इसका सायणकृत भाष्य इस प्रकार है—

एवं कर्मयज्ञात् ज्ञान-यज्ञस्योत्कर्षं श्रुत्वा कर्मयज्ञं निन्दन्विनाशिफल-कामस्तटस्थो ब्रूते—**"मुग्धाः"** कार्याकार्य-विवेक-रहिता—**(देवाः)** यजमानाः **(उत)** शब्दोऽयमप्यर्थः, शुनाऽपि अयजन्त। यज्ञो हि पशु-साधनकः। तत्र अत्यन्त-गर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्मयज्ञस्य निन्दा दर्शिता। अखाद्यानां परमावधिःश्वा। तथा **'उत'** शब्दः अप्यर्थे। **(गोः)** गोरूप-पशोरङ्गैः अवयवैरपि। "हृदयस्याग्रेऽवद्यति" (तै० सं० ६/३/१०/४) इति अङ्गावदानश्रवणात् अङ्गैरित्युक्तम्। अवध्यानां परमावधिर् गौः। पुरुधा बहुधा अयजन्त। एकदा करणे प्रमादाज्ञानादिकृतम् इति सम्भावना भवति, अतस्तन्निरासाय पुरुधेत्युक्तम्। सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिः यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः। एवं पूर्वार्धेन कर्मयज्ञं निन्दित्वा उत्तरार्धेन ज्ञानयज्ञप्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते। यो विद्वान् इमं यज्ञं यष्टव्यं परमात्मानं मनसा चिकेत जानाति स्म। तं तथाविधं गुरुं नः अस्माकं प्रवोचः प्रकर्षेण ब्रूहि। तेन प्रदर्शितं गुरुं ब्रूते। इहेह इहैव इदानीमेव ब्रवः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि।

मंत्र का यह भाष्य तो सायण का है, इस पर ग्रिफिथ का अनुवाद और टिप्पणी देखिये—

With dog the Gods, perplexed, have paid oblation, and with cow's limbs in sundry sacrifices. Invoke for us, in many a place declare him who with his mind hath noticed this our worship.

देवों ने परेशान होकर कुत्ते की भेंट अर्पित की और गऊ के अंगों के साथ छोटी भेंटें दीं । अनेक स्थानों पर उसको हमारे लिए जगाओ जिसने हमारी इस भेंट-पूजा को देखा है ।

With dog : no legend refering to this extraordinary sacrifice has survived. Perplexed : it seems impossible that mugdh's (perplexed, infatuated) can be the right reading here. A substantive in the instrumental case is required by the context. M. Victor henry reads murdhna, with the head, that is, with the horse's head given to Dadhyach, whcih, according to M. Beraigne (Religion, Vedique, 11 page 458) symbolizes Agni or soma.

इस प्रकार कुत्ते की यज्ञ-भेंट करने वाली कोई दन्त-कथा हमें उपलब्ध नहीं होती । इस मंत्र में **'मुग्धा'** का पाठ असम्भव प्रतीत होता है । प्रकरणानुसार यहाँ तृतीया विभक्ति होनी उचित प्रतीत होती है, इसलिये यहाँ **'मुग्धाः'** के स्थान पर **'मूर्ध्ना'** घोड़े का सिर दधीचि को भेंट में दिया जाना सम्भव हो सकता है । श्री मौशियर बर्गेन (Religion Vedic 11 Page 458) पृ० ४५८ जो कि अग्नि ओर सोम हो सकता है ।

यह देखिये, विकासवाद की करामात, क्योंकि ग्रिफिथ साहिब की विचारधारा से यह मंत्र मेल नहीं खाता, इसलिये मंत्र ही बदल डालना चाहिये ।

सुनते हैं कि गवर्गण्ड के राज्य में एक मनुष्य को फाँसी हुई । फांसी का फंदा उसके गले में पूरा नहीं आया । हुक्म हुआ कि जिसके गले में पूरा उतरे उसी को फांसी टांग दो । यही हाल यहां है । हमारे विकासवाद का फन्दा इस मंत्र के गले में पूरा नहीं उतरा तो बस, नया मंत्र बनाकर उसी को अथर्ववेद का मंत्र समझ लो । यह है विकासवाद का अन्धविश्वास !

इस बात का आज के युग में इतना आतङ्क है कि इसके विरुद्ध कुछ बोलना उपहास को नियन्त्रण देना है, परन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि इसमें जान क्या है ?

विकासवाद का मूलाधार है प्राणयात्रा-जन्य परिवर्तन, प्राण की रक्षा के लिए जिसे नंगे पाँव चलना पड़े उसके पैरा का चमड़ा धीरे-धीरे मोटा तथा शीतोष्णादि-द्वन्द्व-सहन-समर्थ हो जाता है । जिसे नंगे पैर न चलना पड़े उसका चमड़ा नरम पड़ता जाता है, परन्तु यह नियम एक सीमा तक ही चलता है ।

सींग, पूँछ, पंख आदि जो अंग मनुष्य के पास नहीं हैं, उन सब की उसे आवश्यकता है । यदि न होती तो नाना प्रकार के शस्त्र, नाना प्रकार के नौका-विमानादि तथा चामर और बिजली के पंखे आदि वह क्यों बनाता ? परन्तु आज तक उसके ये अंग क्यों प्रकट नहीं हुए ? जो जातियाँ सहस्रों वर्षों से नदी के किनारे रहती हैं और केवल मछली मारकर जीवन-निर्वाह करती हैं, उनका सद्यो-जात शिशु तैरना क्यों नहीं जानता ? क्या करोड़ों वैज्ञानिक अन्धविश्वास-वश हम पर रौब डालने के लिए हाथ उठाकर चिंघाड़-चिंघाड़कर कहेंगे कि उन्हें तैरने की आवश्यकता नहीं रही, इसलिये वे तैरना भूल गये ? तो भी इस बात पर अन्ध श्रद्धा के सिवाय किसी दूसरे आधार पर विश्वास किया जा सकता है ? कदापि नहीं ।

दूसरी ओर जो भैंस सहस्रों वर्ष से राजपूताने में रहती है, जिसे कभी डूबने योग्य पानी में तैरने का अवसर वर्षों में एक-आध बार आता होगा, उसका सद्यो-जात शिशु पानी में घुसते ही क्यों तैरने लगता है ?

मानव-जगत् तथा मानवेतर जगत् का यह पर्वताकार भेद आँखों से कैसे परे किया जा सकता है ? इसे आँखों से परे करने का एक ही उपाय है । विकासवादियों के भय के मारे आँखें बन्द कर लें । बस, फिर तो अन्धकार के सिवाय कुछ नहीं । परन्तु जब तक मस्तिष्क में तर्क की एक चिनगारी भी शेष है, कोई आँखें कैसे मूँद ले ?

अब लीजिये कछुए को, यह विचित्र जन्तु है ! इसे ज़रा उलट दीजिये, बस फिर एक पग भी नहीं चल सकता। इसलिये यदि कोई मोटर कार उलट जाये तो अंग्रेजी में कहा जाता है—The car has turned turtlle. परन्तु इससे भी विचित्र बात यह है कि इस जन्तु की पीठ पत्थर से भी अधिक कठोर है। दूसरी ओर इसका पेट अति सुकुमार है। हम पूछना चाहते हैं कि इस जानवर की पीठ कब और कहाँ रगड़े खा-खाकर कितने करोड़ वर्ष में इतनी कठोर हो गई ? तब क्या यह पीठ के बल चलता था, और फिर इस का पेट बराबर नरम है; यह कितने करोड़ वर्ष में कठोर होगा ? अब यह पीठ के बल चलना एकदम क्यों भूल गया वह करोड़ों वर्षों की आदत एक-दम कहाँ रफूचक्कर हो गई ? इसके पेट की सुकुमारता को देखकर तो कहा जा सकता है कि इसे पैरों के बल चलते मुश्किल से कुछ हजार वर्ष हुए होंगे, वह करोड़ों वर्षों की पीठ के बल चलने की आदत कुछ हजार वर्ष में कहाँ भाग गई ? और इसके पैर तो अभी तक पत्थर के समान कठोर नहीं हुए ?

अब एक और जीव-श्रेणी लीजिये। इन में से मैं मोर और कोयल को लेता हूँ। प्राण-रक्षा के निमित्त परिश्रम करने से मोर के पञ्जे तीक्ष्ण हो गये हों, डैने बलवान् हो गये हों, चोंच कठोर हो गई हो, यह सब-कुछ तो समझ में आता है, परन्तु यह सुन्दर पूँछ के चन्दे कहाँ से आ गये। मोर के कण्ठ तथा पूँछ की सुन्दरता और कोयल के कण्ठ की काकली का जन्म कैसे हुआ ? इस लम्बी सुन्दर पूँछ का सौन्दर्य कहाँ से आया और नृत्य-कला मोर ने कहाँ से सीखी ? उत्तर मिलता है कि सौंदर्य पर ही मोहित होकर मोरनी मोर की ओर आकृष्ट होती है, इसलिये यह उसकी प्राण-रक्षा के लिए आवश्यक है। वाह जी वाह ! यह भी एक रही ! पंहिले सुन्दर पूँछ बनी, तब मोरनी आकृष्ट हुई, परन्तु प्रश्न तो यह है कि सुन्दर पूँछ बनी कैसे ? चेतनाहीन प्रकृति में इस सुन्दर कलाकृति का विकास कैसे हुआ ? उत्तर एक ही हो सकता है, तर्क की आँख मूँद लो और विकासवादी महामहोपाध्याय जी के आगे हाथ जोड़कर कह दो—'सत्य वचन महाराज' नहीं तो आर्य-समाजी कहकर तुम पर धरती से मिटा दिये जाने का फतवा लगा दिया जायेगा, परन्तु हम तो टलनेवाले नहीं !

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव तथा मानवेतर जगत् में एक स्पष्ट भेद है।

मानव बिना सिखाए कुछ नहीं सीखता।

मानवेतर को जन्म से बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त हैं जिन्हें सीखने में मानव को सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। कबूतर को उड़ने की सिद्धि, भैंस को तैरने की सिद्धि, रेशम के कीड़े को रेशम बनाने की तथा मधुमक्षिका को मधु तथा मधुकोष बनाने की सिद्धि—ये सिद्धियाँ इन जीवों को जन्म से प्राप्त हैं, इसीलिए यह पशु अर्थात् द्रष्टा कहलाते हैं।

दूसरी ओर मनुष्य मनु अर्थात् मननशील कहलाता है। मनुष्य में जो अपत्य प्रत्यय है, यह आलङ्कारिक है अर्थात् मनन की सन्तान, अन्यथा मनुष्य तथा मनु पर्यायवाची हैं, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण के इस प्रमाण से सिद्ध है—

होता मनुवृतोऽयं हि सर्वतो मनुष्यैर्वृतः ॥ (ऐतरेय, अध्याय १०, खण्ड २)

हमने देख लिया कि यह विकासवाद एक थोथी, सारहीन, निराधार, तर्क-विरुद्ध, जर्जर कल्पना मात्र है, किन्तु यही आज एक दीवार बनकर हमारे और सच्चे वेदार्थ के बीच खड़ी है। इस दीवार को तोड़ दो !

अदृष्टवाद अथवा अपूर्ववाद

वेद का सच्चा अर्थ जानने में बाधक दूसरा वाद नवीन मीमांसकों का अदृष्टवाद अथवा अपूर्ववाद है। वेदवाणी की महिमा गान करते हुए पतञ्जलि महाराज ने कहा है—

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।

अर्थात्—वेदवाणी का एक शब्द भी ठीक जानकर उसे भली प्रकार प्रयोग में ले आवें तो वह कामधेनु है। इन मीमांसकों ने इसमें से 'सुप्रयुक्तः' यह कड़ी उड़ा दी है, 'सम्यग् ज्ञातः' का अर्थ ये करते हैं 'सम्यगुच्चारितः', इसीलिए इन्होंने यज्ञों का खूब विध्वंस किया और उसके साथ ही वेद का भी खूब विध्वंस किया। यज्ञ-प्रक्रिया का मूलतत्त्व जानने के लिए हमें दो शब्दों को समझना होगा—

तेज एव श्रद्धा, सत्यमाज्यम् अहुयतैव सत्यं श्रद्धायाम् ॥ (शत० ११ । २ । ४ । १)

अब इन मीमांसकों के कहे अनुसार उदात्तानुदात्त-स्वरित का ठीक विचार करके सम्यक् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक घृत अग्नि में डाल दिया तो बस, यज्ञ का पूरा-पूरा फल मिल जाएगा, क्योंकि इस कर्म से एक में एक अदृष्ट अथवा अपूर्व पैदा होता है, फिर उस क्रिया-कलाप का प्रत्यक्ष फल उस यज्ञ से चाहे बिल्कुल विपरीत ही क्यों न हो, किन्तु अदृष्ट का जादू सब विघ्नों को पार करके मनुष्य को इष्टसिद्धि तक पहुँचा देता है। यह अदृष्टवाद ही समस्त अन्धविश्वासों का प्राण है। भारत का सारा अधःपतन इसकी कृपा से हुआ।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि प्रतीक है, श्रद्धा उसका प्रत्यायनीय है; प्रतीक प्रत्यक्ष है, प्रत्यायनीय अदृष्ट है, अर्थात् अग्निहोत्र में जब अग्नि जलाकर उसमें घृत की आहुति करते हैं तो इस स्थूल क्रिया के पीछे 'श्रद्धा में सत्य की आहुति' यह सूक्ष्म भावना छिपी है। यह अदृष्ट है, इसको जानकर जीवन में आचरण करने से मनुष्य का कल्याण होता है; किन्तु इसके विरीत यह मध्यकालीन मांसल-प्रज्ञ मीमांसक लोग समझते हैं कि विधि-पूर्वक मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि में घृत डालते ही यज्ञ पूरा हो गया और उसी समय यजमान के परलोक-बैङ्क में अदृष्ट का चैक जमा हो गया। यहाँ 'सम्यग् ज्ञातः' के पश्चात् 'सुप्रयुक्तः' का कुछ काम नहीं, बस 'सम्यगुच्चारितः' से काम पूरा हो गया। मीमांसकों के अदृष्ट का प्रतीक-मात्र से सम्बन्ध है, प्रत्यायनीय से कुछ नहीं, इसीलिए शतपथ-ब्राह्मणादि समस्त ग्रन्थों के भाष्य उपहसनीय दीखते हैं।

वर्तमान युग के एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

कम्यूनिस्ट झण्डे पर हँसिया और हथौड़े का चित्र बना है। यह हँसिया और हथौड़ा प्रतीक हैं। **हँसिया का प्रत्यायनीय है किसान और हथौड़े का प्रत्यायनीय है मजदूर।**

अब यदि कहा जाय कि हँसिया-हथौड़े की रक्षा करो, हँसिया-हथौड़े के अपमान से राष्ट्र का नाश हो जाता है तो इसका अर्थ हुआ कि राष्ट्र के किसान-मजदूरों की रक्षा करो, इनके अपमान से राष्ट्र का नाश हो जाता है। तब तो बिल्कुल ठीक है, परन्तु इसको न समझकर कोई मनुष्य हथौड़े को नमस्कार करके फूल चढ़ाने लगे, तो उसे तो कुछ भी न मिलेगा। और यदि हथौड़े को पैर से लात मारे तो थोड़ा-सा पैर के तले में दर्द होकर रह जायगा, इस अपमान का और तो कुछ फल न होगा।

इस प्रकार हँसिया हथौड़े का अदृष्ट किसान और मजदूर है, परन्तु मीमांसकों के विचारानुसार 'हँसियायै स्वाहा' कहकर घृत की आहुति अग्नि में डालते ही एक अदृष्ट पैदा हो जाता है, बस फिर कल्याण में क्या देर है?

इस अदृष्ट शब्द के ठीक न समझने से कितना भयङ्कर परिणाम हुआ, यह कहकर बताने की आवश्यकता नहीं। हम अपनी बात को पुष्ट करने के लिए यहाँ शतपथ-ब्राह्मण का एक प्रमाण उपस्थित करते हैं जो बिल्कुल पर्याप्त होगा—

तद्धैतज्जनको वैदेहः याज्ञवल्क्यम् पप्रच्छ वेत्याग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या ३ इति। वेद सम्राडिति। किमिति पय एवेति। २। यत् पयो न स्यात् केन जुहुया इति। व्रीहियवाभ्यामिति। यद् व्रीहियवौ न स्याताम् केन जुहुया इति। या आरण्या ओषधय इति। यदाऽऽरण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति। वानस्पत्येनेति। यद्वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहुया इत्यद्भिरिति। यदापो न स्युः केन जुहुया इति। ३। स होवाच न वा इह तर्हि किंचनासीदथैतदहूयतैव सत्यं श्रद्धायामिति। वेत्थ याज्ञवल्क्याग्निहोत्रं धेनुश्शतन्ते ददामीति होवाच। ४।

—शत० ११ । २ । २ से ४ तक।

सो, यह इस प्रकार हुआ कि एक समय वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! अग्निहोत्र का तत्त्व जानते हो ?

याज्ञ०—हाँ सम्राट् ! जानता हूँ ।

जनक—किस पदार्थ से हवन करते हो ?

याज्ञ०—दूध से ।

जनक—यदि दूध न मिले तो काहे से हवन करोगे ?

याज्ञ०—जौ-चावल से ।

जनक—यदि जौ-चावल न मिलें तो किससे हवन करोगे ?

याज्ञ०—तो जो कोई जंगली अनाज मिलेगा उससे ।

जनक—यदि जंगली अनाज न मिले तो किससे हवन करोगे ?

याज्ञ०—तो जंगली फलों से ।

जनक—यदि जंगली फल न मिलें तो किससे हवन करोगे ?

याज्ञ०—जल से ।

जनक—यदि जल न मिले तो किससे हवन करोगे ?

तो इस पर याज्ञवल्क्य बोले—जब केवल वेद ही था, और यह सब क्रिया-कलाप कुछ नहीं था, तब भी हवन होता ही था, वह हवन सत्य का श्रद्धा में होता था । इस पर जनक ने कहा कि हाँ याज्ञवल्क्य ! तुम यज्ञ को ठीक जानते हो, मैं तुम्हें सौ गाय देता हूँ । ४ ।

इसीलिये इसी प्रकरण में, प्रथम कांड में लिखा है कि—

वाग्ह वा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री । मन एव वत्सस्तदिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्तानेव तस्मात् समान्या रज्वा वत्सं च मातरं चाभिदधाति । तेज एव श्रद्धा सत्यमाज्यम् । १ ।

इस अग्निहोत्र की दूध देनेवाली गाय वाणी है, मन उसका बछड़ा है । सो, यह मन और वाणी एक-समान होते हुए भी पृथक्-से हैं, इसलिये एक रस्सी से गाय और बछड़े को बाँधता है । यहाँ श्रद्धा अग्नि है और सत्य घृत है । यहाँ स्पष्ट है कि गाय वाणी का प्रतीक है और बछड़ा मन का प्रतीक है, रस्सी दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध का प्रतीक है । अग्नि श्रद्धा का और घृत सत्य का प्रतीक है ।

इस पर कहा जायगा कि तब तो ये अग्नि-होत्रादि यज्ञ एक प्रकार के नाटक हुए, जिनमें शूर्प, अग्निहोत्रहवणी, पुरोडाशादि अभिनय करने आते हैं तो उसका उत्तर हाँ में है ।

भरतनाट्यशास्त्र में लिखा है—'यजुर्वेदादभिनयम्' । नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने अभिनय यजुर्वेद से लिया, इसीलिये अब तक नाटक में अभिनय-कर्ताओं को पात्र कहा जाता है । यज्ञों में जो काम पात्रों से लिया जाता था वह नाट्य में स्त्री-पुरुषों से लिया गया, किन्तु नाम वही पात्र रहा; यही नहीं, स्वयं शतपथ-ब्राह्मण में अग्निहोत्र को काव्य कहा गया है ।

ऊपर जो वाक्य उद्धृत किया गया है उस प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य अपने से प्राचीन किसी ऋषि के श्लोकों का उद्धरण देकर अथवा स्व-निर्मित श्लोक उद्धृत करके कहते हैं—

तदप्येते श्लोकाः। किंस्विद् विद्वान् प्रवसत्यग्निहोत्री गृहेभ्यः कथमस्य काव्यम्। कथं संततोऽग्निरिति। कथंस्विदस्यानपप्रोषितं भवतीत्येवैतदाह। ५। यो जविष्ठो भुवनेषु स विद्वान् प्रवसन् विदे तथा तदस्य काव्यम् तथा संततोऽग्निरिति। मन एवैतदाह मनसैवानपप्रोषितं भवतीति। ६।

जब अग्निहोत्री विद्वान् प्रवास में हो, घर से बाहर हो तो तब क्या होगा? प्रवास में रहते हुए भी अग्निहोत्र की दृष्टि से अप्रवास हो, वह कैसे होगा, उसके काव्य का क्या बनेगा, अग्नि अविच्छिन्न कैसे रहेगा? इस प्रश्न का उत्तर अगली कण्डिका में है—जो इस संसार में सबसे तीव्र गतिवाला है, वह विद्वान् ज्ञान देने के लिए प्रवास में साथ है, उसी के द्वारा काव्य की रक्षा होगी, अग्नि अविच्छिन्न रहेगा। सो यह इशारा मन की ओर है। मन के द्वारा प्रवास, अप्रवास हो जायगा, क्योंकि श्रद्धा-रूप अग्नि मन में है और अग्निहोत्र-रूप काव्य उसके मन में उसके साथ है।

इस प्रतीक-प्रत्यायनीय के रहस्य को न समझकर मध्यकालीन मीमांसकों ने विचित्र धाँधली मचाई है। कात्यायन-श्रौत-सूत्र में लिखा है—"**अवकीर्णिनो गर्दभेज्या।**"

अर्थात् जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग कर बैठे उसे गर्दभेज्या करनी चाहिये। अब स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग करनेवाले का प्रायश्चित्त अभीष्ट है, इसलिये मूर्खता का प्रतीक गधा चुना गया। साथ ही यह भी बताया गया कि यदि तू गधे से कठिन परिश्रम करना तथा जो मिले, खाकर प्रसन्न रहना, यह सीखेगा तो फिर ब्रह्मचर्य भङ्ग न करेगा—यही प्रायश्चित्त का भाव है। प्रायश्चित्त का अर्थ प्र = अग्रे अय = गमनम्, चित्तम् = दृढ़-निश्चयः अर्थात् 'अग्रे गमनाय दृढ़-निश्चयः, इस प्रकार हुआ। तूने भूल की, गर्दभेज्या द्वारा तुझे दण्ड मिल गया, अब कमर कसके उठ और "आगे बढ़ने का दृढ़ निश्चय" कर। अब तक यह गर्दभेज्या, भारत के ग्राम-ग्राम में प्रचलित है। जब कोई ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी अपराध करता है तो उसे गधे पर चढ़ाया जाता है। इस यज्ञ का स्थान भी वही शास्त्रोक्त है, अर्थात चौराहा, सो ब्रह्मचर्य का अपराधी गधे पर चढ़कर चौराहे में घूमे यह तो प्रायश्चित्त हुआ, किन्तु यह भी तब होगा जब प्रायश्चित्ती इसके भाव को ठीक जानकर, उसे सुप्रयुक्त भी करेगा। केवल रीति-निर्वाह-मात्र से कुछ लाभ न होगा। यहाँ गधा तो मूर्खता—अध्यवसाय और स्वल्पाहार का प्रतीक मात्र है। गधे पर चढ़ना तो दृष्ट है; अदृष्ट भावना तो गधे से कुछ सीखना है और कुछ भूलना है। मूर्खता का परित्याग, अध्यवासाय और तप का ग्रहण, यह इस प्रतीक का प्रत्यायनीय है, परन्तु अब मध्यकालीन मीमांसकों की लीला देखिये—

जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य भंग करे वह गधे को काटकर चौराहे में हवन करे।

भला पूछिये तो सही कि यह प्रायश्चित्त क्या हुआ? एक पाप को दूर करने के लिए उससे भी बड़ा पाप कर डाला! ब्रह्मचारी ने तो व्रत भङ्ग किया और गधा बेचारा निरपराध मारा गया! परन्तु बोलिये मत! अदृष्ट उत्पन्नं हुआ, अपूर्व उत्पन्न हुआ। कहीं कोई मीमांसक आप पर भी प्रहार न कर बैठे!

ज़रा आगे और लीला देखिये। गधा मारा गया; उसका बटवारा भी हो गया। एक भाग होता को, एक अध्वर्यु को, एक उद्गाता को, एक यजमान को मिला, परन्तु सबसे बढ़िया भाग तो ब्रह्मा जी को मिलना चाहिये। सो देखिये, चौराहे में से कुछ दबाए लिये चले आ रहे हैं! आप उत्सुकता से पूछेंगे वह क्या है? सो सुनिये। "शिश्नात् प्राशित्रावदानम्" अर्थात् ब्रह्मा जी को गधे का——मिले। जब घर पहुँचेंगे तो ब्रह्मा जी की पत्नी और बच्चे यह प्रसाद पाकर कितने प्रसन्न होंगे? वाह-वाह! कैसे उछलेंगे? बोलो मत, अदृष्ट उत्पन्न हुआ!

इस पर आप पूछेंगे कि तुम ही कहो कि इस सूत्र का अर्थ क्या है ? तो सो सुनिये—इस प्रकार उपस्थेन्द्रिय का दुरुपयोग करनेवाले बालक को चतुर्वेदविद् ब्रह्मा, जो इस विज्ञान का विशेषज्ञ हो, उसकी शरण में ले जावें और उसकी देख-रेख में रहकर इस इन्द्रिय का पूर्ण सुधार करें, जिससे फिर भूल न हो । तब प्रश्न होगा कि फिर वह ब्राह्मण खावें क्या ? उत्तर यह है कि इस सुधार के विज्ञान से ही उनकी जीविका भी चलेगी । जिस प्रकार नेत्र-विशेषज्ञ नेत्र की कमाई खाते हैं इसी प्रकार शिश्न-विशेषज्ञ शिश्न-सुधार की कमाई खावेंगे और यह श्रद्धा-पूर्वक उन तक पहुँचाना यजमान का कर्तव्य है, इसलिये इसे यज्ञ का अंग बनाया । इस प्रकार हुआ "शिश्नात् प्राशित्रावदानम्" । सो इस प्रतीक-प्रत्यायनीय के मर्म को न जानकर अदृष्टवादियों ने जो वेद का विध्वंस किया उससे ऋषि दयानन्द ने हमारा उद्धार किया, **धन्य हो दयानन्द !**

विनियोगवाद

अब वेदार्थ-ज्ञान का तीसरा महाविघ्न विनियोगवाद हमारे सामने आता है । विनियोग किसको कहते हैं ? **अन्यत्रोपात्तानां वाक्यानां यथास्थानमुपयोगो विनियोगः**—जो वाक्य किसी एक ग्रन्थ के विशेष प्रकरण में पड़े हों, उनको प्रसङ्गानुसार किसी वैसे ही प्रकरण में इस ढङ्ग से प्रयोग करना जिससे वे उस प्रसङ्ग में फब जावें, यही विनियोग कहलाता है । जैसे, गीता का यह वाक्य '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥**' (अ० २, श्लोक २७) —जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी, जो मरा है उसका जन्म अवश्य होगा, इसलिये अवश्यम्भावी बात पर तुम्हें शोक करना उचित नहीं ।

यदि यह श्लोक किसी उपदेशक द्वारा किसी ऐसे अवसर पर पढ़ दिया जाये जहाँ किसी जवान पुत्र की देश-सेवा के कार्य में मृत्यु हो गई तो वह इसका ठीक विनियोग होगा ।

परन्तु किसी कन्या के विवाह पर कन्या की विदाई के समय यह वाक्य पढ़ा जावे, तो इसका अनुचित उपयोग होगा । यह विनियोग नहीं, दुर्नियोग होगा । अब किसी वाक्य का विनियोग हुआ है अथवा दुर्नियोग, इसके निर्णय करने का उपाय यह है कि पहिले उस वाक्य का ठीक अर्थ जानकर पीछे विनियोग को देखना चाहिये कि विनियोज्य वाक्य का ठीक अर्थ के अनुकूल है या नहीं, किन्तु इसके ठीक विपरीत मध्यकाल के मीमांसकों ने विनियोग-वाक्यों का अर्थ निश्चित करके वेद को उसके पीछे चलाया । उदाहरण के लिए, मैं यजुर्वेद में अध्याय ३७ मंत्र १२ को लेता हूँ ।

मन्त्र इस प्रकार है—

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः ।
पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजाम्मे दाः ॥

सुषदा पश्चाद् देवस्य सवितुराधित्ये चक्षुर्मे दाः ।
आस्त्रु तिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषम्मे दाः ॥

विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये ओजो मे दाः ।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ॥

पति पत्नी की प्रशंसा में पत्नी से कहता है—"हे पत्नि, मेरा धर्म है कि मेरे रहते कोई तेरी ओर आँख न उठा सके और तुझे सदा उचित आदर से देखे । इस प्रकार अनाधृष्टा तू अग्नि के राज्य में मुझे आयु देनेवाली हो, मेरी दक्षिण दिशा में अर्थात् वीर्य्य-शक्तिसम्पन्न होने की दशा में तू पुत्रवती होकर इन्द्र के राज्य में मुझे प्रजा देनेवाली हो, उचित रूप से घर की देख-रेख के लिए घर में बैठनेवाली सुषदा होकर तू मेरे घर-रूपी सवितृ-मण्डल में मुझे आँख देनेवाली हो । चारों ओर का ठीक-ठीक गृह-वृत्तान्त मुझे सुनानेवाली, अतएव आश्रुति बनकर तू उत्तर दिशा में अर्थात् मेरे वामाङ्ग में धाता के राज्य

में मेरी गृहलक्ष्मी की पोषक बन, मेरे सिर पर धारने योग्य विधृति अर्थात् छत्र-रूप बनकर तू बृहस्पति के राज्य में अर्थात् मेरे मस्तिष्क में ओज भरनेवाली बन। तू सब नाष्ट्रा अर्थात् व्यभिचारादि द्वारा हमारा जीवन नष्ट करनेवाली दुराचारिणी स्त्रियों से मेरी रक्षा कर, सो किस प्रकार ? कि—

मनोरश्वासि = अन्तःकरणस्य व्यापिका भवसि।

भावार्थ—"तू मेरे मन में इस प्रकार व्याप जाती है कि किसी दुराचारिणी के लिए उसमें स्थान ही नहीं रहता।"

यह इस मन्त्र का ऋषि-दयानन्द-कृत अर्थ है। कितना स्पष्ट, कितना प्रकरणानुकूल, कितना युक्ति-सङ्गत ! मन्त्र में पड़ा हुआ पुत्रवती शब्द पुकार-पुकारकर कह रहा है, कि इसमें पत्नी का वर्णन है, इसका विनियोग पृथिवी में हुआ है। सो इसमें कुछ अयुक्त बात नहीं। विवाह-संस्कार में पति पत्नी से कहता है "द्यौरहं पृथिवी त्वम्"—हे पत्नी ! मैं द्यौ हूँ, तू पृथिवी है। यहाँ पति को बतानेवाला द्यौः शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसका चमत्कार दिखाने का यहाँ प्रसङ्ग नहीं, वह यथास्थान दिखाया जायगा, किन्तु यहाँ पृथिवी कहकर वेदवाणी ने स्पष्ट-रूप से पत्नी का वर्णन किया है। अब यदि मूल के पुत्रवती शब्द के पीछे पृथिवी को चलकर इस मन्त्र का अर्थ समझा जाय तो वह कितना शिक्षाप्रद तथा उत्साह-वर्द्धक गृहस्थाश्रम में हमारा दर्शन बनता है ! वेद की महिमा इससे कितनी स्पष्ट दिखती है। परन्तु म्ध्यकालीन भाष्यकारों ने वेद के पीछे विनियोग को न चलाकर, विनियोग के पीछे वेद को चलाया है।

उनका व्यवहार ठीक इसी प्रकार है जैसे कोई तैयार कपड़ों की दुकान पर जाकर एक पाजामा माँगे। जब वह पहिनकर देखे तो पता लगे कि पाजामे की टाँगें छोटी हैं, तब बड़ी टाँगोंवाला पाजामा दिखाने के स्थान में दुकानदार ग्राहक से माँग करे कि कृपाकर के टाँग कटाकर आ जाइए, पाजामा आपको पूरा आ जाएगा। विनियोग के पीछे मूल को चलाना, पाजामे के पीछे टाँग को कटाने के सदृश घोर अत्याचार तथा पराकाष्ठा की मूर्खता है, किन्तु इसी मूर्खता का साम्राज्य मध्यकालीन मीमांसकों के द्वारा किए गए भाष्यों में दीखता है। ऊपर वर्णित मन्त्र का महीधरकृत भाष्य देखिए—

"हे पृथिवि ! जो तू पूर्व दिशा में राक्षसों से अनाधृष्टा है, अग्नि के आधिपत्य में मुझे (यजमान को) आयु दे। जो तू दक्षिण दिशा में इन्द्र के आधिपत्य में पुत्रवती है, सो तू मुझे संतान दे। जो तू पश्चिम दिशा में सुषदा अर्थात् जिसमें सब भली प्रकार बैठें ऐसी है, सो सविता देव के आधिपत्य में मुझे नेत्र दे। हे पृथिवि, जो तू उत्तर दिशा में ब्रह्मा के आधिपत्य में आश्रुति है अर्थात् ब्राह्मणों के वेद-श्रवण से युक्त है, सो तू मुझे धन की पुष्टि दे। जो तू ऊपर की दिशा में बृहस्पति के आधिपत्य में विधृति है, सो मुझे ओज दे। हे महावीर पात्र के दक्षिण ओर की भूमि, तू सब नाशकारक पिशाचादि से हमारी रक्षा कर। हे महावीर के उत्तर भाग की भूमि, तू राजा मनु की घोड़ी है।"

इसी प्रकार पशुयाग में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उनका ऊटपटाँग अर्थ इसलिए किया गया कि इनका विनियोग पशु-संज्ञपन में है। अब यदि मूल मन्त्र के पीछे विनियोग को चलाते तो इन भाष्यकारों को पशु शब्द का भी ठीक अर्थ ज्ञात हो जाता और संज्ञपन का भी, परन्तु इन विनियोग के दास मन्दमति लोगों ने पशु और संज्ञपन दोनों शब्दों के साथ जो लीला की है उस पर रोएँ अथवा हँसें, यह कहना कठिन है। हँसी इसलिए आती है कि यह अर्थ बिल्कुल असम्भव है। पशु के माता-पिता से अनुमति माँगना, फिर उनका अपने बच्चे को मारने की अनुमति देना, फिर मरे हुए बच्चे की वाक्-प्राण आदि की शुद्धि सब ही नितान्त असम्भव है। उधर रोना इसलिए आता है कि इन लोगों ने वेद-जैसी अमूल्य निधि को सारे संसार का उपहास-पात्र बना डाला है। प्रथम तो संज्ञपन का मारना अर्थ सम्भव ही नहीं, और यदि कदाचित् व्याकरण द्वारा यह उत्पन्न भी हो सकता हो तो सम्यग् ज्ञान देना इस प्रसिद्धार्थ को छोड़कर प्रकरण-विरुद्ध असम्भव अर्थ को मन्त्रों पर क्यों लादा जाय, यह बिल्कुल नहीं समझ में आता। संज्ञपन शब्द के अर्थ का निर्णय करने में निम्न बातें विचारणीय हैं—

संज्ञपन का अर्थ 'मारना' करने में मरे हुए पशु को यज्ञ में डालना पड़ेगा, किन्तु शतपथ स्पष्ट करता है कि—

जीवमेव देवानां हविरमृतममृतानाम् (शत० ३ । ८ । २ । ४)

देव लोग जीवित हैं, मुर्दे नहीं हैं, इसलिये उनकी हवि भी सजीव ही हो सकती है, मुर्दा नहीं ।

इसलिए स्पष्ट है कि पशुयाग में जो मंत्र दिये गये हैं वे जीवित पशु के ही अंगों में प्राण संचार करनेवाले हैं, न कि मुर्दे के, और यह आहुति जीवन-काल में ही दी जाती है । यत: प्राण-संचार से पशु के अंग और भी सजीव हो उठते हैं ।

कहा जा सकता है कि पशुयाग में जो पशु के अङ्ग-अङ्ग विभक्त करने का वर्णन है सो यह भी जीवित का ही होना चाहिये, क्योंकि शतपथ ने स्पष्ट कह दिया है "जीवं वै देवानां हवि:"—ज़िंदा देवताओं की हवि ज़िंदा ही हो सकती है, मुर्दा नहीं ।

अब प्रश्न यह होगा कि क्या यह भी सम्भव है कि पशु ज़िंदा भी रहे और उसके अङ्ग-अङ्ग विभक्त हो जावें ? तो इसका उत्तर 'हाँ' में है । इस गोरखधन्धे को सुलझाने से पहिले हम पशु शब्द का अर्थ खोलकर दिखलाना चाहते हैं । पशु का अर्थ है बालक, क्योंकि बालक में मनन-शक्ति पीछे प्रादुर्भूत होती है, आरम्भ में उसका जीवन निसर्ग-बुद्धि (Instinct) से चलता है । पशु जीवन-भर (Instinct) निसर्ग-बुद्धि से ही देखते हैं, किंतु मनुष्य मनन-शक्ति की औलाद है, उसकी मनन-शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, सो वह पशु (पश्यतीति पशु:) अवस्था में निकलकर मनु होता जाता है ।

अथर्ववेद में मन्त्र आया है—

वितिष्ठन्ताम् मातुरस्या उपस्थात् नानारूपा: पशवो जायमाना । (अथर्व० का० १४, अनु० २, मन्त्र २६)

इस मन्त्र में नववधू के स्वागत में आशीर्वाद दिया गया है कि इस माता की गोद से पशु जन्म लें उन्हें प्रतिष्ठा लाभ हो ।

इस मन्त्र के अनुवाद में ग्रिफिथ जैसे कट्टरपन्थी को भी पशु का अर्थ babies करना पड़ा है ।

यजुर्वेद में भी लिखा है—

देवा यद् यज्ञम् तन्वाना अबध्नन् पुरुषम् पशुम् । (यजु:० ३१ । ५१)

विद्वान् जो पवित्र यज्ञ करते हैं उसमें पुरुष पशु को बाँधते हैं । यह तो हुई पुरुष सामान्य की बात, अब जो घोड़ा-गधा आदि पशुओं के नाम आते हैं वे ब्राह्मण-क्षत्रियादि गुणवाले पुरुषों के नाम हैं । देखिए—

क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानुरासभो ब्राह्मणमज: । (शत० ६ । ४ । ४ । १४)

घोड़ा क्षत्रिय के अनुकूल गुण वाला है, वैश्य गधे के और ब्राह्मण बकरे के गुणवाला ।

सो जो छाग अर्थात् बकरी का बच्चा है यह गुरुकुल में प्रवेशार्थी छोटे बालक का नाम है, क्योंकि वह ऐसा नम्र तथा भोला-भाला है, इसीलिए अंग्रेजी में भी Innocent as a lamb यही उपमा दी जाती है ।

इस बालक को जब व्यायाम की शिक्षा दी जाती है तो उसका एक-एक अङ्ग अलग दिखने लगता है और वह ज़िंदा भी रहता है, इस प्रकार का बालक ही देवताओं की हवि होता है अर्थात् राष्ट्र के जिस विभाग के लिए उसे तैयार करना हो उसके लिए उपयोगी होता है । बेडौल शरीरवाला अर्थात् चर्बी से लदा हुआ अथवा अस्थि-पञ्जर-मात्र बालक यज्ञ अर्थात् संगठन के किसी काम का नहीं, उसकी चर्बी पेट से कटकर व्यायाम द्वारा जगी हुई, प्राण-शक्ति द्वारा जहाँ उसकी आवश्यकता है वहीं पहुँचनी चाहिये, यही चर्बी के हवन का भाव है । इस प्रसंग में कालिदास का यह श्लोक लीजिये—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ (कुमारसम्भव: १. ३१)

कालिदास पार्वती के शैशव से यौवन में प्रवेश का वर्णन कर रहे हैं—

जिस प्रकार चित्रकार की तूलिका चित्र में एक-एक अङ्ग को विभाग करके अलग-अलग दिखा देती है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल की पंखड़ी खिल जाती है उसी प्रकार नवयौवन ने पार्वती के अङ्ग-अङ्ग का विभाग करके उसे सुन्दर बना दिया । अब यहाँ क्या आप यह अर्थ करेंगे कि नवयौवन ने छुरी लेकर पार्वती के अङ्ग-अङ्ग काट डाले ? इसी प्रकार कालिदास का एक श्लोक और लीजिये, मृगया की प्रशंसार्थ 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में वे लिखते हैं कि—

"मेदश्छेद-कृशोदरं लघु भवत्युत्थान-योग्यं वपु:" अर्थात् मृगया से चर्बी कट जाती है और शरीर हल्का और फुर्तीला बन जाता है । अब यहाँ क्या यह अर्थ किया जायगा कि मृगया छुरी लेकर पेट की चर्बी काट डालती है ? कदाचित् नहीं । तो चर्बी जाती कहाँ है ? अग्नि के अर्पण हो जाती है । किसी डॉक्टर से पूछ लीजिये, वे आपको बता देंगे कि व्यायाम से चर्बी ईंधन के समान जलकर छँट जाती है । यही चर्बी की अग्नि में आहुति दे ।

जब तक, शतपथ का **"जीवमेव देवानां हवि:"** ज़िन्दा ही देवताओं की हवि हो सकता है मुर्दा नहीं, यह वाक्य विद्यमान है, तब तक करोड़ों पण्डित भी इकट्ठे होकर यज्ञ में पशु-हिंसा सिद्ध नहीं कर सकते ।

इसके अतिरिक्त सारे वैदिक वाङ्मय में पशु-याग-वादी एक स्थान पर भी "पशुं मारयन्ति अथवा प्राणैर्वियोजयन्ति" ऐसा वाक्य नहीं दिखा सकते । हाँ, इसका उल्टा तो अवश्य उपस्थित है—

तन्नाह जहि मारयेति मानुषं हि तत् संज्ञपयान्वगन्निति तद्धि देवत्रा स यदाहान्वगन्निति एतर्हि एष देवाननु गच्छति तस्मादाहान्वगन्निति ॥ (शत० ३८ । २ । १४)

पशु के संज्ञपन-काल में जहि, माराय, ये शब्द नहीं कहे जाते, क्योंकि वह मनुष्यों का व्यवहार है । उस समय शब्द बोले जाते हैं संज्ञपन, अन्वगन्, क्योंकि संज्ञपन के द्वारा यह देवों का अनुगामी बन जाता है । इसीलिये कहा 'अन्वगन्' ।

यह सचमुच बड़ी विचित्र बात है कि पशुयाग में संज्ञपन और आलम्भन शब्दों का ही व्यवहार होता है, मारण का कहीं नहीं । इसका कारण अवश्य विचारना चाहिये । बात स्पष्ट है, पशुयागवादियों की यह तो हिम्मत नहीं हुई कि वे नये ग्रन्थ बना डालें, उन्होंने वैदिक साहित्य के शब्दों के ही अर्थ बदल डाले । उदाहरण के लिए, हम इस लेख में संज्ञपन शब्द को लेंगे । यह संज्ञपन शब्द सम् उपसर्ग-पूर्वक ज्ञा धातु से णिच् प्रत्यय और उसके पश्चात् ल्युट् प्रत्यय करने से बना है ।

इसमें पहिले सम् + ज्ञा का अर्थ देखते हैं । इसका अर्थ है भली प्रकार जानना और पहिचानना । चारों वेदों में यह शब्द और किसी अर्थ में नहीं आया, इसका निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा—

संगच्छध्वं संवदध्वम् सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्व्वे सञ्जानाना उपासते ॥
(ऋग्० १० । १९१ । २)

हे मनुष्यो ! तुम संगठित होकर चलो, परस्पर सम्वाद (Harmony) से चलो, तुम्हारे मन परस्पर एक-दूसरे को समझते हों, तुम्हारे अन्दर (Perfect mutual understanding) हो । जिस प्रकार तुम्हारे पूर्व विद्वान् लोग अपने-अपने कार्य-भाग की उपासना परस्पर संज्ञान-पूर्वक करते आये हैं ।

मन्त्र का अर्थ इतना निर्विवाद है कि इसमें टिप्पणी की आवश्यकता ही नहीं । इस अर्थ में सब सहमत हैं ।

अब संज्ञपित को लीजिये । यह सम् + ज्ञा का हेतु + हेतुमद्-भाव का रूप है । इसका अर्थ हुआ सम्यक् ज्ञान अथवा भली प्रकार परिचय कराना । फलतः उत्तम शिक्षा देना । इसी से संज्ञपन शब्द बना ।

अब इस 'संज्ञपि' का प्रयोग भी देखिये । मन वाणी के झगड़े में वाणी कहती है कि, हे मन, मैं तुझसे बड़ी हूँ । इसके लिए वाणी यह युक्ति देती है—

अथ ह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि यद्वै त्वं वेत्थ अहं तद् विज्ञपयामि अहं संज्ञपयामीति ॥

(शत० १ । ५ । ७ । १०)

इस पर वाणी बोली—"मैं ही तुझसे बड़ी हूँ । क्योंकि जो कुछ तू जानता है उसे मैं ही विज्ञापन करती हूँ, मैं समझाती हूँ ।" यहाँ सायण भाष्य (तथा कथित) में भी 'सम्यक् प्रतिपादयामि' यही अर्थ किया गया है ।

यह प्रसंग प्रथम काण्ड का है । पशुयाग-वादियों का प्रसंग तीसरे काण्ड में है । पता नहीं लगता कि जिस शब्द का अर्थ प्रथम कांड में सम्यक् ज्ञान देना है उसका अर्थ तीसरे काण्ड में मारना किस प्रकार हो गया ?

कहा जा सकता है कि एक शब्द के दो अर्थ हैं, सो, प्रकरण के बल से वहाँ ऐसा अर्थ कर दिया गया होगा । सो, प्रथम तो इस शब्द का दूसरा अर्थ ज़बरदस्ती के बिना किया ही नहीं जा सकता, परन्तु यदि दुर्जनतोष-न्याय से इसके दो अर्थ मान भी लिये जावें, तो अब देखना चाहिये कि प्रकरण क्या कहता है ?

पशुयाग-वादियों के मतानुसार

बकरी के बच्चे को जब संज्ञपन अर्थात् मारने के लिए ले जाते हैं तो उसे फाँसी लगाकर मारते हैं, उस समय मन्त्र पढ़ते हैं—**"ऋतस्य त्वा देव-हविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि"** (यजुः० ८/६) अर्थात् हे देवताओं की हविः, तुझे हम ज्ञान के पाश से बांधते हैं । यह गला घोटना खूब ज्ञान का पाश हुआ ! अब कहिये, प्रकरणानुसार सम्यक् ज्ञान देना अर्थ हुआ अथवा गला घोटना ? फिर मन्त्र पढ़ते हैं—

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । (यजुः० ६/९)

हम अब तुझे मारेंगे । अब तेरे माता, पिता, सहोदर भाई और टोली के मित्र सब इस शुभकार्य में अनुमति दें ।

भला विचारिये कि पहले तो बकरी के बच्चे का उस प्रकरण में कहीं वर्णन नहीं, फिर यदि यहाँ छाग मान भी लें तो यह वर्णन छाग के समान विनीत बालक का हुआ, जो ब्राह्मण गुणवाला है । भला बकरी के बच्चे के माता-पिता आदि का प्रथम तो पता ही किस प्रकार लगेगा ? फिर वे अनुमति किस प्रकार देंगे ? फिर यदि उनमें अनुमति देने की शक्ति होती, तब वे तो यजमान को ही स्वर्ग पहुँचाने को कहेंगे, अपने बच्चे को नहीं ।

आगे चलिये । यजमान की पत्नी मरे हुए बकरे के अंग स्पर्श करके मन्त्र पढ़ती है—

वाचं ते शुन्धामि प्राणन्ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रन्ते शुन्धामि नाभिन्ते शुन्धामि मेढ्रन्ते शुन्धामि पायुन्ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि । (यजुः० ६/१४)

हे बकरी के बच्चे, मैं तेरी वाणी शुद्ध करती हूँ, प्राण को शुद्ध करती हूँ, चक्षु को शुद्ध करती हूँ, कान को शुद्ध करती हूँ, नाभि को शुद्ध करती हूँ, उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करती हूँ, गुदा को शुद्ध करती हूँ, तेरे चरित्रों को शुद्ध करती हूँ । भला यह चरित्र-शुद्धि तो जीवित बकरे की भी असम्भव है, मरे की तो कहना ही क्या ?

फिर अगले मन्त्र में मरे बकरे को आशीर्वाद देते हैं—

वाक् त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम् । (यजु:० ६/१६)

हे मरे हुए बकरे, तेरी वाणी फले-फूले, तेरा प्राण फले-फूले, तेरे चक्षु फले-फूलें, तेरे कान फले-फूलें ।

(शमहोभ्य:) तेरे दिन सुख-शान्ति से बीतें । अब यदि संज्ञपन के दो अर्थ भी मान लें तो देखिये कि प्रकरण में सङ्गत अर्थ कौन-सा है ।

संज्ञपन का अर्थ विद्यादान मानने से अर्थ यों हुआ—हे विनीत बालक ! आज घर से गुरुकुल के लिए विदाई देते समय हम तुझे ज्ञान के पाश से बाँधते हैं—माता, पिता, सहोदर भाई, टोली के साथी सब तुझे प्रसन्न होकर गुरुकुल के लिए विदा करें । गुरुपत्नी कहती है, मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूँ, तेरे प्राण शुद्ध करती हूँ, तेरे नेत्र शुद्ध करती हूँ, नाभि शुद्ध करती हूँ, कान शुद्ध करती हूँ, लिंग शुद्ध करती हूँ, गुदा शुद्ध करती हूँ, अत: इन सब इन्द्रियों की शुद्धता तथा सदुपयोग सिखाकर मैं तेरा चरित्र शुद्ध करती हूँ । फिर स्नातक होने के समय उसे आशीर्वाद दिया जाता है—"तेरी वाणी फले-फूले, तेरे प्राण फले-फूलें, तेरे कान फले-फूलें, तेरे दिन सुख से बीतें ।"

अब एक ऐतरेय ब्राह्मण का भी प्रमाण लीजिए—

ता भृगुरपश्यदापो वै स्पर्धन्त इति । ता एतयर्चा समज्ञपयत् । (ऐतरेय, अध्याय ८, खण्ड २)

बसतीवरी और धना नाम की दो 'आप:' में झगड़ा हो गया । इस झगड़े को भृगु ऋषि ने देखा, सो उसने उन्हें आपस में एकमत कर दिया । यहाँ स्वयं सायण ने भी झख मारकर 'समज्ञपयत्' का अर्थ "संज्ञानम् = परस्परमैकमत्यम् प्रापयत्" इस प्रकार किया है, फिर पशु के सम्बन्ध में इसका अर्थ किस प्रकार बदल गया ?

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस शब्द का अर्थ षड्यन्त्र द्वारा जान-बूझकर बिगाड़ा गया है ।

अब यह स्पष्ट हो गया कि इस विनियोग-वाद ने वेद की कैसी दुर्दशा की है । इन तीन वेद-विघातक वादों अर्थात् (१) विकास-वाद (२) अदृष्ट-वाद (३) विनियोग-वाद से ऋषि दयानन्द ने वेदों को मुक्त करके सारे संसार के लिए मोक्ष का रास्ता खोल दिया, क्योंकि जब संसार के मोक्ष का उपाय बतानेवाला वेद ही स्वयं दास बन गया था तो संसार का मोक्ष किस प्रकार हो सकता था ?

यहाँ तक हमने वेद-विघातक तीन वादों का वर्णन किया । अब हम ऋषि दयानन्द की वेद-भाष्य-प्रणाली के आधारभूत तीनों वादों का वर्णन आरम्भ करते हैं । वे तीन वाद निम्नलिखित हैं :

(१) यौगिक-वाद (२) समकक्ष-वाद (३) विज्ञाताश्रय-वाद ।

यौगिकवाद

सब से पहले यौगिक वाद को लीजिए । वेद के शब्दों का अर्थ लौकिक शब्दों की अपेक्षा व्यापक है । यह सब को मानना ही पड़ता है । यदि ऐसा न मानें तो—

अश्वा भवत वाजिन: गावो भवत वाजिनी: । (अथर्व० १ । ४ । ४)

यहाँ वाजी और वाजिनी शब्द का क्या अर्थ करेंगे ?

घोड़े घोड़े हो जावें और गौवें घोड़ी हो जावें ! कदापि नहीं ।

यहाँ सायण को भी 'वाज इति बलनाम' यह निरुक्त-प्रमाण देकर 'अश्वा: बलयुक्ता भवथ' और 'गाव: प्रभूत-क्षीरा भवथ:', ऐसा अर्थ करना पड़ा । यदि अश्वादि शब्दों का रूढ़ अर्थ लेंगे तो—

आविद्युन्माद्भिर्मरुतः स्वर्कैरथेभिर्यात ऋष्टिमाद्भिरश्वपर्णैः। (ऋ० १ । ८२ । १)

अश्व-पर्ण शब्द जो रथ का विशेषण है सो कैसे बनेगा ?

अश्वाः आशुगामिनः पर्णा येषाम्।

ऐसा अर्थ करना ही पड़ेगा, सो अश्व का अर्थ यहाँ शीघ्र-गामी के अतिरिक्त क्या होगा ?

इसी प्रकार यदि कण्वादि नाम वेद में व्यक्ति-विशेष में रूढ़ हों तो उनमें तमप् प्रत्यय नहीं लग सकता। क्या दुनिया में कभी देवदत्त, देवदत्ततर तथा देवदत्ततम अथवा Napolian, Napolianer, Napolianest का प्रयोग भी देखने में आता है ? कभी नहीं ! किन्तु ऋग्वेद १ । ३९ । २ में '**त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः**' ऐसा प्रयोग है और इस प्रकार का प्रयोग ११ स्थलों पर देखने में आता है।

ऋग्वेद १ । ८४ । ४ में '**कण्वतमो नृणाम्**' यह प्रयोग है जिसका अर्थ मनुष्यों में मेधावितम इस प्रकार करना पड़ता है। इसी प्रकार ऋग्वेद १० । १५५ । ५ में '**अग्निः कण्वतमः कण्वसखा**' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ बुद्धिमानों का मित्र तथा सबसे बड़ा बुद्धिमान् ऐसा करना पड़ता है।

यह यौगिकवाद ऋषि दयानन्द ने चलाया हो सो ही बात नहीं, इस विषय में सायण की लीला भी देखिये—

उच्छन्त्याँ मे यजता देवक्षत्रेरुशद् भुवि सुतं सोमं न हस्तिभिरापाद्भिर्धावतम् नरा बिभ्रता वर्चनानसम्।

यहां सायण ने 'हस्तिभिः' का अर्थ किया है 'अश्वैः', सो किस प्रकार, वह भी देखिये—"इदानीं हस्तिभिः हस्तिवद्भिः हन्तेर्गति-कर्मणो हस्त-शब्दः गमन-साधन-पादवद्भिरित्यर्थः। पद्भिः पादचतुष्टयोपेतैरश्वैः।" अर्थात् गमन-क्रिया का साधन होने से हस्त नाम पाद का हुआ, इसलिए हस्ती का अर्थ "पैर वाले घोड़े" इस प्रकार हुआ। अच्छा ! फिर आ पड़े हुए 'पद्भिः' का क्या बनेगा ? यह सायण ही जाने। इस प्रकार सायण यदि हाथी का घोड़ा बना दे तो उस पर खेंचातानी का दोष नहीं लगता। बात तो इतनी है कि इस सूक्त का विनियोग अश्विदेवता की स्तुति में है। बलिहारी है विनियोग की !

अब हम यौगिकवाद पर होनेवाले एक आक्षेप का भी समाधान कर देना चाहते हैं। लोगों का प्रश्न है कि यदि 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो चले उसका नाम गौ, ऐसा माना जाय तो लट्टू, घड़ी, नदी, घोड़ा, खच्चर, रेलगाड़ी, मोटर, बाईसिकिल सबका नाम गौ होना चाहिये ! नहीं ? यह ठीक नहीं ! यौगिकवाद का यह तात्पर्य कदापि नहीं।

किसी शब्द का यौगिक अर्थ जानने का प्रकार यह है कि वेद में यह कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है, यह देखकर ऐसा अर्थ ढूँढ निकालना जो उन सब अर्थों का अपने अन्दर समावेश करता हो। जैसे—गौ शब्द वेद में धरती, वाणी, इन्द्रिय, स्त्री तथा गाय इन अर्थों में आया है, तो गौ का अर्थ हुआ प्रिय वस्तु को उत्पन्न करने के लिए गति करना। गाय दूध को उत्पन्न करने के लिए विचरती है, स्त्री संसार को, इन्द्रियें ज्ञान अथवा विषय-सुख को, वाणी अर्थ को, धरती अन्न को। इसी प्रकार ऋ धातु को ले लीजिए, यद्यपि व्याकरण में 'ऋ गतौ' इस प्रकार अर्थ दिया है, परन्तु ऋ धातु का अर्थ जानने के लिए इसके प्रयोगों को देखना होगा। ऋ धातु से ऋतु बना है जिसका अर्थ है शीतोष्णादि अवस्थाविशेष के लिए नियत काल। ऋतु का अर्थ है सत्य अर्थात् अन्यूनानतिरिक्त यथार्थ ज्ञान। जिसका उल्टा अनृत न्यून अथवा अतिरिक्त ज्ञान हुआ, इससे ऋ धातु का अर्थ है परिमित। गति का आशय वेद में स्वयम् अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

ते नो अर्वन्तो हवन-श्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।

वे हमारी आवाज़ सुनकर इशारे पर चलनेवाले 'मितद्रु अर्वा' हमारी बात सुनें, यहाँ 'अर्वन्तः' के अर्थ को 'मितद्रवः' ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है । वे इतने सधे हुए घोड़े हैं कि दौड़ने के समय द्रुत गति में भी नाप के साथ चलते हैं ।

इन्हीं अर्थात् सधे हुए घोड़ों के कारण आर्यों ने अरब देश का नाम अरब रक्खा । अरबी भाषा में इस अर्व नाम का कुछ अर्थ ज्ञात नहीं, क्योंकि यह शब्द संस्कृत भाषा का है और इस देश का नाम आर्य-भाषा-भाषी लोगों ने ही रक्खा । आज भी इसके घोड़े through bried के नाम से पुकारे जाते हैं ।

इसी ऋ धातु से अर्य्य शब्द बना है जिसके अर्थ पाणिनि के अनुसार स्वामी अथवा वैश्य हैं (अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः अ० ३, पा० १, सू० १०३) ।इस शब्द को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने खूब धाँधली मचाई है । उनका कहना है कि ऋ धातु से अर्य्य शब्द बना । वैश्य का नाम कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य है, इसलिए ऋ धातु का अर्थ है खेती करना । इसकी पुष्टि अंग्रेजी भाषा के arrablel land अर्थात् खेती योग्य भूमि इस शब्द से करते हैं, किंतु यह उनकी भूल है । वैश्य अर्थ इसलिए कहलाता है कि उसके साथ हर बात नाप-तोल में की जाती है । आप माँ के साथ मचल सकते हैं—माँ लड्डू खायेंगे, हो सकता है माँ आपके हाथ में ताली दे दे—जा जितने जी में आएँ खा ले, परन्तु हलवाई से आप मचल नहीं सकते । जहाँ आपने कहा कि आज लड्डू खायेंगे और उसने तराजू पकड़ी कि बोलो, कितने तोलूँ ? सो अर्य्य का अर्थ हुआ 'मित्या प्राप्तव्यः'—जिसके सथ नाप-तोल में ही बात की जाय । स्वामी भी अर्य्य इसीलिए कहलाता है, क्योंकि वह सेवक के काम को नाप-तोलकर उसके अनुसार वेतन देता है । अंग्रेजी भाषा में जो खेती के योग्य भूमि को arrable कहते हैं वह भी इसलिए कि उसे ठीक-ठीक नापना पड़ता है । निरुक्त में लिखा है "अर्य्यः ईश्वर-पुत्रः" अर्थात् अर्य का अर्थ है सबसे बड़े स्वामी परमात्मा का पुत्र, अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा का हर कार्य याथातथ्य पर अवलम्बित है (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । यजुः० अ० ४०, मं० ८) जो उसके गुण-कर्म -वभाव अपने अन्दर धारण करे अर्थात् जिसका पूर्णतया नपा-तुला जीवन हो वही आर्य है । इस शब्द को एक जाति-वाची शब्द मानकर योरोपियन लोगों ने जो बवण्डर खड़ा किया है वह आज दक्षिण देश में अपने रंग दिखा रहा है कि पण्डित जवाहरलाल सरीखे सच्चे देश-भक्त तथा पुरुष भी इस क्षेत्र में योरोपियन धूर्तों के चक्र में फँसकर इतने अन्धे हुए हैं कि इस भूल को नहीं सुधारते । आपने देखा कि एक शब्द के साथ किया गया अत्याचार कैसे-कैसे गुल खिलाता है । सो वेद के शब्द यौगिक हैं और यौगिकवाद का अर्थ अन्धाधुन्धवाद नहीं, किन्तु सर्वार्थ-समावेशवाद है ।

इस विषय में ऋषि दयानन्द का पक्ष सत्य की चट्टान पर खड़ा है और वह समय दूर नहीं है जब विदेशी धूर्तों के जहाज इस चट्टान से टकराकर अवश्य चकनाचूर होंगे । हो सकता है कि मेरे धूर्त शब्द पर कई लोग आपत्ति करें, किन्तु पण्डित गुरुदत्त जी आदि विद्वानों द्वारा सत्यज्ञान कराये जाने पर भी जिन्होंने राजनैतिक स्वार्थवश आर्य-द्रविड़ का झगड़ा करने के लिए आर्य जैसे पवित्र शब्द की मिट्टी पलीद की, उन्हें धूर्त न कहूँ तो फिर क्या कहूँ ? परमात्मा हमारे देश के इतिहासविदाभासों का इनके चंगुल से कब उद्धार करेगा ?

समकक्षवाद

अब यौगिकवाद के साथ ही लगे हुए हम एक और वाद की ओर आते हैं, यह है 'समकक्षवाद' । उपनिषत् में कहा—"अनन्ता वै वेदाः ।" स्कन्द आदि भाष्यकारों ने भी आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीन अर्थ मन्त्रों के बताये हैं । वस्तुतः यह तीन ही क्यों, वेद के एक ही मन्त्र के अनन्त अर्थ हो सकते हैं, परन्तु इन सब अर्थों में एक व्यवस्था काम कर रही है । सच पूछिये तो पुरुष-सूक्त वेद की कुञ्जी है । इस ब्रह्माण्ड में जो सूर्य-चन्द्रादि देव हैं उनकी कल्पना मनुष्य-शरीर में करके फिर उनका प्रतिनिधि मानव-समाज में ढूँढना, यही पुरुष-सूक्त का सार है । भाव यह है कि इस संसार में जितने भी प्रकार के यंत्र विज्ञान द्वारा बनाये जा सकते हैं वे सब मनुष्य की किसी न किसी इन्द्रिय की सहायता के लिए ही तो हैं ।

उन यन्त्रों में प्राण, चिन्तन, मननादि शक्तियाँ नहीं हैं, इसलिये वे मनुष्य से कुछ कम ही काम करेंगी, अधिक नहीं कर सकतीं। हां, मात्रा में वे मनुष्य-शक्ति को बहगुणित कर सकती हैं। सो, हम जिस विद्या की भी खोज करना चाहें, उसे एक पुरुष कल्पना करके पुरुष के अंग उसमें खोज द्वारा उत्पन्न कर दिये जावें। सो, अग्नि सोमादि जो देवता ब्रह्माण्ड में हैं वे ही मनुष्य-शरीर में हैं। उन्हीं को हमें सर्वत्र उत्पन्न कर देना है। उदाहरण के लिए, मैं अग्नि तथा सोम को लेता हूँ। शतपथ में लिखा है—

द्वयं वा इदं तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कञ्च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत् सौम्यम्॥ (शत० १।६।२।२३)

फिर अगली कण्डिका में लिखा है—

सूर्य्य एवाग्नेयः चन्द्रमाः सौम्योऽहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में सूर्य के उदय होने पर शुष्कता आती है वह आग्नेय है। चन्द्रोदय पर ओस पड़ती है, आर्द्रता आती है वह सौम्य है। जहाँ शुष्कता है वहाँ अग्नि है, जहाँ आर्द्रता है वहां सोम है। बस, यह ब्रह्माण्ड आर्द्र तथा शुष्क इन दो में बँटा हुआ है। तीसरा नहीं। अब रोटी में आटा आग्नेय है। जल व घृत सौम्य हैं। शरीर में पित्त आग्नेय है, कफ सौम्य है, इसीलिए सुश्रुत में मानव-शरीर को अग्नीषोमीय कहा है। ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय ६ खण्ड ३ में-

नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात् पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽनीषोमीयस्य पशोरश्नाति॥

इसी प्रकार चरक शरीर-स्थान पञ्चाध्याय का आरम्भ इस प्रकार होता है—

पुरुषोऽयं लोक-सम्मितः। तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः आपः क्लेदः तेजोऽभिसन्तापः वायुः प्राणः वियत्सुषिराणि, ब्रह्मान्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽन्तरात्मनो विभूतिः ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वम्। यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः आदित्यस्त्वादानम् सोमः प्रसादः॥

इसी प्रकार सूत्र-स्थान अध्याय ६ में लिखा है—

विसर्गः सोम्यः आदानम् पुनराग्नेयम्॥

इसी प्रकार हमने देखा कि दिन-रात, सूर्य-चन्द्र, ग्रीष्म-वर्षा, कफ-पित्त इन सबको अग्नि तथा सोम कहा गया है, किन्तु इसमें इतना स्पष्ट है कि एक क्षेत्र में अग्नि का एक ही अर्थ होगा और उस पर यह नियम लागू होगा कि—

यदेव शुष्कम् तदाग्नेयम् यदार्द्रम् तत् सोम्यम्॥

इस प्रकार लोक में अग्नि अग्नि है, जल सोम है, आकाश में सूर्य अग्नि है, चन्द्र सोम है, यह नहीं कि आकाश में चन्द्र का नाम अग्नि हो जाय। शरीर में पिक्त अग्नि है तो कफ सोम है। हम शुष्कम् और आर्द्रम् के नियमानुसार जब किसी एक क्षेत्र में अग्नि और सोम का अर्थ पता लगा लें तो दूसरे हर क्षेत्र में उनके समकक्ष अग्नि और सोम कहलावेंगे। इसका नाम समकक्षवाद है। इस प्रकार हम यदि वेद के किसी एक क्षेत्र में अर्थ ठीक-ठीक जान लें तो हर क्षेत्र में उन शब्दों का अर्थ जानना सुगम हो जायेगा। इस बात को हम मानचित्र के दृष्टान्त से भली प्रकार समझ सकते हैं। हम एक मानचित्र के छोटे-बड़े अनेक मानचित्र बना सकते हैं, परन्तु उनमें कलकत्ते और दिल्ली की दूरी का अनुमान सदा एक रहेगा।

समकक्षवाद का एक सुन्दर उदाहरण शतपथ ब्राह्मण में कृतु, दक्ष शब्दों की व्याख्या में मिलता है—

क्रतुदक्षौ हैवास्य मित्रावरुणौ एतन्वध्यात्मं स यदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः।

(शत० ४ । १ । ५ । १)

क्रतु और दक्ष का अर्थ है मित्र और वरुण । अपने अन्दर देखने पर इनका अर्थ होगा कि जो मन में सोचता है मुझे यह प्राप्त हो, उसके लिए मैं यह करूँ वह क्रतु है; और जब उसका वह संकल्प फल-समृद्ध होता है तब वह दक्ष कहलाता है (दक्ष समृद्धौ) मित्र क्रतु, दक्ष वरुण है । ब्राह्मण मित्र है, क्षत्रिय वरुण है, क्योंकि मार्गदर्शक विधान बनानेवाला ब्राह्मण है जो आगे चलता है वह ब्रह्म है । उस कार्य को करनेवाला क्षत्रिय है ।

इन्हीं मित्र-वरुण को प्रथम काण्ड में—

"प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ" (शत० १ । ९ । ३ । १२)

इस प्रकार आधिदैवत पक्ष में जो प्राण उदान हैं वही अधिराष्ट्र अर्थ में मित्र तथा वरुण हैं, वही अध्यात्म-क्षेत्र में संकल्प तथा प्रयत्न हैं । इन तीनों क्षेत्रों में इनका नाम क्रतु-दक्ष अथवा मित्र-वरुण है । सो, मित्र तथा वरुण एक क्षेत्र में एक ही हैं, किन्तु क्षेत्र-भेद से वह संकल्प तथा प्रयत्न, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, प्राण तथा उदान तीनों हैं । हाँ, उनमें समकक्ष-भाव है, एक अभिगन्ता है, दूसरा कर्ता ।

इसी प्रकार छान्दोग्य द्वितीयाध्याय दशम से इक्कीसवें खण्ड तक हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन पाँच संगीत के इन अंगों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समकक्षवाद के आधार पर दिखाया गया है ।

संगीत के आरम्भ में जो राग का मन ही मन में आस्वादन किया जाता है, गुनगुनाया जाता है, वह हिङ्कार है । राग की स्थायी प्रस्ताव है, तान-अलाप का फैलाव उद्गीथि है, धीरे-धीरे समाप्ति की ओर मुड़ने के लिए उतार का नाम प्रतिहार है और सुन्दर समाप्ति का नाम निधन है । ये पाँच अंग मानसिक क्षेत्र में अग्नि-प्रज्वालन, स्त्री-सहवास, सूर्योदय, मेघ-वृष्टि, ऋतुपरिवर्तन, द्यौः-पृथिवी, पशुमण्डल, शरीर-रचना, चन्द्रोदय, अग्नि, वायु, आदित्यादि देवमण्डल इन ११ क्षेत्रों में दिखाये गये हैं । इन प्रकरणों से समकक्षवाद बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है । वेद में जो अनन्त विद्या भरी है उसका यही रहस्य है । हम यदि समाजशास्त्र में अग्नि-सोम-इन्द्र आदि के अर्थ ठीक-ठीक जान लें तो यन्त्र-विद्या में उनके समकक्ष क्या हैं यह जानकर यन्त्र-विद्या भी उन्हीं मन्त्रों द्वारा जानी जा सकती है । यह बात यौगिकवाद के सहारे ही खड़ी रह सकती है । यदि हम जान लें कि, अग्नि का अर्थ अग्रणी है, तब तो ये सब अर्थ ठीक समझे जा सकते हैं, परन्तु यदि हम अग्नि का रूढ़ अर्थ अङ्गारों से जलनेवाली अग्नि ले लें तो फ़िर हम वेद का रहस्य कुछ नहीं जान सकते । यह समकक्ष वाद ही है जिसके सहारे वेद समस्त विद्याओं का बीजरूप ज्ञान देनेवाला कहाता है ।

अब हम इस वाद-माला के अन्तिम वाद विज्ञाताश्रय-वाद पर आते हैं ।

विज्ञाताश्रयवाद

'विज्ञाताश्रयवाद' यह नाम नया है, वैसे यह कोई नई बात नहीं है । किसी अज्ञात वस्तु का स्वरूप जानने के लिए हमें ज्ञात वस्तुओं का आश्रय लेना पड़ता है ।

मान लीजिए कि कोई नौकर अंग्रेजी के ऑयल शब्द अर्थ नहीं जानता । यदि कोई अंग्रेज टूटी-फूटी हिन्दी जानता है, किन्तु ऑयल शब्द की हिन्दी भूल गया है तो वह अपने नौकर से कहता है कि इस दीवे में बत्ती है, पर ऑयल नहीं रहा, तुम इस बोतल में से ऑयल डाल लाओ जिससे रोशनी हो जाय । इसमें बत्ती है पर ऑयल नहीं है । नौकर झट समझ जाता है आयल तेल को कहते हैं । वह साहब से पूछता है—साहब तेल डाल लूँ ? अंग्रेज झट कहता है, हाँ ! तेल, तेल हम भूल गया था । तो यहाँ इस विज्ञाताश्रयवाद के सहारे उसने ऑयल शब्द का अर्थ जान लिया । उसे दीया, बत्ती, जलाना, रोशनी इन शब्दों का अर्थ ज्ञात था, केवल ऑयल शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं था, सो उसने दीया, बत्ती, जलाना, रोशनी इन विज्ञात

शब्दों के आश्रय से ऑयल इस अज्ञात शब्द का अर्थ जान लिया। बस, इस विज्ञाताश्रयवाद के सहारे हम वेद के सब विवादास्पद शब्दों के ठीक अर्थ का निर्णय कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए, वैदिक शब्द मरुत् को ले लीजिए। हमारे विचार से मरुत् का अर्थ सैनिक है। पौराणिक भाष्यकार तथा उसके पिछलग्गू योरोपियन विद्वान् इसका अर्थ पवन का देवता करते हैं। सो इस विवाद का निर्णय 'नृ' शब्द से हो सकता है। ऋग्वेद में मरुत् देवता के ३७ सूक्त हैं, इनमें १७ स्थलों पर इनको नरः कहा गया है। इस शब्द ने सायण के लिए कठिनाई उत्पन्न कर दी; जिन्हें वह देवता कहता है उन्हें वेद नरः कहता है। इससे बचने के लिए सायण ने उसी यौगिकवाद का आश्रय लिया जसकी आज सर्वत्र हँसी उड़ाई जाती है। वह कहता है, "नरः मेघानाम् इतस्ततो नेतार इत्यर्थः" परन्तु इस विवाद का अन्तिम निर्णय मृ धातु करती है। मृ धातु का अर्थ प्राण-वियोग सर्ववादि-सम्मत है। इधर सायणादि सब पौराणिक भाष्यकार देवों को अमर बताते हैं। उधर वेद में चार स्थलों पर इन मरुतों को मर्याः अथवा मर्ताः कहा गया है। अब यहाँ तो यौगिक अर्थ भी सायण का साथ नहीं देता, उधर मरुत् शब्द स्वयं इस मृ धातु से बना है (मृग्रोरुतिः उणादिः १ पाद, ८४ सूत्र) ।इस प्रकार मृ धातु के विज्ञातार्थ के सहारे मरुत् एक प्रकार के मनुष्य हैं, यह निर्णीत हुआ, फिर उनका उत्तम शस्त्र धारण करना, पंक्ति बाँधकर चलना, कन्धे पर हथियार रखना आदि सारा वर्णन एक सैनिक का चित्र खेंचकर रख देता है। इसका विशेष वर्णन मेरे "मरुत्सूक्त" नामक निबन्ध में देखना जो गुरुकुल काङ्गड़ी से प्राप्य है। यहां विस्तार के भय से नहीं दिया जाता। फिर इनको अनेक स्थानों पर 'रुद्रस्य मर्याः' 'रुद्रस्य पुत्राः' 'रुद्रस्य सूनवः' आदि विशेषणों से लक्षित किया गया है जिससे रुद्र का अर्थ सेनापति स्पष्ट हो गया, जो यजुर्वेद रुद्राध्याय में दिए गए सेनान्ये (यजुः० अ० १६ म० २६) इस विशेषण से बिलकुल मेल खा जाता है। ऋषि दयानन्द ने रुद्र का अर्थ सेनापति किया है, सो उसकी इस प्रकार बड़े प्रबल प्रमाणों से पुष्टि होती है।

इस प्रकार हमने मृ धातु के सहारे मरुत् का अर्थ जाना, फिर मरुत् के सहारे रुद्र का अर्थ जाना, इस प्रकार पूर्व-विज्ञातार्थ शब्दों के आश्रय से हम उत्तरोत्तर अविज्ञातार्थ शब्दों का अर्थ ठीक निश्चय कर सकते हैं। यह विज्ञाताश्रयवाद ही वेद का ठीक अर्थ निश्चय करने की वैज्ञानिक कुञ्जी है। इसको छोड़कर जो पाश्चात्य लोगों ने भाषोत्पत्ति-शास्त्र (Philology) के नाम से लाल बुझक्कड़ों-सी लीला की है उसका कुछ भी मूल्य नहीं है।

मृ धातु का अर्थ वेद में तथा लौकिक संस्कृत में मरना है, इस सत्य को करोड़ भाषातत्त्वविद् किसी प्रकार भी नहीं पलट सकते, परन्तु योरोपियन भाषातत्त्वविद् तो हमें निरुक्त, निघण्टु तथा समस्त भाषा के कोषों को तिलाञ्जलि देने को कहते हैं। Vedic Age नामक पुस्तक जो विद्या-भवन बम्बई की ओर से प्रकाशित हुई है उसमें लिखा है—

Shiva and Vedic god Rudra have been identified, it is just likely that the name of the red god of Dravidion speakers the most important divinity in their pantheon was first rendered in Aryan speach as Rudra.

_(S.K. chatergy Vedic Age)

इस विचित्र पुस्तक Vedic Age में एस०के० चैटर्जी श्रीमुख से कहते हैं कि वैदिक देवता शम्भु तामिल चम्पू है जिसका अर्थ है तांबा। तांबा लाल रंग का होता है। सो रुद्र देवता भी लाल रंग का होता है। सो रुद्र शब्द पहिले रुधिर था वह तामिल लाल रंग का देवता था। क्योंकि रुधिर अर्थात् खून का रंग लाल होता है, इसलिए लाल देवता का नाम रुधिर हुआ और पीछे से वही आर्यों का रुद्र देवता हो गया। बलिहारी है इस सूझ की ! शम्भु शब्द शम् और भू दो शब्दों से बना है, यह हम भली प्रकार जानते हैं, फिर हम उसे तामिल चम्पू से क्यों मिलाएँ ? क्योंकि श्री चैटर्जी ने ऐसा करने का

नादिरशाही हुक्म सादिर किया है, पहिले हम उसका नाम रुधिर रक्खें, फिर आर्यों के देवता रुद्र से उसे मिला दें—ऐसा हम क्यों करें ? इस प्रकार का कोई नियम अभी तक हमारी लोक-परिषद् (पार्लियामेण्ट) ने नही बनाया । बना भी दें तो फिर हमें उसके विरुद्ध घोर सत्याग्रह करना होगा । यदि इन महाशय को सर्व-सम्मति से 'लाल बुझक्कड़ शिरोमणि' की उपाधि दे दी जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा । वह विचित्र पुस्तक जो देश का लाखों रुपया बर्बाद करके श्री के०एम० मुन्शी ने प्रकाशित करवाई है, जिसकी चारों ओर धूम है, हमें तो संदेह है कि कभी चण्डूखाने में भी किसी ने ऐसा असम्बद्ध प्रलाप किया होगा, किन्तु आज इसी का नाम स्कॉलरशिप और ओरिजिनेलिटी है । फिर जब यह पुस्तक देश-देशान्तरों में जावेगी तो लोग वेद के सम्बन्ध में कितने घोर अज्ञान के गढ़े में गिरेंगे ! विदेशी ही क्यों, हमारे देश में भी सम्पूर्ण विश्वविद्यालयों में यह पुस्तक बड़े आदर के साथ पढ़ाई जाती है । निस्सन्देह हमें इतना कट्टरवादी नहीं होना चाहिये कि हमारी धर्म-पुस्तक पर कोई युक्तिहीन प्रहार करे तो हम उसका उत्तर युक्तियों के सिवाय किसी अन्य प्रकार से दें, किन्तु हमें इतना आत्म-विहीन भी तो नहीं होना चाहिए कि हमारी धर्म-पुस्तक का ऐसा युक्ति-हीन उपहास विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाया जाय । मेरी सम्मति में आर्य-समाज को इसके विरुद्ध घोर आन्दोलन करना चाहिये जिससे इस प्रकार की पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों का स्थान न पा सकें । इसी प्रकार के कपोल-कल्पित इतिहासों का परिणाम यह आर्य-द्रविड़-संघर्ष है जो इस समय दक्षिण को विलोडित कर रहा है और जिसका दुष्परिणाम न जाने क्या होगा ! क्या देश के शासक चेतेंगे ? क्या आर्य-समाज के अधिकारी चेतेंगे ? क्या आर्य-जनता चेतेगी ?

वेद क्या हैं?

पण्डित रामनाथ वेदालङ्कार

प्राचीन परम्परा में वेदाध्ययन द्विजमात्र का पवित्र कर्तव्य माना जाता था। मनु ने कहा है कि जो वेद नहीं पढ़ता वह इसी जन्म में शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है। पतंजलि कहते हैं कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह निष्कारण ही अर्थात् बिना किसी लाभ की आशा से छहों अंगों से युक्त वेद का अध्ययन करे और उसका ज्ञान प्राप्त करे तो आइये 'वेद क्यों?' इसका उत्तर खोजने का यत्न करें।

साहित्यिक दृष्टि

वेदों की गणना उच्चकोटि के साहित्यों में की जाती है। वेद के ही शब्दों में वेद एक ऐसा काव्य है जो न कभी मरता है, न कभी पुराना होता है-**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति** (अथर्व० १०.८.३२)। जो काव्य में उत्कर्षाधायक तत्त्व अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि माने जाते हैं वे सब वेद काव्य में उत्कृष्ट रूप में विद्यमान हैं। वेद के शब्दों में विविध अर्थों को देने की जैसी शक्ति उपस्थित है, वैसी संसार की अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। वेद के अनेक मन्त्र जिस प्रकार अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, अधिराष्ट्र आदि विविध अर्थों को देने की क्षमता रखते हैं, वैसी क्षमता किसी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं है। वेदों के मन्त्र कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि के गीतों से अधिक भावपूर्ण हैं। यदि हम कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, हर्ष, बाणभट्ट आदि संस्कृत कवियों के साहित्य को पढ़ने में गौरव अनुभव कर सकते हैं, तो वेद का साहित्य तो उससे भी अधिक प्रांजल है। यदि हम ग्रीक, लेटिन, अंग्रेज़ी, पारसी, फ्रेंच, रशियन, जर्मन, तमिल, मराठी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी आदि साहित्य को पढ़ते समय यह प्रश्न नहीं उठाते कि इस साहित्य को क्यों पढ़ें, तो वैदिक साहित्य के लिए ही प्रश्नचिन्ह क्यों? साहित्य का अध्ययन स्वान्तः सुखाय होता है, वह स्वान्तःसुख वैदिक साहित्य के मर्म में प्रवेश करने वाली साहित्याराधक को कहीं अधिक प्राप्त हो सकता है।

सांस्कृतिक दृष्टि

वैदिक संस्कृति संसार भर की संस्कृतियों में एक विशिष्ट संस्कृति है। वर्णाश्रमव्यवस्था, यज्ञ, दान, अतिथि-सत्कार, तपस्या, ब्रह्मचर्य, अनिवार्य शिक्षा, आतुरों की सेवा, ईश्वरपूजा, सौहार्दभावना, स्वराज्य, समृद्धि, अग्रगामिता, पाशविक शक्तियों पर विजय आदि इस संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। वैदिक संस्कृति का उपासक जिस स्तर पर खड़ा है, उससे और ऊंचा उठना चाहता है। उसकी यह अभीप्सा होती है कि पृथिवी से उठकर मैं अन्तरिक्ष में पहुंच जाऊं, अन्तरिक्ष से उठकर द्युलोक में पहुंच जाऊं, द्युलोक से उठकर स्वर्लोक में पहुंच जाऊं। इस संस्कृति पर हम ही नहीं, सारा विश्व मुग्ध है। वैदिक संस्कृति का अध्ययन करने के लिए ही जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों के विद्वानों ने भी वेदों का अध्ययन किया है और इतना परिश्रम किया है कि हमारा परिश्रम उसके आगे हार मानता है, यद्यपि यह दूसरी बात है कि वे कई ऐसे परिणामों पर पहुंचे हैं जिनसे वेदाध्ययन की भारतीय विचारधारा सहमत नहीं हो सकती। जो संस्कृति के सम्बन्ध में जो कई एक अनर्थमूलक कल्पनाएं कर डाली हैं, उनकी परीक्षा भी हम वेदों का गहन अध्ययन करके ही कर सकते हैं।

धार्मिक दृष्टि

भारतीय धर्मशास्त्र में वेदों का सबसे अधिक महत्त्व माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार धर्म-अधर्म का संशय उपस्थित होने पर उसका निर्णय तीन वेदज्ञों की एक परिषद् करती है, जिनमें एक ऋग्वेद का ज्ञाता, दूसरा यजुर्वेद का ज्ञाता

तथा तीसरा सामवेद का ज्ञाता होता है (मनु० १२.११२)[१] । मनु का यह भी कथन है कि वेदज्ञ विद्वान् अकेला भी जिसे धर्म घोषित कर दे उसे धर्म जानना चाहिए, अज्ञ लोग दस हजार भी क्यों न हों, उनसे कही गयी बात धर्म नहीं मानी जा सकती (मनु० १२.११३)[२] । यदि वेद और स्मृति आदि में कहीं परस्पर विराध हो तो उस दशा में वेद की बात ही प्रामाणिक मानी जाएगी, यह सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है । उदाहरणार्थ, यदि किसी स्मृति में स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित किया गया है, तो उस स्मृति की यह बात वेदविरुद्ध होने से मान्य नहीं है । इसी प्रकार यदि किसी धर्मग्रन्थ में यज्ञों में पशुबलि देने का विधान है, तो यह भी वेदविरुद्ध होने से त्याज्य ठहरेगा । मध्यकाल में वेदों के नाम पर अनेक वेदविरुद्ध होने से त्याज्य ठहरेगा । मध्यकाल में वेदों के नाम पर अनेक वेदविरुद्ध बातें बालविवाह, छुआछूत, मूर्तिपूजा, अनेकेश्वरवाद, जन्ममूलक वर्णव्यवस्था, मृतक-श्राद्ध आदि प्रचलित हो गयी थीं, स्वामी दयानन्द के समय भी चल रही थीं, और कुछ आज भी चल रही हैं । स्वामी दयानन्द इन वेदविरुद्ध कुप्रथाओं का खण्डन अपने अगाध वेद-पाण्डित्य के बल पर ही कर सके । आज भी विपक्षियों की ओर से लेख लिखे जाते हैं कि गोहत्या और गोमांस-भक्षण वेदानुमोदित है, वेदों में नारी की घृणित स्थिति है, सतीप्रथा वेद से ही आयी है, धार्मिक असहिष्णुता वेदों की ही देन है आदि । वेदों पर थोपी जाने वाली इस प्रकार की वेदविरुद्ध बातों का खण्डन हम तभी कर सकेंगे, जब हमारा वेदों का गंभीर अध्ययन होगा ।

धार्मिक दृष्टि से कर्तव्याकर्तव्य का बोध करने के लिए भी वेदाध्ययन की आवश्यकता है । क्या धर्म है और क्या अधर्म है, यह वेद ही बतलाता है । पर वेद उसे ही बतला सकता है, जो वेदज्ञ है । अल्पश्रुत व्यक्ति वेद से धर्माधर्म का बोध प्राप्त नहीं कर सकते । इसीलिए उक्ति प्रसिद्ध है कि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भय खाता है कि यह तो उल्टा मुझ पर ही प्रहार कर देगा-**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति** । यही सब ध्यान में रखकर आर्यसमाज के नियमों में यह सम्मिलित किया गया है कि **"वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।"**

आनुसन्धानिक दृष्टि

वैदिक भाषा और वैदिक साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह हम अभी ऊपर कह चुके हैं । भारत के प्राचीन मनीषियों ने वेदों पर बहुत कुछ अनुसंधान किया था । प्रातिशाख्यकारों ने एवं आचार्य पाणिनि आदि वैयाकरणों ने वैदिक भाषा का सूक्ष्म अध्ययन करके तत्संबन्धी नियमों का आविष्कार किया था । याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मणग्रन्थकारों एवं श्रौतसूत्रकारों ने वेदों के आधार पर याज्ञिक, कर्मकाण्ड तैयार किया था । गृह्यसूत्रकारों ने वेदों के आधार पर जातकर्म, नामकरण आदि संस्कारों की सृष्टि की थी । अनुक्रमणीकारों ने वेदमन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्दों का पर्यवेक्षण किया था । वेदों के ही आधार पर आरण्यकग्रन्थों एवं उपनिषदों की रचना हुई थी । ब्राह्मणग्रन्थकारों एवं नैरुक्तों ने वेदार्थ का अनुसंधान किया था । कतिपय वेद-भाष्यकार भी इसमें सहायक हुए थे । महर्षि दयानन्द ने इस वेदानुसंधान को और आगे बढ़ाया । वेदविरुद्ध प्रचलित मिथ्या धारणाओं को बलपूर्वक झकझोरा और सत्य वेदार्थ को प्रकाशित किया; वेदार्थ के संबन्ध में अनेक नवीन दिशाओं को प्रशस्त किया । आज भी वेद प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वैदिक भाषा पर, वेदार्थ पर और वैदिक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों पर सही दिशा में अनुसंधान हो । वेदों के अनेक सूक्त रहस्यों से भरे हुए हैं, उन रहस्यों का उद्घाटन आज भी अपेक्षित है । वैदिक भाषा पर प्रातिशाख्यों, पाणिनि के वैदिक व्याकरण और मैकडानल की "वैदिक ग्रामर' के होते हुए भी आज भी अनुसंधान की आवश्यकता है । हम वेदानुसंधान की दिशा को पाश्चात्त्य विचारधारा के चाकचक्य से मुक्त करके उनकी अच्छाइयों को ग्रहण करते हुए एक नया मोड़ दे सकते हैं, और वह नया मोड़ होगा दयानन्द प्रदर्शित वैदिक मान्यताओं के प्रकाश में ।

---

१. ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥

२. एकोऽपि वेदविद् धर्म यं वयवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽ युतैः ॥

प्रथम अध्याय

वेद-विषयक प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन मतों का निष्पक्ष विवेचन

वेद-विषयक प्राचीन मत

वेदों के विषय में आर्यों का यह परम्परागत विश्वास चला आ रहा है कि वे ईश्वरीय ज्ञान हैं। परम कारुणिक सर्वज्ञ भगवान् ने मनुष्य-मात्र के कल्याणार्थ सृष्टि के प्रारम्भ में यह पवित्र ज्ञान **अग्नि, वायु, आदित्य** और **अङ्गिरा** नामक चार ऋषियों के पवित्रान्तःकरण में प्रकाशित किया, जिससे सब मनुष्यों को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्व-विषयक सब कर्तव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और उसके द्वारा वे सुख, शान्ति तथा आनन्द को प्राप्त कर सकें। प्राचीन समस्त साहित्य में इस विश्वास का समर्थन स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है। समस्त स्मृतिकार, दर्शनशास्त्रकार, उपनिषत्कार तथा रामायण, महाभारत, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्रादि के लेखक यहां तक कि पुराणकार भी स्पष्टतया वेदों को ईश्वरीय तथा स्वतःप्रमाण और अन्य सब ग्रन्थों को परतःप्रमाण मानते हैं। उदाहरणार्थ मनु महाराज ने जो सर्वप्रथम धर्मशास्त्रकार हैं, अपनी स्मृति में कहा है कि—**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[१] ॥

सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल हैं। वही धर्म के विषय में स्वतः प्रमाण हैं। तद् यथा—**धर्म जिज्ञासमानानां, प्रमाणं परमं श्रुतिः**[२]। अर्थात् जो धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए परम प्रमाण वेद ही हैं। इस श्लोक की कुल्लूक भट्टकृत टीका में जाबाल स्मृति, भविष्यपुराण तथा जैमिनि मुनिकृत मीमांसाशास्त्र आदि के अन्य भी कई स्पष्ट प्रमाण उद्धृत किये गये हैं अतः प्रसङ्गवश उन्हें उद्धृत करना अनुचित न होगा। '**धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः। प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः**[३]।'

अतएव जाबालः—**श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी**[४]।

भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—**श्रुत्या सह विरोधे तु, बाध्यते विषयं विना**[५] ॥

जैमिनिरप्याह—**विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्**[६] ॥

श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यम् अप्रमाणम् अनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानम् इत्यर्थः[७] ॥

मनुस्मृति के ऊपर उद्धृत श्लोक में जो यह कहा है कि धर्म जानने की इच्छा रखनेवालों के लिए सबसे बड़ा प्रमाण वेद है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है यदि कहीं श्रुति (वेद) और स्मृति का विरोध हो तो श्रुति को ही प्रामाणिक मानना चाहिए, स्मृति को नहीं। मनु महाराज ने वेदों का महत्त्व बताते हुए यहां तक कह दिया कि—

---

१. मनु० २-६
२. मनु० २-१३
३. जाबाल स्मृति
४. जाबाल स्मृति
५. भविष्य पुराण
६. मीमांसा १-३-३

पितृदेवमनुष्याणां, वेदश्चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च, वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः, चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥
बिभर्ति सर्वभूतानि, वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत्परं मन्ये, यज्जन्तोरस्य साधनम्[१] ॥ ९९ ॥

सारांश यह है कि वेद पितर, देव और मनुष्य सब के लिए सनातन मार्गदर्शक नेत्र के समान है। उसकी महिमा का पूर्णतया प्रतिपादन करना अथवा उसे सम्पूर्णतया समझ लेना बड़ा कठिन है। चारों वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, भविष्य और वर्तमान विषयक ज्ञान वेद से ही प्रसिद्ध होता है। सनातन (नित्य) वेदशास्त्र सब प्राणियों को धारण करता है। यही सब मनुष्यों के लिए भवसागर के पार होने का साधन है, इत्यादि।

याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन

न वेद शास्त्रादन्यत्तु, किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते। निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु, वेदशास्त्रात्सनातनात्[२] ॥

अर्थात् वेदशास्त्र से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं। अन्य सब शास्त्र सनातन वा नित्य वेदशास्त्र से ही निकले हैं।

अत्रि स्मृति का वचन

नास्ति वेदात्परं शास्त्रं, नास्ति मातुः समो गुरुः ॥

अर्थात् वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं, माता के समान कोई गुरु नहीं।

ब्राह्मणों और उपनिषदों के वेदविषयक कुछ वचन

ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने का स्पष्ट प्रतिपादन है। यथा—

मुण्डकोपनिषत् का वचन

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ॥ मु० २.१.४।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षाः ॥ मु० २.१.७।

अर्थात् उस भगवान् का मस्तक मानों अग्नि है, सूर्य और चन्द्र उसके नेत्रों के समान हैं, दिशाएं उसके कानों के तुल्य हैं। वेद मानो उस की वाणी से निकले अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान हैं। शतपथब्राह्मणान्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषत् में स्पष्ट कहा है कि—**एतस्य वा महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ॥ बृ० ४.५.११ ॥**

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उस महान् परमेश्वर के मानो श्वास से निकले हैं।

छन्द नाम का महत्त्व—

शतपथ ब्राह्मण में वेदों को छन्द के नाम से पुकारते हुए उस शब्द की जो व्युत्पत्ति दी गई है उससे भी ब्राह्मणकार के मन में वेदों के प्रति अत्यन्त आदर का भाव सूचित होता है, जो निम्न शब्दों में है—

यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥

अर्थात् देवों (सत्यनिष्ठ विद्वानों—सत्य-संहिता वै देवाः, सत्यमया उ देवाः, विद्वांसो वै देवाः इत्यादि प्रामाण्यात्) ने मृत्यु से भयभीत होकर इन वेदों से क्योंकि अपने को आच्छादित कर लिया, इसलिए वेदों को छन्द कहते हैं। तात्पर्य

---

१. मनु० अ० १२ २. ३.

यह है कि वेद-ज्ञान ही मृत्यु-भय से सर्वथा मुक्त करनेवाला है। सर्वथा इसके समान ही छन्द की व्युत्पत्ति ताण्ड्यमहाब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्योपनिषत् में इन शब्दों में की गई है—**देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिराच्छादयन्, यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्॥ छा० १.४.२।**

अर्थात् देवों (सत्यनिष्ठ विद्वानों) ने मृत्यु से भयभीत होकर त्रयी विद्या (ज्ञान, कर्म, उपासना-विद्या का प्रतिपादन करनेवाले वेद) का आश्रय लिया। उन्होंने अपने को वेदमन्त्रों से आच्छादित कर लिया (ढक लिया)। क्योंकि इन वेदमन्त्रों से उन्होंने अपने को आच्छादित कर लिया, इसलिए इन्हें छन्द के नाम से कहा जाता है। इससे भी ब्राह्मणों और उपनिषदों के लेखकों की वेदों के विषय में अत्यधिक श्रद्धा सूचित होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण में भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हुए स्पष्ट कहा गया है कि—**'प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत।'**

अर्थात् समस्त प्रजा के स्वामी परमेश्वर ने प्रजा के कल्याणार्थ वेदों का निर्माण किया। ये वचन इतने स्पष्ट हैं कि इन पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। इस प्रसङ्ग में तैत्तिरीय ब्राह्मण की निम्न आख्यायिका भी उल्लेखनीय है जिसमें वेदों को समस्त ज्ञान का भण्डार और विद्या की दृष्टि से अनन्त कहा गया है। वह आख्यायिका है :

> **भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयांचकार तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः, एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः अथ त इतरदनूक्तमेव॥ तै० ब्रा० ३.१०.११.३।**

अर्थात् भरद्वाज ने ३०० वर्ष पर्यन्त (मनुष्य की ३ आयु 'शतायुर्वै पुरुषः' के अनुसार १०० × ३ = ३००) ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदों का अध्ययन किया। इस प्रकार अध्ययन करते-करते जब वह अत्यन्त वृद्धावस्था को प्राप्त हो गया तो इन्द्र ने उसके समीप आकर कहा, यदि तुझे और भी आयु मिले तो तू उससे क्या करेगा? भरद्वाज ने उत्तर दिया कि उससे भी मैं वेदों का अध्ययनादि रूप ब्रह्मचर्य ही करूंगा। इन्द्र ने पर्वत के समान तीन ज्ञानराशिरूप वेदों को दिखाया और उनमें प्रत्येक राशि से मुट्ठी-सी भर ली और भरद्वाज को कहा कि ये वेद इस प्रकार ज्ञान की राशि वा पर्वत के समान हैं, जिनके ज्ञान का कहीं अन्त नहीं। यद्यपि तूने तीन आयु-पर्यन्त (३०० वर्ष तक) वेदों का अध्ययन किया है, तथापि तुझे उनके सम्पूर्ण ज्ञान का अन्त नहीं प्राप्त हुआ।

इस आख्यायिका से भी वेदों का महत्त्व ब्राह्मणकार की दृष्टि में स्पष्टतया सूचित होता है। वर्तमान युग के महान् वैदिक धर्मोद्धारक, शिरोमणि आचार्यप्रवर महर्षि दयानन्द ने इसी आख्यायिका के ही भाव को अपने शब्दों में नियम के रूप में प्रकट कर दिया है कि **"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"**

महाभारत के वेद-गौरव-विषयक वचन

महाभारत में महर्षि वेदव्यास जी ने वेद को नित्य और ईश्वरकृत अनेक स्थानों पर बताया है और उनके अर्थ-सहित अध्ययन पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने यह भी कहा कि ऋषियों तथा पदार्थों के नाम वेदों से ही लेकर रखे गये। महाभारत के निम्न श्लोक इस विषय में उल्लेखनीय हैं—

> **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा, आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः[1]॥**

१. महा भा० १२-२२४-५५

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू परमेश्वर ने वेदरूप नित्य दिव्य वाणी का प्रकाश किया जिससे मनुष्यों की सारी प्रवृत्तियां होती हैं। यह ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध मन्त्र **तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्**[१] ॥ ८.७.६ का मानो अनुवाद है जिसमें वेदवाणी को नित्य और विविध विषयों का निरूपण कर प्रतिपादन करने वाली होने के कारण विरूपा कहा गया है। इसी अध्याय में आगे कहा है—

नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स ईश्वरः[२] ॥
नामधेयानि चर्षीणां, याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वयन्ते सुजातानां, तान्येवैभ्यो ददात्यजः[३] ॥

अर्थात् ईश्वर ने वस्तुओं के नाम और कर्म वेद के शब्दों से निर्माण किये। ऋषियों के नाम और ज्ञान भी प्रलय के अन्त अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों द्वारा दिये गये।

वेदों के अर्थ-सहित अध्ययन पर बल देते हुए महर्षि व्यास ने कहा है कि—

यो वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः। न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञः, तस्य तद्धारणं वृथा[४] ॥
भारं स वहते तस्य, ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः। यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा[५] ॥

अर्थात् जो वेद-शास्त्रों को केवल पढ़ लेता है किन्तु उनके अर्थ और तत्त्व को नहीं जानता, उसका इस प्रकार उस-उस ग्रन्थ को धारण कर लेना वा केवल पढ़ लेना भाररूप और निष्फल-सा हो जाता है। अतः वेदादि शास्त्रों को अर्थ और तत्त्व-सहित समझने का ही सबको प्रयत्न करना चाहिए।

निरुक्त का वचन

यही बात निरुक्त में श्री यास्काचार्य ने निम्नलिखित श्लोक द्वारा कही है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा[६] ॥

इसका यही तात्पर्य है कि जो वेद को पढ़कर उसके अर्थ को नहीं समझता वह भारवाही पशु के समान है, किन्तु जो वेदों के अर्थ को समझनेवाला है वही समस्त सुख और कल्याण को प्राप्त करता है। वह उस पवित्र ज्ञान द्वारा पाप को नष्ट करके परमानन्दरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। आचार्य यास्क का अधोलिखित वचन भी इस विषय में उल्लेखनीय है—

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे[७]।

इसका तात्पर्य यह है, क्योंकि पुरुष की विद्या वा उसका ज्ञान अनित्य है अतः वेद में मन्त्रों द्वारा कर्तव्य कर्मों का नित्यपूर्ण रूप में प्रतिपादन किया गया है। इस वचन से दो बातें स्पष्ट हैं, एक तो यह कि निरुक्तकार श्री यास्काचार्य वेद को नित्य ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं अन्यथा यह युक्ति देने की आवश्यकता न थी कि पुरुष का ज्ञान अनित्य है (पुरुष विद्याऽनित्यत्वात्)।

दूसरी बात यह है कि उनके अनुसार वेद से तात्पर्य मन्त्र-संहिता से ही है, न कि ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदादि भी उसमें सम्मिलित हैं, इसी लिए मन्त्र शब्द का वहां प्रयोग किया गया है। निरुक्त अ० १, खण्ड १९ के निम्न वाक्यों का भी इस प्रसङ्ग में उल्लेख यहां आवश्यक और उचित प्रतीत होता है, जहां कहा है कि—

---

१. ऋग्वेद ८.७५.६
२. महा भा० १२.६७२.१
३. महाभारत १२.६७२.३
४. महा भा० १२.२९३.२४
५. महाभारत १२.२९३.२५
६. नै०का० १.१८
७. निरुक्त १.२.२

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा[१] ।

इसका अर्थ यह है कि पहले ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे अर्थात् उन्होंने धर्मों का (जो वेद-प्रतिपादित हैं) साक्षात्कार किया हुआ है । वे धर्म के यथार्थ तत्त्व को भली-भांति प्रत्यक्षवत् जाननेवाले थे । उन्होंने उन लोगों को जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार न किया था, मन्त्रों द्वारा धर्म का उपदेश दिया । ये दूसरी कोटि के (अवरे) मनुष्य थे । उनके बाद तीसरी कोटि के जो मनुष्य थे उनकी बुद्धि इन प्रथम और द्वितीय कोटि के मनुष्यों की अपेक्षा भी मन्द थी, अतः उन्होंने इस समाम्नाय पदवाच्य निघण्टु का, वेदों और वेदाङ्गों का (सम् आम्नासिषुः) अच्छी प्रकार बार-बार अभ्यास किया और इन सब को अन्यों के उपकार के लिए लिपिबद्ध किया । इससे यह भाव कभी नहीं निकलता जैसा कई भ्रान्तिवश समझते हैं कि उन्होंने वेदों की रचना की, क्योंकि मन्त्र तो पूर्व से ही विद्यमान थे, जिनके द्वारा प्रथम कोटि के साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने द्वितीय कोटि के (अवरेभ्यः) लोगों को उपदेश दिया । द्वितीय कोटि के लोगों ने तृतीय कोटि के लोगों को (जिनकी बुद्धि तथा स्मृति-शक्ति उनकी अपेक्षा भी मन्द थी) उपदेश दिया । तो उन्होंने इस अभिप्राय से कि आगे आनेवाले लोग भी उससे लाभ उठा सकें, उनका निघण्टु और वेदाङ्ग-सहित खूब अभ्यास किया और उन्हें लिपिबद्ध भी कर दिया । बिल्म का अर्थ भासन वा स्पष्टीकरण निरुक्त के ऊपर उद्धृत वचन में बताया गया है ।

दर्शनशास्त्रों का वेदविषयक विचार

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा ये छः दर्शनशास्त्र हैं जिन्हें गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि, वेदव्यास और जैमिनि नामक ऋषियों ने बनाया । इन सब दर्शनों में वेदों के महत्त्व को स्पष्टतया स्वीकार किया गया है । उदाहरणार्थ न्यायदर्शन के २.१.६७ **मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्** (२. १. ६७) इत्यादि सूत्रों में परम आप्त परमेश्वर का वचन होने और असत्य, परस्पर-विरोध और पुनरुक्ति आदि दोष-रहित होने से वेद को परम प्रमाण सिद्ध किया गया है ।

वैशेषिक शास्त्रकार कणाद मुनि ने **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'** (१. १. ३) इस सूत्र द्वारा परमेश्वर का वचन होते से आम्नाय अर्थात् वेद की प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है ।

सांख्यकार कपिल मुनि को भूल से कई आधुनिक विचारक नास्तिक समझते हैं। किन्तु, उन्होंने भी **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्'** इत्यादि सूत्रों द्वारा वेदों को ईश्वरीय शक्ति से अभिव्यक्त (प्रकट) होने के कारण स्वतःप्रमाण माना है । सांख्य-सूत्रों में जगत्कर्ता ईश्वर का **'स हि सर्ववित्, सर्वकर्त्ता'** इत्यादि सूत्रों द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन है, अतः कपिल मुनि को नास्तिक समझना बड़ी भूल है ।

इस प्रसङ्ग में एक और बात का उल्लेख करना आवश्यक है । वह यह कि कुछ लोग सांख्यदर्शन के (**'ईश्वरासिद्धेः'** १. ९२) इस सूत्र के आधार पर यह समझते हैं कि सांख्यकार कपिल मुनि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे । ऐसी अवस्था में **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'** इसका ईश्वरीय शक्ति से वेदों की अभिव्यक्ति और स्वतःप्रमाणता परक अर्थ कैसे ठीक हो सकता है ? इस विषय में हमने अपनी **"बौद्ध मत और वैदिक धर्म"** नामक पुस्तक में पर्याप्त प्रकाश डाला है । यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि **'ईश्वरासिद्धेः'** यह सूत्र प्रत्यक्ष के प्रकरण में आया है, जिसका लक्षण कपिल मुनि ने **'यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्** (१. ८९) इस रूप में किया है । अतः "ईश्वरासिद्धेः" का इतना ही अभिप्रायः है कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह सर्वव्यापक निराकार होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं । साथ ही ईश्वर की उपादानकारणता का **"तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः । प्रधानशक्तियोगाच्चेत्**

१. निरुक्त १.६.१८

सङ्गापत्तिः । सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् । प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः । सम्बन्धाभावान्नानुमानम् । श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।" पंचम अध्याय के इन सूत्रों में निषेध किया गया है कि यदि ईश्वर को इस सृष्टि का उपादान कारण माना जायेगा तो ईश्वर नित्यमुक्त नहीं रहेगा, क्योंकि उपादान कारण मानने से उसमें रागादि की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी, जो नित्यमुक्त में नहीं हो सकती । यदि ईश्वर को जगत् का उपादान कारण माना जाए तो ईश्वर में सर्वज्ञतादि जो गुण हैं वे इस जगत् में भी होने चाहिएं, क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य में होते हैं; किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, अतः वह जगत् का उपादान कारण नहीं । प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने से भी ईश्वर को जगत् का उपादन कारण नहीं सिद्ध किया जा सकता और न अनुमान-प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण है । श्रुति भी प्रधान अथवा प्रकृति को ही जगत् का उपादान कारण मानती है ।

कहीं इन सूत्रों से यह भ्रम न हो जाये कि सांख्यकार ईश्वर की जगत् के निमित्त-कारण के रूप में सत्ता का भी निषेध करते हैं । उनके निम्न सूत्र उल्लेखनीय हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ॥ (सांख्य. ३. ५६) अर्थात्—ईश्वर सर्वज्ञ और निमित्त-कारणरूप से जगत् का कर्ता है । **ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥** (सांख्य ३. ५७) ऐसे जगत् के निमित्त-कारणरूप सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है । **व्यावृत्तोभयरूपः ॥** (सांख्य १. १६) वह ईश्वर प्रकृति और पुरुष (आत्मा) दोनों से भिन्न स्वरूपवाला है । इत्यादि ।

सांख्य-शास्त्र निरीश्वरवाद का प्रतिपादक नहीं, किन्तु इसमें नित्य ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन है इस बात का महाभारत में भी स्पष्ट प्रतिपादन है तद् यथा—

अत्र ते संशयो माभूत्, ज्ञानं सांख्यं परं मतम् । अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं, पूर्णं ब्रह्म सनातनम्[१] ॥
अनादिमध्यनिधनं, निर्द्वन्द्वं कर्तृशाश्वतम् । कूटस्थं चैव नित्यं च, यद्वदन्ति मनीषिणः[२] ॥

महाभारत शान्ति पर्व (मोक्षधर्म पर्व) अ० २७ में कपिल के निम्न वचन भी द्रष्टव्य हैं जिनसे उनकी वेद और ब्रह्म दोनों पर पूर्ण निष्ठा स्पष्टतया ज्ञात होती है—

वेदाः प्रमाणं लोकानां, न वेदाः पृष्ठतः कृताः ।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्म परं च यत्[३] ॥ १ ॥
शब्दब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति[४] ॥ २ ॥

अर्थात् वेद समस्त लोगों के लिए प्रमाण हैं । उन्हें पीछे से नहीं बनाया गया । ब्रह्मपदवाच्य दो का ज्ञान आवश्यक है—एक तो वेद और दूसरा परब्रह्म—परमेश्वर । जो शब्दब्रह्म अर्थात् वेद में निपुण है वह परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार कपिल मुनि की नास्तिकता का पूर्ण निराकरण होता है ।

योगदर्शनकार पतंजलि मुनि ने **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।'** समाधिपाद सू० २६ इत्यादि में परमेश्वर को नित्य वेद-ज्ञान देने के कारण सब पूर्वजों का भी आदिगुरु माना है ।

वेदान्त-शास्त्र के कर्ता वेदव्यास जी ने **'शास्त्रयोनित्वात्'** (१. १. ३.) तथा **'अतएव च नित्यत्वम्'** (१. ३. २९) इत्यादि सूत्रों द्वारा परमेश्वर को ऋग्वेदादि वेदों का कर्ता मानते हुए वेद की नित्यता का प्रतिपादन किया है । **'शास्त्रयोनित्वात्'** इस सूत्र के भाष्य में श्री शंकराचार्य जी ने जो लिखा है, वह भी इस प्रसङ्ग में महत्त्वपूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय है । वे लिखते हैं—

---

१. महाभा० १२.२९०.९६ २. महाभा० १२.२९०.९७ ३. महाभा० १२.२६२.१ ४. महाभा० १२.२२४.६०

'ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्यग्वेंदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति ॥'

अर्थात् ऋग्वेदादि जो चार वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं, उनका बनानेवाला सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव, सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा संभव नहीं, इत्यादि। मीमांसाशास्त्र के कर्ता जैमिनि मुनि तो धर्म का लक्षण ही यही करते हैं कि—**'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'** अर्थात्—जिसके लिए वेद की आज्ञा हो वह धर्म, और जो वेद-विरुद्ध हो वह अधर्म कहलाता है।

इस प्रकार समस्त शास्त्र एक स्वर से वेदों की नित्यता और स्वतःप्रमाणता का प्रतिपादन करते हैं।

गीता के कुछ वचन

भगवद्गीता एक जगद्विख्यात महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसके वेद-विषयक कुछ श्लोकों का उल्लेख करना इस प्रकरण में हमें उचित प्रतीत होता है। गीता में यज्ञ के विषय का निरूपण करते हुए कहा है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः[1] ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म, नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्[2] ॥

अर्थात् प्राणियों का जीवन अन्न पर निर्भर है। अन्न की उत्पत्ति मेघों से होती है। मेघ यज्ञ से बनते हैं। यज्ञ कर्म से सम्पन्न होते हैं। कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म अर्थात् वेद के द्वारा होती है। वह ब्रह्म अर्थात् वेद अक्षर वा अविनाशी परमेश्वर से आविर्भूत होता है, इसलिए सर्वव्यापक परमेश्वर को सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित जानो। इस श्लोक में वेदों की उत्पत्ति अविनाशी परमेश्वर से बताई गई है।

इस श्लोक के भाष्य में श्री शंकराचार्यजी ने लिखा है—

कर्म (ब्रह्मोद्भवम्) ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं (विद्धि) जानीहि ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवं) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः। यस्मात् साक्षात्परमाख्यादक्षरात् पुरुषनिःश्वासवत् समुद्भूतं ब्रह्म तस्मात् सर्वप्रकाशकत्वात् सर्वगतम्। सर्वगतमपि सन्नित्यं सदा यज्ञविधिप्रधानत्वाद् यज्ञे प्रतिष्ठितम्। भगवद्गीता शांकर भाष्ये अ० ३. १५

तात्पर्य यही है कि कर्म की उत्पत्ति वेद से और वेद की अविनाशी परमात्मा से है। वेद साक्षात् परमात्मा से पुरुष-श्वास की तरह निकला है, अतः सब विषयों का प्रकाशक होने के कारण उसे ही सर्वगत कहा है। वह सर्वगत ब्रह्म (वेद) यज्ञविधि-प्रधान होने से यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

श्री आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) के भाष्य में यद्यपि इस श्लोक की व्याख्या शंकराचार्य जी के भाष्य से भिन्न की गई है, तथापि वेदों की नित्यता और ईश्वरीयता को—

तानि चाक्षराणि नित्यानि 'वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥' अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। अतएव च नित्यत्वम्। इत्यादि श्रुतिस्मृतिभगवद्वचनेभ्यः ॥ न च सर्वज्ञत्वे यदि वेदस्त्रष्टा किमिति न जगत् स्रष्टा सर्वज्ञः तस्माद् वेदप्रमाणकत्वमेवात्र विवक्षितम् अतो नित्यान्यक्षराणि यत एवं परम्परया यज्ञाभिव्यङ्ग्यं ब्रह्म तस्मान्नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

---

१. गीता ३.१४

२. गीता ३.१५ (शांकर भाष्यादि सप्तटीकोपेता, गुजराती मुद्रणालय मुम्बई, पृष्ठ १८१)

इत्यादि शब्दों द्वारा उसमें भी स्पष्ट माना गया है। इसकी पुष्टि वेद की अन्तःसाक्षि **'वाचा विरूपनित्यया'** महाभारत का वचन **'अनादिनिधना नित्या'** तथा वेदान्त-सूत्र **'अत एव च नित्यत्वम्'** इनके उद्धरणों से की गई है। रामानुजभाष्य की 'अमृत तरङ्गिणी' टीका में भी—**वेदात् कर्मोत्पत्तिः स च ब्रह्मनिःश्वासस्तेन तथा। ब्रह्मणः पुरुषोत्तमत्वज्ञापनार्थं विशिनष्टि अक्षरसमुद्भवम्। अक्षरस्य समुद्भवो यस्मात् तादृशम्।** इत्यादि वचनों द्वारा वेद की नित्यता का प्रतिपादन है। नीलकण्ठी टीका में तो और भी स्पष्ट रूप से इस श्लोक की टीका में लिखा है—

> **कर्म (ब्रह्मोद्भवं) वेदोद्भवं वेद एव धर्मे प्रमाणं न तु पाखण्डादिप्रणीतागमः। ब्रह्म वेदोऽपि अक्षरसमुद्भवम्। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादिश्रुतेः। साक्षात्परमेश्वरादेवोत्पन्नोऽतो न तत्र भ्रमविप्रलम्भत्वादिदोषाक्रान्तपाखण्डादिवाक्यवदप्रामाण्यशंकास्तीति भावः। यस्मादेवं तस्मात् सर्वस्मिन् देशे काले च वर्तमानं ब्रह्म वेदः एतेन वेदस्य शब्दस्य विभुत्वं च दर्शितं नित्यं नियमेन यज्ञे प्रतिष्ठितं तात्पर्येण पर्यवसन्नम्॥** नीलकण्ठी टीका, पृ० १८३।

अर्थात् कर्म के विषय में वेद प्रमाण है और वेद की उत्पत्ति परमात्मा से है, अतः उसकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं हो सकता, इत्यादि।

गीता के सप्तदश (१७वें) अध्याय में 'ओं तत्सत्' इस नाम से ब्रह्म का निर्देश करते हुए श्लोक २२ में कहा है कि—

> **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥**

अर्थात् ब्रह्म का **'ओं तत् सत्'** इन नामों से शास्त्रों में निर्देश किया गया है। उसी से ब्राह्मणों (ब्रह्मज्ञानी वेदवेत्ताओं), वेदों और यज्ञों का विधान किया गया है अर्थात् वेद के अध्ययनाध्यापन में दिन-रात तत्पर ज्ञानी, परमेश्वर के सच्चे भक्त उसके बड़े पुत्र कहलाते हैं। वेदों का उसी ब्रह्म ने उपदेश दिया है, जिनके द्वारा ही यज्ञ-कर्म चलते हैं, अतः इन तीनों की उत्पत्ति विशेष रूप से उस परमेश्वर से मानी गई है। इस श्लोक में भी वेदों को स्पष्टतया ईश्वरीय बताया गया है।

कुछ लोगों का यह विचार है कि गीता में वेदों की निन्दा की गई है, तद्यथा—

> **यामिमां पुष्पितां वाचं, प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ, नान्यदस्तीति वादिनः॥** २. ४२॥
> **कामात्मानः स्वर्गपराः, जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां, भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥** ४३॥
> **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां, तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः, समाधौ न विधीयते॥** ४४॥
> **त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥** ४५॥
> **यावानर्थ उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः॥** ४६॥

वस्तुतः इन श्लोकों में वेदों की निन्दा नहीं की गई, किन्तु जो वेदों के अनुसार आचरण न करके केवल वेद-विषयक वाद-विवाद में तत्पर रहते हैं और कहते हैं कि इन बाह्य यज्ञयागों के अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य है ही नहीं (वेदवादरताः पार्थ, नान्यदस्तीति वादिनः) जो भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए यज्ञयागादि करते और भोगों में आसक्त रहते हैं, उनकी निन्दा की गई है। ऐसे लोगों की निन्दा तो स्वयं वेदों के मन्त्रों में की गई है—**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते**[१] **॥ न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति**[२] ॥

१. ऋग्वेद १.१६४.३८ २. ऋ० १०.८२.७

जहां बताया गया है कि जिस अविनाशी परमेश्वर के आधार पर सब देव—सूर्य-चन्द्र तारादि तथा सत्यनिष्ठ विद्वान् स्थित हैं, जो उसको नहीं जानता वह केवल ऋचाएं (वेदमन्त्र) पढ़कर भी क्या करेगा ? उसे क्या फल मिलेगा ? जो उस परमेश्वर को जानते हैं वे शान्त होकर बैठते हैं। हे मनुष्यो ! तुम उस परमेश्वर को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों और प्राणियों को बनाया है। वह तुमसे भिन्न किन्तु तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। तुम इसलिए उस परमेश्वर को नहीं जानते कि तुम अज्ञानान्धकार से आच्छादित, आचरण न करके केवल बातें बनानेवाले, अपने ही प्राणों के तृप्त करने वा पेट भरने में तत्पर और ईश्वर की वेदोक्त आज्ञा का पालन न करके उसके नाम और वेदमन्त्रों का केवल वाणी से कथन करनेवाले हो।

जैसे इन वेदमन्त्रों का तात्पर्य वेदों की निन्दा से नहीं, किन्तु उन व्यक्तियों की निन्दा से है जो परमेश्वर की वेदोक्त आज्ञा का पालन नहीं करते और वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य (कठोपनिषत् २. १४. के **"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"** तथा भगवद्गीता के **"यदक्षरं वेदविदो वदन्ति"** ८. ११ के अनुसार) परमेश्वर को जानने का प्रयत्न नहीं करते, वैसे ही गीता के इन श्लोकों का तात्पर्य समझना चाहिए। **'त्रैगुण्य विषया वेदाः'** गीता २. ४५ का तात्पर्य स्पष्ट है कि वेदों में सत्त्व, रजस्, तमस् प्रकृति के इन तीन गुणों से बने पदार्थों का वर्णन है, किन्तु मनुष्य का कर्तव्य यह है कि वह उन सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके इन तीनों गुणों से रहित किन्तु नित्य सत्त्व में निवास करनेवाला बने। इसमें वेदों की निन्दा नहीं, किन्तु उनके ज्ञानरूप होने का प्रतिपादन है।

'यावानर्थ उदपाने' इस श्लोक का वास्तविक अर्थ यह है कि (सर्वतः संप्लुतोदके) जब चारों ओर बाढ़ आई हुई हो तो (उदपाने) कुएं के स्वच्छ जल का (यावान् अर्थः) जितना प्रयोजन होता है (विजानतः ब्राह्मणस्य) ज्ञानी ब्राह्मण के लिए (सर्वेषु वेदेषु) सब वेदों का उतना ही प्रयोजन है। भावार्थ यह कि जब चारों ओर बाढ आई हुई हो तो उससे पीने का प्रयोजन ठीक तौर पर सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह पानी मात्रा में अधिक होने पर भी पीने योग्य नहीं होता, किन्तु कूप का जल शुद्ध होने के कारण पीने का प्रयोजन उसी से उत्तमतया पूर्ण होता है। ऐसे ही यद्यपि इधर-उधर से अनेक विषयों का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, किन्तु कूप-जल के समान शुद्ध-पवित्र ज्ञान तो वेदों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह तो एक प्रकार से ऋग्वेद के—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ १०. ७१.६।

इस मन्त्र का भावानुवाद-सा है जिसमें बताया गया है कि 'परमेश्वर को प्राप्त करने और यथार्थ तत्त्व का उपदेश करनेवाले वेदरूप मित्र का जो परित्याग कर देता है उसकी वाणी में भजनीय अंश का अभाव-सा हो जाता है। वह जो कुछ इधर-उधर से सुनता है, वह असत्य सुनता है। वह धर्म के मार्ग को (न प्रवेद) प्रकृष्टता अथवा उत्तमता से पूर्ण विशुद्ध रूप में नहीं जान सकता।' गीता के इस श्लोक में वेदों की निन्दा की कल्पना करना सर्वथा अशुद्ध है। उससे तो उनका यथार्थ ज्ञान के लिए महत्त्व ही प्रकट होता है।

भगवद्गीता में वेदों को न केवल प्रमाणरूप शास्त्र बताते हुए यह कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं, कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता १६. २४

अर्थात् "कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र ही तेरे लिए प्रमाण है, इसलिए शास्त्र के विधान को जानकर उसके अनुसार कार्य करना तुझे उचित है बल्कि उन्हें ईश्वरीय बताया है, इस विषय का सप्रमाण निरूपण ऊपर किया जा चुका है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन समस्त संस्कृत-साहित्य में वेदों का महत्त्व बताया गया है । उन्हें धर्म और ज्ञान का मूल अतएव नित्य और अपौरुषेय तथा ईश्वरोक्त कहा गया है । वेदविषयक यह प्राय: सर्वसम्मत प्राचीन विश्वास है ।

उपनिषद् और वेद—

इस प्रथम खण्ड की समाप्ति से पूर्व एक और विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है । कुछ विद्वानों का विचार है कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध एक क्रान्ति की गई है । उनमें वेदों को अपरा विद्या कहकर उन्हें तुच्छ और हेय बताया गया है और वेदोक्त यज्ञों तथा कर्मकाण्ड की निस्सारता का प्रतिपादन "प्लवा ह्येते अदृढ यज्ञरूपा:" इत्यादि वचनों द्वारा किया गया है । इस विषय के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है । हमने मुण्डकोपनिषत् के दो वचनों को इस खण्ड में उदधृत किया है, जिनमें वेदों को स्पष्टतया ईश्वरीय ज्ञान बताया गया है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ मुण्डक २. १. ४ ।
तथा-तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षाः । मुण्डक ४. १. ६ ।

यदि मुण्डकोपनिषत्कार ऋषि का वेदों के विषय में यह विचार होता तो वे कभी इस प्रकार के वचन न लिखते, जिनमें उस सर्वभूतान्तरात्मा परमेश्वर की वाणी के रूप में वेदों को कहा गया है और उसी परमात्मा से वेदों की उत्पत्ति बताई गई है । अत: यह स्पष्ट है कि मुण्डकोपनिषत् के प्रथम खण्ड में जो यह कहा गया है कि—

द्वे विद्ये वेदितव्य इति स्म ह यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ मुण्डक १. १. ४. ५ ।

उसके अर्थ समझने में भूल हुई है । यहां यह कहा गया है—ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो प्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, परा और अपरा । इनमें अपरा विद्या वह है जिससे जगत् में धर्म, कर्म और सब पदार्थों का ठीक ज्ञान प्राप्त हो । इसके अन्दर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इनका समावेश होता है क्योंकि इनके द्वारा धर्म, कर्म और सब पदार्थों का ठीक ज्ञान प्राप्त हो सकता है । परा उस विद्या को कहते हैं जिससे केवल नाशरहित ब्रह्म जाना जाता है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि अपरा विद्या तुच्छ या अश्रेष्ठ है जैसे कि 'ब्राह्मधर्म' नामक कलकत्ता से मुद्रित पुस्तक में 'अपरा' का अर्थ 'अश्रेष्ठा' करते हुए दिखाने का यत्न किया गया है अथवा वेदों से ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु यह है कि वेदों और वेदाङ्गों में केंवल ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन नहीं, उनमें धर्म, कर्म तथा जगत् के अन्य पदार्थों यथा अग्नि, वायु, पृथिवी, जल आदि के भी ठीक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है (जो परा विद्या के साक्षात् अन्तर्गत नही) । वेदों में ब्रह्म का ज्ञान है जैसे कि—**'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठ. २. १५) तथा **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'** (बृहदारण्यक ४. ४. २२) इत्यादि उपनिषद्-वचनों में स्पष्ट बताया गया है, कि सारे वेद उस प्राप्तव्य सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, तथा ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी परमात्मा को ही जानने की इच्छा करते हैं ।

तथापि जब तक वेदों को सुनकर उनका मनन न किया जाये, और उनकी शिक्षाओं को मन में स्थिर न किया जाये तब तक ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं होता । इस कारण वेदों के अर्थ-सहित सुनने का नाम अपरा विद्या है । जो मनुष्य ब्रह्मविद्या का मनन करके निदिध्यासन द्वारा साक्षात् करते हैं, उनको जो ज्ञान प्राप्त होता है वह परा विद्या है । इसे वेदों की निन्दा समझ लेना बड़ी भूल है । अन्य सब उपनिषदों का आधार ईशोपनिषत् है जो यजुर्वेद का ४० वां अध्याय (काण्व शाखानुसार) है । अन्य तद्यथा—उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर पचासों वेदमन्त्रों का प्रमाण के रूप में उल्लेख किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥ ऋ० १. १६४. २० । मुण्डक ३. १. १, श्वेताश्वतर ४.६ ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजु० ३२. १, श्वेताश्वतर ४. २ ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ऋग्वेद १. १६४. ३९, श्वेताश्वर ४. ८ ।

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ यजु० ११. ४, श्वेताश्वतर २.४ ।

ऐसी अवस्था में यह मानना कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रांति की गई है, एक कोरी भ्रांति है । हां, उनमें केवल वेदों के पाठ को पर्याप्त न समझकर वेदप्रतिपाद्य परमात्मा के ज्ञान पर बल दिया गया है जो उचित ही है और जिसका ऊपर उद्धृत ऋग्वेद के "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्----- यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" इस मन्त्र में भी स्पष्टतया प्रतिपादन है जिसका अर्थ गीता-प्रकरण में लिखा जा चुका है । इसको वेदों की निन्दा समझ लेना जैसी भूल है वैसी ही उपनिषदों के इन वचनों से वेदों की निन्दा समझ लेना और उपनिषदों को वेदों के विरुद्ध क्रांति समझना भयंकर भूल है ।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (मुण्डक १. २. ७)

इत्यादि उपनिषदों के वचनों को वेदोक्त यज्ञमात्र का निन्दापरक समझ लेना भी भ्रम मात्र है, क्योंकि उपक्रम (प्रारम्भ) और उपसंहार (अन्त वा समाप्ति) आदि देखकर ही अर्थ का निश्चय किया जाता है । जिस खण्ड में 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' अर्थात् 'ये यज्ञरूप नौकाएं बड़ी अदृढ़ हैं ' इस भाव के शब्द आये हैं, उस खण्ड का प्रारम्भ निम्न वचनों से होता है—

तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ मुं० १. २. १ ।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने । तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्[1] ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्[2] । तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्रदेवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति[3] । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥

इन वचनों का तात्पर्य यह है कि वेदमन्त्रों में ऋषियों ने जिन यज्ञादि कर्मों का विधान पाया उनका हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र इस त्रयी संयोगरूप त्रेता अथवा त्रेता युग में विशेष रूप से प्रचार हुआ । तुम भी सत्य की कामना करते हुए निश्चित रूप से उन यज्ञों का आचरण वा अनुष्ठान करो । लोक में पुण्य का तुम्हारे लिए यही मार्ग है । जब अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो तो उसमें प्रातः और सायं अच्छी प्रकार आहुति देनी चाहिए । जो पुरुष इन देदीप्यमान अग्निशिखाओं में यथासमय आहुतियां देता हुआ अग्निहोत्रादि शुभ कर्मों का आचरण करता है, उसे ये सूर्य की रश्मियां या प्राण देवाधिदेव परमेश्वर की ओर ले जाते हैं । वे दीप्तिमती आहुतियां मानो "आओ, आओ, यह तुम्हारे पुण्य कर्मों से प्राप्त पवित्र ब्रह्मलोक है" ऐसी प्रिय वाणी कहकर यजमान का सत्कार करती हुई उसे ले जाती हैं । इस कवितामय आलंकारिक वर्णन से भी यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उपनिषत्कार वेदमन्त्रों द्वारा विधिवत् किये गये यज्ञों को बड़ा महत्त्व देते हैं और वे उन्हें परमेश्वर

१. मुं.१.२.२ ।   २. मुं० १।२.५।   ३. मुं० १.२.५।

की प्राप्ति में भी सहायक समझते हैं। इनसे यज्ञमात्र की निन्दा का भाव किसी भी अवस्था में नहीं निकल सकता, प्रत्युत "तान्याचरथ नियतं सत्यकामा:" "आहुती: प्रतिपादयेत्" इत्यादि द्वारा उनके नियमपूर्वक श्रद्धा से करने का यहां विधान किया गया है। क्या कोई बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार कर सकता है कि यज्ञों के करने का इतने स्पष्ट शब्दों में विधान करके फिर कोई आंप्त ऋषि स्वयं उनकी निन्दा करने लगेगा? यह बात मानने योग्य नहीं। अत: इन विधिपरक वचनों के बाद जो—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा:, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म[1]। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

इत्यादि वचन उपनिषत् में आये हैं—उनका तात्पर्य वेदोक्त यज्ञों की निन्दा से नहीं (जैसा भ्रांतिवश समझा जाता है) किन्तु उन लोगों की निन्दा से है जो इन बाह्य यज्ञों को ही सब- कुछ समझकर सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने का भी यत्न नहीं करते। उन अर्थात् ज्ञानरहित पुरुषों के ही विषय में कहा गया है कि वे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में आते हैं क्योंकि (ज्ञान के बिना) ये बाह्य यज्ञ-रूप नौकाएं बड़ी कच्ची हैं जिनमें किया गया कर्म अवर ज्ञान-रहित और अतएव तुच्छ है—**(अवरम्—केवलं ज्ञानरहितं कर्मेति शंकराचार्या:)** ।

ऐसे ही ज्ञान-रहित और केवल बाह्य यज्ञयागादि कर्मों को ही सब-कुछ समझनेवाले लोगों की निन्दा अगले तीन वचनों में भी पाई जाती है जो निम्नलिखित हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना:[2]। जंघन्यमाना: परियन्ति मूढा अंधेनैव नीयमाना यथान्धा:॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना:, वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला:[3]। यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुरा: क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा:[4]। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति॥

इनका भावार्थ यह है कि—१. जो अविद्या में पड़े हुए अपने को बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं ऐसे मूर्ख, अन्धों के पीछे चलनेवाले अन्धों की तरह इधर-उधर भटकते रहते हैं। २. अविद्या में पड़े हुए मूर्ख अपने को कृतकृत्य समझ बैठते हैं। कर्म करनेवाले जब रागादि के कारण ज्ञान को प्राप्त नहीं करते तो वे दु:खी होकर दुर्गति पाते हैं। ३. जो अत्यन्त मूर्ख, यज्ञों और बावड़ी-कुआं इत्यादि बनाने को ही सबसे श्रेष्ठ कर्म समझकर कहते हैं कि इनसे अच्छी और कोई चीज नहीं जिसे जानने की आवश्यकता हो, वे अपने पुण्य कर्मों का फल भोगकर इस तथा इससे भी हीन लोक में प्रवेश करते हैं।

ध्यानपूर्वक सारे प्रकरण को पढ़ने पर यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यह निन्दा वेदोक्त यज्ञों की नहीं, किन्तु उन लोगों की है जो इन बाह्य यज्ञों को ही सब-कुछ समझकर सन्तुष्ट हो जाते हैं और ब्रह्म तथा आत्मा के ज्ञान को भी प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। इसे वेदों अथवा वेदोक्त यज्ञों की निन्दा समझ लेना तथा यह परिणाम निकालना कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति का प्रतिपादन है, एक भयंकर भ्रान्ति है जिसे दूर करने के लिए हमें इस विवेचन की आवश्यकता प्रतीत हुई। □

---

१. मुं० १.२.७।   २. मुं० १.२.८।   ३. मुं.१.२.९।   ४. मुं.१.२.१०।

द्वितीय खण्ड

मध्यकालीन आचार्यों का मत

मध्यकाल में सर्वश्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, स्कन्द स्वामी, भरत स्वामी, सायणाचार्य, उव्वट, महीधरादि जो आचार्य तथा वेद-भाष्यकार हुए हैं उन सब ने भी वेदों को ईश्वरोक्त ज्ञान स्वीकार करते हुए उन्हें परम प्रमाण माना है। श्री शंकराचार्य जी के वेदान्त-भाष्य से उद्धरण दिया जा चुका है। द्वैतमत के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध श्री मध्वाचार्य जी ने ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों का भाष्य किया और उसके प्रारम्भ में लिखा—

मुनिस्तु सर्वविद्यानां, भगवान् पुरुषोत्तमः। विशेषतश्च वेदानां, यो ब्राह्मणमिति श्रुतिः॥

ऋग्वेदादिकमस्यैव, श्वसितं प्राह चापरः।

अर्थात् सब विद्याओं के विशेषतः वेदों के ज्ञानदाता भगवान् विष्णु हैं। यही तथ्य श्वेताश्वतर श्रुति में बताया गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवं आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

दूसरी श्रुति (बृहदारण्यकोपनिषत्) में **"एतस्य वा महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः"** इत्यादि द्वारा ऋग्वेदादि को भगवान् का श्वासरूप कहा गया है। श्री मध्वाचार्य (स्वामी आनन्द तीर्थ) जी ने अपने सिद्धान्तों के समर्थन में ब्रह्मसूत्र-भाष्यादि में प्रायः वेदों के ही प्रमाणों को उद्धृत किया है। कहीं-कहीं पुराणों के वचन भी उनके ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं, किन्तु उनके विषय में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि—**पुराणस्योपजीव्यश्च, वेद एव न चापरः। तद्विरोधे कथं मानं, तत्तत्र च भविष्यति॥** अर्थात् पुराणों का उपजीव्य (आधारभूत प्रमाण) वेद ही है और अन्य नहीं। इसलिए वेद से विरुद्ध होने पर उन्हें कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? इसी प्रकार अन्य मध्यकालीन आचार्यों के ग्रन्थों से भी वेदों के महत्त्व-विषयक वचन उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से उन्हें यहां उद्धृत करना आवश्यक नहीं।

मध्यकालीन विद्वानों की कुछ भयंकर भूलें

पूर्व इसके कि हम वेद विषयक प्राचीन सर्व-शास्त्रसम्मत सिद्धान्त का युक्तियुक्त अर्वाचन निष्पक्ष विद्वानों द्वारा समर्थित विवेचन प्रारम्भ करें, हम मध्यकालीन विद्वानों की कुछ भयंकर भूलों का निर्देश करना आवश्यक समझते हैं जिनके कारण ही अनेक पाश्चात्य विद्वानों और उनके भारतीय अनुयायियों ने वेदों के विषय में वे भ्रान्त धारणाएं बनाईं, जिनका इस ग्रन्थ में सप्रमाण विवेचन और निराकरण किया जायेगा। उनमें से कुछ प्रमुख भूलें निम्न हैं—

१. वेदों से तात्पर्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार मन्त्र-संहिताओं का ही न लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों को भी मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने वेदों में सम्मिलित कर लिया। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेद के व्याख्यान रूप हैं जिनमें अनेक ऋषियों के इतिहास भी पाये जाते हैं। उपनिषदें-वेदों और अपने अनुभव के आधार पर ऋषियों द्वारा निर्मित हैं जिनमें वेदों को परमेश्वर का वचन और निःश्वासरूप माना गया है।

२. ये मध्यकालीन वेद-भाष्यकार वेदों में ऋषियों और राजाओं का अनित्य इतिहास मानते तथा उनके आधार पर वेद-मंत्रों की व्याख्या करते हैं । इतना ही नहीं, ऐसी अनेक असंगत अख्यायिकाएं लिखते हैं जिन्हें पढ़कर किसी भी विचारशील व्यक्ति को लज्जित होना पड़ता है ।

मध्यकालीन वेदभाष्यकार वेदों में ऋषियों और राजाओं का अनित्य इतिहास मानते तथा उनके आधार पर वेद मन्त्रों की व्याख्या करते हैं । इतना ही नहीं, वे ऐसी अनेक असङ्गत आख्यायिकाएं लिखते हैं जिन्हें पढ़ कर किसी भी विचारशील व्यक्ति को लज्जित होना पड़ता है । इन्होंने तो ऋषियों को ही मन्त्रों का कर्ता समझ लिया ।

३. इन मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने अपने ग्रन्थों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन न कर, अनेक देवी-देवताओं की पूजा का विधान किया जो वस्तुतः वैदिक शिक्षा के विरुद्ध था ।

४. इन मध्यकालीन सभी आचार्यों ने यज्ञों में गौ, अश्व, अजा, भेड़ यहां तक कि मनुष्यों तक की बलि को शास्त्रविहित एवं स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया, जिसके कारण महात्मा बुद्ध आदि की पशुहिंसात्मक यज्ञों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन करना पड़ा । चार्वाक जैसे नास्तिक मतों की स्थापना में भी वेदविषयक इन भ्रान्त विचारों ने सहायता प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं ।

५. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः** ।(यजु० २६. २) **पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्** ।(ऋ० १०. ५३. ४) **समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः** ।(ऋ० १०. १९०. ३) इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों के होते हुए भी, जिनमें वेदों को पढ़ने और यज्ञादि करने का अधिकार मनुष्यमात्र को दिया गया है, इन मध्यकालीन अनेक आचार्यों ने शूद्रकुलोत्पन्न समस्त पुरुषों और सब स्त्रियों को उस अधिकार और कर्तव्य से वंचित रखा, जिससे वे अज्ञान के गर्त में गिरते ही चले गये तथा पाखण्ड की वृद्धि हुई ।

६. इन मध्यकालीन वेदभाष्यकारों के अनुसार मूल वेदों में केवल कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन है न कि ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय का । उनके समय में प्रचलित पौराणिक और तान्त्रिक विश्वासों तथा रीति-रिवाजों से प्रभावित हुई उनकी व्याख्या के अनुसार वेदों में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सरस्वती, रुद्र, मरुतः इत्यादि देवों की स्तुतियां तथा प्रार्थनाएं ही पाई जाती हैं, जीवनोपयोगी तत्त्वों और सदाचार तथा मानव-कर्तव्य प्रतिपादक उपदेशों का उनमें अभाव है । देवी-देवताओं के चरित्र भी प्रायः अत्यन्त हीन हैं । मांस मद्य भ्रान्त-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा, जादू-टोने आदि से वेदों के अनेक अंश भरे पड़े हैं । वस्तुतः ये धारणाएं सर्वथा भ्रान्त हैं जैसा कि आगे प्रकरणानुसार दिखाया जायेगा । बहुत-से पाश्चात्य विद्वानों ने अधिकतर इन्हीं मध्यकालीन वेदभाष्यों का अनुसरण किया और अपनी पक्षपातपूर्ण कल्पनाओं को भी ईसाई मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए इनके साथ जोड़ लिया, जिससे वे वेदों के यथार्थ विशुद्ध रूप समझने में असमर्थ हो गये और अन्यों को भी मार्गभ्रष्ट करने का कारण बने । ये मध्यकालीन सायणाचार्य, उव्वटादि व्याकरणादि के विद्वान् होते हुए भी योगी वा ऋषि न थे और न इन्हें वेदान्तर्गत विविध विद्याओं का ज्ञान था । 'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा । पारोपर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।' (निरुक्त अ० १, ख० १४) इस वचन के अनुसार जो ऋषि और तपस्वी नहीं, वह इन वेदमन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता । वेद पढ़नेवालों में जो जितना अधिक विविध विद्याओं का जाननेवाला होता है उतना ही वह प्रशंसनीय होता और वेदों के वास्तविक अर्थ को समझने में समर्थ होता है । ये लोग वेदों के रहस्य को समझने में प्रायः असमर्थ रहे और कई स्थानों पर ऐसे अश्लील तथा भ्रष्ट अर्थ करके वेदों को कलङ्कित कर गये कि उनको पढ़ते हुए भी सिर लज्जा के मारे झुक जाता है । इन भूलों तथा इनके परिणामों का हम प्रकरणानुसार आगामी अध्यायों में दिग्दर्शन कराएंगे । इन मध्यकालीन विद्वानों के लेखों में जो परस्पर-विरुद्धता, असङ्गतता तथा सामान्य बुद्धिहीनता अनेक स्थानों पर पाई जाती है उसे देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है ।

महात्मा गौतम बुद्ध और वेद

महात्मा गौतम बुद्ध एक जगद्विख्यात महापुरुष थे । वे एक बड़े सुधारक थे जिन्होंने जन्मसिद्ध जातिभेद, यज्ञों में पशुहिंसादि कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया । उनके विषय में प्राय: यह माना जाता है कि वे वेदों के घोर विरोधी थे और उन्होंने अपने वचनों में वेदों की बड़ी निन्दा की है, किन्तु वस्तुत: वे वेदों और सच्चे धार्मिक वेदज्ञों के लिए बड़े आदर का भाव रखते थे, यह सुत्तनिपात आदि के अनेक वचनों से ज्ञात होता है जिनमें से कुछ अतिस्पष्ट वचनों का यहां उल्लेख किया जाता है—

वेदज्ञ का महत्त्व

वेदगू अर्थात् वेदज्ञ का महत्त्व महात्मा बुद्ध ने इन शब्दों में बताया है—

समं समादाय वतानि जन्तु उच्चावचं गच्छति सञ्ञसत्तो ।

अर्थात् इन्द्रियों के अधीन होकर अपनी इच्छा से कुछ काम तथा तप करते हुए लोग ऊंची-नीची अवस्था को प्राप्त करते हैं, किन्तु—**विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मं, न उच्चावचं गच्छति भूपरिपञ्ञो**[1] ।

संस्कृतानुवाद—**विद्वांश्च वेदैः समेत्य धर्मं, नोच्चावचं गच्छति भूरिप्रज्ञः ।**

जो विद्वान् वेदों द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है उसकी ऐसी डावांडोल अवस्था नहीं होती ।

इस श्लोक से महात्मा बुद्ध की वेदों पर अत्यधिक श्रद्धा सूचित होती है और धर्म का ज्ञान वस्तुत: वेदों द्वारा ही हो सकता है, यह भी उनका अभिप्राय ज्ञात होता है ।

सुत्तनिपात श्लोक ३२२ (नाबासुत्त) में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

एवं पि यो वेदगु भावितत्तो, बहुस्सुतो होति अवेध धम्मो ।
सो खो परे निज्झपये पजानां, सोतोवधानूपनिसूपपन्नो ॥

अर्थात् जो वेद जाननेवाला है, जिसने अपने को सधा रखा है, जो बहुश्रुत है और धर्म का निश्चर्यपूर्वक जानने वाला है, वह निश्चय से स्वयं ज्ञानी बनकर अन्यों को जो सीखने के अधिकारी हैं उन्हें ज्ञान दे सकता है ।

यहां भी वेद जाननेवाला धर्मात्मा संयमी पुरुष ही औरों को सच्चा ज्ञान दे सकता है, यह महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट बताया है । इससे उनकी वेदों और सच्चे धर्मात्मा वेदज्ञों पर श्रद्धा ही सूचित होती है । सुत्तनिपात श्लोक ५०३ में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

यो वेदगू ज्ञानरतो सतीमा, सम्बोधिपत्तो सरणं बहूनाम् ।
कालेन तम्हि हव्यं पवेच्छे, यो ब्राह्मणो पुञ्ञपेक्खो यजेथ ॥

संस्कृतानुवाद—

यो वेदज्ञो ध्यानरतः स्मृतिमान् संबोधप्राप्तः शरणं बहूनाम् ।
कालेन तं हि हव्यं प्रवेशयेत्, यो ब्राह्मणः पुण्यप्रेक्षो यजेत ॥

---

१. सुत्तनिपात २९२

अर्थात् जो वेद को जाननेवाला, ध्यानपरायण, उत्तम स्मृतिवाला, ज्ञानी, बहुतों को शरण देनेवाला हो, जो पुण्य की कामनावाला यज्ञ करे, वह उसी को भोज़नादि खिलाए। यहां भी सच्चे वेदज्ञ के प्रति (जो वेदों की शिक्षाओं के अनुसार आचरण करनेवाला हो) बड़े आदर का भाव प्रकट किया गया है, यह स्पष्ट है।

वेदज्ञ ब्राह्मण प्रशंसा

सुत्तनिपात श्लोक १०५९ में महात्मा बुद्ध की निम्न उक्ति पाई जाती है—

यं ब्राह्मणं वेदगुं आभिजञ्ञा, अकिंचनं कामभवे असत्तं।
अद्धा हि सो ओघमिमं अतारि, तिण्णो च पारं अखिलो अकंखो॥

संस्कृतानुवाद—

यं ब्राह्मणं वेदज्ञं अभिज्ञातवान्, अकिञ्चनं कामभवे असक्तम्।
श्रद्धा हि स ओघमिमम् अतारीत् तीर्णश्च पारम् अखिलः अकांक्षः॥

अर्थात् जिसने उस वेदज्ञ ब्राह्मण को जान लिया जिसके पास कुछ धन नहीं और जो सांसारिक कामनाओं में आसक्त नहीं, वह आकांक्षारहित सचमुच इस संसार-सागर से तर जाता है।

सुत्तनिपात श्लोक १०६० में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

विद्वा च सो वेदगू नरोइध, भवाभवे संगं इमं विसज्जा।
सो वीततण्हो अनिघो निरासो, अतारि सो जाति जरांति ब्रूमीति॥

संस्कृतानुवाद—

विद्वांश्च स वेदज्ञो नरः इह, भवाभवे संगमिमं विसृज्य।
स वीततृष्णोऽनघो निराशीः, अतारीत् स जातिजरामिति ब्रवीमि॥

अर्थात् वेद को जाननेवाला विद्वान् इस संसार में जन्म या मृत्यु में आसक्ति का परित्याग करके और तृष्णा तथा पापरहित होकर जन्म और वृद्धावस्था से रहित हो जाता है, ऐसा मैं कहता हूं।

यहां भी सच्चे वेदज्ञ ब्राह्मणों के प्रति महात्मा बुद्ध का आदरभाव स्पष्ट है। एक वेद-निन्दक नास्तिक के ये उद्‌गार कभी नहीं हो सकते जो इस तथा ऊपर उद्धृत श्लोकों में प्रकट किये गये हैं।

सुत्तनिपात श्लोक ८४६ को भी यहां उद्धृत करके मैं इस प्रसङ्ग को समाप्त करना चाहता हूं जहां महात्मा बुद्ध ने कहा है—

न वेदगू दिट्ठिया न मुतिया स मानमेति नहि तन्मयोसो।
न कम्मुना नापि सुतेन नेय्यो, अनूपनीतो सो निवेशनेसु॥

संस्कृतानुवाद—

न वेदज्ञो दृष्ट्या न मिथ्या, स मानमेति नहि तन्मयः सः।
न कर्मणा नापि श्रुतेन नेयः, अनूपनीतः स निवेशनेषु॥

अर्थात् वेद को जाननेवाला सांसारिक दृष्टि और असत्यविचारादि से कभी अहंकार को प्राप्त नहीं होता। केवल कर्म और श्रवणादि से भी वह प्रेरित नहीं होता। वह किसी प्रकार के भ्रम में नहीं पड़ता।

इस प्रकार निष्पक्ष भाव से अनुशीलन करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि महात्मा बुद्ध वेदों और वेदज्ञों के प्रति बहुत आदर का भाव रखते थे; किन्तु जिनका आचरण पवित्र न था और जो यज्ञों में पशुहिंसादि प्राचीनधर्म-विरुद्ध कार्यों को करते थे (जैसे कि ब्राह्मणधम्मिक सुत्त के वचन उद्धृत करके बताया जा सकता है) उन्हें वे निन्दनीय समझते थे। तैविज्जसुत आदि में ऐसे ही दुराचारी, वेदों का नाममात्र पाठ करनेवालों की निन्दा है। उसे वेदों वा सच्चे धर्मात्मा वेदज्ञों की निन्दा समझ लेना भूल है। सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त में कथा आती है कि जब वह यज्ञ सम्पन्न कर चुका तो वह किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को यज्ञशेष देना चाहता था। उसने संन्यासी गौतम बुद्ध को देखा। उसने उनकी जाति पूछी। उन्होंने कहा कि जाति नहीं पूछनी चाहिए। मैं ब्राह्मण हूं। उसको सत्य का उपदेश देते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा कि,

यदन्तगू वेदगू यञ्ञकाले, यस्साहुति लभे तस्स इज्जेति ब्रूमि। सुत्तनिपात ४५८।

अर्थात् 'वेद को जाननेवाला जिसकी आहुति को प्राप्त करे उसका यज्ञ सफल होता है, ऐसा मैं कहता हूं।' इससे भी स्पष्ट है कि वे यज्ञ, वेद और वेदज्ञ सबके प्रति आदर का भाव रखनेवाले थे। क्या ऐसे को कभी नास्तिक कह सकते हैं? कभी नहीं। सुन्दरिक भारद्वाज ने गद्‌गद होकर कहा कि मेरा यज्ञ सफल हो गया, जिसे आप-जैसे वेदज्ञ महापुरुष के दर्शन हो गये। यदि आप-जैसे के दर्शन न होते तो मेरे यज्ञशेष को कोई और सामान्य व्यक्ति खा जाता।

गौतम का वेदाध्ययन

सिद्धार्थ गौतम ने ब्रह्मचारी बनकर वेदों का नियमपूर्वक अध्ययन किया था यह ललित विस्तर नामक बुद्ध के जीवनचरित्र में स्पष्ट लिखा है—

स ब्रह्मचारी गुरुगेह वासी, तत्कार्यकारी विहितान्नभोजी।
सायं प्रभातं च हुताशसेवी, व्रतेन वेदांश्च समध्यगीष्ट॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि उस सिद्धार्थ गौतम ने ब्रह्मचारी बनकर गुरु के कुल में निवास और उनकी सेवा करते हुए शास्त्रविहित भोजन, प्रातः-सायं हवन और व्रतों को धारण करते हुए वेदों का अध्ययन किया।

वेदों के विषय में आदरसूचक उनके विचार (विस्तार-भय से जिनमें से कुछ का यहां उल्लेख किया गया है) उनके अपने अध्ययन का परिणाम होंगे। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि महात्मा बुद्ध के विषय में यह प्रसिद्धि कैसे हो गई कि वे वेद-निन्दक हैं और आगे जाकर उनके अनुयायी कैसे वेदविमुख नास्तिक हो गये? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि महात्मा बुद्ध ने वेदों का बाल्यावस्था में अध्ययन किया था और उनकी वेदों पर आस्था भी थी, तथापि वे वेदों के धुरन्धर विद्वान् न थे। सुत्तनिपात्त के कलह विवाद सुत्त, चूल् वियूह सुत्त आदि पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध वादविवाद से दूर रहना पसन्द करते थे और अपने शिष्यों को भी ऐसा ही उपदेश देते थे। ऐसी अवस्था में यदि उन दिनों के यज्ञों में पशुहिंसा-पक्षपाती कुछ ब्राह्मणों ने वेदों का नाम लेकर हिंसा का समर्थन किया हो और उस पर आग्रह किया हो तो सम्भव है वादविवाद वा शास्त्रार्थ में न पड़ने के लिए (क्योंकि उसके लिए वेदों का धुरन्धर विद्वान् होना आवश्यक था) महात्मा बुद्ध ने कभी यह कह दिया हो कि यदि सचमुच वेदों में पशुहिंसा का ऐसा समर्थन है (यद्यपि मैं ऐसा नहीं मानता) तो मैं ऐसे वेदों को भी मानने के लिए तैयार नहीं। मुझे यह लिखते हुए महात्मा गांधी की यरवदा जेल में ६ मार्च १९३३ को कही हुई एक बात याद आ रही है। बातचीत में पूज्य महात्मा गांधी जी ने मुझे कहा कि पूना आदि स्थानों के कई पण्डित मेरे पास आते और कहते हैं कि वेदों में तो घोड़ों, बैलों, बकरियों और गौओं तक की बलि का यज्ञों में विधान है। महात्मा जी

ने आगे कहा कि मैं इन पण्डितों को उत्तर देता हूं कि मैं ऐसा नहीं मानता कि वेद-जैसे पवित्र शास्त्र में ऐसी बुद्धि और नीति-विरुद्ध बात होगी, पर जब वे आग्रह करते हैं तो मैं कह देता हूं कि यदि सचमुच वेदों में ऐसा विधान पाया जाता है तो मैं ऐसे वेदों को भी मानने को तैयार नहीं। जब मैंने निवेदन किया कि पूज्य महात्मा जी ! आप को ऐसी बात कभी मुख से नहीं निकालनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि आपके अनुयायी भी महात्मा बुद्ध के अनुयायियों की तरह (जो वस्तुतः नास्तिक न थे यह आपका कथन यथार्थ है) नास्तिक हो जाएंगे। वास्तव में वेदों में पशुहिंसात्मक यज्ञादि का विधान कहीं नहीं। तो महात्मा जी कहने लगे—मैं भी ऐसा ही समझता हूं, पर मैं क्या करूं ? मैं इन पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ नहीं कर सकता क्योंकि वेदशास्त्रों का मैं इतना विद्वान् नहीं। मैंने निवेदन किया कि आपकी ओर से शास्त्रार्थ हम लोग कर लेंगे, पर आपको ऐसे वाक्य मुख से नहीं निकालने चाहिएं।

मुझे महात्मा बुद्ध की वेदविषयक मनोवृत्ति भी महात्मा गांधी के समान प्रतीत होती है। ब्राह्मणधम्मिक सुत्त आदि से स्पष्ट है कि पशुहिंसात्मक यज्ञों को वे वेदविहित न मानकर धूर्त लोगों की मिलावट मानते थे। ऐसे पशुहिंसात्मक, वेदों के नाम से कल्पित वचनों की वे निन्दा करते थे, पर शास्त्रार्थ के लिए योग्यता और रुचि न होने के कारण कभी इस प्रकार के शब्द उनके मुख से निकल जाते हों कि 'यदि वस्तुतः वेदों में ऐसा विधान हो तो मैं उन्हें भी मानने को उद्यत नहीं' तो उन्हें ही वेदनिन्दा अथवा वेदों से इन्कार के रूप में लोगों ने ले लिया, यह सम्भव है। वस्तुतः उनकी वेदों के विषय में कैसी आस्था थी यह ऊपर उद्धृत वचनों से स्पष्ट है।

गुरु ग्रन्थ साहेब और वेद

वेद-विषयक मध्यकालीन विद्वानों तथा भाष्यकारों के विचारों की चर्चा करते हुए सिक्ख मत के प्रवर्तक गुरु नानक और अन्य गुरुओं के विचारों का भी उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है।

इन्होंने वेदों के विषय में प्रायः अनेक स्थानों पर अपना भक्तिभाव दिखाया है, जिसका दिग्दर्शन इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि आजकल के सिक्ख अधिकतर वेदशास्त्र-विरोधी हैं और उनमें से अनेक तो अपने को आर्य-हिन्दुओं से सर्वथा पृथक् समझते हैं।

कुछ स्पष्ट तथा प्रमुख वचनों को ही यहां उद्धृत किया जाता है।

१. **ओंकार वेद निरमए।** राग रामकली महल्ला १, ओंकार शब्द १

अर्थात् ईश्वर ने वेद बनाए।

२. **हरि आज्ञा होए वेद, पाप-पुन्न विचारिआ।**

मारुड खणे महल्ला ५ शब्द १।

अर्थात् ईश्वर की आज्ञा से वेद हुए, जिससे मनुष्य पाप-पुण्य का विचार कर सकें।

३. **सामवेद, ऋग जजुर अथर्वण। ब्रह्मे मुख माइया है त्रैगुण।**
ताकि कीमत कीत कह न सकै को तिउ बोलै जिउ बोलाइदा॥ मारु सोलहे महल्ला १ शब्द १७।

यहां भी चारों वेदों का नाम लेकर कहा है कि उनकी कीमत (महत्त्व) कोई नहीं बता सकता। वे अमूल्य और अनन्त हैं।

४. **ओंकार उत्पाती। किया दिवस सभराती। वण तृणत्रिभवन पाणी। चार वेद चारे खाणी॥**

राग मारु महल्ला ५ शब्द १७।

यहां कहा है कि ओंकार (परमेश्वर) ने ही दिन-रात, वन, घास तीनों लोक, पानी आदि को बनाया और उसी ने चार वेदों को बनाया जो चार खानों के समान (ज्ञान कोष) हैं।

वसन्त अष्टपदियां महल्ला १, अ० ३ में वेदों के ज्ञान की अनन्तता का इन शब्दों में वर्णन पाया जाता है—

५. **वेद बखान कहहि इक कहिये। ओह बेअन्त अन्त किन लहिये ?**
वेद के ज्ञान से अज्ञान मिट जाता है, उनके पाठ से बुद्धि शुद्ध होकर पापों का नाश हो जाता है, इस बात को निम्न शब्दों में सूचित किया गया है—

६. **दीवा बले अन्धेरा जाई। वेद पाठ मति पापा खाई। उगवै सूर न जापै चन्द, जहां गियान प्रगास अगियान मिटन्त।** असंख्य ग्रन्थों के होते हुए भी वेद का पाठ सबसे मुख्य है, इस बात को जपुजी १७ में इन शब्दों में बताया है—**असंख्य ग्रन्थ मुखि वेद पाठ ॥**
वेदशास्त्रों में मुख्यतया परब्रह्म का ही प्रतिपादन है, इस बात को 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' के अनुसार गौंड महल्ला ५ शब्द १७ में इस प्रकार है—**सिमृति सास्तर वेद पुराण। पार ब्रह्म का करहिं बखियाण ॥**

७. साधु सज्जन सदा वेद का व्याख्यान करते हैं, किन्तु भाग्यहीन नीच मनुष्य कुछ समझता नहीं। इस बात को टोडी महल्ला ५, शब्द २६ में इस प्रकार बताया गया है—**वेद बखियान करत साधुजन, भागहीन समझत नहीं ॥**

८. वेदों के पढ़ने से उत्तम विद्या भगवान् की कृपा से बढ़ती है, इस बात का सलोक सहस्कृति महल्ला ५। १४ से इन शब्दों में वर्णन किया गया है—
कहंत वेदा गुणन्त गुणिया, सुणत बाला यह विधि प्रकारा। दृडंत सुविद्या हरि हरि कृपाला ॥

९. गाथा महल्ला ५.२० में वेदशास्त्र के विचार करने से परमेश्वर का स्मरण होता है और सारा कुल तर जाता है, इस बात को निम्न शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—**वेद पुराण सास्तर (शास्त्र) विचारं, एकं कार नाम उरधारं। कुलह समूह सगल उधारं, बड़भागी नानक को तारं ॥**

१०. वेदों में एक परमेश्वर के स्मरण करने का उपदेश है। इस बात को राग सोरठा महल्ला ९, शब्द ५ में निम्न शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है—

कल में एक नाम कृपानिधि जाहि जपे गति पावै।
और धरम ताके सम नाहन इह विधि वेद बतावै ॥

११. कबीर जी का निम्न वचन भी जो गुरु ग्रन्थ साहेब के राग प्रभाती कबीर जी शब्द ३ में पाया जाता है, इस प्रकरण में महत्त्वपूर्ण होने के कारण विशेष उल्लेखनीय है—

वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारे ॥

अर्थात् वेदशास्त्र को झूठा मत कहो। झूठा वह है, जो विचार नहीं करता।

१२. दशम गुरु ग्रन्थ साहिब में वेद की प्रशंसा में अनेक वचन आये हैं, जिनमें से विचित्र नाटक अध्याय ४ का गुरु गोविन्द सिंह जी का निम्न वचन उद्धृत किया जाता है—
भुजङ्गप्रयात छन्द—

जिनै वेद पढ्यो सुवेदी कहाए, तिने धरम के करम नीके चलाए।
पठे कागदं मद्र राजा सुधारं, आपो आप में वैरभावं विसारं ॥ १ ॥

नृपं मुकलियं दूत सो कासी आयं, सभै वेदियं भेद भाखे सुनायं।
सभे वेदपाठी चले मद्र देशे, प्रणामं कियो आन कै कै नरेसे ॥ २ ॥
धुनं वेद की भूप ताते कराई, सभे पास बैठे सभा बीच भाई।
पढ़े सामवेदं जुजुरवेदकत्थं, ऋगं वेद पाठ्यं करे भाव हत्थं। ३ ॥

रसावल छन्द—

अथरववेद पठयं। सुनियो पाप नठियं। रहा रीझ राजा। दीआ सरब साजा ॥ ४ ॥

इस वर्णन में बताया गया है कि जिन्होंने वेद पढ़ा, वे वेदी कहाए (गुरु नानक जी का जन्म इसी वेदी परिवार में हुआ)। उन्होंने उत्तम धर्म के कर्म चलाए। वेदपाठी मद्र देश में गये। राजा ने उन्हें प्रणाम किया। राजा ने उन वेदपाठियों से वेद की ध्वनि करवाई। सामवेद, यजुर्वेद, ऋग्वेद, अथर्ववेद सब वेदों का पाठ करवाया गया, जिसके सुनने से भी पाप भाग गया। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उन वेद पाठियों को बहुत-सी दक्षिणा दी, इत्यादि। इस प्रकार वेदों की पवित्रता और श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। एक वचन ऐसा भी है जिसमें चार ऋषियों के द्वारा चार वेदों को देने का स्पष्ट वर्णन है।
यथा—**चार दीवे चहु हथ दीए, एका एकी वारी।** वसन्त हिंडोल महल्ला १, शब्द १।

इनका भाव यह है कि चार दीवे (दीपक) अर्थात् ४ वेद (चहु हथ दीए) अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार के द्वारा दिये एक बार ही (अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में चार वेद चार ऋषियों के द्वारा दिये गये)। जहां कहीं गुरुवचनों में वेदों की निन्दा प्रतीत होती है, वह वेदों की निन्दा नहीं, किन्तु उन लोगों की है, जो केवल वेद का पाठ करते, पर उनके अनुसार पवित्र आचरण नहीं बनाते।

इस प्रकार गुरुग्रंथ साहेब के अनेक वचनों द्वारा भी वेदों का महत्त्व तथा ईश्वरीयत्व स्पष्टतया सूचित होता है।

दारा शिकोह, ने जो कुख्यात मतान्ध औरङ्गजेब का बड़ा भाई था, वेदों के महत्त्व के विषय में बहुत-कुछ लिखा है। उसने ईशोपनिषत् तथा अन्य उपनिषदों का फारसी में अनुवाद भी किया। वह वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानता था और उसका विश्वास था कि कुरान में भी कई स्थानों पर एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान का संकेत है, जो वेद के अतिरिक्त कुछ नहीं। उसके विचारों को हम "वेदों के महत्त्व और उसके कारण" विषयक द्वितीय अध्याय में लिखेंगे। अन्य अनेक विविध मतावलम्बी विद्वानों के विचारों को भी, जो उन्होंने वेदों की उच्च शिक्षाओं से प्रभावित होकर प्रकट किये, उसी अध्याय में दिखायेंगे। यहां संक्षेप से वर्तमान युग के कुछ विद्वानों के वेद-विषयक विचारों का दिग्दर्शन कराते हैं जिन पर आवश्यक विवेचन इस पुस्तक के अन्य अध्यायों में प्रकरणानुसार किया जाएगा। □

तृतीय खण्ड

वर्तमान युग के विद्वानों के वेद-विषयक विचार

वर्तमान युग में वेदों के विषय में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत-कुछ लिखा । उनमें से प्रो० मैक्समूलर, रोजन, लुडविग, ग्रासमैन (वेदों के जर्मन भाषा में अनुवादक) , ओल्डेनबर्ग, डा० वीबर, कोलबुक, सर विलियम जोन्स, बर्नफ, रुडाल्फ रॉथ, विल्सन (ऋग्वेद के अनुवादक) , कीथ, मैक्डॉनल्, विन्टर्नीज, जैकोबी, ग्रिफिथ (चारों वेदों के अङ्ग्रेजी में अनुवादक) , रेवरेन्ड स्टीवन्सन् (सामवेद के अङ्ग्रेजी में अनुवादक) इत्यादि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । इनमें से रॉथ जैसे कुछ थोड़े-से विद्वानों को छोड़कर शेष सायण, महीधर आदि पौराणिक भाष्यकारों के अनुयायी थे । विल्सन ने तो ऋग्वेद के सायण-भाष्य का अङ्ग्रेजी में अनुवाद किया ही, अन्यों ने भी प्राय: उसका तथा मध्यकालीन पौराणिक वा वाममार्गी महीधरादि का अनुसरण किया । अत: उनके ग्रन्थों में वे भूलें और भी अधिकता से पाई जाती हैं, जिनका पहले निर्देश कर चुके हैं । ग्रिफिथ ने अपने यजुर्वेद के अनुवाद की भूमिका में स्पष्ट लिखा—

'All that I have attempted to do is to give a faithful translation to the best of my ability, of the texts and sacrificial formulas of the Vedas, with just sufficient commentary, chiefly from Mahidhar, to make them intelligible.'

अर्थात् 'मैंने जो कुछ प्रयत्न किया है, वह इतना ही है कि अपनी योग्यता के अनुसार उन मन्त्रों और याज्ञिक प्रक्रियाओं का ठीक-ठीक अनुवाद मुख्यतया महीधर के भाष्य के आधार पर दिया है ताकि पाठक उन्हें समझ सकें ।'

महीधर वाममार्गी था और उसने यजुर्वेद के मन्त्रों का अत्यन्त अश्लील और वाहियात भाष्य किया है, जिसकी निस्सारता और अशुद्धता को हम प्रकरणानुसार आगे दिखाएंगे । साथ ही वर्तमान युग के धुरन्धर वैदिक विद्वान् स्वनामधन्य महर्षि दयानन्द ने उन मन्त्रों की व्याख्या ब्राह्मणग्रन्थादि के आधार पर की है, उसे उद्धृत करते हुए यह भी दिखाएंगे कि अब स्वयं पौराणिक विद्वान् भी कैसे महीधरादि के अर्थों का परित्याग करके उनकी उत्तम यौगिक शैली से राज-प्रजाधर्मादि-परक वा आध्यात्मिक व्याख्या कर रहे हैं । इन पाश्चात्य विद्वानों के विषय में निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनकी बहुसंख्या का वेदों के अनुवाद करने अथवा वेद-विषयक ग्रन्थ लिखने में निष्पक्ष और शुद्ध भाव न था, प्रत्युत प्राचीन आर्य धर्म की हीनता दिखा कर ईसाइयत की श्रेष्ठता अथवा विकासवाद की सचाई का प्रतिपादन करना था । मोनियर विलियम्स, मैक्डॉनेल और कीथ का नाम इन पाश्चात्य विद्वानों के प्रमुखों के रूप में लिया जा सकता है । उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर के रूप में जिस बोडन ट्रस्ट की ओर से अनेक वर्षों तक कार्य किया, उसके उद्देश्य के विषय में मोनियर विलियम्स ने अपनी सुप्रसिद्ध Sanskrit-English Dictionary की भूमिका में जो शब्द लिखे, वे विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं । उन्होंने लिखा—

That the special object of his (Boden's) munificent bequest was to promote the translation of the Scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the 'conversion of the natives of India to the Christian religion.'

अर्थात् बॉडन महोदय के उदार दान का मूल उद्देश्य ईसाइयों के धर्मग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद कराना था ताकि उसके देशवासी, भारतीयों को ईसाई मत की दीक्षा देने के कार्य में अग्रसर हो सकें ।

प्राच्यविद्या विशारदों में अग्रणी माने जाने वाले प्रो॰ मैक्समूलर का उद्देश्य भी वेदों के अनुवाद करने आदि में शुद्ध न था और उसका लक्ष्य भारतीयों को ईसाई बनने में प्रवृत्त वा प्रोत्साहित करना था, यह निम्नलिखित पत्रव्यवहार से स्पष्ट ज्ञात होता है।

प्रो॰ मैक्समूलर ने उन दिनों भारत-मंत्री ड्यूक आर्गायल को १६ दिसम्बर १८६८ के एक पत्र में लिखा—

The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?

अर्थात् भारत के प्राचीन धर्म का नाश तो अब निश्चित है और यदि ईसाइयत आकर उसका स्थान न ग्रहण करे तो यह किस का दोष होगा?

सन् १८६८ में अपनी पत्नी के नाम एक पत्र लिखते हुए प्रो॰ मैक्समूलर ने लिखा—

'I hope I shall finish that work and I feel convinced though I shall not live to see it, yet this edition of mine (of the Rig Veda) and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in the country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, 'the only way of uprooting', all that has been sprung from it during the last three thousand years.'

अर्थात् मुझे आशा है कि मैं उस काम को (वेदों का सम्पादनादि) पूरा कर दूंगा और मुझे निश्चय है कि यद्यपि मैं उसे देखने के लिए जीवित न रहूंगा, तो भी मेरा ऋग्वेद का यह संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य और लाखों भारतीयों के आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालने वाला होगा। यह (वेद) उनके धर्म का मूल है और मूल को दिखा देना, उससे पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ निकला है, उसे मूल-सहित उखाड़ देने का सबसे उत्तम प्रकार है।

श्री पुसे का प्रो॰ मैक्समूलर को पत्र

प्रो॰ मैक्समूलर के एक घनिष्ठ मित्र ई॰ बी॰ पुसे ने उन्हें जो पत्र लिखा वह भी इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है। उसने लिखा—

'Your work will form a new era in the 'efforts for the conversion of India' and Oxford will have reason to be thankful that by giving you a home, it will have facilitated a work of such primary and lasting importance on the conversion of India, and which by enabling us to compare that early 'false religion' with the true, illustrates the more than blessedness of what we enjoy.'

अर्थात् आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवयुग लाने वाला होगा और ऑक्सफोर्ड को अपने को धन्य समझने का अवसर होगा कि उसने आपको आश्रय देकर भारत को ईसाई बनाने के प्रथम और अत्यावश्यक कार्य को सुगम बना दिया। साथ ही यह आपका कार्य हमें समर्थ बनाएगा कि हम पुराने झूठे धर्म की सच्चे (ईसाई) धर्म के साथ तुलना का आनन्द उठाएं।

भारतीयों को ईसाई बनाने की धुन प्रो० मैक्समूलर के सिर पर कैसी सवार थी, यह श्री एन० के० मजूमदार नामक ब्रह्मसमाजी सज्जन को सन् १८९९ में लिखे एक पत्र से भली-भांति ज्ञात होता है, जिसमें प्रो० मैक्समूलर ने लिखा था—

Tell me some of your chief difficulties that prevent you and your countrymen from openly following Christ and when I write to you, I shall do my best to explain how I and many who agree with me have met them and solved them. From my point of view India, at least the best part of it is already converted to Christianity. You want no persuation to become a follower of Christ. Step boldly forward; it will not break under you and you will find many friends there to welcome you on the other shore and among them none more delighted than your old friend and fellow-labourer, F. Maxmuller.

(Life and Letters of F. M. Mulle. Published by Mrs. Georgina Maxmuller, London, 1902)

अर्थात् आपको और आपके देशवासियों को खुले तौर पर ईसा मसीह की शरण में आने में जो कठिनाइयां हैं उन्हें मुझे बताइये और मैं अपना उत्तर उनके विषय में लिख दूंगा। मेरे दृष्टिकोण से तो भारत, कम से कम इसका सर्वोत्तम भाग, ईसाई मत में परिवर्तित हो चुका है। आपको ईसाई बनने की प्रेरणा की भी आवश्यकता नहीं। बस, अब साहसपूर्वक निर्भयता के साथ आगे बढ़िये। यह आपके नीचे टूट न जाएगा और आप देखेंगे कि आपका स्वागत करने के लिए अन्यों के साथ आपका पुराना साथी और मित्र मैक्समूलर भी उपस्थित होगा।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि प्रो० मैक्समूलर का वेदों के अनुवादादि का कार्य वैदिकधर्म को नीचा दिखाकर ईसाई मत की श्रेष्ठता दिखाने के लिए था, न कि शुद्ध भावना तथा सत्यग्रहण से प्रेरित।

The Rig Veda and Vedic Religion के लेखक मि० क्लैटन ने प्रो० मैक्समूलर के विषय में अपनी पुस्तक के पृ० १५६ में लिखा है कि—

Prof. Maxmuller did not hesitate to say, it must not be forgotten, that though the Historical interest of the Vedas can hardly be exaggerated, large number of the Vedic hymns are 'Childish in the extreme', tedious and common place. Many of them convey no clear meaning, or are full of vain repetitions. It is not the rule but the exception to find in this great collection of literature any cry of the soul, any glimpse of a spiritual instinct, any grasp of a high revelation.

(The Rigveda and Vedic Religion by Clayton, P. 156)

इसका भावार्थ यह है—इस बात को न भूलना चाहिए कि यद्यपि प्रो० मैक्समूलर के अनुसार वेदों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है, तथापि वैदिक सूक्तों की अत्यधिक संख्या बचपन वा मूर्खता की पराकाष्ठा से पूर्ण, नीरस और तुच्छ विचारों से भरी है। उनमें से बहुतों का कोई स्पष्ट अर्थ ही प्रतीत नहीं होता और वे पुनरुक्ति से भरे हुए हैं। यह नियम नहीं, केवल अपवाद के रूप में है कि इन सूक्तों में कहीं आत्मा की पुकार, आध्यात्मिक प्रतिभा की कोई झांकी अथवा उच्च ईश्वरीय ज्ञान की कोई झलक दिखाई देती है।

ऐसे उद्देश्य और विचारों से प्रेरित होकर जो कार्य किया गया हो, उसे निष्पक्ष कहना सर्वथा असम्भव है। इसी पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति के कारण प्रायः पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का ऐसा अनर्थ किया जिसे देखकर अत्यन्त आश्चर्य और

खेद होता है। ये लोग वेदों के यथार्थ उच्च तत्त्वों को समझने में प्राय: असमर्थ रहे और उन्होंने ऐसा ही भरसक यत्न किया जिससे वैदिक धर्म की शिक्षाओं का जंगलीपन और ईसाई मत की श्रेष्ठता तथा विकासवाद की यथार्थता प्रकट हो। उन में से बहुतों ने वेदों को बच्चों की बिलबिलाहट (Prattlings of children), गडरियों के गीत या कूड़ाकर्कट (Rubbish) तक बताने में संकोच नहीं किया। प्राय: वेदों को ईसा से एक-दो हजार वर्ष पूर्व की रचना सिद्ध करने का कपोल-कल्पित और अटकलपच्चू तरीके पर यत्न किया गया। वेद प्रकृति-पूजा और हजारों देवी-देवताओं की पूजा का विधान करते हैं, वैदिक यज्ञों में बकरों, भेड़ों, घोड़ों, बैलों तथा गौओं यहां तक कि मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी, सोम के नाम से वैदिक आर्य शराब का पानकर के मस्त रहते थे, वे पचास-पचास सौ-सौ तक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, उनके सदाचार का कोई ऊंचा मानदण्ड (Standard) न था, वरुण को छोड़कर इन्द्रादि सभी देव खुशामदपसन्द और हीन चरित्र के थे और ऋषि उन की खुशामद करने के लिए वेद मन्त्रों का निर्माण करते थे, इत्यादि बातों का इनमें से अनेकों ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन अत्यन्त अशुद्ध और कल्पित आधारों पर वेदमन्त्रों के अर्थों का अनर्थ करके किया। इन पाश्चात्य विद्वानों की वेदार्थ शैली की आलोचना करते हुए जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्द ने ठीक ही लिखा था कि—

'If ever there was toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenuous speculation, in which doubtful indications have been snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the scantiest justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived prejudices maintained in face of the clear and often admitted suggestions of the text, it is surely this labour so eminently respectable, otherwise for its industry, goodwill and power of research, performed through a long century by European Vedic Scholarship.'

(Daynanda and Veda by Shri Aravinda)

अर्थात् यदि कोई वेद की व्याख्या का परिश्रम है, जिसमें बिल्कुल तुच्छ आधार को एक चतुरतापूर्ण विचार का रूप दे दिया गया है, जिसमें सन्दिग्ध संकेतों को निश्चित प्रमाणों का रूप दे दिया गया है, जिसमें अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रमाणों के आधार पर अत्यधिक साहसपूर्ण परिणाम निकालने पर बल दिया गया है, जिसमें बहुत स्पष्ट और विकट कठिनाइयों की भी उपेक्षा की गई है और वेदमंत्रों के स्पष्ट निर्देश होते हुए भी उनके विरुद्ध केवल पक्षपातपूर्ण विचारों को प्रधानता दी गई है, तो यह पाश्चात्य विद्वानों का वेद-विषयक परिश्रम है जो अपने परिश्रमादि के लिए अवश्य प्रशंसनीय है।

जिन पाश्चात्य विद्वानों ने निष्पक्ष भाव से वेदों का अध्ययन किया उन्होंने वेदों के महत्त्व को स्वीकार किया, जैसे कि हम अगले अध्याय में दिखायेंगे। यदि केवल पाश्चात्य विद्वान् ही जान-बूझकर, पक्षपातवश अथवा अज्ञान से वेदों पर ऐसा कुठाराघात करते तो उसकी उपेक्षा की जा सकती थी, किन्तु अत्यधिक दु:ख की बात यह है कि अङ्ग्रेजों ने अपने शासनकाल में एक ऐसी शिक्षा-पद्धति को जन्म दिया जिसका उद्देश्य ही इसके प्रवर्तक लॉर्ड मैकाले के शब्दों में यह था—

'English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect.'

अर्थात् अङ्ग्रेजी शिक्षा एक ऐसे वर्ग को शिक्षित करेगी जिसका रुधिर और रंग तो भारतीयों का होगा किन्तु जो अपनी रुचि, सम्मति, आचार-व्यवहार और बुद्धि में अङ्ग्रेज होंगे। इस शिक्षापद्धति का ऐसा ही भयंकर परिणाम हुआ।

यह बड़े दुर्भाग्य और खेद की बात है कि हमारे देश के अनेक अङ्ग्रेजी सुशिक्षित लोगों ने वैदिक धर्म और प्राचीन संस्कृति के विषय में पक्षपातग्रस्त पाश्चात्य लेखकों का ही अनुसरण किया और इस प्रकार दास-मनोवृत्ति का परिचय

दिया। श्री राजेन्द्र लाल मित्र ने Indo-Aryans नामक पुस्तक में यह दिखाने का प्रयत्न किया कि प्राचीन आर्य वैदिक काल में भी गोमांस, मद्यादि का बिना-संकोच सेवन करनेवाले थे। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने भी ऋग्वेद के बंगला-अनुवाद में पाश्चात्य विद्वानों का अधिकतर अनुसरण किया। यद्यपि ब्राह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय अन्त तक वेद-प्रामाण्य को माननेवाले थे, तथापि बाल्यावस्था से ईसाई शिक्षणालयों में शिक्षित श्री केशवचन्द्र सेन आदि के अनुरोध पर महर्षि देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज वालों को अनिच्छा से यह घोषणा करनी पड़ी कि वे किसी भी धर्मग्रन्थ को (वेद को भी) निर्भ्रान्त ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते। मान्य श्री बालगङ्गाधर तिलक जैसे स्वदेशभक्त विद्वान् पर भी पाश्चात्य शिक्षा के कुसंस्कार इतना प्रभाव डाल चुके थे कि उन्होंने वेदार्थ की पाश्चात्य शैली का ही अनुसरण करते हुए Orion और Arctic Home in the Vedas नामक दो ग्रन्थ लिखे, जिनके अनुसार वेदों का काल उन्होंने ८ हजार ईसवी पूर्व के लगभग बताया। यद्यपि इस प्रकार उन्होंने पाश्चात्यों द्वारा उस समय प्रायः स्वीकृत एक, डेढ़ अथवा दो हजार ईसवी पूर्व की बात का ज्योतिषशास्त्रादि द्वारा पाश्चात्य पद्धति का ही अनुसरण करते हुए निराकरण कर दिया, तथापि वेद-विषयक प्राचीन परम्परागत विश्वास की उन्होंने कुछ भी परवाह न की, यह दुःख की बात है। श्री उमेशचन्द्र विद्यारत्न (जिन्होंने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' नामक पुस्तक लिखी है) जब लोकमान्य तिलक से मिले और उन्होंने उनके किये वेदमन्त्रों के अर्थ का तथा उनके आधार पर कल्पित उत्तरीय ध्रुव में आर्यों के निवास-विषयक वाद का खण्डन किया तो तिलक जी ने स्वीकार किया कि हम ने मूल वेदों का अध्ययन नहीं किया। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये अनुवादों का ही अधिकतर अनुशीलन करके अपना विचार स्थिर किया है।'[१] Rigvedic India और Rigvedic culture के लेखक श्री अविनाशचन्द्र दास एम०ए०, पी०एच०डी० ने पाश्चात्यों द्वारा निर्धारित और लोकमान्य तिलक द्वारा भी कुछ परिवर्धन के साथ स्वीकृत वेदरचना-काल को अशुद्ध बताते हुए उन्हें कम से कम ८० हजार वर्ष ईसवी पूर्व सिद्ध करने का कई अंशों में प्रशंसनीय कार्य किया और उन्होंने वैदिक सभ्यता को भी उच्च सिद्ध करने का अभिनन्दनीय कार्य किया, पर उनके ग्रन्थों के अनेक भागों में भी पाश्चात्य विचारों की छाप स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है, विशेषतः जब वे Rigvedic India के पृष्ठ ७५ से ७७ तक वेदों में बन्ध्या गायों और बैलों की बलि देने और गोमांस भक्षण के विधान का सफल प्रयत्न करते हुए लिखते हैं—

'There is also evidence of beef having been eaten by the ancient Aryas.'

'There is evidence of the ox having been killed in sacrifices and its cooked flesh offered to the gods especially to Indra who seemed to have developed a keen taste and inordinate desire for it.'

अर्थात् इस बात का निर्देश मिलता है कि प्राचीन आर्य गोमांस-भक्षण करते थे। इस बात का भी निर्देश मिलता है कि यज्ञों में बैल को मारा जाता था और इसके पकाये हुए मांस को देवताओं को दिया जाता था, विशेषतः इन्द्र को जिसकी

---

१. श्री उमेशचन्द्र विद्यारत्न के अपने शब्द जो 'मानवेर आदि जन्मभूमि' पृ० १२४में से लिये गये हैं, निम्न हैं—
आमि गतवत्सरे तिलक महोदयेर वारीते आतिथ्य ग्रहण करिया छिलाम। तांहार सहित ये विषये आमार क्रमागत पांच दिन बहु संलाप हइया छिलो। तिनि आमाके तांहार छितलगृहे बसिया सरलहृदये वलिया छेन 'ये आमी मूल वेद अध्ययन करिनांई, आमि साहिब दिगेर अनुवाद पाठ करिया छि।' (मानवेर आद जन्मभूमि पृष्ठ १२४)
श्री रघुनन्दन शर्मा कृत "वैदिक सम्पत्ति" में श्री उमेशचन्द्र विद्यारत्न की पुस्तक के इस अंश को इन शब्दों में दिया गया है—
'बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न लिखते हैं कि तिलक महोदय का मत-संशोधन करने के लिए हम गत वर्ष उनके घर गये और उनके साथ पांच दिन तक इस विषय पर बहस करते रहे। उन्होंने सरलतापूर्वक कह दिया कि 'हमने मूल वेद नहीं पढ़े। हमने तो केवल साहिब लोगों के अनुवाद पढ़े हैं।'

इस मांस के लिए विशेष रुचि और इच्छा थी। आर्यों और दस्युओं तथा द्राविड़ों के विषय में भी उनके लेख इसी प्रकार भ्रान्तिपूर्ण और पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण मात्र हैं, जिनकी हम प्रकरणानुसार आलोचना करेंगे।

बंगाल के एक दूसरे विद्वान् श्री द्विजेन्द्र दास एम०ए०, एल.एल.बी. प्रिन्सिपल चिटगांव कालेज ने Rigveda Unveiled नामक अन्यों की अपेक्षा एक उत्तम पुस्तक लिखी है जिसमें वैदिक एकेश्वरवाद को सिद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है और प्रो० मैक्समूलर के Henotheism आदि वादों का सप्रमाण युक्तियुक्त निराकरण किया है, किन्तु उपुर्यक्त विषयों में वे भी पाश्चात्य शिक्षा के कुसंस्कारवश भ्रान्तिपूर्ण बातें लिख गये हैं।

पाश्चात्य शिक्षा के कुसंस्कार इन भारतीय विद्वानों में कितने घर कर गये थे इसके सैकड़ों स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। अभी ऊपर हमने प्रो० अविनाशचन्द्र दास की जिस सुप्रसिद्ध Rigvedic India का निर्देश किया है, उसके गोमांस-भक्षण के प्रकरण में आपने ऋग्वेद ६-३९-१ के 'देवेषो युवस्व गृणते गो अग्राः' इस अंश का उद्धरण देते और सायणाचार्य के 'गृणते स्तुवते (गो अग्राः) गावोऽग्रे यासां तादृशाः (इषः) अन्नानि संयोजय।' इस भाष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है :

'This of course may be interpreted to mean that by the word me or cow is implied not her flesh but her milk and milkproducts like butter and ghee etc.'

अर्थात् निश्चय से इसका यह अर्थ सम्भव है कि यहां जब गो-प्रधान अन्न के लिए प्रार्थना की गई है तो उसका तात्पर्य गौओं के मांस से नहीं किन्तु उनके दूध, घी, दही, मक्खन आदि पदार्थों से है, जिसके लिए निरुक्त में स्पष्ट लिखा ही है—

तद्धितवन्निगमा भवन्ति—गोभिः श्रीणीत मत्सरम्—गोभिः सन्नद्धाअसिवीडयस्व।

इस पर अपनी दास-मनोवृत्ति का परिचय देते हुए डॉ० दास जी लिखते हैं—

'This may be a possible explanation, but as Professor Wilson says : There does not seem to be anything in the Veda that militates against the literal interpretation.'

अर्थात् यह व्याख्या सम्भव है, किन्तु जैसे कि प्रो० विल्सन ने कहा है वेदों में कोई ऐसी चीज नहीं जो उपर्युक्त शाब्दिक व्याख्या (कि यहां गोमांस आदि की प्रार्थना का तात्पर्य है) का विरोध कर सके।

प्रो० विल्सन के नाम की दुहाई देकर डॉ० दास एक सर्वथा उचित व्याख्या की, जो वेद की सम्पूर्ण भावना के (जहां गौ के लिए अघ्न्या अर्थात् न मारने योग्य का सैकड़ों बार उल्लेख है) अनुकूल और निरुक्त-सम्मत है, उपेक्षा कर देते हैं और वैदिक आर्यों पर गोमांस-भक्षणादि का अनुचित आक्षेप करते हैं।

इस पुस्तक में हम जिस Vedic Age नामक ग्रन्थ के अनेक भ्रान्तिपूर्ण अंशों पर विशेष समालोचनात्मक दृष्टि डालना चाहते हैं उनमें भी जगह-जगह पाश्चात्य विद्वानों का अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए उनके दृष्टिकोण को अपनाया गया है।

ऋग्वेद के निर्माण का काल इसके लेखकों ने (General Editor R.C. Majumdar M.A., Ph.D., Hon. Head of the Department of History Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay), (Asstt. Editor—A.D. Pusalker) ई०पू० १००० के लगभग माना है जैसे कि डॉ० बी०के० घोष D. Phil. (Munich), D. Litt (Paris) Vedic Literature—General View शीर्षक से अध्याय १० में लिखा है—

'On linguistic grounds the language of the Rig Veda the oldest Veda, may be said to be about 1000 B.C.' (P. 225).

अर्थात् भाषा-सम्बन्धी आधार पर सबसे पुराने वेद ऋग्वेद को लगभग १००० ई० पू० का माना जा सकता है।

वैदिक धर्म को बहुदेवतापूजावादी और अन्त में कहीं-कहीं अद्वैतवादी बताने का लेखकों ने यत्न किया है। इन के अनुसार वेदों में प्राकृतिक देवों की पूजा और उनकी खुशामद का यत्न किया गया है। पाश्चात्यों का ही अनुसरण करते हुए वे लिखते हैं—

'It has been generally held that the Rig, Vedic Religion is essentially a Polytheistic one, taking on a pantheistic colouring only in a few of its latest hymns.' Vedic Age P. 378.

अथर्ववेद पर जो असङ्गत बातें इस ग्रन्थ के लेखकों ने लिखी हैं उनमें पाश्चात्यों के अविवेकपूर्ण अनुसरण की प्रवृत्ति स्पष्टतया पाई जाती है। प्रो० ब्लूमफील्ड की अथर्ववेद-विषयक पुस्तक की प्रशंसा के पुल बांधते हुए वे कहते हैं—

'Bloomfield's excellent monograph on the Atharva Veda like which unfortunately there is as yet nothing on the other Samhitas—offers practically everything that a student of the Vedic literature might wish to know about the Atharva Veda. The section on the Atharva Veda in this chapter is mainly based on 'Bloomfield's monograph.' Vedic Age, P. 239.

'The Vedic Age' Published by the Bharatiya Itishas Samiti, Bombary, George Allen of Unwin Ltd. London.

अर्थात् ब्लूमफील्ड की अथर्ववेद-विषयक आदर्श पुस्तक में—जिसके समान अन्य संहिताओं पर दुर्भाग्य से कोई पुस्तक अब तक नहीं है—क्रियात्मक रूप से वह सब-कुछ पाया जाता है, जिसे कोई भी विद्यार्थी जानना चाहता है। इस पुस्तक का यह भाग मुख्यतया ब्लूमफील्ड की उस पुस्तक के आधार पर ही लिखा गया है।

हम आगे दिखाएंगे कि ब्लूमफील्ड की उस पुस्तक में अथर्ववेद-विषयक कितने अशुद्ध (भ्रान्त) विचार हैं जिनका इन लेखकों ने अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए उसे आदर्श समझ लिया। वस्तुतः इससे हमारे अङ्ग्रेजी-शिक्षित भारतीय विद्वानों की दास-मनोवृत्ति का ही परिचय मिलता है, जो भारत में अङ्ग्रेजी शासकों द्वारा प्रवर्तित अङ्ग्रेजी शिक्षा-पद्धति का स्वाभाविक परिणाम थी। वैदिक काल में गोमांस-भक्षण का प्रतिपादन करते हुए इस ग्रंथ के लेखकों ने लिखा है—

'The guests are entertained with the flesh of cows killed on the occasion of marriage.' Vedic Age, P. 389

अर्थात् विवाह संस्कार के अवसर पर गौओं को मारकर उनके मांस से अतिथियों को तृप्त किया जाता था। ऐसे ही शराब के विषय में इस ग्रन्थ के लेखकों ने लिखा है—

'In the Rig Vedic period, Sura was the popular drink extremely intoxicating as compared to the Soma which though mildly inebriating was an invigorating beverage.' Vedic Age P. 393.

अर्थात् वैदिक काल में सुरा वा शराब लोकप्रिय पेय था जो सोम की अपेक्षा बहुत अधिक नशीला था।

हम इन विचारों को सर्वथा अशुद्ध (भ्रान्त) समझते हैं और इनकी आगे सप्रमाण आलोचना करेंगे। यहां तो इतना ही दिखाना इष्ट था कि आधुनिक विद्वानों में से प्राय: अङ्ग्रेजी-सुशिक्षित लोगों ने पाश्चात्यों का अविवेकपूर्ण अनुसरण किया और इस प्रकार वेदों के वास्तविक तत्त्व को समझने में वे सर्वथा असमर्थ रहे। जिन पाश्चात्य विद्वानों का उन्होंने इस प्रकार अनेक अंशों में अविवेकपूर्ण अनुसरण किया, उनका अपना वेद-विषयक ज्ञान ही नहीं, संस्कृत का ज्ञान भी अत्यन्त सीमित था। संस्कृत में कुछ वाक्य तक बोलने की उनकी योग्यता न थी और उसके साथ ईसाई मत की श्रेष्ठता और वैदिक धर्म की हीनता दिखाने की पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति से प्रेरित होकर वे कार्य कर रहे थे (जैसा पहले दिखाया जा चुका है)। ऐसी अवस्था में उनके अनुसरण का किस प्रकार अच्छा परिणाम निकल सकता था? इन धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों की (जिन्होंने कई-कई ग्रन्थ वैदिक साहित्य पर लिखने का साहस किया) संस्कृत विषयक योग्यता का पाठक निम्नलिखित उदाहरण से पता लगा सकते हैं जिसका महात्मा नारायण स्वामी जी ने 'वैदिक रहस्य, में विश्वसनीय साक्ष्य के अधार पर उल्लेख किया है—

'कई वर्ष हुए जब संस्कृत और अङ्ग्रेजी के एक देशी विद्वान् गवर्नमेंट से छात्रवृत्ति पाकर संस्कृत के विशेष अध्ययन के लिए इङ्गलैण्ड गये। संस्कृत के अध्यापक उस समय प्रो० मैक्डॉनल महोदय थे। उनकी जब प्रो० मैक्डॉनल से भेंट हुई तो उन्होंने संस्कृत में बातचीत शुरू की, किन्तु मैक्डॉनल उनसे संस्कृत में बातचीत नहीं कर सके। उस समय प्रो० मैक्डॉनल ने अपने आने वाले शिष्य से कहा कि 'यह मैं स्वीकार करता हूं कि संस्कृत की आपकी जितनी योग्यता है उतनी मेरी नहीं, किन्तु आप यहां संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिए नहीं भेजे गये हैं : यहां तो आप केवल इसलिए आये हैं कि पश्चिमी विद्वानों की अन्वेषण-प्रणाली को आप सीख लें।'

इसे कहीं पक्षपातपूर्ण अत्युक्ति न समझा जाए, इसलिए हम इस विषय में अपना अनुभव भी पाश्चात्य विद्वानों की संस्कृत-योग्यता के सम्बन्ध में दे देना उचित समझते हैं। हमें दिल्ली और उससे पूर्व दक्षिण भारत में रहते हुए अनेक ऐसे पाश्चात्य विद्वानों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ, जो संस्कृत और वैदिक साहित्य के धुरन्धर माने जाते हैं। (उदाहरणार्थ ऑक्सफोर्ड में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० टॉमस, पेरिस विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या वा Indology के अध्यक्ष पो० रेनू, इटली के प्रो० तुच्ची इत्यादि) किन्तु इटली के प्रो० तुच्ची को छोड़कर जो संस्कृत में अपने भाव को कुछ अंश तक, व्याकरण-विषयक अशुद्धि करते हुए, प्रकट कर सकते थे, हमने किसी के अन्दर संस्कृत-भाषण की योग्यता नहीं देखी। त्रिवेन्द्रम में सन् १९३७ में All-India Oriental Conference (प्राच्य विद्या सम्मेलन) के अध्यक्ष प्रो० एफ०डब्ल्यू० टॉमस के पास जाकर मैंने संस्कत में पूछा—

संस्कृतभाषायां भाषणस्याभ्यासो वर्तते किं श्रीमताम् ?

अर्थात् 'क्या आपको संस्कृत में बोलने का अभ्यास है' तो उन्होंने अङ्ग्रेजी में उत्तर देते हुए कहा—

ow I wish I could speak in Sanskrit fluently like you, but unfortunately I have no practice.

अर्थात् मेरी कितनी इच्छा होती है कि मैं आपकी तरह संस्कृत में धारा-प्रवाह रूप से बोल सकता, किन्तु दुर्भाग्यवश मुझे इसका अभ्यास नहीं। ऐसा ही उत्तर प्रो० रेनू ने दिल्ली में दिया और उनके भाषण के पश्चात् (जो दिल्ली यूनिवर्सिटी में संस्कृत साहित्य पर दिया गया था) जब मैंने पूछा कि क्या स्वामी दयानन्द जी के वेदभाष्यादि को पाश्चात्य संस्कृतज्ञ विद्वान् पढ़ते हैं? यदि हां तो उनकी क्या सम्मति है? तो इसका उत्तर देते हुए प्रो० रेनू ने कहा कि वहां संस्कृतज्ञ विद्वान् भी मूल संस्कृत-ग्रन्थों को समझने की प्राय: योग्यता नहीं रखते। यदि अङ्ग्रेजी में उनका अनुवाद हो तभी वे उसे पढ़ और

समझ सकते हैं । इस कारण उन ग्रन्थो का वहां कुछ प्रचार नहीं हुआ । इस बात को कहते हुए हम पाश्चात्य विद्वान् एक प्रकार की आलोचनात्मक दृष्टि से जो संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते हैं और अनेक प्रकार की उपयुक्त सूचियां बनाने में जो परिश्रम करते हैं, उससे इन्कार नहीं कर रहे, किन्तु उन की वेद और संस्कृत-विषयक योग्यता पर निर्भर रहने में हमारे भारतीय विद्वानों ने भयङ्कर भूल की हम इतना ही लिखना चाहते हैं । हम नहीं, अनेक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है । उदाहरणार्थ ट्रान्सवाल (प्रिटोरिया) के एक प्रसिद्ध विद्वान् फिट्ज ने अपने एक व्याख्यान में कहा था—

कुछ पश्चिमी विद्वानों ने वेदों के सम्बन्ध में कहा है । मुझे इन विद्वानों के कथन पर बिल्कुल विश्वास नहीं है, क्योंकि इन पण्डितों का संस्कृत और वेद का ज्ञान नहीं के बराबर है । इस बात पर हम केवल दयानन्द के भाष्य को प्रामाणिक समझते हैं ।

महर्षि दयानन्द का सिंहनाद

वर्तमान काल के (जिसमें १९वीं और २०वीं शताब्दी के महानुभावों का हम समावेश करते हैं) विद्वानों में जिन्होंने वेदों के यथार्थ स्वरूप को जनता के सन्मुख रखने का अत्यन्त अभिनन्दनीय कार्य किया, उनमें स्वनामधन्य महर्षि दयानन्द का स्थान सबसे ऊंचा है । उनके समय में भारत के संस्कृतज्ञ शिक्षित वर्ग में भी वेदों की नितान्त उपेक्षा की जा रही थी और उनके अर्थ जानने की ओर बड़े-बड़े पण्डितों का भी ध्यान न था, जैसा काशी-शास्त्रार्थ से स्पष्ट ज्ञात होता है । स्वामी विशुद्धानन्द और बाल शास्त्री जैसे काशी के महापण्डितों को भी वेदों का कुछ ज्ञान न था, यद्यपि दर्शन-शास्त्रों तथा स्मृत्यादि ग्रन्थों के अनुशीलन में ये लोग अपना अधिक समय लगाते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने आत्मचरित्र (Autobiography) में बंगाल का जो चित्र इस विषय में खींचा है, वही भारत के प्रायः सभी स्थानों का था । वे लिखते हैं—

'The Vedas had become virtually extinct in Bengal. Nyaya and Smriti Shastras were studied every tol (Sanskrit School) and many Pandits versed in these Shastras came forth thence, but the Vedas were totally ignored. The business of the Brahmans, that of learning and teaching the Vedas, had altogether disappeared from the country; there remained Brahmans only in name, bereft of all Vedic knowledge, bearing the sacred thread alone, with the exception of one or two learned Brahman Pandits, they did not even know the meaning of their daily prayers.'

Autobiography of Maharshi Devendra Nath Tagore, P. 41.

अर्थात् वेद बंगाल से लगभग सर्वथा लुप्त हो चुके थे । न्याय और स्मृतिशास्त्र सब पाठशालाओं में पढ़ाये जाते थे और इन शास्त्रों में निपुण अनेक पण्डित बंगाल में थे, किन्तु वेदों की सर्वथा उपेक्षा की जाती थी । देश से ब्राह्मणों का वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का कार्य सर्वथा नष्ट हो चुका था । केवल नाम मात्र के ब्राह्मण रह गये थे, जो वैदिक ज्ञान से सर्वथा शून्य थे । वे केवल यज्ञोपवीतधारी थे । एक-दो विद्वान् ब्राह्मणों को छोड़कर उनको दैनिक सन्ध्या-वन्दन के मन्त्रों का भी अर्थ नहीं आता था ।

जो थोड़ा-बहुत वेदाध्ययन करते थे, वे केवल वेदपाठ सीखने में ही सारा समय लगा देते थे । अर्थ सायणाचार्य, महीधरादि पौराणिक व तान्त्रिक भाष्यकारों के अनुसार कहीं-कहीं पढ़ाये जाते थे, जिनको पढ़कर लोगों की रही-सही श्रद्धा भी लुप्त हो जाती थी । श्री देवेन्द्रनाथ ने वेदों का तत्त्व जानने की इच्छा से आनन्दचन्द्र, तारकनाथ, वनेश्वर और रामनाथ

नामक ४ विद्यार्थियों को वेदाध्ययन के लिए वाराणसी भेजा। वहां से जब वे सायणादि-भाष्य पढ़ के लौटे तो उन्होंने कहा कि वेद तो ऊटपटांग, असङ्गत, अश्लील बातों से भरे हुए हैं, उनमें यज्ञों में पशुहिंसा का विधान है इत्यादि, जिनके अनुसार श्री देवेन्द्र नाथ को यह निश्चय करने को विवश होना पड़ा कि हम वेदों को निर्भ्रान्त ईश्वरीय ज्ञान नहीं मान सकते। चार विद्यार्थियों की सम्मति पर जिन्होंने सायणादि कृत अशुद्ध भाष्य पढ़कर वेदों के विषय में अयथार्थ भावना बना ली थी, ब्रह्म समाज का वेदों के ईश्वरीय ज्ञान-विषयक परम्परागत आर्य सिद्धान्त को ठुकरा देना हमारे विचार में सर्वथा अनुचित था, किन्तु श्री केशवचन्द्र जैसे प्रभावशाली और ईसाई विद्यालयों में बाल्यकाल से शिक्षित युवक के अनुरोध पर स्वयं वेदों का विद्वान् न होने के कारण श्री देवेन्द्रनाथ को इस प्रकार की घोषणा करने को बाधित होना पड़ा। ब्रह्म समाज के प्रवर्तक श्री राजा राममोहन राय ने यद्यपि वेदों की प्रामाणिकता से स्पष्टतया कभी इन्कार नहीं किया, तथापि उनका वेदों से तात्पर्य अधिकतर उपनिषदों से ही प्रतीत होता है जैसा प्रो० मैक्समूलर द्वारा Biographical Essays में उल्लिखित निम्न घटना स्पष्टतया सूचित करती है। वेदों अर्थात् संहिताओं के विषय में उनका विचार भी विशेष अच्छा न था। प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है—

'The Raja Ram Mohan Roy was in London and saw Friedrich Rosen at the British Museum busily engaged in copying manuscripts of Rig veda. The Raja was surprised and told Rosen that he ought not to waste his time on the hymns, but that he should study the Upanishads.'

Max Muller's *Biographical Essays*, P. 39. Quoted by A.C _Clayton in *'The Rig Veda and Vedic Religion'*, P. 21.

अर्थात् जब राजा राममोहनराय लण्डन में थे तो उन्होंने फ्रैडरिक रोजन को ब्रिटिश म्यूजियम में ऋग्वेद की हस्तलिखित पुस्तक की प्रति करने में व्यस्त पाया, तब उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने रोजन को कहा कि वेद अथवा मन्त्र-संहिताओं पर तुम्हें व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिए, किन्तु उपनिषदों का अध्ययन करना चाहिए।

A.C. Clayton ने 'The Rig Veda and Vedic Religion (Published by the Christian Literature Society for India, London and Mandras, 1913) नामक पुस्तक में इस घटना को प्रो० मैक्समूलर की पुस्तक से उद्धृत करते हुए लिखा है कि,

Max Muller relates an incident which shows the opinion of the intrinsic value of the hymns of the Vedas held by a highly educated Hindu thinker, and probably by not a few others, at that time.'

अर्थात् प्रो० मैक्समूलर एक घटना का उल्लेख करता है, जिससे उस समय के एक अत्यन्त सुशिक्षित हिन्दू विचारक की दृष्टि में और सम्भवतः अन्य भी बहुत-से सुशिक्षित हिन्दुओं के विचार में वेदमन्त्रों के महत्त्व-विषयक विचार का पता लगता है।

पाश्चात्य विद्वान् वेदों का थोड़ा-सा पक्षपातपूर्ण अध्ययन करके जो उपद्रव अपने ग्रन्थों द्वारा उन दिनों मचा रहे थे उनका ऊपर निर्देश किया जा चुका है। ऐसी अवस्था में महर्षि दयानन्द का—'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'— ऐसा नियम बनाना और 'वेदों की ओर चलो' इस प्रकार का प्रबल नारा लगाना कितना साहसपूर्ण कार्य था! किन्तु महर्षि दयानन्द ने जिस निर्भयता से इस कार्य को किया उसका उल्लेख न करना कृतघ्नतासूचक होगा। सुशिक्षित भारतीयों की जो दास-मनोवृत्ति पाश्चात्यों को ही वेदादि विषयों

में परम आप्त मानने की हो रही थी, उसका निराकरण महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट शब्दों में किया। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' के एकादश समुल्लास में इन पाश्चात्य विद्वानों की संस्कृत-योग्यता के विषय में लिखा—

'अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्यावर्त देश में है उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश में संस्कृत का बहुत प्रचार है और जितनी संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहने मात्र है। क्योंकि **निरस्तपादपे देशे, एरण्डोऽपि द्रुमायते,** अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता उस देश में एरण्ड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं, वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने जो थोड़ा-सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है, परन्तु आर्यावर्त की ओर देखें तो उनकी बहुत न्यून गणना है, क्योंकि मैंने जर्मनी देश निवासी एक प्रिंसिपल के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत-चिट्ठी का अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं और मोक्षमूलर साहब के संस्कृत-साहित्य और थोड़ी-सी वेद की व्याख्या देखकर मुझ को विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर-उधर आर्यावर्तीय लोगों की द्वारा की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथातथा लिखा है— इतने से जान लीजिए कि जर्मनी देश और मोक्षमूलर साहब में संस्कृत विद्या का कितना पाण्डित्य है।'

इसी प्रकार 'भ्रान्ति निवारण' में प्रिन्सिपल महेशचन्द्र न्यायरत्न के वेदों में 'एकेश्वरवाद, का हाग, ग्रिफिथ इत्यादि के आधार पर खण्डन करने पर महर्षि दयानन्द ने लिखा—'डॉक्टर एम० हाग साहेब वा सी०एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके वह बिना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डा० एम० हाग साहब हमारे आर्य ऋषि-मुनियों से बढ़कर हैं कि जिनको हम सर्वोपरि मानकर निश्चय कर लें और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसा कि पण्डितजी (अर्थात् पं० महेशचन्द्र जी न्यायरत्न) ने किया है ? जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।'

पाश्चात्य लेखकों ने एक भ्रम फैला रखा है कि आर्य लोग भारत में बाहर (मध्य एशिया आदि) से आये। पहले यहां द्राविड़ लोग रहते थे अथवा अन्य असुर, दस्यु आदि। आर्यों ने उन पर बड़े अत्याचार किए। वेदों में भी आर्यों के इन दस्युओं वा द्राविड़ों के प्रति किए गये युद्धों का बहुत-सा वर्णन पाया जाता है इत्यादि। महर्षि दयानन्द के समय भी ऐसा ही विचार फैला हुआ था और अब भी प्रायः सभी इतिहास-लेखक इसको एक तथ्य मानकर चलते हैं। हमने अब तक जितने भी इतिहास के ग्रंथ व वेदादि-विषयक पाश्चात्यों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों के लिखे ग्रन्थ देखे हैं जिन में *Rig Veda Unveiled* by Shri Dwij Das, M.A. LL.B., *Rigvedic India and Rigveda Culture* by Shri Abinash Chandra Das M.A., Ph.D., Vedic Age, इत्यादि सम्मिलित हैं) इन सब में इस बात को दुहराया गया है, किन्तु महर्षि दयानन्द ने विदेशियों की इस कल्पना को निराधार बताते हुए सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखा—

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था और इसमें कौन बसते थे ?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सीधे इसी देश में आये थे।

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये, इसी से इन लोगों का नाम आर्य हुआ है। इनके पूर्व यहां जंगली लोग बसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब संग्राम हुआ उसका नाम देवासुर-संग्राम कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह बात सर्वथा झूठ है क्योंकि—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ॥ ऋ १. ५१. ८.
उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्व. १९. ६२. ।

यह लिख चुके हैं कि आर्य्य नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषों का, और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है । तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाड़ी है । जब वेद ऐसे कहता है तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते ।---- किसी संस्कृत-ग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा है कि आर्य्य लोग ईरान से आये और यहां के जङ्गलियों को लड़कर, जय पा के, निकाल इस देश के राजा हुए । पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार विदेशियों की दास-मनोवृत्ति को भारतीयों से दूर करके महर्षि ने बताया कि 'जैसा ईश्वर पवित्र, सर्व विद्यावित्, शुद्ध-गुण, कर्म, स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं । जिसमें सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त । जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त, जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टिकार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिस में हो वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है, और जो प्रत्यक्षादि विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो इस प्रकार के वेद हैं । अन्य बाइबल, कुरान आदि पुस्तकें नहीं । इसकी स्पष्ट व्याख्या बाइबल और कुरान के प्रकरण में तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में की जायगी (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास) ।

अन्य भी अनेक प्रबल युक्तियों से महर्षि दयानन्द ने वेदों को परमेश्वरोक्त सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

'वेद परमेश्वरोक्त है । इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए । जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपा-दृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है जिस से मनुष्य अविद्यान्धकार-भ्रमजाल से छूटकर विद्या-विज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जाएं ।'

क्योंकि वेद नित्य और अपौरुषेय हैं (जिसके लिए युक्ति-प्रमाणादि आगे दिये जायेंगे और इसके समर्थक अन्य नानामतावलम्बी निष्पक्ष विद्वानों के उद्धरण भी दिये जायेंगे) अतः उनमें अनित्य इतिहास वा राजा-महाराजाओं, ऋषि-मुनियों के नाम वा चरित्रादि नहीं हो सकते । वेदों के शब्द यौगिक हैं । उनको यौगिक मानकर ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए, न कि व्यक्ति-देशादि-विशेष संज्ञा मानकर । वेदों में सब सत्य विद्याओं का बीज पाया जाता है, अतः उनका अध्ययन सब मनुष्यों के लिए उपयोगी है । उनका द्वार सबके लिए खुला हुआ है जैसा कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु : ० २६. २ ।

इत्यादि वेदमन्त्रों में स्पष्टतया बताया गया है कि 'मैं परमेश्वर इस कल्याणी अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का सब मनुष्यों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र, स्त्रियादि सबके लिए उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो ।' सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्यागकर दुःखों से छूटके आनन्द को प्राप्त हों (यह परमेश्वर का उपदेश है) । क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे ?---जैसे परमेश्वर ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाए हैं, वैसे

ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं---और जो स्त्रियों के वेद पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थपरता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'। अथर्व० ११. २४. ३. १८।

इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न—क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें?

उत्तर—अवश्य, (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास) इत्यादि।

महर्षि दयानन्द की यह उदारता जो वेद-सम्मत है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मध्यकाल के अन्य सब आचार्यों ने (कुछ अंश तक श्री मध्वाचार्य को छोड़कर जो ऋषिपत्नी-सम श्रेष्ठ स्त्रियों का वेदाधिकार मानते हैं) अपने ग्रन्थों और वेदान्तभाष्यादि में यही विचार प्रकट किया है कि शूद्रकुलोत्पन्न पुरुषों और समस्त स्त्रियों का वेद पढ़ने का अधिकार नहीं। उदाहरणार्थ श्री शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में लिखा है—

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमिति।' पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः इति। अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति श्रावयेच्चतुरो वर्णान् इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यम्, अ० ३. पाद, ३. सू० ३८, भाष्यम्।

अर्थात् इसलिए भी शूद्र को अधिकार नहीं क्योंकि स्मृति द्वारा इनके लिए वेद के सुनने और पढ़ने का निषेध करते हुए स्मृति (गौतम के नाम से कल्पित स्मृति) में कहा है कि यदि शूद्र वेद के शब्द सुन ले तो उसके कान को सीसे से और लाख से भर देना चाहिए। शूद्र चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए उसके समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए; इसी से अध्ययन का निषेध स्पष्ट है। जिसके समीप अध्ययन भी न करना चाहिए वह बिना सुने कैसे अध्ययन कर सकता है? वेद के उच्चारण करने पर जिह्वाछेद (जीभ काट डालने) और शरीरछेद (शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालने) का विधान है। इसलिए वेद के अर्थज्ञान और उस के अनुसार आचरण का निषेध है। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इत्यादि महाभारत के वचन से इतिहास-पुराण के अध्ययन में चारों वर्णों का अधिकार है। शूद्रों का वेदपूर्वक अध्ययन तो निषिद्ध ही है। बृहदारण्यकोपनिषत् में—

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत। बृह० ६. ४. १९।

अर्थात् जो चाहे मेरी लड़की पण्डित बने वह इस-इस प्रकार का आहार-व्यवहार करे इत्यादि वर्णन आया है, उस की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्।

अर्थात् इस उपनिषत् में कन्याओं के पाण्डित्य का जो प्रतिपादन है, वह गृहकार्य-विषयक ही समझना चाहिए, क्योंकि उनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं।

ऐसा ही लेख श्री रामानुजाचार्य ने 'वेदान्त' १. ३. ३८ के भाष्य में लिखा है—

शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते। पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रः तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्। (वसिष्ठ स्मृ० १८.१) तस्मात् शूद्रो बहुपशुरयज्ञिय इति बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः। अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञानतदर्थानुष्ठानानि न संभवन्ति। अतस्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव। स्मर्यते च श्रवणादिनिषेधः। अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्(मनु० ४.८०) इति च। अतः शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम्।

अर्थात् शूद्र के लिए वेद का श्रवण, अध्ययन और उनका अनुष्ठान व आचरण प्रतिषिद्ध है। शूद्र चलता-फिरता श्मशान है अतः उस के समीप अध्ययन न करना चाहिए, वह पशु के समान है। जब वेद का श्रवण ही उसके लिए निषिद्ध है तो अध्ययन, उनका अर्थज्ञान और वैदिक आचरण तो सम्भव ही नहीं। शूद्र वेद सुन ले तो उसके कानों को सीसे और लाख से भर देना चाहिएं, वेदमन्त्र का वह उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए और वेदमन्त्र को याद करे तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालने चाहिएं। इसलिए शूद्र का वेदाध्ययन और ब्रह्मविद्या में सर्वथा अनधिकार है।

श्री मध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ जी) ने भी शूद्रों के वेदाधिकार का निषेध करते हुए उपर्युक्त वेदान्त-सूत्र ३. ३. ३८ के भाष्य में लिखा है—

श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम् अध्ययने जिह्वाच्छेदः अर्थावधारणे हृदयविदारणम् इति प्रतिषेधात्। नाग्निर्न यज्ञः शूद्रस्य, तथैवाध्ययनं कुतः। केवलैव तु शुश्रूषा त्रिवर्णानां विधीयते। इति स्मृतेश्च।

ब्रह्मसूत्राणु-भाष्य पृ० ९७।

यहां स्मृतिवचनों का पाठ श्री शंकराचार्य तथा श्री रामानुजाचार्य द्वारा उद्धृत पाठ से कुछ भिन्न है, किन्तु अर्थ वही है कि यदि शूद्र वेद के शब्द को सुन ले तो उसके कान को सीसे और लाख से भर देना चाहिए। वेद का अध्ययन करने पर उसकी जीभ काट डालनी चाहिए और अर्थ का ज्ञान व निश्चय करने पर उसके हृदय के टुकड़े कर देने चाहिएं। शूद्र को अग्निहोत्र, यज्ञ, अध्ययनादि का अधिकार नहीं। उसका कार्य केवल तीन वर्णों की सेवा है ऐसा स्मृति में कहा है।

जैसे पहले लिखा जा चुका है, श्री मध्वाचार्य ने—

आहुरप्युत्तमस्त्रीणाम् अधिकारं तु वैदिके।
यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथापराः॥

इत्यादि वचनों द्वारा उत्तम स्त्रियों के वेदाधिकार को मानने की उदारता दिखाई है। 'वेदा अप्युत्तमस्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिहाखिलाः' 'उत्तमस्त्रीणांतु न शूद्रवत्।' इत्यादि उत्तम स्त्रियों के वेदाधिकार-समर्थक वचन उनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जिनसे श्री शंकराचार्य की अपेक्षा कुछ अधिक उदारता सूचित होती है।

शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य ने भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में शूद्रों के वेदाध्ययन का निषेध करते हुए लिखा है—

दूरे ह्यधिकार चिन्ता वेदस्य श्रवणाध्ययनमर्थज्ञानं त्रयमपि तस्य (शूद्रस्य) प्रतिषिद्धं तत्सन्निधावन्यस्य च। अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमिति उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। स्मृतियुक्त्यापि वेदार्थे न शूद्राधिकार इत्याह। स्मृतेश्च 'वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणात्।'

पाराशर स्मृ० १.७३। ब्रह्मसूत्राणुभाष्य वल्लभाचार्यकृत।

अर्थात शूद्र के लिए वेद के सुनने, पढ़ने और उसके अर्थज्ञान तीनों का निषेध है, अत: उसके वेदाधिकार की चिन्ता तो बहुत दूर का विषय है । शूद्र यदि वेद के मन्त्रों को सुन ले तो उसके कानों को सीसे और लाख से भर देना चाहिए, उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए मन्त्र याद करे तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएं । वेद के एक अक्षर के विचार से भी शूद्र उसी क्षण में पतित हो जाता है, ऐसा पाराशर स्मृति में कहा है ।

इस प्रकार जब हम इन मध्यकालीन सुप्रसिद्ध आचार्यों की वेदाधिकार-विषयक अनुदारता देखते हैं तो महर्षि दयानन्द की उदारता और वेदप्रचार-विषयक उनकी निष्ठा का पूर्ण परिचय मिलता है जो अत्यन्त अभिनन्दनीय है । बंगाल के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने महर्षि दयानन्द के शूद्रों के वेदाधिकार-विषयक मन्तव्य का समर्थन करते हुए लिखा था—

शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। (यजु० २६. २) **तदेवं वेदविधेः पक्षपातदोषभाक्त्वं न कथमपीति सिद्धम् ।**
ऐतरेयालोचनम्, पृ० १७ ।

महर्षि की इस उदारता के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए जगद्विख्यात विचारक रोमां रोलां ने ठीक ही लिखा था कि—

It was in truth an epoch making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human beings have the right to know the Vedas, whose study had been previously prohibited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya.

Life of Rama Krishna by Roman Rolland, P. 59.

अर्थात् वस्तुतः भारत में यह एक नवयुग-निर्माता दिन था, जब एकए ब्राह्मण ने (स्वामी दयानन्द सरस्वती ने) न केवल यह स्वीकार किया कि सब मनुष्यों को वेदों के अध्ययन का जिसे कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने निषिद्ध कर रखा था, अधिकार है, प्रत्युत साथ ही इस पर उस ने बल दिया कि 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।' महर्षि दयानन्द ने वैदिक यज्ञों के भी सच्चे स्वरूप को विद्वन्मण्डली के सम्मुख रखते हुए बताया कि अपने कल्याण और लोकहित के लिए किये जाने वाले सब कार्य यज्ञ कहे जाते हैं और वैदिक यज्ञों में पशुबलि देना सर्वथा वेद-विरुद्ध है, क्योंकि यज्ञों का नाम ही अध्वर है, जिसका अर्थ यास्काचार्य ने निरुक्त में स्पष्टतया यही किया है कि—

अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिर्हिंसाकर्म तत्प्रतिषेधः । निरुक्त १. ७ ।

यज्ञों द्वारा जलवायु-शुद्धि के अतिरक्त बुद्धि भी पवित्र और तीव्र बनती है और इस प्रकार जगत् का कल्याण होता है ।

अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि शब्दों का अभिप्राय घोड़ों, गौओं और मनुष्यों की यज्ञों में बलि चढ़ाना नहीं है (जैसा अज्ञानवश प्रायः समझा जाता है और दुःख तथा आश्चर्य की बात है कि मध्यकालीन प्रायः सभी आचार्यों और अर्वाचीन विद्वानों ने भी अधिकतर माना है), किन्तु—

'वीर्यं वा अश्वः ।' शत० २. १. ४. २३२४ ।
'राष्ट्रं वा अश्वमेधः ।' शत० १३. १. ६. ३ । तै० ३. ८. ९. ४, ३. ९. ४. ५ ।

इत्यादि वचनों के अनुसार राष्ट्र का न्यायपूर्वक उत्तम शासन करना और उसके निवासियों की शक्ति को बढ़ाना अश्वमेध है। गौ के पृथिवी, वाणी तथा इन्द्रियादि अर्थ भी होते हैं और मेध के जो 'मेधृ मेधासंगमनयोः' इस धातु से बनता है, पवित्र करना और मिलना ये भी अर्थ होते हैं। इस प्रकार भूमि में उत्तम खेती करना, वाणी को शुद्ध बनाना इत्यादि अर्थ लेने चाहिएं। नरमेध का अर्थ मनुष्यों को परस्पर प्रेम से मिलाना (संगमन), उनमें प्रेम और सहयोग की भावना उत्पन्न करना तथा मनुस्मृति के **'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्'** ३. ७० के अनुसार अतिथियों की पूजा करना ये अर्थ हैं, न कि मनुष्यों की देवी-देवताओं पर बलि चढ़ाना। यज्ञ में जो 'यज् देवपूजा-संगतिकरणा-दानेषु' इस धातु से बनता है, परमेश्वर वा विद्वानों की पूजा, मनुष्यों में मेल-मिलाप की भावना उत्पन्न करना अथवा वस्तुओं को ठीक अनुपात में मिलाकर शिल्पादि कार्य करना और पात्रों में दान ये सब सम्मिलित हैं। इस विषय में जो भ्रम पौराणिक, तान्त्रिक अथवा पाश्चात्य व उनके अनुयायी लेखकों ने फैलाया है उसका विवेचन हम वैदिक यज्ञविषयक अध्याय में कुछ विस्तार के साथ सप्रमाण आगे करेंगे। महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में जो यज्ञ के विस्तृत और व्यापक अर्थ स्वयं वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् और गीता के—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा: योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः॥ गीता अ० ४. २८।

इत्यादि श्लोकों के आधार पर किये हैं वे उनके अगाध वैदिक ज्ञान और ऋषित्व के परिचायक हैं, उदाहरणार्थ— यजुः ०१. २१ के भावार्थ में उन्होंने लिखा—

विद्वत्सङ्गविद्योन्नतिहोमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्याः॥

यहां विद्वानों का सत्संग, विद्या की उन्नति, हवन और शिल्प इन सबको उन्होंने यज्ञ शब्द से ग्रहण किया है। यजुः० ५. ३ के भाष्य में यज्ञ का अर्थ **'अध्ययनाध्यापनं कर्म'** अर्थात् 'पढ़ने-पढ़ाने का कर्म' इस प्रकार किया है जो मनुस्मृति के **'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः'** (मनु० ३. ७०) के सर्वथा अनुकूल है, जैसा कि कुल्लूक भट्ट ने टीका में स्पष्ट किया है—

अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यतेऽतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः।

अर्थात् अध्यापन कहने से अध्ययन का ग्रहण तो हो ही जाता है, अतः ब्रह्मयज्ञ में वेदादि का अध्ययन और अध्यापन दोनों समाविष्ट होते हैं।

यजुः० ११. ७ तथा ९. १ के भाष्य में यज्ञ का अर्थ महर्षि ने **सुखजनको राजधर्मः** अर्थात् 'सबको सुख देनेवाला राजधर्म' ऐसा किया है।

यजुः० १८. २६ के भाष्य में महर्षि ने यज्ञ का अर्थ **'यज्ञेन पशुपालनविधिना'** ऐसा किया है, जिसके अनुसार पशुपालन को भी यज्ञ माना गया है।

यजुः० २६. १ की व्याख्या में महर्षि ने यज्ञम् का अर्थ **'धर्म्यं व्यवहारम्'** अर्थात् 'धर्मयुक्त व्यवहार' किया है। इसी प्रकार अन्य भी अर्थ यज्ञ शब्द के हैं, जिनका निर्देश प्रकरणानुसार कुछ विस्तार से करते हुए एतद्विषयक भ्रान्तियों का निराकरण किया जाएगा।

महर्षि दयानन्द ने जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान और विविध ज्ञान-विज्ञान का भण्डार बताया और सायणाचार्यादि-कृत भाष्यों की अशुद्धियों का स्थान-स्थान पर निर्देश किया, अनेक पौराणिक तथा पाश्चात्य विद्वान् उनके यत्न का उपहरन करते हुए दिखाई देते हैं, किन्तु सुप्रसिद्ध योगी और विचारक श्री अरविन्द ने निष्पक्ष भाव से इस विषय का विदेचन करते हुए जो लिखा वह स्वर्णाक्षरों में उल्लेख करने योग्य है। श्री अरविन्द ने सायणाचार्यकृत वेदभाष्य की आलोचना करते हुए लिखा—

If ever there was a monument of arbitrarily erudite ingenuity, of great learning divorced, as great learning too often is, from sound judgment and sane taste and a faithful critical and comparative observation, from direct seeing and often even from plainest commonsense or of a constant fitting to the text into the Procurstean bed of pre-conceived theory, it is surely this commentary, otherwise so imposing, so useful as first crude material, so erudite and laborious, left to us by the Acharya Sayana.

भाव यह है कि यदि कोई विद्वत्तापूर्ण कृत्रिम चातुर्य का कोष है, बड़ी भारी विद्वत्ता का जो (जैसा कि प्राय: होता है) गम्भीर निर्णायक शक्ति, निश्चित रुचि और यथार्थ समालोचनात्मक, तुलनात्मक निरीक्षण, ऋषियों की साक्षात् दृष्टि और प्राय: अत्यन्त साधारण बुद्धि से भी दूर और उससे रहित है, जिसमें पूर्व-चिन्तित वाद के अनुसार वेदमन्त्रों को तोड़-मरोड़ कर लगाने का यत्न किया गया है तो यह सायणाचार्य का भाष्य है जो बड़ा विशाल, शानदार, प्रथम अपरिष्कृत सामग्री के रूप में इतना उपयोगी और परिश्रम तथा वैदुष्यपूर्ण है ।

ऐसे भाष्य को पढ़कर वेद के निष्पक्ष विद्यार्थियों और विद्वानों तक की श्रद्धा वेदों में यदि नहीं रहने पाती तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? इस विषय की सत्यता संस्कृत विद्या के सुप्रसिद्ध केन्द्र काशी की पण्डित-सभा के प्रधान श्री पं० गोपालदत्त जी शास्त्री, दर्शन केसरी के 'वेदवाणी' बनारस के द्वितीय वेदाङ्क नवम्बर, १९५३ में प्रकाशित 'वेद का अर्थ यज्ञपरक ही नहीं है' इस शीर्षक के अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख में दो स्वयं-ज्ञात उदाहरणों द्वारा स्पष्ट प्रतीत होती है । उन्होंने लिखा कि—

'आज इन केवल यज्ञमात्रपरक अर्थ करनेवाले (सायणाचार्यादि) भाष्यकारों के भाष्य पढ़नेवालों को वेद के प्रति कितनी अनास्था हो जाती है इसके दो उदाहरण मुझे ज्ञात हैं । स्वर्गीय बा० शिव प्रसाद जी गुप्त (काशी) वेद पर बड़ी आस्था रखते थे । उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ सायणभाष्य का किसी विद्वान् से आदि से अन्त तक पाठ कराया और स्वयं भी वहां नित्य नियमत: बैठकर सुनते रहे । उसी अवसर पर एक रोज मैं वहां गया तो उन्होंने हाथ जोड़कर हंसते हुए मुझे कहा कि शास्त्री जी महाराज, पहले ही अच्छा था कि मैंने वेद का अर्थ नहीं सुना था । जब से मैंने सायणाचार्य का वेदार्थ सुना है, तब से तो मेरी वेद पर अनास्था हो गई है ।

दूसरा उदाहरण हमारे स्वर्गीय गुरु महामहोपाध्याय पूज्यपाद पं० अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि जी महाराज हैं । उन्होंने एक बार दर्शन पढ़ाते समय प्रसङ्गत: कह दिया था कि 'वेद के संहिता-भाग में क्या रखा है ? इन्द्र की स्तुति और वरुण की स्तुति ही तो भरी पड़ी है । हां, सार तो उपनिषद् की श्रुतियों में है जिस पर वेदव्यास जी ने विचार किया है ।' देखा आपने सायणाचार्य और महीधराचार्य के भाष्य के अध्ययन का यही तो फल निकलता है । इसी कारण मैंने कहा है कि सायणाचार्य ने जहां वेदार्थ करके जगत् का उपकार किया है वहां ही उन्होंने केवल यज्ञपरक मात्र अर्थ करके बड़ा भारी अपकार भी किया है ।"

इस प्रकार श्री अरविन्दकृत सायणभाष्य की निष्पक्ष समालोचना का प्रबल समर्थन ही काशी पण्डित-सभा के प्रधान महोदय ने किया है । वेदों में विज्ञान-विषयक मन्तव्य का निष्पक्ष भाव से विवेचन करते हुए योगी अरविन्द जी ने लिखा—

'There is nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of a science the modern world does not at all possess and in the case,

Dayananda has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom.....If as Dayananda held on strong enough grounds, the Veda reveals to us God, reveals to us the relation of the soul to God and nature, what is it but a Revelation of Divine Truth? And if, as Dayananda held, it reveals them to us with a perfect truth, flawlessly, he might well hold it for an infallible Scripture.....In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayananda will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and agelong misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the key of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisoned fountains.'

Dayananda and Veda, from the Article in the Vedic Magazine,
Lahore for Nov. 1916, by Shri Aravinda.

उपर्युक्त सन्दर्भ को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण मूल रूप में उद्धृत करना हमें उचित प्रतीत हुआ है । इसका भाव यह है कि ऋषि दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों की सचाइयां पाई जाती हैं, कोई उपहासास्पद वा कल्पित बात नहीं है । मैं इसके साथ अपनी धारणा जोड़ना चाहता हूं कि वेदों में एक अन्य विज्ञान की सचाइयां भी विद्यमान हैं, जिनका आधुनिक जगत् को किंचिन्मात्र भी ज्ञान नहीं है और ऐसी अवस्था में ऋषि दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के विषय में अतिशयोक्ति से नहीं, अपितु न्यूनोक्ति से ही काम लिया है ।---यदि यह बात ठीक है जैसा ऋषि दयानन्द का प्रबल प्रमाणों के आधार पर विश्वास था कि वेद में परमेश्वर, प्राकृतिक नियम और परमेश्वर के आत्मा और प्रकृति के साथ सम्बन्ध, इन सब बातों के विषय में सत्य ज्ञान को प्रकाशित किया गया है तो इसे ईश्वरीय सत्य के प्रकाशक के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ? और यदि जैसे कि ऋषि दयानन्द का विश्वास था कि इन विषयों का ज्ञान वेदों में पूर्ण सत्य के साथ निर्दोष रूप में प्रकाशित किया गया है तो उसका निर्भ्रान्त धर्मग्रन्थ के रूप में वेद को मानना समुचित ही है ।---वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा यह विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण अन्तिम व्याख्या कोई भी हो, ऋषि दयानन्द का यथार्थ निर्देशों के प्रथम आविर्भावक के रूप में सदा मान किया जायेगा । पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्याज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच में यह उनकी ऋषिदृष्टि थी, जिसने सचाई को निकाल लिया और उसे वास्तविकता के साथ बांध दिया । समय ने जिन द्वारों को बन्द कर रखा था उनकी चाबियों को उसने पा लिया और बन्द पड़े हुए स्रोत की मुहरों को उसने तोड़कर परे फेंक दिया ।

सुप्रसिद्ध योगिराज महर्षि दयानन्द के प्रति अपने समय के ही नहीं, संसार के योगियों में से अति प्रख्यात एक दूसरे योगी ऋषि अरविन्द द्वारा समर्पित यह श्रद्धांजलि बड़ी महत्त्वपूर्ण है इसमें सन्देह नहीं हो सकता ।

जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्द के वेद-विषयक विचार

स्वर्गीय श्री अरविन्द जी एक जगद्विख्यात योगी थे, जिन्होंने Life Divine, Synthesis of Yoga, Bases of Yoga, Lights on Yoga, The Ideal of Human Unity, The Mother इत्यादि योग-विषयक अनेक उत्तम ग्रन्थों द्वारा जगत् के आध्यात्मिक दृष्टि से मार्गदर्शन का यत्न किया । वेदों के विषय में भी उनहोंने सुशिक्षित जनता में प्रचलित भ्रान्तियों के निवारणार्थ The Secret of the Vedas इस शीर्षक से एक लेखमाला अपने सुप्रसिद्ध त्रैमासिक

Arya (आर्य) नामक पत्र में कई वर्षों तक प्रकाशित की थी, जो पुस्तकरूप में भी प्रकाशित हुई है। राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में 'वेद रहस्य' इस नाम से उसके तीन भाग प्रकाशित हो गये हैं जिनके अनुवादक स्वर्गीय आचार्य अभयदेव जी (भू० पू० आचार्य गुरुकुल काङ्गड़ी) हैं।

इन लेखों के अतिरिक्त श्री अरविन्द जी ने 'Vedic Magazine' नामक आचार्य रामदेव द्वारा सम्पादित पत्रिका में 'Dayanand and Veda' शीर्षक का अत्युत्तम लेख लिखा था, जिसके कुछ उद्धरण हम इस अध्याय में दे चुके हैं। इनके पाठक श्री अरविन्द जी के वेद-विषयक उच्च विचारों का कुछ परिचय अवश्य पा चुके होंगे। तथापि उनके वेद-विषयक विचारों का कुछ दिग्दर्शन कराना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि महर्षि दयानन्द के पश्चात् वे एक जगद्विख्यात दार्शनिक और विचारक थे, जिन्होंने वेदों की प्रधानतया आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उन्हें लोकप्रिय बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। श्री अरविन्दाश्रम के एक पुराने अति विद्वान् साधक श्री कपाली शास्त्री जी श्री अरविन्द जी के मार्ग दर्शन में ऋग्वेद का सिद्धांजन-भाष्य कर रहे थे, जिसके दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें वेदमन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या का प्रशंसनीय यत्न किया गया है। खेद है कि श्री कपाली शास्त्री जी का देहावसान होने से वह महत्त्वपूर्ण कार्य अधूरा रह गया है। श्री अरविन्द के 'वेद रहस्य' में से निम्न उद्धरण उनके विचारों को स्पष्टतया दिखाने के लिए पर्याप्त हैं:

१. ये वेद न केवल संसार के कुछ सर्वोत्कृष्ट और गम्भीरतम धर्मों के अपितु उनके कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक (Metaphysical) दर्शनों के भी सुविख्यात आदिस्रोत के रूप में माने जाते रहे हैं।

२. वेद—यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिए माना हुआ नाम है, जहां तक कि मनुष्य के मन की गति हो सकती है।

३. ऋषि, सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता न था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।

४. वेद वह दिव्य वाणी है जो कम्पन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अन्तःश्रवण में पहुंची, जिसने पहले से ही अपने-आप को अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।

५. यह वेद है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती है।

६. पूर्णता की प्राप्ति के लिए संघर्ष करनेवाले आर्य के हाथ में वेदमन्त्र एक शस्त्र का काम देता था।

७. वेद असभ्य, जंगली और आदिम कारीगरों की कृति नहीं हैं, बल्कि वे एक परमकला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं।

८. वेद जैसे कि अपनी भाषा में और अपने छन्दों में, वैसे ही अपनी विचार-रचना में भी आश्चर्यजनक है।

९. वेद का सायणभाष्य एक ऐसी चाबी है, जिसने वेद के आन्तरिक आशय पर दुहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियों को खोलने के लिए अत्यन्त अनिवार्य है ----प्रत्येक पग पर हम उसके साथ मतभेद रखने के लिए बाध्य हैं, पर प्रत्येक पग पर इसका प्रयोग करने को भी बाध्य हैं।

१०. दयानन्द ने ऋषियों के भाषा-सम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार (अनेक देव एक परमदेव में आ जाते है) पर फिर से बल दिया है।

११. यह धर्म-पुस्तक वेद मुझे ऐसी प्रतीत होने लगी कि यह अत्यन्त बहुमूल्य विचाररूपी सुवर्ण की स्थिर रेखा को अपने अन्दर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अंश-अंश में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है ।

१२. वेद में देवताओं के नाम अपने अर्थ में ही इसका स्मरण कराते हैं कि वे केवल विशेषण हैं, अर्थसूचक नाम हैं, वर्णन हैं, न कि किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के वाचक नाम ।

१३. यह सोमरस उस आनन्द की मस्ती का, सत्ता के दिव्य आनन्द का प्रतिनिधि है, जो कि 'ऋतम्' या सत्य के बीच में से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है ।

१४. वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है ।

१५. वैदिक देवताएं विश्वव्यापी देवता के नाम, शक्तियां और व्यक्तित्व हैं और वे दिव्य सत्ता के किसी विशेष सारभूत बल का प्रतिनिधित्व करती हैं । ये देव विश्व को अभिव्यक्त करते हैं ।

१६. इस प्रकार (आध्यात्मिक दृष्टि से) समझा हुआ ऋग्वेद एक अस्पष्ट, गड़बड़ से भरी और जंगली गीतावलि नहीं रहता, यह मनुष्य-जाति का एक ऊंची अभीप्सा से युक्त गीत-पाठ बन जाता है । इसके सूक्त हैं आत्मा की अपनी आरोहण करते हुए गाई जाती वीरगाथा के आख्यान । कम से कम यह है वेद में और जो कुछ प्राचीन विज्ञान, लुप्त विद्या, पुरानी मनोभौतिक परम्परा आदि हों, वह अभी खोजना शेष ही है ।

इन १५ और १६ के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण श्री अरविन्द के मूल अंग्रेजी लेख के शब्द उद्धृत करने आवश्यक प्रतीत होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

'The Vedic deities are names, powers, personalities of the Universal Godhead and they represent each some essential puissance of the Divine Being. They manifest the cosmos and are manifest in it.' *Hymns to the Mystic* Fire, Foreword.

'So understood the Rig Veda ceases to be an obscure, confused and barbarous hymnal; it becomes the high aspiring song of Humanity; its Chants are episodes of the lyrical epic of the soul in its immortal ascension. This at least; what more there may be in the Veda of ancient science, lost knowledge, old Psycho-phsical tradition, remains yet to be discovered. *Hymns to the Mystic Fire,* by Shri Aravinda, Introduction.

'Finally, as the summit of the teaching of the Vedic mystics comes the secret of the One Reality; Ekam Sat (एकं सत्) or Tad Ekam (तदेकम्) which became the central word of the Upanishads. The gods, the powers of Light and Truth are powers and names of the One, each god is himself all the gods or carries them in him; there is the Truth One तत् सत्यम् and one bliss to which we must rise. But in the Veda this looks out still mostly from behind the veil. There is much else, but this is the Kernel of the 'doctrine.'

Hymns to the Mystic Fire by Shri Aravinda, Introduction.

वैदिक यज्ञ के विषय में अपना विचार श्री अरविन्द ने निम्न शब्दों में प्रकट किया—

'The elements of the outer sacrifice in the Veda are used as symbols of the inner sacrifice and self-offering; we give what we are and what we have in order that the riches of the divine Truth and Light may descend into our life and become the elements of our inner birth into the Truth—a right thinking, a right understanding, a right action must develop in us which is the thinking, impulsion and action of that higher Truth, *ritasyadhitih,* (Rig. 1.68.3) and by this we must build up ourselves in that Truth. Our sacrifice is a journey, a pilgrimage and a battle—a travel toward the gods and we also make that journey with Agni, the Inner Flame as our path-finder and leader.

Hymns to the Mystic Fire.

अर्थात् बाह्य यज्ञ के तत्त्वों को वेद में आन्तरिक यज्ञ और आत्म-समर्पण के प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त किया गया है; हम जो कुछ हैं और हमारे पास जो कुछ है उसे हम देते, प्रदान करते हैं जिससे कि दिव्य सत्य और ज्योति के ऐश्वर्य हमारे जीवन में अवतरित हो सकें और सत्य के अन्दर हमारे आन्तरिक जन्म के तत्त्व बन सकें। एक सच्चा विचार, एक सच्ची समझ, एक सच्ची क्रिया हमारे अन्दर विकसित होनी चाहिए जो कि उस उच्चतर सत्य का विचार, प्रेरणा और क्रिया हो 'ऋतस्य प्रेषा, ऋतस्य धीतिः' (ऋ० १. ६८. ३) और इसके द्वारा हमें अपने-आपको उस सत्य के अन्दर निर्मित करना चाहिए। हमारा यज्ञ एक यात्रा है, तीर्थयात्रा है और एक युद्ध है—देवों के प्रति गमन है और हम भी उस यात्रा को करते हैं अग्नि को—आन्तरिक ज्वाला को अपना मार्गशोधक और नेता (अग्रणी) बनाकर।

वैदिक रहस्य, भाग ३ □

द्वितीय अध्याय

वेदों का महत्त्व और उसके कारण

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में हमने वेदों के विषय में प्राचीन सर्वशास्त्र-सम्मत विश्वास का उल्लेख करते हुए उसके महत्त्व पर कुछ प्रकाश डाला है। मध्यकालीन आचार्यों और वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध विद्वानों में से महर्षि दयानन्द सरस्वती और जगद्विख्यात विचारक तथा योगी श्री अरविन्द जी के एतद्विषयक मन्तव्य का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु केवल इतना लिख देने से आजकल के लोगों का सन्तोष नहीं हो सकता कि प्राचीन, मध्यकालीन अथवा अर्वाचीन अमुक-अमुक सुप्रसिद्ध विद्वान् वेदों के विषय में इतनी उच्च भावना वा आस्था रखते हैं। आजकल के तार्किक लोग तो यह चाहते हैं कि तर्क द्वारा वेदविषयक मन्तव्य की पुष्टि हो; तभी वह मानने योग्य हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से हम ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और वेदों को ही क्यों ईश्वरीय ज्ञान वा अपौरुषेय माना जाये—इस पर प्रकाश डालना चाहते हैं, क्योंकि हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि वेद-विषयक हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त और तर्कसङ्गत है।

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह है कि क्या ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है भी वा नहीं? क्यों न यह माना जाये कि मनुष्य को क्रम से ज्ञान प्राप्त होता जाता है? विकासवाद के अनुसार मनुष्य के ज्ञान की स्वयमेव क्रमशः उन्नति होती चली जाती है। ईश्वरीय ज्ञान वा 'Revelation' मानने की आवश्यकता ही क्या है जब कि विकासवाद (Evolution Theory) से ज्ञान की समस्या का हल हो जाता है? इस विषय में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जो तो ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते उन नास्तिकों की बात अलग है। उनके सम्मुख जगत् में दिखाई देने वाले अद्भुत क्रम और व्यवस्था द्वारा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता की सत्ता को तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु यहां उनके विषय में हम चर्चा नहीं कर रहे। यहां उन लोगों के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है, जो सृष्टिकर्ता परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता से इन्कार करते हैं। उनके प्रति हमारा कथन यह है कि जब तक कोई सिखाने वाला न हो तब तक स्वयं ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती—इस बात को हम संसार में स्पष्टतया देखते हैं। यदि ऐसा न होता तो विद्यालयों और महाविद्यालयों के खोलने की कोई आवश्यकता न होती। लोग अपने-आप ही सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेते। पर जब तक माता-पिता, आचार्य वा अन्य शिक्षक सिखानेवाले न हों, तब तक बालक-बालिकाओं को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती—यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसके विषय में समय-समय पर अनेक परीक्षण भी किये गये हैं जिनमें से असीरिया के सम्राट् असुरवाणीपाल, यूनान के राजा सेमिटिकल सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय, स्कॉटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ और मुगल बादशाह अकबर ने जो परीक्षण किये, वे कुछ अंश तक क्रूरतापूर्ण होते हुए भी महत्त्वपूर्ण और विश्वासजनक हैं। इन लोगों ने छोटे बच्चों को जंगलों में रखवा दिया और उनके पालन-पोषण के लिए मूक (गूंगी) दाइयों का प्रबन्ध किया। परिणाम यह हुआ कि वे मानवीय भाषा न सीख सके और उनका व्यवहार तथा चाल-चलन पशुओं जैसा ही रहा। नीग्रो तथा अन्य सभी जातियों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब तक वे सुशिक्षित लोगों के सम्पर्क में नहीं आये तथा उनको अच्छे अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, तब तक वे स्वयं ज्ञान प्राप्त करने में हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी समर्थ नहीं हो सके। रामू नामक एक भेड़िये द्वारा पोषित बालक का (जिसे गांधी अस्पताल, लखनऊ में रखा गया था और जो पशुओं की तरह चलता, बोलता, मनुष्यों से भय खाता और कच्चा मांस खाता था) उदाहरण पाठकों को स्मरण ही होगा, जिसके विषय में स्वर्गीय कन्हैयालाल मुन्शी का लेख समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ था। इसलिए जैसे पिता पुत्र के कल्याणार्थ उपदेश करता है, वैसे ही सबके पितृस्थानीय वा आदिगुरु परमेश्वर ने सब मनुष्यों के कल्याणार्थ अन्तर्यामि-

रूप से जीवों को धर्माधर्म, पापपुण्य, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के साधन, मनुष्य-जीवन का उद्देश्य, परमानन्द, शाश्वत सुख और शान्ति की प्राप्ति इत्यादि विषयों का वेदों के द्वारा सृष्टि-प्रारम्भ में उपदेश किया, यह बात सर्वथा तर्कानुमोदित है। स्वयं हैकल जैसे जड़वादी (Materialist) ने इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान की संभावना को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—

'They may or may not receive such information, but there is no scientific ground for dogmatism on the subject not any reason for asserting the inconceivability of such a thing.' T.O. Mazina *quoted in the Materialism* by Dorab Dinach Kaanga, P : 52.

अर्थात् इस विषय में कोई वैज्ञानिक बाधा नहीं है अथवा कोई कारण नहीं कि क्यों इस संभावना को स्वीकार न किया जाये।

जब हैकल जैसा एक जड़वादी भी ऐसी बात कह सकता है तो आस्तिकों के लिए तो ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को मानना सरल तथा स्वाभाविक है। यूरोप के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० फ्लेमिंग M.A., D.Sc., F.R.S. ने अपने 'Supreme Intelligence in and above Nature' नामक व्याख्यान में जो लण्डन में २३ से २९ नवम्बर १९१४ तक मनाये गये विज्ञान-सप्ताह (Science Week) में दिया गया, ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता का निम्न शब्दों में स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

'If we are to obtain more solid assurances, it can not come to the mind of man groping feebly in the dim light of un-assisted reason, but only by a communication made directly from this Supreme Mind to the finite mind of man.'

(*Science and Religion by Seven men of Science* –Lecture by Dr. Fleming M.A., D.Sc., F.R.S.)

अर्थात् यदि हमें निश्चित ज्ञान और आश्वासन प्राप्त करना हो तो वह सहायताहीन केवल तर्क के धुंधले प्रकाश में निर्बलतापूर्वक भटकते हुए मनुष्य के मन को प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा मनुष्य के मन तक पहुंचाये ज्ञान से ही ऐसा होना संभव है। इससे बढ़कर ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक द्वारा समर्थक वाक्य और क्या हो सकता है?

जैसे कोई भी संस्था बनाने, सरकार का कार्य चलाने अथवा कारखाना इत्यादि चलाने से पूर्व उसके नियमों का बना डालना अत्यावश्यक है, इसी प्रकार संसाररूपी इस विशाल संस्था को नियमपूर्वक चलाने के लिए भगवान् ने सबके हितार्थ वेद के रूप में नियमों का निर्देश कर दिया, जिन पर चलने से ही प्रत्येक नर-नारी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह बात स्पष्ट है कि यदि किसी देश में चोरी, मद्यपान, व्यभिचारादि के विरुद्ध कानून न बने हुए हों तो ऐसा करनेवालों को दण्ड देना भी वहां न्याययुक्त नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए और नहीं तो व्यवहार-संहिता, नियम, ग्रंथ (Code of Laws) वा वेद के शब्दों में ऋत और सत्य (Physical and Moral eternal laws) का प्रतिपादन करने वाले ज्ञान का सृष्टि के प्रारम्भ में मङ्गलमय भगवान् द्वारा मनुष्यमात्र के पथप्रदर्शक के तौर पर दिया जाना बड़ा युक्ति-युक्त है। इसी लिए अफलातून (Plato) और कान्ट जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शिरोमणियों ने भी धार्मिक तथा नैतिक विषयों में पथप्रदर्शन के लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट शब्दों में अनुभव और प्रकट किया है। यूनान के प्रख्यात दार्शनिक प्लैटो के Phaedo इत्यादि ग्रंथों में पाये जाने वाले एतद्विषयक वाक्यों का अङ्ग्रेजी-भाषान्तर इस प्रकार है—

We will wait for one, be he a God or an inspired man to instruct in religious duties and to take away the darkness from our eyes. (_Plato's *Alcibiades*).

We must seize upon the best human views in navigating the dangerous sea of life, if there is no safer or less perilous way, no stouter vessel or Divine Revelation for making this voyage. (Plato's *Phaedo*)

अभिप्राय यह है कि धार्मिक कर्तव्यों की शिक्षा देने के लिए हमें या तो परमेश्वर या उस द्वारा प्रेरित किसी पुरुष की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जो हमारी आंखों के आगे छाए हुए अन्धकार को दूर कर दे । इस मानव जीवन रूपी समुद्र को भलीभांति पार करने के लिए यदि हमें ईश्वरीय ज्ञान द्वारा कोई प्रबल साधन मिलना सर्वथा असम्भव हो तो अच्छे से अच्छे मानवीय विचारों पर हमें निर्भर रहना पड़ेगा ।

Dialogues of Plato—translated into English by Jowett में निम्न शब्द पाये जाते हैं—

A man should persevere until he has achieved one of two things, either he should discover, or be taught the truth about them, or if this is impossible, I would have him take the best and most irrefragable of human theories, and let this be the raft upon which he sails through life—not without risk, as I admit, if he can not find some Word of God which will more surely and safely carry him.

(*Dialogues of Plato* translated by Jowett. *Phaedo*).

भाव लगभग वही है जो पहले दिया जा चुका है, किन्तु अन्तिम भाग में यह अधिक स्पष्ट किया गया है कि ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के बिना मनुष्य निश्चय और सुरक्षापूर्वक संसार-सागर के पार नहीं पहुंच सकता । इस दृष्टि से यह उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

इसी आशय के शब्द यूनान के तत्त्वज्ञानियों में सबसे अधिक बुद्धिमान् सुकरात ने भी कहे थे, जिनका अङ्ग्रेजी अनुवाद इन शब्दों में दिया गया है—

You may resign yourself to sleep, and give yourself up to despair, unless God is His goodness, shall vouchsafe to send you instruction.

(Quoted here from the *Brahma Samaj and Ecclectic Systems,* Madras)

अर्थात् तुम या तो निद्रा के प्रति अपने को समर्पण कर सकते हो या निराशा के प्रवाह में बह सकते हो, जब तक कि परमेश्वर अपनी कृपा से तुम्हें शिक्षा न दे । यह ईश्वरीय ज्ञान के बिना मनुष्य की दुर्दशा का चित्रण है ।

जर्मनी के दार्शनिक मूर्धन्य कान्ट ने भी—

'We may well concede that if the Gospel had not previously taught the universal moral laws in their full purity, reason would not yet have attained so perfect an insight of them.

इन शब्दों को लिखकर सदाचार-सम्बन्धी नियमों की पूर्ण शिक्षा के लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और मानवीय बुद्धि की असमर्थता को स्पष्टतया स्वीकार किया था। जो इस ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते ऐसे

सदसद्विवेकबुद्धिवादी सज्जनों का कथन है कि परमेश्वर ने सत्यासत्य, धर्माधर्म, पाप-पुण्य इत्यादि के विचार के लिए जो अन्तरात्मा मनःसाक्षी वा Conscience हमें दे दी है वही पर्याप्त है । उसके अतिरिक्त ईश्वरीय ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं है । इसके उत्तर में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि यद्यपि हम स्वयं कुछ अंश तक सदसद्विवेकबुद्धि की प्रामाणिकता मानते हैं—**'स्वस्य च प्रियमात्मनः' 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।'**

इत्यादि वचनों द्वारा हमारे स्मृतिकारों और कवियों ने उसका महत्त्व स्वीकार किया है; इतना ही नहीं, स्वयं वेद में—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥ (यजु० १९. ७७)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा सदसद्विवेकबुद्धि की उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है, तथापि केवल उसे धर्माधर्म, पाप-पुण्य, कार्याकार्य के निर्णय में पर्याप्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका आधार बहुत-कुछ सामाजिक परिस्थिति तथा शिक्षा पर है । एक वेदानुयायी आर्य अथवा वैष्णव, जैन मतावलम्बी के घर जो बालक उत्पन्न होता है, उसे स्वभावतः मांस-मद्यादि से घृणा होती है और उसकी अन्तरात्मा उसे सदा ऐसे पदार्थों का सेवन करने से रोकती रहती है; पर जो बालक मांसमद्यसेवी अङ्गरेज, अमेरिकन अथवा अन्य किसी ऐसे ही पुरुष के गृह में जन्म लेता है, उसकी अन्तरात्मा उसे इन चीजों से परहेज रखने की कोई विशेष प्रेरणा नहीं करती । यह परिस्थिति का प्रभाव नहीं तो और किस चीज का प्रभाव है ? इसी विचार को मन में रखते हुए जर्मनी के दार्शनिकाग्रगण्य काण्ट ने Metaphysics of Morals नामक पुस्तक में ठीक ही लिखा था कि—

'Feelings which naturally differ in degree cannot furnish uniform standard of good and evil, nor has anyone a right to form judgment for others by his own feelings.'

अर्थात् संवेदन वा अनुभव जो स्वाभाविकतया भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न रूप वा मात्रा में होते हैं, अच्छे और बुरे वा पाप-पुण्य का एक-समान मापदण्ड नहीं निर्धारित कर सकते और न किसी को अपनी अनुभूति से दूसरों के लिए निर्णय करने का अधिकार है ।

इलहाम, आदेश और ईश्वरीय ज्ञान

जो लोग ऐसा मानते हैं कि परमेश्वर की ओर से ज्ञान वा प्रेरणा जिसे इलहाम और आदेश कहते हैं समय-समय पर भक्तों को प्राप्त होता ही रहता है, सृष्टि के प्रारम्भ में ही ईश्वरीय ज्ञान मानने की कोई आवश्यकता नहीं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसा मानने से जगत् में बड़े-बड़े अनर्थ होते रहे हैं और भविष्य में भी हो सकते हैं । हम किसी व्यक्ति पर अनुचित आक्षेप करना उचित नहीं समझते, तथापि सब जानते हैं कि कितनी ही बार अनेक साम्प्रदायिक नेताओं तथा आध्यात्मिक गुरुओं ने आदेश और इलहाम का नाम लेकर ऐसे-ऐसे कार्य किये हैं, जिनका कोई बुद्धिमान् धार्मिक पुरुष समर्थन नहीं कर सकता । इस सम्बन्ध में उदाहरणार्थ दो दृष्टांत देना पर्याप्त होगा । एक तो मुहम्मद साहब का जिनके अपने दत्तक पुत्र जैद की पत्नी जैनब को ईश्वरीय आदेश वा इलहाम से अपनी पत्नी बना लेने की एच०जी० वेल्स ने *Outline of World History,* New York, One Volume Edition, P. 608. तथा *Short History of the World,* P. 137 में डॉ० मार्गोलियोथ डी० लिट् (D.S. Margolioth D. Litt) ने *Encyclopaedia of Religion and Ethics* Vol. VIII, P. 878 में, सर विलियम मूर ने *Mohammed and Islam,* P. 196-197 में, डॉ० ह्यूग (Dr. Hughoes) ने *Notes on Mohammedanism,* P. 2 में, रेवरेन्ड डॉ० रैजर (Rev. Dr. Radger) ने *Dictionary of Islam,* P. 396 में तथा अनेक अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने *Studies in Mohammedanism* इत्यादि ग्रंथों में की है, जिन्हें उद्धृत करना भी हमें अत्यन्त अप्रिय प्रतीत होता है । ऊपर निर्दिष्ट जैकब के साथ निकाह की

इजाज़त देनेवाली आयत कुरान पारा० २२ सू० अहजाब आ० ३७ से ४० में विद्यमान है, जिसकी उपर्युक्त तथा अन्य विद्वानों ने भयङ्कर समालोचना की है । सृष्टि के प्रारम्भ में न मानकर मध्य-मध्य में भी इलहाम वा आदेश को मान लेने पर ऐसे भ्रमों की संभावना बहुत अधिक रहेगी । इसके स्पष्टीकरणार्थ हम ब्रह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन के जीवन की घटना को उनके अपने लेख-सहित उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं । ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय अन्त तक वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने पर विश्वास रखते थे । सन् १८३० में प्रथम ब्रह्मसमाज की स्थापना की गई । सन् १८५४ तक वेदों को निर्भ्रान्त माना जाता रहा, किन्तु सन् १८५५ में इस सिद्धान्त का एक तुच्छ आधार पर श्री केशवचन्द्र सेन जैसे नवशिक्षित सज्जनों के अनुरोध पर परित्याग कर दिया गया । १८६० में यह घोषणा की गई कि ब्रह्मधर्म का आधार अन्तःप्रतिभा (Intuition) की शिला पर है । सन् १८६६ में श्री केशवचन्द्र सेन ने महापुरुषों पर व्याख्यान देते हुए बताया कि बाह्य ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन हैं— (क) प्रकृति, (ख) महापुरुषों के लेख, (ग) ईश्वरीय प्रेरणा, आदेश वा इलहाम (Inspiration) । सन् १८८८ में नवविधान ब्रह्मसमाज के मुखपत्र *The Liberal* ने लिखा—

'Direct inspiration of the word of God has become our guide and like the prophets of old, our apostles declare their messages with the authority of God and proclaim them as 'Thus said the Lord.' It can have no religious union with those that ridicule the inspiration of Keshub Chunder Sen and stand as enemies of the New Dispensation.' (*The Brahma Samaj and Electic Systems,* P. 82)

अर्थात् ईश्वरीय आदेश वा शब्द हमारा मार्गदर्शक बन गया है और पुराने पैगम्बरों की तरह हमारे नेता भी ईश्वरीय अधिकार के साथ घोषणा करते हैं कि ईश्वर ने ऐसा कहा है । नवविधान ब्रह्मसमाज उनके साथ कोई धार्मिक एकता नहीं रख सकता जो श्री केशवचन्द्र सेन को प्राप्त ईश्वरीय आदेशों का उपहास करते अर्थात् नवविधान के शत्रु बनते हैं ।

श्री केशवचन्द्र सेन को प्राप्त इस ईश्वरीय आदेश का उल्लेखनीय नमूना वह है जो स्वयं ब्राह्मविवाह विधान के निर्माता श्री केशवचन्द्र सेन को (जिसके अनुसार ब्राह्मविवाह की आयु वधू और वर के लिए कम से कम १४ और १८ नियत की गई थी) अपनी पुत्री के लिए (जब वह १४ वर्ष से कम आयु की थी) महाराज कूचबिहार के पुत्र के साथ (जिस की आयु १६ वर्ष के लगभग थी) विवाह-सम्बन्ध का ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ । इस पर जब ब्रह्मसमाज के अनेक सदस्यों और अन्य सुधारकों ने विरोध किया तो श्री केशवचन्द्र सेन ने उन्हें यह कहकर चुप कराया कि उन्हें ऐसा करने के लिए ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था, जैसा उपुर्यक्त *The Brahma Samaj and Ecclectic Systems* के पृष्ठ ३६ पर लिखा है कि—

'Keshub claimed to be guided in the matter by *adesh* or commandment from God.'

'He declared the marriage as an effect of Divine Command.' P. 37.

अर्थात् श्री केशवचन्द्र सेन ने इस मामले में अपने को ईश्वरीय आदेश द्वारा प्रेरित होने का दावा किया । उन्होंने घोषणा की कि यह विवाह ईश्वरीय आदेश के परिणामस्वरूप था, किन्तु उनके इस दावे को ब्रह्मसमाज के अनेक बुद्धिमान् सदस्यों ने स्वीकार नहीं किया और वे बड़ी संख्या में नवविधान से पृथक् हो गये तथा उन्होंने साधारण ब्रह्मसमाज की स्थापना की ।

इसी प्रकार के अन्य अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि बहुत बार मनुष्य अपनी इच्छा को ही परमेश्वरीय इच्छा, प्रेरणा वा आदेश समझ लेते हैं और इस भ्रान्ति से अपने को और समाज को हानि पहुंचाते हैं । श्री केशवचन्द्र सेन ने निम्न शब्दों में इस प्रकार की भ्रान्ति और आत्मप्रवंचना को कितने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

A Delusion

I have strangely got into the habit, O my God, of crediting Thee with all my ideas and plans. I, as Thy servant, ought to follow only Thy commandment, forsaking all that pleases me, and adopting whatsoever is agreeable to Thee. But instead of doing this, I strive to follow my own plans and schemes, and then I ascribe to Thee their authorship. Having come so far in the path of religion I feel it a humiliation to believe that I am carrying out my own wishes. I would fain believe that in all my doings, I only follow Thy leading and feel glad when people give me credit for obeying Thy will and sacrificing my own. But self-sacrifice is a hard thing, and I am carried away by my own ideas, feelings and tastes. All that I can do is make myself and others believe that everything I do is the Lord's doing, and that all my purposes are Divine purposes. Thus errors and vices in my life become sacred in my estimation, in the course of time, with the imprimature of Thy seal. Lord, deliver me from this delusion.'

The New Dispensation by Pt. Shiva Nath Shastri, P. 51

The Brahma Samaj and Ecclectic Systems, P. 38. इस संदर्भ का आशय यह है—

एक भ्रम

हे परमेश्वर ! मुझे अपने विचारों और योजनाओं को तेरे नाम पर थोपने की विचित्र आदत पड़ गई है । मुझे तेरे सेवक के रूप में केवल तेरी ही आज्ञा का पालन करना चाहिए और अपनी प्रसन्नता का परित्याग करके केवल उसे अपनाना चाहिए जो तुझे पसन्द हो, किन्तु इसके स्थान पर मैं अपनी ही योजनाओं का अनुसरण करता हूं और फिर तुझे उनका कर्ता वा लेखक बता देता हूं । धर्म के मार्ग में इतनी दूर तक आने के पश्चात् मुझे यह स्वीकार करने में लज्जा आती है कि मैं अपनी इच्छा का अनुसरण करता हूं । मैं यह विश्वास करना पसन्द करूंगा कि अपनी सब क्रियाओं में मैं केवल तेरे नेतृत्व का अनुसरण करता हूं और मैं प्रसन्नता अनुभव करता हूं जब लोग मुझे अपनी इच्छा का त्याग कर तेरी ही इच्छा के अनुसरण का श्रेय देते हैं । किन्तु स्वार्थ-त्याग एक बड़ी वस्तु है और मैं अपने ही विचारों, अनुभवों और रुचियों के प्रवाह में बह जाता हूं । जो मैं कर सकता हूं वह यह है कि अपने को और दूसरों को यह विश्वास दिला दूं कि जो कुछ भी मैं करता हूं यह ईश्वर का कार्य है और मेरा उद्देश्य ही ईश्वरीय उद्देश्य है । इस प्रकार मेरे जीवन की भूलें और दुर्व्यसन, समय के साथ-साथ मेरी दृष्टि में हे परमेश्वर, तेरी मुहर के कारण पवित्र बन जाते हैं । प्रभो ! इस भ्रम से मेरा छुटकारा करो ।

श्री केशवचन्द्र सेन के ये शब्द उन लोगों के लिए एक चेतावनी का काम देने वाले हैं, जो सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता न मानकर कल्पित ईश्वरीय आदेशों पर निर्भर रहना पर्याप्त समझते हैं ।

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात जो हम सदसद् विवेकबुद्धिवादियों से कहना चाहते हैं, वह यह है कि कर्तव्याकर्तव्य का थोड़ा-बहुत निर्णय अन्तरात्मा की साक्षिता द्वारा करने में हम यदि कुछ समर्थ हो भी जायें, तो भी जीवन का अन्तिम उद्देश्य, जीव, ब्रह्म और प्रकृति के स्वरूप, मोक्षप्राप्ति के साधनादि विषयों का ज्ञान तो केवल इस बुद्धि द्वारा होना सर्वथा असम्भव है ।

प्रकृतिवादी सज्जनों का कथन है कि केवल प्रकृति को ही देखकर मनुष्य अपने कर्तव्य और हित का विचार कर सकता है, उसके लिए ईश्वरीय ज्ञान की कल्पना क्यों की जाये ? इसके उत्तर में अधिक लिखना अनावश्यक है । यदि केवल प्रकृति मनुष्य को ज्ञान देने में समर्थ होती तो इस पृथ्वीतल पर कोई भी जाति असभ्य दशा में न पाई जाती, क्योंकि प्रकृति की पुस्तक सबके लिए समान रूप से खुली हुई है । पर बात तो यह है कि इस पुस्तक को पढ़ना और समझना भी बड़ा कठिन है । बड़े-बड़े विद्वान् वैज्ञानिक पुरुष ही इसका पाठ कर सकते हैं । दूसरे लोग यदि प्रकृति के अन्दर प्राय: प्रचलित 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अथवा Survival of the fittest और खुल्लमखुल्ला प्रतिबन्धरहित संभोग इत्यादि व्यवहारों का अनुसरण करने लगे तो सदाचार वा Morality का संसार से नामोनिशान ही मिट जाये । इसलिए केवल प्रकृति को धार्मिक और सदाचारादि-विषयक शिक्षा देने में समर्थ मानना बड़ी भारी भूल है ।

विविध मतावलम्बी विद्वानों द्वारा वेदों के प्रति समर्पित श्रद्धाञ्जलियां

अब वेदों को ही क्यों ईश्वरीय ज्ञान माना जाये, क्यों न बाइबल, कुरान, जिन्द-अवस्था इत्यादि को समानरूपेण ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार किया जाये, इत्यादि प्रश्नों का सीधा उत्तर देने से पूर्व हम पारसी, जैन, ईसाई, मुसलमान और सिख इत्यादि विविध मतानुयायी निष्पक्ष विद्वानों द्वारा वेदों के प्रति समर्पित श्रद्धांजलियों को पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं ।

पारसी विद्वान् और वेद

सबसे पहले हम *Philosophy of Zoroastrianism and Comparative Study of Religions* नामक ग्रन्थ के लेखक सुप्रसिद्ध पारसी विद्वान् फर्दन दादाचानजी B.A., LL.B., D. Th. के वेदविषयक विचारों को रखना चाहते हैं । वे लिखते हैं—

'The Veda is a Book of Knowledge and Wisdom comprising the Book of Nature, the Book of Religion, the Book of Prayers, the Book of Morals and so on. The Word 'Veda' means Wit, Wisdom, Knowledge and truly the Veda is condensed Wit, Wisdom and Knowledge.' *Philosophy of Zoroastrianism by Dadachanji,* P. 100

अर्थात् वेद ज्ञान की पुस्तक है, जिसमें प्रकृति, धर्म, प्रार्थना, सदाचार इत्यादि विषयक पुस्तकें सम्मिलित हैं । वेद का अर्थ ज्ञान है और वास्तव में वेद में सारे ज्ञान-विज्ञान का तत्त्व है ।

ऋग्वेद के प्रथम अग्निविषयक सूक्त का अर्थ देते हुए, जिसमें महर्षि दयानन्द के समान अग्नि शब्द के भौतिक अग्नि और ईश्वर दोनों अर्थ किये गये हैं, ये पारसी विद्वान् लिखते हैं—

'Thus we see that Agni in this hymn means both fire as well as God.' P. 100

अर्थात् इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में अग्नि के भौतिक अग्नि और ईश्वर ये दोनों अर्थ हैं ।

इसके पश्चात् 'Two-fold significance of Words' इस शीर्षक के नीचे ये सुयोग्य पारसी विद्वान् लिखते हैं कि—

Readers of the Vedas who do not know this wonderful characteristic feature of the Veda in determining the physical as well as the spiritual by means of the self same words, are apt to be misled by the false idea that the Veda looks upon fire, air, dawn, the sun and the other agent forces, phenomena or objects of nature as Divine beings

to whom the Vedic Rishis, prayed for strength, health, wealth, long life, brave sons, rich possessions and so on. But the Vedas teach nothing but mono-theism of the purest kind, the belief that this universe manifests the love, might, wisdom and glory of God who eternally evolves and dissolves alternately innumerable systems of worlds, for the benefit, discipline and well-being of *Jeevatmas,* according to the eternal laws of nature (called Rita in the Vedas) and also according to the Law of Karma (as implied in it) etc. P. 10

अर्थात् जिन पाठकों को वेद की इस अद्‌भुत विशेषता का ज्ञान नहीं है कि किस प्रकार एक ही शब्द से वे भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन करते हैं, उन्हें यह भ्रम हो सकता है कि वेद अग्नि, वायु, उषा, सूर्यादि को ईश्वर वा देव समझते हैं जिनसे ऋषि शक्ति, स्वास्थ्य, धन, दीर्घ जीवन, वीर पुत्रादि की प्रार्थना करते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं । वेद तो ऐसे एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं, जो सबसे अधिक विशुद्ध और पवित्र है । वह यह विश्वास है कि जगत् उस परमेश्वर के प्रेम, शक्ति, बुद्धिमत्ता और महत्त्व को प्रकट करता है, जो लोक-लोकान्तरों का निर्माण और अन्त में प्रलय करता है, उन जीवात्माओं के लाभ, अनुशासन और कल्याण के लिए अटल प्राकृतिक नियमों, जिन्हें वेद में ऋत के नाम से पुकारा गया है और कर्म-नियम के अनुसार ।

एक सुप्रसिद्ध सुशिक्षित पारसी विद्वान् द्वारा वेदों और वैदिक एकेश्वरवाद के प्रति समर्पित यह श्रद्धांजलि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें संदेह नहीं हो सकता ।

आचार्य कुमुदेन्दु नाम के प्रसिद्ध जैन विद्वान् और वेद

जैनमतावलम्बी साधारणतया वेद-विरोधी माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी निष्पक्ष विद्वानों ने वेदों के गौरव को जिस रूप में स्वीकार किया है उसका एक अद्‌भुत उदाहरण हम 'भूवलय' नामक अत्यन्त आश्चर्यजनक ग्रन्थ से पाठकों के सम्मुख रखते हैं । उन्होंने लिखा है कि—

ऋग्वेद ही अनादिनिधना आदिम भगवद्‌वाणी है । इसमें से अनेक भाषाएं निकलती हैं । भगवान् का सन्देश सभी भाषाभाषियों के लिए एक-सा होता है । 'भूवलय' में मूलशब्द इस प्रकार के हैं—

महदग्रेयणि विजय ऋग्वेद वलय है
द्व्ह गुणिसलनाद्यनन्त

सर्वज्ञ देवनु सर्वाङ्गदि पेलद सर्वस्वभाषेय सरणि
पर्वदन्ददलि हब्बुतहोगी लोकाग्रसर्वार्थ सिद्धिय बलसि ॥
मुक्तियोलिह सिद्ध जीवर तागुत व्यक्ताव्यक्तवदागि
सकलवु कर्माट्दणु रूप होंदुत प्रकट्दे ओंदरोल् अड़गि ।
हदिनेन्टु भाषेयु महाभाषेयागलु वदिय भाषेगल येलनूरम्
हृदयदोलडगिसि कर्माट लिपियाग हुदुगिसिदङ्क भूवलय सकलड़ सादि अनादि ॥
वशगोंडु द्वैताद्वैतवनेल्लव अनेकान्त रसदोलु ओंकारदेकम् ।
यशवादक्षरवोन्दिगे वेसेदिह होसदनादिय ग्रन्थ ॥ भूवलय अ० ६, श्लो० २.४

अरब देश के विद्वान् लावी द्वारा वेदों का गुणगान

अख़ताब के पुत्र और तुर्फा के पौत्र लावी नामक अरबी कवि ने जो मुहम्मद साहेब के जन्म के लगभग २४०० वर्ष पूर्व विद्यमान था, वेदों का गुणगान निम्नलिखित अरबी भाषा की कविता में किया, जिसे महत्त्वपूर्ण होने के कारण हम अङ्ग्रेजी और हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित करना इस प्रकरण में आवश्यक समझते हैं। इससे यह भी स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईसवी सन् के लगभग १७०० वर्ष पूर्व भी सेमेटिक लोगों में वेदों के प्रति कितना उत्तम भाव था। यह कविता हारूं रशीद के राजदरबार-कवि अस्माई मलेकुस् शरा द्वारा संगृहीत सीरुल्-उकूल नामक पुस्तक में पाई जाती है, जो निम्नलिखित है—

१. अया मुबारकल अर्जे योशेय्ये नुहामिनल् हिन्दे फारादकल्लाहो मैय्योनज़्ज़ेला ज़िक्रतुन्।

२. वहल तजल्लेयतुन् ऐनाने सहबी अरबातुन् हाज़ही युनज़्ज़ेल रसूलो ज़िक्रतान मिनल् हिन्दतुन्।

३. यकूलुनल्लाह या अहलल् अर्ज़ेल आलमीन कुल्लहुम् फ़त्तबिऊ ज़िक्रतुल् वेद हक्कन् मालम् युनज़्ज़ेलहुन्।

४. वहोवालम् उस् साम वल युज्र मिनल्लहे तन्ज़ीलन् फ़ ऐनमा या अखेयो मुत्तबे अन् यो बशरेयो नजातुन्।

५. व अस्नैने हुमा ऋक् व अतर नासहीन क अखूवतुन् व अस्नात अला ऊदन् वहोव मशअरतुन्।

English Translation—

1. Oh blessed land of Hind (India) thou art worthy of reverence for in thee has God revealed True Knowledge of Himself.

2. What a pure light do these four revealed books afford to our mind's eyes like the (charming and cool) lustre of the dawn? These four, God revealed unto His prophets (Rishis) in Hind.

3. And He thus teaches all races of mankind that inhabit His earth.
'Observe (in your lives) the knowledge I have revealed in the Vedas' for surely God has revealed them.

4. Those treasuries are the Saama and Yajur which God has published. O my brothers! revere these, for they tell us the good news of salvation.

5. The two next, of these four, Rik and Atharva (Atar) teach us lessons of (Universal) brotherhood. These two (Vedas) are the beacons that warn us to turn towards that goal (universal brotherhood).
(Translation of the Arabic Poem by Lavi—an Arabian Poet about 1700 B.C.)

भाषानुवाद—

१. ऐ हिन्दुस्तान की धन्य भूमे ! तू आदर करने योग्य है, क्योंकि तुझमें ही ईश्वर ने सत्य ज्ञान का प्रकाश किया है।

२. ईश्वरीय ज्ञानरूप ये चारों पुस्तकें (वेद) हमारे मानसिक नेत्रों को किस आकर्षक और शीतल उषा की ज्योति देते हैं ! परमेश्वर ने हिन्दुस्तान में अपने पैगम्बरों अर्थात् ऋषियों के हृदयों में इन चारों (वेदों) का प्रकाश किया।

३. और वह पृथ्वी पर रहनेवाली सब जातियों को उपदेश देता है कि मैंने वेदों में जिस ज्ञान को प्रकाशित किया है, उसे तुम अपने जीवनों में क्रियान्वित करो—उसके अनुसार आचरण करो। निश्चय से परमेश्वर ने ही वेदों का ज्ञान दिया है।

४. साम और यजुर् वे खजाने (कोष) हैं, जिन्हें परमेश्वर ने दिया है । ऐ मेरे भाइयो ! इनका तुम आदर करो, क्योंकि वे हमें मुक्ति का शुभ समाचार देते हैं ।

५. इन चार में से शेष दो ऋक् और अतर (अथर्व) हमें विश्वभ्रातृत्व का पाठ पढ़ाते हैं । ये दो ज्योतिः स्तम्भ हैं, जो हमें उस लक्ष्य (विश्वभ्रातृत्व) की ओर अपना मुंह मोड़ने की चेतावनी देते हैं ।

अरबदेशीय कवि लावी द्वारा वेदों के प्रति समर्पित यह श्रद्धांजलि स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है ।

दाराशिकोह का वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानना

मुस्लिम मतान्ध कुख्यात औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह का नाम सुप्रसिद्ध है । वे एक सत्यान्वेषी सज्जन थे और सत्य की खोज में उन्होंने उन पुस्तकों का अनुशीलन किया, जिन्हें ईश्वरीय पुस्तक माना जाता था । जैसे कि उन्होंने स्वयं लिखा है—

ज़मींकुतब समावी बनजर दार आउरदा ।

अर्थात् मैंने समस्त आसमानी पुस्तकों (ईश्वरीय पुस्तकों) पर दृष्टिपात किया किन्तु इससे उनके उद्देश्यों की सिद्धि न हुई । उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा—

नज़र बा तौरेतो अंजीलो ज़बूरो दीगर सुहफ़ अन्दाख़्त मुजमलो मरमूज़ बूद व अज़तरजुमा हय सुहेली कि अहले ग़रज़ करदा बूद न मतलूब मालूम नबरदीद ।

अर्थात् तौरेत (Old Testament), इञ्जील (New Testament), और जबूर (The Book of Psalms) तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थों का अवलोकन किया, ईश्वर की एकता का वर्णन उनमें भी संक्षिप्त और रहस्यपूर्ण रहा और स्वार्थी लोगों ने इन धर्मग्रन्थों के जो भाष्य किये थे उनसे उद्देश्य की सिद्धि न हो पाई ।

अपने मुसलमानी धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ के विषय में भी उन्होंने ऐसी ही सम्मति प्रकट की है कि—

चूं कुरान अज़ीम व फ़ुर्क़ान क़रीम अक्सरे बा रमूज़स्त व दानिन्द आ मज़हा कमयाब अन्द ।

अर्थात् कुरानशरीफ अथवा फुर्कान करीम में भी प्रायः रहस्य हैं और रहस्यों के जाननेवाले बहुत कम लोग हैं ।

खोज करते-करते दाराशिकोह को इस बात का निश्चय हो गया कि हिन्दुओं में भी ईश्वर के एक होने का ज्ञान पर्याप्त परिमाण में विद्यमान है और उन्होंने इस विषय में यों लिखा है कि—

दर पै आंशुद कि अज़ चे जहत दर हिन्दुस्तान वहमद अयां गुफ़्तगुए तौहीद बिसियारस्त व उल्माए ज़ाहरी व बातिनी तायसा क़दीम हिन्द रा अज़ वहदत इन्कारी व वर् मोहेदान गुफ़्ता रीनेस्त बल्कि पायाये तबार अस्त ।

अर्थात् मैं इस बात के अनुसंधान में लग गया कि क्या कारण है कि हिन्दुस्तान में ईश्वर की एकता को प्रकट करने वाली एकेश्वरवाद-विषयक अनेक वार्ताएं विद्यमान हैं और प्राचीन भारत के परोक्ष और अपरोक्ष विद्याओं के ज्ञाताओं ने कभी भी एकेश्वरवाद को अस्वीकार नहीं किया और न ही उन्होंने एकेश्वरवादियों के प्रति कभी किसी प्रकार की शङ्काएं की, वरन् एकेश्वरवाद के प्रति उनका दृढ़ निश्चय था ।

इस विषय में अधिक अनुसंधान करने पर वे जिस परिणाम पर पहुंचे उसका उल्लेख उन्होंने फारसी के निम्न शब्दों में किया—

बाद अज़ तहक़ीइन इमरातिब मालूक़शुद कि दरमियान ईक़ौमे क़दीम पेश अज़ कुतब समावी चाहर कुतब आस्मावी कि ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद व अथर्वणवेद बाशद बर इब्नाये आ वक्त के बुज़ुर्गेतर आहा आदम सफ़ी अल्लाह व अलीस्सल्लाम अस्त बरज़मी अहकाम नाज़िल शुदा ।

अर्थात् क्रमशः अनुसन्धान करने के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि इस प्राचीन (हिन्दू) जाति में समस्त 'ईश्वरीय पुस्तकों' (अर्थात् कुरान, इञ्जील, तौरेत तथा ज़बूर आदि) के पूर्व चार ईश्वरीय पुस्तकें जिनके नाम (१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद (३) सामवेद तथा (४) अथर्ववेद हैं उस समय के ऋषियों पर जिनमें सबसे बड़े आदम (अथवा ब्रह्माजी) थे, समस्त आज्ञाओं के साथ ईश्वर की ओर से प्रकट हुई थी ।

शाहज़ादा दाराशिकोह को इस बात का निश्चय हो गया था कि प्राचीनकाल में हिन्दुओं के चारों वेद विद्यमान थे, जिनमें ईश्वर की एकता का पूर्णतया प्रतिपादन किया गया है । उपनिषद्-ग्रंथ इन्हीं वेदों के वचनों से संकलित करके लिखे गये हैं । अतः उपनिषद् वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या के सारभूत ग्रन्थ हैं जैसा कि उन्होंने लिखा कि इन चारों पुस्तकों (अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) के सार का जिनमें समस्त ब्रह्मप्राप्ति के साधनों के रहस्यों तथा ईश्वर की एकता के साक्षात् करने के अभ्यासों का वर्णन है, उपनिखत (उपनिषत्) नाम है और उस समय के विद्वानों ने उन्हें (वेदों से) अलग करके उन ग्रन्थों पर विस्तृत भाष्य लिखे हैं और उन उपनिषदों का अध्ययन वे एक सर्वोत्तम उपासना समझकर किया करते हैं ।

इस बात को जानकर दाराशिकोह ने संस्कृत भाषा का स्वयं अध्ययन किया और संस्कृत में उन्होंने अपनी योग्यता इतनी कर ली थी कि वे वेदों और उपनिषदों का अध्ययन कर उनके तात्पर्य को भलीभांति समझ लेते थे । तब उन्होंने १०६७ हिजरी में उस समय के वेदों और उपनिषदों के ज्ञाता प्रसिद्ध पण्डितों और संन्यासियों को एकत्रित करके उनकी सहायता से स्वयं उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया । ईशोपनिषद् के विषय में (जो अन्य सब उपनिषदों का मूल और स्वयं काण्व शाखा के यजुर्वेद का ४०वां अध्याय है) दाराशिकोह ने लिखा कि—

किताब क़दीम कि बेशको-शुबह अव्वलीन किताब समावी व सरे-चश्माये-तहक़ीक़ व बहरे-तोहीदस्त ।

यह पुस्तक अनादि है और इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि समस्त ईश्वरीय पुस्तकों में यह प्राचीनतम है और परम सत्य का स्रोत तथा ब्रह्मज्ञान का समुद्र है ।

कुरान में वेद का निर्देश

दारा शिकोह ने इस प्रकार वेदों को परम पवित्र ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार किया और साथ ही बताया कि कुरान के एक वाक्य में वेदों का निर्देश किया गया है । जो अरबी के निम्न शब्दों में है—

इन्न क़ुराने करीम—फ़ी किताब मंकनूं—लाये मस्सहू इल्ला अल् मतहून—तंज़ीलमिन् जब्बुल आलमीन ।

दाराशिकोह के अनुसार इस अरबी-वाक्य का तात्पर्य यह है कि—

कुरान शरीफ़ एक पुस्तक है और वह पुस्तक गुप्त है । उसका ज्ञान उसी को होता है जिसका हृदय पवित्र हो और वह पुस्तक संसार के पालनकर्ता ईश्वर की ओर से प्रकट हुई है ।

कुरान शरीफ की उपुर्यक्त पंक्तियों में कुरान के विषय में तीन बातों का उल्लेख किया गया है, अर्थात् (१) कुरान शरीफ़ किसी अन्य पुस्तक में विद्यमान है और वह पुस्तक गुप्त है । (२) उस पुस्तक को जिसमें कुरान विद्यमान है कोई नहीं

समझ सकता। हां, जिनका हृदय पवित्र है वे ही उस पुस्तक को समझ सकते हैं। (३) वह मौलिक पुस्तक किसी मनुष्य के द्वारा नहीं रची गई बल्कि वह स्वयं जगत् के पालनकर्ता परमेश्वर की ओर से उतारी गई है।

प्राय: मौलवी लोग कुरान के उपर्युक्त वाक्य का अर्थ करने में बड़े चक्कर में पड़ जाते हैं। वे यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि यहां निर्देश तौरेत, इंजील या ज़बूर का है, जिसे अङ्गरेजी में बाइबल के नाम से कहते हैं, किन्तु वर्तमान बाइबल में कुरान का होना सिद्ध नहीं होता। दारा शिकोह का तो निश्चित मत था कि ये पंक्तियां ज़बूर, तौरेत और इंजील वा बाइबल के सम्बन्ध में नहीं हैं, वरन् 'नाज़िल' (उतरी हुई) शब्द से ऐसा प्रकट होता है कि ये पंक्तियां लोहे-महफ़ूज़ वा सुरक्षित तख्ती के विषय में भी नहीं बल्कि वेद (वा तदाश्रित उपनिषत्) के विषय में हैं जैसा उन्होंने स्पष्ट लिखा—

ज़ाहिर मीशवत कि ईं आयत बैनहू दरईं किताब कदीमस्त। व मालूम मीशवत कि ईं आयत दर हक जबूरो तौरेत व इंजील नेस्त बल्कि अज़्र लफ्ज़ांजील चुनी ज़ाहिर मी गरदद कि दर हक लोहे-महफ़ूज़ हम नेस्त। चूं उपनिषद् कि सर पोशीदनी अस्त अस्ली ईं किताब अस्त व आयत हय क़ुरान मजीद बैनहू दर आयाफ्ता मीश्वद पस।

अर्थात् ऐसा प्रकट है कि कुरान शरीफ की ये पंक्तियां इसी अनादि पुस्तक (वेद वा तदाश्रित उपनिषत्) के विषय में हैं। उन्होंने इसी प्रसङ्ग में यह भी लिखा कि—

किताब ब-तहकीक कि किताब मकनून ईं किताबे-कदीम वर शद व अज़ी फ़कीर रा नादानिस्तां वा नाफ़हमीदा फ़हमीदा शुद।

चूंकि उपनिषद् गुप्त रहस्य है, इसलिए इस किताब (कुरान शरीफ) का मूल स्रोत है और कुरानशरीफ की कई आयतें ज्यों की त्यों उनमें पाई जाती हैं, अत: निश्चित है कि किताब अर्थात् गुप्त पुस्तक यही प्राचीन पुस्तक (वेद वा उपनिषद्) है और इसी से इस सेवक को (मुझ दारा शिकोह को) अज्ञात बातें ज्ञात हुईं, और जो बातें समझ में नहीं आती थीं वे समझ में आ गईं।

अपने उपनिषद् के फारसी-अनुवाद के विषय में दारा शिकोह ने लिखा कि—

सादत-मन्दे कि ग़रज़ नस शवम् गुज़ाश्ता खालिशत बवजेअल्लाह ईं तरजुमा रा के बदसरे-अकबर मौहसूम गश्ता तरजुमा कलाम इलाही दानिस्ता तर्क तास्सुब नमूदा बख्वांद व बफ़ैहमद बेख़ौफ़ बेखोपऽव बेअन्दोह व रुस्तगा मो ये ख्वाहद शुद।

अर्थात् जो सौभाग्यशाली पुरुष अपने दूषित मन के स्वार्थ का परित्याग कर केवल मात्र परमात्मा ही के लिए इस अनुवाद को जो सिर्रे-अकबर अथवा महान् रहस्य के नाम से प्रसिद्ध है 'ईश्वरीय वाणी' का अनुवाद समझकर और हृदय से पक्षपात हटाकर पढ़ेगा और समझेगा वह अजर, अभय और दु:खरहित होकर सदा के लिए मुक्त हो जाएगा।

इस प्रकार दारा शिकोह ने एक सत्यप्रिय व्यक्ति के रूप में वेद को ईश्वरीय ज्ञान माना तथा इस बात की उपर्युक्त स्पष्ट शब्दों में घोषणा की, जिसके कारण उसे अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी। औरङ्गज़ेब की आज्ञा का अनुसरण करते हुए उस समय के शाही दरबार के मुल्लाओं ने उस पर कुफ्र का फतवा लगाया और उस महापुरुष को क़त्ल कर दिया गया।

वेद और तदाश्रित उपनिषत् के महत्त्व के विषय में दारा शिकोह जैसे सत्यान्वेषी के उपरिलिखित उद्गार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिन पर किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

अनेक निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदगौरव-गान

यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य लेखकों ने ईसाइयत की श्रेष्ठता दिखाने के लिए वेदों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन नहीं किया, तथापि अनेक ऐसे विद्वान् यूरोप और अमेरिका में हुए, जिन्होंने वेदों का अध्ययन निष्पक्षभाव से करके उनकी महिमा का मुक्त कण्ठ से गान किया है । हम उनमें से कुछ का इस प्रकरण में उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते ।

डॉ० रसेल वैलेस का वेदों के महत्त्व-विषयक मत

सबसे पहले हम डार्विन के साथ ही प्राकृतिक जगत् में विकासवाद के आविष्कारक डॉ० रसेल वैलेस के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Social Environment and Moral Progress से कुछ उद्धरण देना चाहते हैं, जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं । वे लिखते हैं—

'In the earliest records which have come down to us from the past, we find ample indications that accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail to-day, though in some respects they differed from ours. The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of the finest portions of the Hebrew Scriptures. Its authors were fully our equals in their conception of universe and the Deity expressed in finest poetic language.' P. 11

'In it we find many of the essential teachings of the most advanced religious thinkers.' P. 13

'We must admit that the mind which conceived and expressed in appropriate language such ideas as are everywhere present in those Vedic hymns, could not have been inferior to those of the best of our religious teachers and poets, to our Milton, Shakespeare and Tennyson.'

(*Social Environment and Moral Progress* by
Dr. Alfred Russel Wallace, P. 14)

अर्थात् पुराने समय के जो लेख हमें इस समय मिलते हैं उनमें भी हमें इस बात के पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समय के सदाचारादि-विषयक विचार और व्यवहार हमारे से किसी रूप में भी कम कोटि के नहीं थे—यद्यपि कई अंशों में वे हमसे भिन्न अवश्य थे । वेद के नाम से प्रसिद्ध आश्चर्यजनक संहिता में बाइबल के अच्छे भाग के तुल्य पवित्र और ऊंची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है । इसके लेखक संसार और सुन्दरतम कविता में प्रकाशित ईश्वर-विषयक विचार में पूर्णतया हमारे समान थे । इनमें हम अत्यधिक उन्नत वा प्रगतिशील धार्मिक विचारकों की मुख्य शिक्षाओं को पाते हैं ।—हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस मन ने उन ऊंचे विचारों को ग्रहण किया और तदनुरूप उत्तम भाषा में प्रकट किया, जो वेदों में सर्वत्र पाये जाते हैं, हमारे उच्चतम धार्मिक शिक्षकों और मिल्टन, शैक्सपीयर तथा टैनीसन जैसे कवियों से किसी अवस्था में भी कम न थे ।

इससे बढ़कर सामाजिक विकासवाद (Social Evolution Theory) का खण्डन क्या हो सकता है ? यदि वेदों की जिन्हें प्राय: सभी पाश्चात्य विद्वान् संसार में प्राचीनतम ग्रन्थ, प्रो० मैक्समूलर के प्रसिद्ध शब्दों में 'The oldest books in the Library of mankind' मानते हैं, शिक्षाएं इतनी ऊंची और पवित्र हैं, जितनी बाइबल के अच्छे से अच्छे भागों की अथवा यदि ऋषि वर्तमान सुसभ्य जगत् के उच्चतम विचारकों अथवा मिल्टन, शैक्सपियर, टैनीसन जैसे कवियों से कम न थे तो फिर सामाजिक विकास के लिए अवकाश कहां रह जाता है ? स्वयं भौतिक जगत् में विकासवाद के प्रवर्तकों में से एक वैज्ञानिक शिरोमणि का सामाजिक विकासवाद का इस प्रकार का निराकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस सामाजिक विकासवाद के आधार पर जो ईश्वरीय ज्ञान (Revelation) की आवश्यकता से इन्कार करते हैं उन्हें अपना विचार बदलने को विवश होना पड़ेगा—यह बात डॉ० अल्फ्रेड रसेल वैलेस के उपरिलिखित वाक्यों से स्पष्ट हो जाती है ।

दो ईसाई पादरियों के वेद-विषयक मन्तव्य

Rev. Morris Philip नामक ईसाई पादरी ने The Teachings of the Vedas नामक अपने ग्रन्थ में निम्न शब्दों में वेदों को प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान बताया है । वे लिखते हैं—

'After the latest researches into the history and chronology of books of Old Testament, we may safely now call the Rigveda as the oldest book, not only of the Aryan humanity, but of the whole world.

'It is evident then (1) That the higher upto the source of the Vedic religion, we push our enquiries, the purer and simpler we find the conception of God, and that (2) In proportion as we come down the stream of time, the more corrupt and complex we find it. We conclude therefore that the 'Vedic Aryans' did not acquire their knowledge of the divine attributes and functions empirically, as in that case, we should find at the end what we now find in the beginning. Hence we must seek for a theory which will account alike for the acquisition of that Knowledge, the God-like conception of Varuna, and for that gradual depravation which culminated.

(*The Teachings of the Vedas* by Rev. Morris Philip, P. 104)

'We have pushed our enquiries as far back in time as the records would permit, and we have found that the religious and speculative thought of the people was far purer, simpler and more rational at the farthest point we reached, than at the nearest and the latest in the Vedic age.

The conclusion therefore, is inevitable viz. that the development of religious thought in India has been uniformly downward, and not upward, deterioration and not evolution. We are justified, therefore, in concluding that higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation.

(*The Teachings of the Vedas* by Rev. Morris Philip, P. 231)

इस लम्बे किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्धरण का तात्पर्य यह है कि पुराने वसीयतनामे के इतिहास और पुस्तकों के निर्माणकालादि-विषयक अनुसन्धान के परिणामस्वरूप अब हम ऋग्वेद को न केवल आर्यजगत् की, किन्तु सारे संसार की सबसे पुरानी पुस्तक निस्संकोच कह सकते हैं।

(१) यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हम वैदिक धर्म के स्रोत की ओर खोज ऊपर-ऊपर करते चले जाते हैं, हम ईश्वर-विषयक विचार को अधिक पवित्र और सरल पाते हैं।

(२) जिस अनुपात से हम समय-धारा में नीचे-नीचे आते चले जाते हैं, हम ईश्वर-विषयक विचार को अधिक विकृत और विषम पाते हैं। इसलिए हम यह परिणाम निकालते हैं कि वैदिक आर्यों ने ईश्वर के गुणों और कार्यों का ज्ञान अनुभव वा निरीक्षण के आधार पर प्राप्त नहीं किया, क्योंकि उस अवस्था में हम जो शुद्धरूप प्रारम्भ में पाते हैं उसे हमें अन्त में पाना चाहिए था। इसलिए हमें एक ऐसे वाद की खोज करनी चाहिए, जो उस ज्ञान की प्राप्ति, वरुण के समान ईश्वरविषयक कल्पना और क्रमिक ह्रास की समान रूप से व्याख्या कर सके। (वेदों की शिक्षाएं, पृ० १०४)

हम अपनी खोज को समय की दृष्टि से इतना पीछे की ओर ले गये, जितने की लेखादि सामग्री हमें मिल सकती थी और हमने पाया कि लोगों की धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा सबसे पुराने समय में जहां तक हम पहुंच सके अधिकतम पवित्र, युक्तियुक्त और सरल थी अपेक्षया वैदिक काल के भी हमारी दृष्टि से समीपतम और नवीनतम समय में।

इसलिए हमारे लिए यह परिणाम निकालना अनिवार्य है कि भारत में धार्मिक विचार का विकास नहीं, किन्तु ह्रास ही हुआ है; उन्नति नहीं, किन्तु अवनति ही हुई है। इसलिए हम यह परिणाम निकालने में न्याययुक्त हैं कि वैदिक आर्यों के उच्चतर और पवित्रतर ईश्वरादि-विषयक विचार एक प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान का परिणाम थे।

रेवरेन्ड मॉरिस फिलिप का वैदिक एकेश्वरवादादि-विषयक यह लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है इसमें सन्देह नहीं, यद्यपि वे पूर्णतया विशुद्धरूप में वैदिक धर्म के सिद्धांतों को समझ सके यह नहीं कहा जा सकता। उनके ग्रन्थ में भी कई अशुद्ध धाराएं पाई जाती हैं, जिनका हम यथावकाश निर्देश करेंगे।

प्रो० हीरेन् नामक ईसाई विद्वान् का वेदविषयक लेख

प्रो० हीरेन् (Prof. Heeren) नामक एक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने वेदों के विषय में लिखा कि—

They (The Vedas) are without doubt the oldest works composed in Sanskrit. Even the most ancient Sanskrit writings allude to the Vedas as already existing. The vedas stand alone in their solitary splendour standing as beacon of Divine Light for the onward march of Humanity.

(*Historical Researches* by Prof. Heeren, Vol. II, P. 127)

अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि वेद संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। उपलभ्यमान सबसे अधिक प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में भी उनकी विद्यमानता का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। वे मनुष्यमात्र की उन्नति के लिए अपनी अद्भुत शान में दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम देते हैं।

लेओं देल्बो नामक फ्रांसदेशीय विद्वान् का मत

१४ जुलाई १८८४ को पेरिस में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक सङ्घ (International Literary Association) के सम्मुख निबन्ध पढ़ते हुए लेओं देल्बो (Mons Leon Delbos) नामक फ्रांसदेशीय सुप्रसिद्ध विद्वान् ने घोषणा की कि—

'The Rigveda is the most sublime conception of the great highways of humanity.'

(*Quoted in the Hindu Superiority* by Har Bilas Sharada, P. 179-180)

अर्थात् ऋग्वेद मनुष्यमात्र की उच्च प्रगति और आदर्श की उच्चतम कल्पना है ।

नोबेल पुरस्कार विजेता मैटरलिंक का अभिप्राय

नोबेल पुरस्कार विजेता सुप्रसिद्ध दार्शनिक मैटरलिंक ने स्टाइनर् नामक विद्वान् के शब्दों में वेदों के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया—

'Only the gaze of the clairvoyant, directed upon the mysteries of the past, may reveal un-uttered wisdom which lies hidden behind these writings (The Vedas). P. 9.' 'Whence did our pre-historic ancestors in their supposed terrible state of ignorance and abandonment, derive these extra-ordinary intuitions—that knowledge and assurance which we ourselves are re-conquering.'

(*The Great Secret* by Maeterlinck, P. 44)

भावार्थ—केवल सूक्ष्मदर्शी की अन्तर्दृष्टि ही है, जो वेदों में भरे सूक्ष्म ज्ञान को प्रकट कर सकती है । आश्चर्य यह है कि हमारे प्रागैतिहासिक काल के पूर्वजों ने जिनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे घोर अज्ञान की भयङ्कर अवस्था में थे, कहां से वह असाधारण अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया जिसे हम फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं ?

इससे बढ़कर सामाजिक विकासवाद की असत्यता का क्या प्रमाण हो सकता है ? श्री मैटरलिंक ने वेदों की सदाचारादि विषयक शिक्षाओं को पृ० ९६-९७ में सर्वप्रथम किन्तु सर्वोत्तम (Loftiest) बताकर सामाजिक विकासवाद पर जो कुठाराघात किया है उसका हम यथास्थान पुनः निर्देश करेंगे ।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक थोरियो की सम्मति

थोरियो नामक अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान् ने वेदों के विषय में निम्न उद्गार प्रकट किये—

'What extracts from the Vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer stratum—free from particulars, simple, universal; the Vedas contain a sensible account of God.'

(Quoted from *Mother America,* by Swami Omkar, O. 9)

भावार्थ—मैंने वेदों के जो उद्धरण पढ़े हैं वे मुझ पर एक उच्च और पवित्र ज्योतिपुंज के प्रकाश की तरह पड़ते हैं, जो एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करता है ।

वेदों के उपदेश सरल, देश वा जातिविशेष के इतिहास से रहित और सार्वभौम हैं तथा उनमें ईश्वरविषयक युक्तियुक्त विचार दिये गये हैं।

आयर् के डॉ० जेम्स कज़िन्स की श्रद्धाञ्जलि

डॉ० जेम्स कज़िन्स नामक आयर् के सुप्रसिद्ध कवि और दार्शनिक ने Path to Peace अथवा 'शान्ति का मार्ग' नामक पुस्तक में वैदिक आदर्श की उच्चता का कुछ विस्तार से वर्णन करते हुए अन्त में लिखा—

'To love, to think, to do are in the Vedic conception, no transitory futilities touched with melancholy, but simulations of the consmic activity charged with the Joy of the Eternal. Shadows they are, cast dancing shadows by the Light of lights, but they are cast by the Light, not by Darkness and in that Light, that vision of the Eternal, shining through the temporal, humanity can find an ideal which would replace a periodical sanctimoniousness by a perpetual sense of the sanctity of all life. On that (Vedic) ideal alone, with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antagonisms, its sympathy which wins hatred away from itself, it is possible to rear a new earth in the image and likeness of the eternal Heavens.'

(*Path to Peace* by Dr. James Cousins, P. 60.)

अर्थात् प्रेम करना, विचार करना और कार्य करना, ये वैदिक विचारानुसार क्षणिक निराशापूर्ण व्यर्थ क्रियाएं नहीं हैं, किन्तु वे विश्वव्याप्त क्रिया के जो नित्य परमेश्वर के आनन्द से परिपूर्ण है, अनुकरण मात्र हैं। वे एक प्रकार से छायाएं हैं, प्रकाशों के प्रकाश परमेश्वर द्वारा प्रेषित छायाएं हैं, अन्धकार द्वारा नहीं; और उस प्रकाश में, नित्य परमेश्वर के उस दर्शन में जो भौतिक जगत् द्वारा प्रकाशमान हो रहा है, मनुष्यमात्र एक ऐसे आदर्श को प्राप्त कर सकता है जो अस्थायिनी प्रवंचनापूर्ण पवित्रता का स्थान सम्पूर्ण जीवमात्र की पवित्रता की शाश्वत अनुभूति द्वारा ले सकता है।

उस वैदिक आदर्श का अनुसरण करते हुए ही जो सार्वभौम होने के कारण विरोध के कारणों को विनष्ट करता है, जो सहानुभूति द्वारा घृणा को दूर करके जीत लेता है यह संभव है कि पृथ्वी को फिर से स्वर्ग के समान सुखदायक बनाया जा सके। डॉ० कज़िन्स द्वारा वैदिक आदर्श के प्रति समर्पित यह श्रद्धांजलि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे स्वयं सपत्नीक इस वैदिक आदर्श से इतने प्रभावित हुए कि वे कुलपति जयराम नाम रखकर वैदिक आदर्शों के अनुसार अन्त तक अपने जीवन को बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। (खेद है कि फरवरी १९५६ में उनका देहावसान हो गया) यह प्रेरणा उन्हें महर्षि दयानन्द के लेखों द्वारा प्राप्त हुई, इस बात को उन्होंने महर्षि को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए इन शब्दों में स्वीकार किया था—

'I have observed during my travels in India, the effects of Swami Dayananda Saraswati's influence in earnest effors to vitalise life in India with the Vedic ideal, which for thirty years has been a fundamental influence in my own life and in that of Mrs. Cousins, and for this much needed service to India and the world, I offer our joint homage to his memory.'

(*Dayananda Commemoration Volume,* Ajmer, P. 56)

तात्पर्य यह है कि मैंने भारत में यात्रा करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती के वैदिक आदर्शों द्वारा भारतीयों में नवजीवन संचार करने विषयक सत्यनिष्ठापूर्ण प्रयत्न के प्रभाव को अनुभव किया है। यह वैदिक आदर्श ही मेरी धर्मपत्नी के जीवन में वास्तविक रूप से प्रभावजनक रहा है। इसलिए भारत और समस्त जगत् के प्रति की गई स्वामी दयानन्द की इस अत्यावश्यक सेवा के लिए मैं अपनी तथा अपनी धर्मपत्नी की ओर से संयुक्त श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

रूस के विद्वान् बौलंगर की वेद में श्रद्धा

Sacred Books of the East Series के Russian Edition के सम्पादक मि० बौलंगर (Mr. Boulanger) ने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० मैक्समूलर के वेदों के अटकलपच्चू अनुवाद (स्वयं प्रो० मैक्समूलर ने *The Vedic Hymns* में स्वीकार किया है कि—'My translation of the Vedas is conjectural' अर्थात् 'वेदों का मेरा अनुवाद अटकलपच्चू वा अनुमान पर आश्रित है' की कड़ी समालोचना करते हुए भूमिका में लिखा—

'What struck me in Maxmuller's translation was a lot of absurdities, obscene passages and a lot of what is not lucid.'

'As far as I can grasp the teaching of the Vedas, it is so sublime that I would look upon it as a crime on my part, if the Russian public becomes acquainted with it through the medium of a confused and distorted translation, thus not deriving for its soul that benefit which this teaching should give to the people.'

(Quoted here from Sadhu T.L. Vaswani's *Torch-bearer*, P. 143)

अर्थात् प्रो० मैक्समूलर के अनुवाद में जिस बात से मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ है वह यह है कि उसमें बहुत-सी बेहूदी, अश्लील और अस्पष्ट बातें हैं। जहां तक मैं वेदों की शिक्षा को समझ सकता हूं, मुझे वह इतनी अधिक उच्च मालूम होती है कि रूसी जनता को एक गड़बड़ और भद्दे अनुवाद द्वारा उससे परिचय कराने को मैं बड़ा भारी अपराध मानता हूं, क्योंकि इससे वह उस आत्मिक लाभ से वंचित रह जायेगी, जो वैदिक शिक्षा जनता को देती है।

वेद 'आत्मा के हिमालय' समान

मि० जे० मास्करो एम०ए० (J. Mascaro M.A., Reader of English, University of Barcelona) ने *Himalayas of the Soul* नामक एक संग्रहात्मक पुस्तक का सम्पादन किया है। इसकी भूमिका में उन्होंने वेद, उपनिषद् और गीता को 'आत्मा के हिमालय' के साथ उपमा देते हुए लिखा है—

'If a Bible of India were compiled, if Sanskrit could find a group of translators with the same feeling for beauty of language and the same love for the sacred texts in the original as the Bible has found in England, eternal treasures of old wisdom and poetry would enrich the times of to-day.

Among those compositions, some of them living words before writing was introduced, the Vedas, the Upanishads and the Bhagavad Gita would rise above the rest like Himalayas of the spirit of man.'

(*The Himalayas of the Soul* by J. Mascaro M.A., P. 151)

अर्थात् यदि भारत की कोई बाइबल संकलित की जाती, यदि संस्कृत भाषा के लिए ऐसे ही श्रद्धालु और योग्य अनुवादकों का वर्ग मिल जाता, जिनका ध्यान भाषा के सौन्दर्य की ओर होता और मूल के पवित्र मन्त्रों के साथ जिनका वैसा ही प्रेम होता, जैसा इङ्गलैण्ड में बाइबल को प्राप्त हो गया तो प्राचीन बुद्धिमत्ता वा ज्ञान तथा कविता के नित्यकोषों से वर्तमान युग सम्पन्न बन जाता ।

उन रचनाओं में से कई ऐसी हैं, जो जीवित-जागृत शब्द बन चुके थे पूर्व इसके कि लेख का प्रयोग प्रारम्भ होता । इन में से वेद, उपनिषदें और भगवद्गीता मानवीय आत्मा के हिमालय के समान शेष सब से ऊपर उठे हुए ग्रन्थ होंगे ।

मि० ब्राउन नामक अङ्ग्रेज लेखक की श्रद्धांजलि

मि० डब्लू०डी० ब्राउन (W.D. Brown) नामक एक अङ्ग्रेज विद्वान् ने अपने *Superiority of the Vedic Religion* (वैदिक धर्म की श्रेष्ठता) नामक ग्रंथ में वैदिक धर्म के विषय में जो लिखा है वह स्वर्णाक्षरों में उल्लेख करने योग्य है । वे लिखते हैं—

'It (Vedic Religion) recognises but One God. It is a thoroughly scientific religion where religion and science meet hand in hand. Here theology is based upon science and philosophy.' (*The Superiority of the Vedic Religion* by W.D. Brown)

अर्थात् वैदिक धर्म केवल एक ईश्वर का प्रतिपादन करता है । यह एक पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है, जहां धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिलाकर चलते हैं । धार्मिक सिद्धान्त यहां विज्ञान और तत्त्वज्ञान वा फिलॉसफी पर आश्रित हैं ।

वैदिक धर्म की अन्य मतमतान्तरों से विशेषता इन थोड़े-से शब्दों में बड़ी उत्तमता से बता दी गई है ।

शोपनहार के वेदमूलक उपनिषद्-विषयक वचन

जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहार ने ईशोपनिषत् के विषय में (जो यजुर्वेद काण्व शाखा का अन्तिम अध्याय है) निम्न उद्गार प्रकट किये थे । शोपनहार जैसे निराशावादी दार्शनिक की लेखनी से निकले हुए ये शब्द वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे । उसने लिखा—

'In the whole world, there is no study so beneficial and elevating as the Upanishad. It has been the solace of my life. It will be the solace at my death.'

अर्थात् सारे संसार में कोई इतना लाभदायक और ऊंचा उठानेवाला ग्रन्थ नहीं है, जितनी उपनिषत् । यह मेरे जीवन में शान्तिदायक ग्रन्थ रहा है और मृत्यु के समय भी यही मुझे शान्ति देनेवाला होगा ।

रागोज़िन नामक विद्वान् का वैदिक कर्तव्यशास्त्र पर मत

रागोजिन नामक विद्वान् ने Vedic India के नाम से एक ग्रन्थ लिखा है । यद्यपि उसमें यज्ञादि-विषयक कई अशुद्ध विचार प्रकट किये गये हैं, जिनका हम प्रकरणानुसार उल्लेख करेंगे, तथापि सम्पूर्णतया वैदिक शिक्षाओं की उच्चता को उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है—

'Vedic hymns greatly confirm us in the impression that the Aryan Moral code, as mirrored in the Rigveda, bore on the whole, a singularly pure and elevated character.

So nothing can be more nobly beautiful in feeling and wording than the following on almsgiving or rather on the duty of giving, or helping generally.'

(*Vedic India* by Ragozin, P. 374)

अर्थात् वैदिक सूक्त हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन करते हैं कि वैदिक आचारशास्त्र सम्पूर्णतया अत्यधिक पवित्र और उत्कृष्ट था। उदाहरणार्थ दान अथवा दूसरों को सहायता देने के विषय में (जो ऋग्वेद १०.११७ में वर्णित है) भावना और भाषा की दृष्टि से कोई शिक्षा, इससे अधिक सुन्दर नहीं हो सकती।

यहां प्रसङ्गवश एक बात का निर्देश कर देना अनुचित न होगा। जहां ऋ० १०.११७ के विषय में मि० रागोज़िन ने बड़े उत्तम विचार प्रकट किये हैं वहां 'वैदिक एज' के लेखक ने इस पर निम्नलिखित टिप्पणी देकर इसके गौरव को कम करने का निन्दनीय प्रयत्न किया है, जिससे उनकी दूषित मनोवृत्ति ही प्रकट होती है—

'The hymn (Rig. 10. 117) is packed with noble sentiments, and its every word is charged with vigour, yet it should not be forgotten that the hectoring eloquence of this energetic priest was probably directed mainly to the purpose of frightening the wealthy into ceding a part of their wealth to the Brahmans especially, and not to the poor of every class, for of genuine sympathy for the poor, there is not much in the Rigveda.'

(*Vedic Age*, P. 342)

अर्थात् इस सूक्त के अन्दर उत्तम भावनाएं भरी हुई हैं और इसका प्रत्येक शब्द बड़ा ओजस्वी है। किन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि इस शक्तिशाली पुरोहित की मार्मिक वक्तृत्व-शक्ति का उद्देश्य संभवतः मुख्यतया धनियों को डरा-धमकाकर उनके एक भाग को विशेषतः ब्राह्मणों के लिए प्राप्त करना था, न कि प्रत्येक वर्ग के निर्धनों के लिए, क्योंकि निर्धनों के प्रति वास्तविक सहानुभूति का भाव ऋग्वेद में बहुत नहीं पाया जाता।

इस टिप्पणी में वे रागोज़िन जैसे विदेशी ईसाई लेखक से भी कई कदम आगे बढ़ गये हैं और ऐसी कल्पनाएं कर बैठे हैं, जिनके लिए इस तथा अन्य दान-सूक्तों में कोई आधार नहीं। सारे सूक्त में ब्राह्मण तथा वर्गविशेष का सूचक कहीं कोई शब्द नहीं। आध्राय, चकमानाय, रफिताय, उपजग्मुषे, अन्नकामाय, चरते कृशाय इत्यादि जो विशेषण आए हैं वे सभी दीनों, दुर्बलों और अन्न की आवश्यकता और इच्छा रखनेवालों पर लगते हैं, न कि ब्राह्मण अथवा अन्य किसी विशेष वर्ग पर। ऐसी अवस्था में 'वैदिक एज' के लेखकों का असंगत निराधार कल्पना करके दानादि-विषयक उच्च वैदिक शिक्षा के महत्त्व को कम करने का प्रयत्न जिस विचित्र मनोवृत्ति का सूचक है उस पर कुछ अधिक न लिखना ही उचित प्रतीत होता है। लेखकों ने probably वा संभवतः शब्द का प्रयोग अवश्य कर दिया है ताकि किसी को उन पर आक्षेप करने का सीधा अवसर प्राप्त न हो, किन्तु इस probably वा संभवतः से तो उनकी सारी पुस्तक ही भरी हुई है जैसे अन्य एक अध्याय में हम उनकी probably का संग्रह करके दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि इस पुस्तक को ही A Book of Probabilities अर्थात् सम्भावनाओं की पुस्तक कहना अनुचित न होगा। दुःख की बात है कि जब उन्हें किसी भी बात का कोई निश्चय नहीं प्रतीत होता और 'संभव है ऐसा हो या न हो' ऐसा सन्देह उन्हें प्रायः विषय में स्वयं बना हुआ है तो व्यर्थ में विद्यार्थियों और अन्य पाठकों को ऐसी पुस्तक लिखकर भ्रम तथा संशय में डालने की क्या आवश्यकता थी? इससे तो अच्छा था कि अभी कई वर्षों तक वे विवादास्पद विषयों का गम्भीर और निष्पक्ष अनुशीलन करते और तब निश्चित परिणाम विचारशील विद्वानों और विद्यार्थियों के सम्मुख रखने का साहस करते। अस्तु, इस बात को अभी हम यहीं छोड़ते हैं।

फ्रांसदेशीय श्री जैकोलियट् का महत्त्वपूर्ण वचन

श्री जैकोलियट् फ्रांस के एक बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं, जो चन्द्रनगर में कई वर्ष चीफ जस्टिस रहे थे और विविध मत-मतान्तरों के ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए उन्होंने एक अन्य ग्रन्थ लिखा था, जिसका अङ्ग्रेजी अनुवाद The Bible in India नाम से प्रकाशित हुआ । इस पुस्तक में ईश्वरीय ज्ञान माने जाने वाले विविध मत-मतान्तरों के ग्रन्थों की सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में वेदों के साथ तुलना करते हुए जैकोलियट् महोदय ने बड़े आश्चर्य के साथ लिखा—

'Astonishing fact! The Hindu Revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with Modern Science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world.'

(*The Bible in India* by Jacolliot, Vol. II, Chapter 1) [१]

अर्थात् कितनी आश्चर्यजनक सचाई है ! हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान (वेद) ही, जो लोकों की मन्द और क्रमिक रचना बताता है, सब ईश्वरीय ज्ञानों में एक ऐसा है, जिसकी कल्पनाएं आधुनिक विज्ञान के साथ पूर्ण रूप से मिलती हैं ।

श्री जैकोलियट् ने यहां जो बात कही है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । हम उसकी यथार्थता पर तुलनात्मक दृष्टि से कुछ विवेचन करेंगे, किन्तु ऐसा करने से पूर्व इसी प्रकार अमेरिकन विदुषी महिला मिसेज़ व्हीलर विल्लॉक्स (Mrs. Wheeler Willox) के वेद में विज्ञान-विषयक वाक्यों को उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है । उस विदुषी देवी ने लिखा—

'We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas—the most remarkable works containing not only religious ideas for a perfect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships all seem to be known to the seers who found the Vedas.'

अर्थात् हमने प्राचीन भारत के धर्म के विषय में सुना और पढ़ा है । यह उन महान् वेदों की भूमि है जो अत्यन्त अद्भुत ग्रन्थ हैं, जिनमें न केवल पूर्ण जीवन के लिए उपयोगी धार्मिक तत्त्व बताये गये हैं बल्कि उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें समस्त विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है । बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रॉन्स, विमान आदि चीजें वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होती हैं ।

श्री जैकोलियट् ने The Bible in India में जो यह बात लिखी है कि ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले ग्रन्थों में केवल हिन्दुओं का धर्मग्रन्थ (वेद) ही है जिसके विचार वर्तमान विज्ञान से मेल खाते हैं—वस्तुतः सत्य है । प्रधानतया सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में मत-मतान्तरों के ग्रन्थों का विचार करते हुए श्री जैकोलियट् ने बड़े आश्चर्य के साथ इस बात को लिखा । बाइबल की Genesis नामक पुस्तक में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है, जो विज्ञान और तत्त्वज्ञान के विरुद्ध है । इस बात को निष्पक्ष भाव से विचार करनेवाले प्रायः सभी विचारकों ने स्वीकार किया है । Genesis के प्रथम अध्याय के अनुसार ईश्वर ने कहा कि प्रकाश हो जाये और प्रकाश हो गया—

'God said, let there be light and there was light.' (*Genesis,* 1.3)

---

1. The Bible in India का हिन्दी अनुवाद 'भारत में बाइबल' श्री सन्तराम कृत द्वितीय भाग, अ० १, पृ० २४६

इस अध्याय के अनुसार ६ दिन में परमेश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की और अ० २ के अनुसार अपने ७वें दिन आराम किया। बाइबल में लिखा है—

And on the seventh day God ended his work which he had made, and he rested on the seventh day from all his work which he had made. (Genesis, 2.2)

अर्थात् ७वें दिन परमेश्वर ने अपने काम को समाप्त किया और फिर उस दिन सारे काम से आराम लिया

उसके पश्चात् भी सृष्टिकर्ता ईश्वर के विषय में जो वर्णन है वह सब एक मनुष्य के समान है, जिसे अङ्ग्रेजी में Anthropomorphic Conception of God कहते हैं। Genesis के तृतीय अध्याय में लिखा है—

'Adam and Eva heard the voice of the Lord God walking in the garden in the cool of the day and they hid themselves from the presence of the Lord God amongst the trees of the garden.' (*Genesis*, 3.8)

अर्थात् आदम और हव्वा ने दिन के समय बाग में घूमते हुए ईश्वर की आवाज को सुना और उन्होंने अपने को उस (ईश्वर) की उपस्थिति से स्वयं को बाग के वृक्षों के पीछे छिपा लिया।

Genesis के षष्ठ अध्याय में परमेश्वर के मनुष्य-सृष्टि पर पश्चाताप का वर्णन है—

'And it repented the Lord that he had made man on the earth and it grieved him at his heart. And the Lord said, I will destroy man whom I have created from the face of the earth for it repented me that I have made him.' (*Genesis*, 6.6-7)

Genesis के अध्याय ११ में परमेश्वर के विषय में निम्न वर्णन है—

Lord came down to see the city and the tower, and the Lord said 'Behold, the people is one and they have all one language and this they have begun to do and now, nothing will be restrained from them, which they have imagined to do.

Go to, let us go down and there confound their language that they may not understand one another's speech.

So the Lord scattered them abroad and they left off to build the city.

(*Genesis*, Chapter I, 1. 5. 8)

अर्थात् ईश्वर उस शहर और गोपुर को देखने के लिए आया (जिसे लोग मिलकर उस तक पहुंचने के लिए बना रहे थे) और तब ईश्वर ने कहा कि देखो, सब लोग अब एक भाव से मिले हुए हैं और उनकी एक भाषा है। अब उन्होंने इस गोपुर को बनाना शुरू किया है और उन्हें इससे कोई रोक नहीं सकता। चलो हम चलें और उनकी भाषा में गड़बड़ डाल दें, जिससे वे एक-दूसरे की भाषा को न समझ सकें। तब उसने ऐसा ही किया और उनको तितर-बितर किया जिससे उन्होंने उस शहर और गोपुर को बनाना छोड़ दिया।

इसी प्रकार ईश्वर के जैकब के साथ कुश्ती लड़ने, अब्राहम के घर बछड़े का मांस खाने आदि के वर्णन बाइबल में आये हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहां उद्धृत करना अनावश्यक प्रतीत होता है।

इस ईश्वर की मनुष्यवत् कल्पना वा Anthropomorphism से वैज्ञानिक तथा विचारशील विद्वान् कभी सहमत नहीं हो सकते। तभी C.S. Middleman, F.R.S.I.E. ने इसके विषय में लिखा है कि—

'Such anthropomorphism is childish.'

अर्थात् इस प्रकार की ईश्वर की मनुष्यवत् कल्पना बच्चों-जैसी मूर्खतापूर्ण है।

इस प्रश्न के उत्तर में कि—

'Do you think that science negatives the idea of a Personal God?'*

Prof. J.B. Kohn, F.R.S., D.Sc. LL.D., F.C.S. नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने लिखा कि—

'I think it does, assuming the Personal God to have human attributes.'

अर्थात् मैं समझता हूं कि ईश्वर-विषयक यह विचार कि वह मानवीय आकृति तथा गुणों से युक्त है, वैज्ञानिक विचार के विरुद्ध है।

यही बात Prof. C.C. Far, F.R.S., D.Sc., Professor of Physics, Canterbury College, University of New Zealand ने इन शब्दों में उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखी—

'The Idea of a Personal God as taught by Jesus Christ would seem to be very different from the conception of scientific men. I see no realisation of the stupendous magnificence which must be ascribed to the power behind the universe in Jesus's teaching and the teaching of the chruch to-day.'

(*The Religion of Scientists,* edited by Drawbridge M.A., P. 84)

अर्थात् ईसा मसीह ने जो ईश्वर का स्वरूप बताया वह वैज्ञानिकों के विचार से बहुत भिन्न प्रतीत होता है। ईसा मसीह तथा आजकल के गिरजाघरों की शिक्षाओं में मुझे जगत् की संचालिका उच्च शक्ति के अद्भुत महत्त्व की साक्षिता नहीं मिलती, इत्यादि।

सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों और अन्य विचारशील सज्जनों को जिस बात पर सबसे अधिक आपत्ति है वह यह है कि बाइबल के अनुसार अभाव या असत् से भाव हो गया। वैदिक धर्म के अनुसार सृष्टि अभाव से नहीं होती अपितु उसका उपादान कारण (Material cause) नित्य प्रकृति (Matter) है। परमेश्वर कुम्हार, लोहार, या सुनार आदि की तरह निमित्त कारण (Efficient cause) है। इस पर विज्ञान (Science) या तत्त्वज्ञान (Philosophy) की दृष्टि से वस्तुतः कोई आपत्ति नहीं हो सकती। एक अन्य अत्यधिक आपत्तिजनक बात इस प्रकरण में यह है कि केवल ६ दिनों में सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है और प्रथम दिन ही, दिन और रात का विभाग बताया गया है जैसे कि Genesis के प्रथम अध्याय में स्पष्ट लिखा है।

14. God saw the light, that it was good and God divided the light from the darkness.
15. And called the light day and darkness He called the night. And the evening and the morning were the first day.

*See 'Religion of Scientists' edited by Drawbridge M.A. Published by Christian Evidence Society, London.

जब कि सूर्य और चन्द्र की ईश्वर द्वारा उत्पत्ति चतुर्थ दिन बताई गई है, जैसा कि Genesis के इसी प्रथम अध्याय में लिखा है—

16. And God made two great lights, the greater light to rule the day and the lesser light to rule the night, He made the stars also.
17. And God set them in the firmament of the heaven to give light upon the earth.
18. And to rule over the day and over the night and to divide the light from the darkness, and God saw that it was good.
19. And the evening and the morning were the fourth day.

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि प्रकाश और अन्धकार अथवा दिन और रात का विभाग पहले हो और सूर्य और चन्द्र का पीछे, यह बात सामान्य बुद्धि के ही विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त बाइबल पृथिवी का चपटा होना (न कि गोल), कुमारी मरियम से ईसा मसीह की उत्पत्ति, ईसा का पानी को शराब के रूप में परिणत कर देना, चार रोटियों से ४ हजार का पेट भर देना, ईसा मसीह का लैजरस को कब्र में ४ दिन पड़े रहने के पश्चात् उठा देना, तीसरे दिन ईसा का कब्र में से उठ पड़ना (Resurrection) इत्यादि अनेक बुद्धि तथा सृष्टिनियम-विरुद्ध बातों से भरी हुई है। गैलीलियो नामक स्पेन के वैज्ञानिक को इस बात का प्रचार करने पर कि पृथिवी गोल है और यह सूर्य के चारों ओर घूमती है, Inquisition Court के सामने लाया गया, जिसने यह निर्णय दिया कि—

The first proposition that the sun is the centre and does not revolve about the earth is foolish, absurd, false in theology and heretical because expressly contrary to the Holy Scriptures.

And the second proposition that the earth is not the centre but revolves about the sun is absurd, false in Philosophy and from a theological point of view at least opposed to the true faith.

अर्थात् यह कथन कि सूर्य केन्द्र है और वह पृथिवी के चारों ओर नहीं घूमता मूर्खतापूर्ण, धार्मिक सिद्धान्त-विद्या की दृष्टि से असत्य, असङ्गत और धर्मविरुद्ध है, क्योंकि यह स्पष्टतया हमारे धर्म-ग्रंथों के विरुद्ध है।

दूसरा विचार कि पृथिवी केन्द्र नहीं, प्रत्युत सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है असङ्गत, फिलॉसफी के दृष्टिकोण से असत्य और कम से कम धार्मिक सिद्धान्त की दृष्टि में सच्चे धर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

इसीलिए वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी को गोल बतानेवाले गैलीलियो पर बड़े-बड़े अत्याचार किये गये। उसे १० वर्ष की कठोर सजा दी गई, जिसके परिणामस्वरूप जेल में ही उसकी मृत्यु हो गई। ब्रूनो नामक एक दूसरे वैज्ञानिक के विरुद्ध भी इसी तरह की कार्रवाई की गई, क्योंकि वह पृथिवी को गोल बताता और यह सिद्ध करता था कि अनेक लोक-लोकान्तर हैं। उसे १६ फरवरी सन् १६०० को जीवित अवस्था में ही तेल छिड़ककर जला दिया गया, जिस पर उसने मुस्कराते हुए कहा कि—

'It is with greater fear that you pass sentence upon me rather than I receive it.[1]

1. See History of the conflict between Religion and Science, P. 160, by William Draper M.A., LL.D.

अर्थात् मुझे यह मृत्युदण्ड देते हुए मेरी अपेक्षा तुम्हें ही अधिक भय होगा (कि तुम एक निरपराध को ऐसा कठोर दण्ड दे रहे हो, जिस पर भावी सन्तति के विचारक तुम्हें क्या कहेंगे)। ऐसे अन्य वैज्ञानिकों और हिपेशिया, नेस्टर, ऐरियस इत्यादि दार्शनिकों पर जो अत्याचार ईसाइयत के सिद्धान्तों से थोड़ा मतभेद प्रकट करने पर किये गये, उनका वर्णन पाठक History of the conflict between Religion and Science नामक पुस्तक में पढ़ सकते हैं। ईसाइयत के विज्ञान से विरोध के मुख्य-मुख्य विषयों पर बर्मिङ्घम के बिशप डॉ० बार्नेस (Dr. Barnes, Bishop of Birmingham) ने 'Religion of Science' पर जो एक Broadcast address दिया और जो 'The Religion and Science, A symposium के पृष्ठ ५७ पर छपा है उसे उद्धृत करके हम आगे चलेंगे। यह उद्धरण कितना महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक है इसे पाठक स्वयं जान सकते हैं। बिशप महोदय ने कहा—

'Now before I speak of such possibility of conflict, I wish to make it quite clear that many beliefs associated with religious faith in the past must be abandoned. They have had to meet the direct challenge of Science and I believe it is true to say that in every such direct battle since the Renaissance, science has been the victor. Let me give definite instances.

1. First, the earth is not the fixed centre of the universe, it is merely the moving satellite of a sun which resembles innumerable other suns.
2. Secondly, man was not specially created.
3. Thirdly, no priest by ritual or formula can attain spiritual properties to inanimate matter.
4. Fourthly, if by miracles, we mean large-scale breaches in the uniformity of nature, such miracles do not occur in human experience. Here are four typical results of scientific investigation which at length all must accept.'

(*The Religion and Science, A Symposium,* London, P. 57)

अर्थात् पूर्व इसके कि मैं धर्म और विज्ञान में संघर्ष की संभावना के विषय में कुछ कहूं, मैं इस बात को सर्वथा स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि भूतकाल में धार्मिक विश्वास से सम्बद्ध कई मन्तव्यों को अवश्य छोड़ देना चाहिए। विज्ञान ने उन्हें खुली चुनौती दी है और मेरा विश्वास है कि यह कहना सत्य है कि ऐसे प्रत्येक सीधे युद्ध में विज्ञान ही विजयी हुआ है। इसके मैं चार उदाहरण प्रस्तुत करता हूं—

१. पृथिवी संसार का ध्रुव केन्द्र नहीं। यह तो अनेक सूर्यों में से एक सूर्य के चारों ओर गति करती है।

२. मनुष्य की ही विशेष रूप से रचना की गई, यह कथन भी यथार्थ नहीं।

३. कोई पुरोहित किसी विधि, क्रियाकलाप अथवा सूत्र द्वारा जड़ प्रकृति में आध्यात्मिक गुणों का प्रवेश नहीं करा सकता।

४. यदि चमत्कारों का यह तात्पर्य है कि प्रकृति की एकरूपता में बड़ी मात्रा में अन्तर पड़ जाता है अथवा प्राकृतिक नियमों का उल्लङ्घन हो जाता है तो ऐसे चमत्कार अनुभव में होते नहीं। वैज्ञानिक अनुसन्धान के ये चार स्पष्ट परिणाम हैं, जिन्हें अन्त में प्रत्येक को अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इनके प्रकाश में ईसाई मत के अनेक मन्तव्यों और बाइबल में वर्णित चमत्कारों में विश्वास का, जिनको सेंट पाल के आर्कबिशप डॉ० मैन्सल और डॉ० मैज़ले आदि निम्न शब्दों द्वारा अनिवार्य बताते रहे हैं—परित्याग करना होगा।

डॉ० मैन्सल (Dr. Mansel) ने चमत्कारों के ईसाइयत के साथ सम्बन्ध के विषय में लिखा था कि—

'If miracles are denied, all Christianity, so far as it has any title to that name, so far as it has any special relation to Christ, is overthrown.' (*Aids to Faith* , P. 3)

अर्थात् यदि चमत्कारों से इन्कार किया जाये तो सारी ईसाइयत—जहां तक उसका ईसा मसीह से विशेष सम्बन्ध है—समाप्त हो जाती है, उसका परित्याग करना पड़ता है।

डॉ० मैज़ले (Dr. Mazley) ने इस सम्बन्ध में यों लिखा था—

'Miracles and the supernatural contents of Christianity must stand and fall together......Christianity cannot be maintained as a revelation undiscoverable by reason, a revelation of a supernatural scheme for man's salvation without the evidence of miracles.' (*Bampton Lectures,* P. 180)

अर्थात् चमत्कार और ईसाइयत के अभौतिक विश्वास—ये दोनों साथ ही रह सकते अथवा गिर सकते हैं। ईसाइयत को एक बुद्धि द्वारा अगम्य ईश्वरीय ज्ञान के रूप में अथवा मनुष्य की मुक्ति के लिए एक अभौतिक ईश्वरीय ज्ञान के रूप में चमत्कारों की साक्षिता के बिना नहीं माना जा सकता।

वेदों में प्रकृति-नियम अथवा विज्ञान-विरुद्ध बातों का उल्लेख नहीं, बल्कि परमेश्वर को सैकड़ों स्थान पर 'सत्यधर्मा' के नाम से स्मरण किया गया है जिसका अर्थ ही यह है कि उसके धर्म वा नियम सत्य और अटल हैं।

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥ ऋग्० १. १२. ७.॥

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या, यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान॥ ऋग्० १०. १२१. १०॥

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि॥ ऋग्० १. २४. १०॥

अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम् अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि॥ यजुः० ४. २०॥

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है कि उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् की स्मृति करो, जिसने अपनी अनन्त शक्ति से लोक-लोकान्तरों का निर्माण प्रकृति से किया है और जिसके व्रत अथवा नियम अटल हैं। इन्हीं नियमों को वेदों में ऋत के नाम से पुकारा गया है, जिसका अर्थ Eternal laws है। न केवल यह कि विज्ञान से वैदिक धर्म का विरोध नहीं, जैसा अनेक निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वानों के लेखों को उद्धृत करके संक्षेप में दिखाया गया है बल्कि धर्म की तरह विज्ञान का भी मूल वेद है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है, जिसमें मनुष्यमात्र के सर्वविध कल्याणार्थ आवश्यक भौतिक और आध्यात्मिक सब प्रकार के ज्ञान का समावेश है। विमान-विद्या, ज्योतिष, कलाशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, विद्युत्शास्त्र इत्यादि सब विद्याओं के मूल तत्त्व वेदों में विद्यमान हैं। इस बात को सैकड़ों उदाहरण देकर सिद्ध किया जा सकता है।

वेदों में विविध विद्याओं का मूल निर्देश

विमान-विद्या—

वेदों के महत्त्व की दृष्टि से आवश्यक होने के कारण इस विषय पर संक्षेप से कुछ प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है। सबसे पहले हम विमान-विद्या को लेते हैं। विमान-विद्या पर जो प्राचीन ग्रन्थ अंशतः उपलब्ध हुए हैं उनमें महर्षि भरद्वाज कृत 'यन्त्रसर्वस्व' नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके वैमानिक प्रकरण के कुछ भाग बोधानन्दवृत्ति सहित प्राप्त हुए हैं, जिनमें से श्लोक १०-१३ में स्पष्ट कहा है कि—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं, भरद्वाजो महामुनिः। नवनीतं समुद्धृत्य, यंत्रसर्वस्वरूपकम्।।१०
प्रायच्छत् सर्वलोकानाम्, ईप्सितार्थफलप्रदम्। तस्मिन् चत्वारिंशतिकाधिकारे सम्प्रदर्शितम्॥ ११
नानाविमानवैचित्र्यरचनाक्रमबोधकम्। अष्टाध्यायैर्विभाजितं, शताधिकरणैर्युतम्॥ १२
सूत्रैः पञ्चशतैर्युक्तं, व्योमयानप्रधानकम्। वैमानिकाधिकरणम्, उक्तं भगवता स्फुटम्॥ १३

अर्थात् महर्षि भरद्वाज ने वेदरूप समुद्र का निर्मन्थन करके सब मनुष्यों के अभीष्टफलदायक 'यंत्र सर्वस्व' ग्रन्थरूप मक्खन को निकालकर दिया। ४० अधिकारों से युक्त उस 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न विमानों की विचित्रता और रचनाक्रम का बोधक आठ अध्यायों से विभाजित १०० अधिकरणों वाला ५०० सूत्रों से युक्त आकाशयान विमान-प्रधान रूप से जिसमें वर्णित है ऐसा वैमानिक अधिकरण भरद्वाज ऋषि ने सम्प्रदर्शित किया एवं स्पष्ट कहा है।

वेद में मनुष्य के लिए आदेश है कि—

समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा॥ यजुः० ६. २१

अर्थात् तू यानों द्वारा सुखपूर्वक समुद्र की यात्रा कर और अन्तरिक्ष की यात्रा कर। अन्तरिक्ष की यात्रा के लिए मन के समान वेगवान् विमान-रथ का स्पष्ट वर्णन अनेक मन्त्रों में आया है, उदाहरणार्थ ऋग्० १. ११९. १ में स्पष्ट कहा है—

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे। सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभिप्रयः॥

यहां रथ के विशेषणों में पुरुमायम्, मनोजुवम्, श्रुष्टीवानम्, वरिबोधाम् ये विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, जिनका तात्पर्य पुरुमायम्—बहुत बुद्धि से सम्पादित, मायेति प्रज्ञानाम निघं० ३. ९ पुर्व्या—मायया प्रज्ञया सम्पादितम् मनोजुवम् मनोवद् वेगवन्तम्—मन की तरह वेगवाले श्रुष्टीवानम् श्रुष्टीः क्षिप्रगतीर्वनति भाजयति यस्तम् श्रुष्टीतिक्षिप्रनाम, शीघ्रगति करानेवाले वरिवोधाम् सुख-सेवन करानेवाले—ये विशेषण साधारण यान पर चरितार्थ नहीं होते, किन्तु विमानादि पर ही अच्छी तरह लग सकते हैं। इसलिए ऋषि दयानन्द जी ने वहां रथ का अर्थ विमानादियानम् किया है जो विशेषण और प्रकरणादि के अनुसार सर्वथा उचित ही है। ऋग्० ३. ५८. ८ के—

रथो हव्यमृतजा अद्रिजूतः परिद्यावा पृथिवी याति सद्य॥

इस मन्त्र में जिस शिल्प-सम्पादित रथ का वर्णन है उसके विषय में कहा गया है कि वह बहुत शीघ्र आकाश और पृथिवी की यात्रा करता है। उससे अश्विनी अर्थात् सभाधीश, राष्ट्रपति और सेनापति यात्रा करते हैं। इसके भावार्थ में ऋषि दयानन्द ने ठीक ही लिखा है—

ये विमानादि यानान्यन्यादिभिर्निर्मिमते तेऽभीष्टानि सुखानि प्राप्य यत्रेच्छा तत्र सद्यो गन्तुं शक्नुवन्ति।

अर्थात् जो अग्नि, विद्युत् आदि के उचित प्रयोग से विमानादि यानों का निर्माण करते हैं वे अभीष्ट सुखों को प्राप्त करके जहां चाहे वहां शीघ्र पहुंच जाते हैं। ऐस ही ऋग्० २. ४०. ३ में नामनिर्देशपूर्वक विमान का वर्णन है—

सोमा पूषणौ रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वपिन्वम् ।
विषूवृतं मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पञ्चरश्मिम् ॥

इसमें भी विमान का स्पष्ट वर्णन मनसा युज्यमानम्, सप्तचक्रम्, विषूवृतम् इत्यादि विशेषणों द्वारा किया गया है, जिनका अर्थ क्रमशः मनसा अन्तःकरणेन विचारेण-मन अथवा मनन-विचारपूर्वक निर्मित सप्तचक्रयुक्त दूर-दूर तक व्यापक गमनवाले इस प्रकार का है, विमान शब्द का अर्थ 'वियति गमकम्' आकाश में ले-जानेवाला है अतः ऋषि दयानन्द ने मन्त्र का भावार्थ ठीक ही दिया है कि—

मनुष्यैरन्तरिक्षे गमयितारं सप्तकला यन्त्रभ्रामणनिमित्तं सद्योगमयितारं रथं कृत्वा सुखमाप्तव्यम् ॥

अर्थात् मनुष्यों को अन्तरिक्ष में ले-जानेवाले सात कलायन्त्रों को घुमानेवाले, शीघ्र जानेवाले रथ को बनाकर सुख प्राप्त करना चाहिए।

ऐसा ही वर्णन अन्य मन्त्रों में है, जिनसे विमान-विद्या का मूल वेदों में होना असन्दिग्धतया सिद्ध होता है। महर्षि भरद्वाज ने 'यन्त्रसर्वस्व' का वैमानिक प्रकरण और महाराज भोज ने 'समराङ्गण सूत्रधार' इन्हीं वेदमन्त्रों के आधार पर लिखा, जिनमें से बहुतों का अर्थसहित उल्लेख ऋषि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के 'नौ विमानादि विद्या विषयः' में किया है, जिसे जिज्ञासुओं को अवश्य देखना चाहिए। यहां यह बात भी स्मरणीय है कि यूरोप में विमानों के आविष्कार से बहुत वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' तथा वेदभाष्य में विमानादि का वेदों के आधार पर वर्णन किया था। अथर्ववेद ३. १५. २ के—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥

इस मन्त्र में आकाश और पृथिवी के मध्य देवों अर्थात् विद्वानों के जाने योग्य जिन मार्गों का निर्देश है और जिनके विषय में वैश्य के मुख से यहां कहा गया है कि उन पृथिवी और आकाश में मध्यवर्ती मार्गों द्वारा यात्रा करके मैं खूब धन प्राप्त करूं, वह विमान द्वारा आकाशयात्रा-निर्देशपरक है, इसमें सन्देह का अणुमात्र भी कारण नहीं।

अनेक प्रकार के अनश्व, विद्युत् आदि से चलनेवाले रथों का भी वेदों में स्पष्ट निर्देश है, यथा—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ॥

इस रथ में जिसका ऋभुओं अर्थात् वैज्ञानिक शिल्पियों द्वारा निर्माण किया गया है (तक्षन्ना सत्याभ्यां सुखं रथम् ऋग्० १. २०. ३) न घोड़े हैं (अनश्वः) न रश्मियां वा लगामें (अनभीशुः) किन्तु यह जल, स्थल, आकाश तीनों में घूमनेवाला है और क्षेत्र परिवर्तन कर सकता है—जब चाहे जल में, जब चाहे स्थल में, जब चाहे आकाश में चले। ऐसे अद्भुत यान का अभी तक भी आविष्कार नहीं हुआ, जहां तक हमें ज्ञात है।[१]

ऋग्० ३.५४.१३ में मरुतों का विशेषण 'विद्युद्रथाः' यह दिया है, जिसका अर्थ 'बिजली से चालित रथोंवाले सैनिकादि यान' है।

ऋग्० १.८८.१ में 'आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः' में बिजली से चलनेवाले रथों का स्पष्ट वर्णन है।

---

१. ज़ैप्पलिन (जल एवं अंतरिक्षचारी) आदि यान-रचना हो चुकी है।

समुद्री जहाज का वेद में स्पष्ट निर्देश—

विमान वा हवाई जहाज के समान वेदों में समुद्री जहाज का भी स्पष्ट निर्देश अनेक स्थानों पर है । उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों का उल्लेख पर्याप्त है—

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥

—ऋग्० १ ।११६ ।५

इस मन्त्र में अगाध समुद्र में सैकड़ों अरित्रों वा चप्पूवाली नौका अर्थात् जहाज के चलाने का निर्देश अत्यधिक स्पष्ट है । सैकड़ों चप्पूवाली नौ, छोटी नौका नहीं हो सकती और न छोटी नौकाएं बड़े समुद्रों में चल सकती हैं, अतः जहाज का अर्थ लेना ही सर्वथा उचित है । **वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः ॥** ऋग्० १.२५.७ ॥

इस मन्त्र में भी पक्षियों की तरह आकाश में उड़नेवाले विमानों और समुद्र में चलनेवाली नौकाओं की गति को जाननेवाला भगवान् और श्रेष्ठ विद्वानों को कहा गया है ।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ —ऋग्० १०.६३.१०

इस मन्त्र में अच्छे अरित्रों वा चप्पुओंवाली दैवी नौ अर्थात् बिजली से चलनेवाली नौ अथवा जहाज पर कल्याण के लिए चढ़ने का उपदेश है जो (पृथिवीम्) बहुत विशाल हो, जो छिद्ररहित, उत्तम सुख देनेवाला, अखण्डित और अच्छी प्रकार से बनाया हुआ हो ।

पनडुब्बियों का स्पष्ट निर्देश—

ऋग्० ६. ५८. ३ के निम्न मन्त्र में हवाई जहाजों और पनडुब्बियों (Submarines) का कितना स्पष्ट निर्देश है इसे पाठक देखें—**यास्ते पूषन् नावः अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति । ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः ॥**

हे पूषन् ! जो तेरी लोहादि की बनी नौकाएं समुद्र के भीतर अर्थात् समुद्रतल के नीचे और अन्तरिक्ष में चलती हैं मानो तू उनके द्वारा इच्छापूर्वक अर्जित यज्ञ को चाहता हुआ सूर्य के दूतत्व को प्राप्त कर रहा है ।

यहां नौका का विशेषण 'हिरण्ययीः' यह दिया है । हिरण्य का अर्थ जहां सुवर्ण है वहां वेद में लोहे और धातु मात्र के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है । इस मन्त्र में नौकाओं के विचरने के लिए 'समुद्रे' न कहकर 'अन्तः समुद्रे' रखना विशेष अर्थ को सूचित करता है । अन्तः समुद्रे का अर्थ केवल 'समुद्र में' न होकर 'समुद्र के भीतर' होता है । इससे वायुयानों के साथ पनडुब्बियों का भी निर्देश सर्वथा स्पष्ट है—

समुद्र की लहरों पर कार चलाना—

परि प्रासिण्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः । कारं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् । —ऋग्० ९. १४. १

समुद्र की लहरों पर रहनेवाले क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, शिल्पी अत्यन्त स्पृहणीय कार को समुद्र की लहरों पर धारण करता हुआ सब ओर चलाता है । अंग्रेजी का कार (Car) यह शब्द वैदिक है ।

वेदों में ज्योतिष शास्त्र का मूल—

वेदों में सब विद्याओं का मूल होने के कारण ज्योतिष का भी मूल है। इसके लिए अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ज्योतिष एक वेदाङ्ग है इसे सब एकस्वर से स्वीकार करते हैं। 'सूर्य सिद्धान्त' १.३ में लिखा है कि—

वेदाङ्गमग्र्यमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम्।

यहां ज्योतिष को एक श्रेष्ठ वेदाङ्ग बताया गया है, जिसके द्वारा नक्षत्रों और सूर्यादि की गति का ज्ञान होता है। अथर्व० १९.७ के मन्त्र-संख्या २ से ५ में २८ नक्षत्रों के नाम ज्ञात होते हैं—

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा। पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे। पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा त स्वाति सुखो मे अस्तु। राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्। अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आवहन्तु। अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव, श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्। आ मे महच्छतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म। आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु॥

इन २८ नक्षत्रों का स्वरूप बताते हुए वेद में कहा गया है कि—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि॥

—अथर्व० १९.७.१॥

अर्थात् द्युलोक में चमकनेवाले चित्र-विचित्र एवं भांति-भांति के नक्षत्र परिधिमण्डल में एक साथ सर्पणशील हैं। परस्पर आकर्षण-बल से वे युक्त रहते हैं।

ऋग्० १.१६४.४८ में राशियों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चंद्रमा गन्धर्वः। (यजुः १८.४०) तथा **अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे**। (ऋग्० १.८४.१५) इत्यादि मन्त्रों में चन्द्रमा के सूर्य की रश्मि से प्रकाशित होने का प्रतिपादन है।

'या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतम्' ऋग्० १०.६५.६ इत्यादि में पृथिवी के गोल होने और सूर्य के चारों ओर भ्रमण का स्पष्ट निर्देश है। इस विषय में विस्तार से जानने की इच्छावाले श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष (वर्तमान स्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक) कृत 'वैदिक ज्योतिष शास्त्र' ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें।

आयुर्वेद का मूल वेदों में—

चिकित्सा-विद्या के ग्रन्थ चरक में कहा है कि 'वेदो ह्याथर्वणः चिकित्सां प्राह' (चरक सूत्रस्थान अ० ३०.२०) अर्थात् अथर्ववेद में मुख्यतया चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है। सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १० में भी लिखा है—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्व वेदस्य' अर्थात् आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है। अथर्ववेद के अतिरिक्त ऋग्वेद के १०.९७, १०.१६१, १०.१६३, १०.१८६ तथा अन्य अनेक सूक्तों में भी ओषधियों द्वारा चिकित्सा, मनःशक्ति के प्रयोग द्वारा चिकित्सा तथा शुद्ध वायुसेवन द्वारा चिकित्सा का प्रतिपादन है। ऋग्० १.२३ के **अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः॥** मं० २० तथा ऋग्० १०.९ के **आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे**। इत्यादि में जल और अग्नि द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है।

अथर्ववेद के २. २५. २ में पृश्निपर्णी, ४. १७. १९ और ७. ६५ में अपामार्ग, १९. ४४ में आञ्जन, ६. ५९ में अरुन्धती, ५. ४. ९ तथा १९. ३९. ४ में कुष्ठ, ६. २१. ३, ६. १३७. १ इत्यादि में केशदृंहणी वा केशवर्धनी, २. २७ में पाटा, ६. १०९ में पिप्पली, ४. १२ में रोहणी, ५.५ में लाक्षा, ६. १३९ में सहस्रपर्णी, ऋग्वेद के नवम मण्डल के अनेक सूक्तों, सामवेद के अनेक सूक्तों तथा अथर्ववेद के बहुत-से सूक्तों में सोम ओषधि का वर्णन है। इन ओषधियों के सेवन से ज्वर, क्षयरोग, नपुंसकता, कृमिजन्य उपद्रव, मूत्ररोग, नेत्ररोग, केशों का झड़ना इत्यादि को दूर किया जा सकता है—ऐसा मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है। अथर्ववेद को भ्रम से जादू-टोनों का वेद माना जाता है, किन्तु वस्तुत: उसमें अद्भुत ओषधियों के सेवन, लेप तथा प्राकृतिक उपायों द्वारा चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है। इस बात को इस पुस्तक के दशम अध्याय में अथर्ववेद-विषयक भ्रम-निवारण करते हुए पर्याप्त विस्तार से बताया जायेगा। यहां तो विस्तारभय से निर्देशमात्र किया गया है। जो इस विषय को विस्तार से जानना चाहते हैं उन्हें श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष कृत 'अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र' तथा 'वेदों में आयुर्वेद' (वैद्य पं० रामगोपाल जी शास्त्री कृत) ग्रन्थों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

वेद में भूगर्भ-विद्या (Geology) का मूल—

अन्य विद्याओं की तरह भूगर्भ-विद्या का मूल भी वेदों में विद्यमान है। इस बात को महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारायण भवानीराव पावगी ने अपनी 'The Vedic Fathers of Geology' में **यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्।** (ऋग्० ५.१२.२) **स प्राचीनान् पर्वतान् अदृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः।** (ऋग्० २. १७. ५) **येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा** (ऋग्० १०. १२१. ५) **या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा** (ऋग्० १०. ९७. १) इत्यादि मन्त्रों के आधार पर सप्रमाण बताया है और लिखा है कि—

I may take this opportunity to remind the reader, without fear of contradiction, that the Vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth, that has still remained un-explored.

—*The Vedic Father of Geology,* by N.B. Pavgee, Introduction, P. VI

अर्थात् मैं बिना किसी विरोध के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूं कि वेदों में बहुत-सी ऐसी बातें पाई जाती हैं, जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं, क्योंकि वे उस साहित्यिक धन की अक्षय खान हैं, जिसका अभी थोड़ा-सा अंश ही प्रकट हुआ है और जो अभी तक अज्ञात ही पड़ा है। अपने Vedic India—Mother of Parliaments नामक दूसरे ग्रन्थ में भी श्री नारायण भवानीराव पावगी ने वेदों के विषय में ठीक ही लिखा है कि—

The Veda is the fountain-head of knowledge, the 'prime source of inspiration, nay the grand repository of Divine wisdom and even eternal truths.'

—Vedic India—Mother of Parliaments, P. 136

अर्थात् वेद संम्पूर्ण ज्ञान का आदिस्रोत, ईश्वरीय ज्ञान का प्रधान आधार, इतना ही नहीं बल्कि दिव्य बुद्धि और नित्य सत्यमय वाक्यों का महान् भण्डार है।

जीव-विज्ञान का मूल वेदों में—

नौविमान विद्या, ज्योतिष शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, यन्त्रशास्त्र, भूगर्भ-विद्या आदि की तरह जीव-विज्ञान (Biology) का भी मूल वेदों में पाया जाता है। इस बात को बम्बई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वी०जी० रेले L.M.F.S., F.C.P.S. ने

'The Vedic Gods—as figures of Biology' नामक ग्रन्थ में बड़ी अच्छी तरह से प्रमाणित किया है । उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ इस बात को लिखा है कि—

'Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rigveda that a question arises in mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without the thorough knowledge of which psychological deductions and philosophical speculations can not be correctly made.'

—*The Vedic Gods,* by Dr. Rele, P. 30

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी-संस्थान की रचना-सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगत्-विषयक वर्णनों से इतनी अच्छी तरह मेल खाता है कि मन में कई बार यह प्रश्न उठने लगता है कि क्या वेद वास्तव में धर्म-ग्रन्थ हैं या वे शरीर-विज्ञान और नाड़ी-संस्थान की रचना-विषयक ग्रन्थ हैं, जिनके पूर्ण ज्ञान के बिना मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विचार ठीक तौर पर समझ में नहीं आ सकते ।

वास्तविक बात यह है कि ऐसे सन्देह का कोई कारण नहीं । वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं । वे संकुचित अर्थ में बाइबल इत्यादि की तरह Religious Books अथवा मत-प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं । वे धर्म के प्रतिपादक ही नहीं बल्कि आदिस्रोत हैं; पर उस धर्म के अन्दर भौतिक और नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले सब अचल नियमों का, जिन्हें वेदों में ऋत और सत्य के नाम से पुकारा गया है, समावेश है । उन नियमों का आत्मा, परमात्मा उनके सम्बन्ध, कर्मनियम, पुनर्जन्म आदि विषयक सिद्धान्तों के साथ वेदों में प्रतिपादन है । यही उनकी विशेषता है जो अन्य किसी मत-ग्रन्थ में नहीं पाई जाती ।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ॥ मं० २
अन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो विवृहामि ते ॥ मं० ३

इत्यादि मन्त्रों में शरीर-विज्ञान का मूल है, जिसका कविराज श्री नारायण सेन एम०ए० ने 'प्रत्यक्षशारीरकम्' नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की भूमिका में तथा श्री ब्रजेन्द्रनाथ सील ने Positive Sciences of the Hindus में भली-भांति निर्देश किया है । जिज्ञासुओं को ये तीनों ग्रन्थ अवश्य पढ़ने चाहिएं ।

भौतिक और रसायन शास्त्र का मूल वेदों में—

वेदों में भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र के अनेक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । धियं घृताचीं साधन्ता ॥ ऋग्० १. २. ७ ॥

इस मन्त्र में मित्र पद से Hydrogen (उद्जन) और 'वरुण' से स्वीकरणीय ओषजन (Oxygen) का ग्रहण है, जिनके मेल से जल का निर्माण होता है ।

गूटी के श्री पन्यम् नारायण गौड़, एम०ए०, बी०एससी० (एडिन्बरा) ने सन् १९२० में प्रकाशित Introduction to the Message of the 20th Century नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक में इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों में भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र के तत्त्व स्पष्टतया पाये जाते हैं । मुखपृष्ठ पर अपनी पुस्तक के उपर्युक्त विचित्र नाम के साथ ही उन्होंने उसके विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

Containing a new method for the systematic interpretation of the Vedas and experimental data proving that the Vedas are treatise on the Exact Sciences.

अर्थात् इस पुस्तक में वेदों की क्रमबद्ध व्याख्या की नई प्रणाली बताई गई है और इस बात को सिद्ध किया गया है कि वेद शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से ऋग्वेद और यजुर्वेद के विषयों का निरूपण करते हुए सुयोग्य लेखक ने बताया है कि—

The Rigveda deals with theorems and experiments, while the process of preparing the reagents and apparatus is recorded in the Yajur which is in effect, a laboratory guide.

अर्थात् ऋग्वेद वैज्ञानिक सिद्धान्तों और परीक्षणों का निरूपण करता है, जब कि उनके साधनों और उपकरणों के तैयार करने की प्रक्रिया यजुर्वेद में पाई जाती है, जो परिणामस्वरूप एक परीक्षणशाला-मार्गदर्शिका है। जो इस विषय को विस्तार से जानना चाहते हैं उन्हें इस बहुमूल्य पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। इनके अतिरिक्त श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष कृत 'वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियां' तथा श्री हंसराज कृत 'The Science in the Vedas' इत्यादि में भी वेदों में विद्युच्छास्त्रादि के मूल का भली-भांति विवेचन किया गया है। राजनीति विद्या, कर्तव्य शास्त्र (जैसे हमने 'वैदिक कर्तव्यशास्त्र' में बताया है), समाज शास्त्र (जैसे हमने अपनी 'भारतीय समाजशास्त्र' नामक पुस्तक में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' आदि की व्याख्या करते हुए निरूपण किया), मनोविज्ञान (जैसे स्वर्गीय स्वामी आत्मानन्द जी ने 'मनोविज्ञान और शिवसंकल्प' तथा सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी ने 'On the Vedas' पुस्तक में बताया है); अध्यात्मविद्या इत्यादि का मूल वेदों में है। पं० बलराम शर्मा कृत 'विद्याओं का आदि स्रोत' पुस्तक भी इस विषय में पठनीय है। ऐसे सर्वविद्यानिधान वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानना सर्वथा युक्त और उचित ही है।

वेदों में पक्षपात और अन्यायपूर्ण उपदेश कोई नहीं। वेदों के अनुसार ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समुच्चय मोक्ष का साधन है। केवल विश्वास की अपेक्षा शुभ कर्मों का महत्त्व अधिक है। भगवान् को प्यारा कौन होता है इसका उत्तर ऋग्० ४. २५. ५ में इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में दिया गया है कि—**'प्रियः सुकृत् प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी।'**

अर्थात् भगवान् का प्यारा वह होता है जो (सुकृत्) सदा अच्छे काम करनेवाला है, जो (मनायुः) मननशील है, (प्रियः) वह परमेश्वर का प्यारा होता है जो (सुप्रावीः) उत्तम रीति से सब प्राणियों की रक्षा करनेवाला होता है और जो (सोमी) स्वयं शान्तियुक्त होकर शान्ति का प्रसार करनेवाला होता है। ऐसा व्यक्ति ही भगवान् का प्यारा होता है, फिर वह चाहे किसी भी देश व स्थान का हो।

ऐसे सार्वभौम और मनुष्यों की सर्वाङ्गीण उन्नति के साधक पक्षपातशून्य उपदेशों के कारण वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानना सर्वथा युक्तियुक्त और समुचित है। इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं। अन्य ग्रन्थों की बातें जहां तक युक्तियुक्त और पक्षपातरहित, लोकहितकारक हों वहां तक माननीय हैं, अन्यथा नहीं। धर्म का मूल तो वेद ही है, इसीलिए उसे 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' (अथर्व० १०. ८. ३. ४) इत्यादि द्वारा भगवान् का काव्य कहा गया है। हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि अनेक विचारशील ईसाई, और मुसलमान विद्वानों ने संकुचित पक्षपातपूर्ण बातों को मानना छोड़कर अपने मतग्रन्थ की उदारतासूचक नवीन व्याख्या का प्रयत्न प्रारम्भ किया है। हम इसका अभिनन्दन करते हैं चाहे यह उन मतों की प्राचीन परम्परा के विरुद्ध भी हो। सबसे अच्छी बात तो यह है कि वे ऐसी बुद्धिविज्ञान-विरुद्ध, पक्षपातपूर्ण बातों के विरुद्ध स्पष्ट प्रचार करें। □

तृतीय अध्याय

ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं, मन्त्रद्रष्टा थे

पिछले अध्यायों में हमने वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और विविध दृष्टियों से उनका महत्त्व भी बताया है, किन्तु इस पर Vedic Age, Rigvedic India, Rigvedic Culture, Orion, Arctic Home in the Vedas इत्यादि ग्रंथों के विद्वान् भारतीय लेखक और प्रो० मैक्समूलर, वीबर, मैक्डॉनल् इत्यादि पाश्चात्य विद्वान् आक्षेप करते हैं कि उपर्युक्त कथन सर्वथा अशुद्ध है। ऋषि मन्त्रों के कर्ता हैं। वे भिन्न-भिन्न समयों में मन्त्रों की रचना करते रहे। वेद उन ऋषियों की रचना हैं तो उनको कैसे अपौरुषेय या नित्य ईश्वरीय ज्ञान माना जा सकता है ? कई तो इसके लिए कुछ वेदमन्त्रों और श्रौतसूत्रादि में प्रयुक्त मन्त्रकृतः या मन्त्रकाराः इत्यादि शब्दों का प्रमाण भी देते हैं। अतः इस अध्याय में हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि ऋषि वेद-मन्त्रों के रचयिता हैं अथवा द्रष्टा। जब वेदों में ही वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, अङ्गिरा, कण्व, भरद्वाज, गौतम, अत्रि इत्यादि नाम आते हैं तो उनको कैसे नित्य ईश्वरीय ज्ञान माना जा सकता है ? उनमें तो अनेक राजाओं तथा देशों के नाम भी हैं, जिनकी एक विस्तृत सूची प्रो० मैक्डॉनल् और डॉ० ए०बी० कीथ ने Vedic Index of Names and Subjects इस नाम से तैयार की है। ऐसी अवस्था में वेदों को भिन्न-भिन्न समयों में उत्पन्न अनेक ऋषियों की रचना मानना ही उचित प्रतीत होता है। इसके उत्तर में हम निम्न निवेदन करना चाहते हैं—

१. ऋषि का अर्थ यास्काचार्य ने निरुक्त में निम्न प्रकार दिया है—

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।
तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।

—निरुक्त २. ११

अर्थात् ऋषि वेदमन्त्रों के अर्थ के द्रष्टा होते हैं। औपमन्यव आचार्य ने भी कहा है कि वेदों में प्रयुक्त स्तुति इत्यादि विषयक मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करनेवालों को ही ऋषि के नाम से पुकारा जाता है। तपस्या वा ध्यान करते हुए जो इनको स्वयम्भू नित्य वेद के अर्थ का भान हुआ, इसलिए ये ऋषि कहलाये। यही वेदमन्त्रों का रहस्यसहित अर्थ-दर्शन ऋषित्व है।

२. औपमन्यव आचार्य का एक दूसरा वाक्य भी उपर्युक्त वाक्यों से मिलता-जुलता तैत्तिरीय आरण्यक २. ९. १ में पाया जाता है—

अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम्।

शतपथ ब्राह्मण ६. १. १. १, का निम्न वाक्य भी इसी अर्थ का प्रतिपादक है—

ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः।

इसका भी तात्पर्य ऊपर लिखे वाक्य के अनुसार ही है कि जिन तपस्वी जीवों को तप अथवा ध्यान करते हुए स्वयम्भू नित्य वेद का अर्थज्ञान हुआ वे उन-उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये।

इसीलिए तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, काण्व संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा सर्वानुक्रमणी आदि में मन्त्रों के द्रष्टाओं को ही ऋषि नाम से सम्बोधित किया गया है और उनके विषय में यह उल्लेख किया गया है कि उन्होंने अमुक-अमुक मन्त्रों, सूक्तों अथवा मण्डलों को देखा। इस विषय में निम्न प्रमाणों का उल्लेख ही उदाहरणार्थ पर्याप्त होगा—

१. स एतं (भूमिर्भूम्ना ·····) कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत्। —तैत्तिरीय संहिता १. ५. ४

२ स पूषा एतं मन्त्रमपश्यत्। सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामीति। —तै० सं० २. ६. ८

३. शुनःशेपमाजीगर्ति वरुणोऽगृहणत् स एतां वारुणीमपश्यत् ····उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत् इति।—तै० सं० ५. २. १

४. स वामदेवः—एतं सूक्तमपश्यत् 'कृणुष्व वाजः प्रसितिं न पृथिवीम् इति।' —काण्व संहिता १०. ५

५. या सेना अभीत्वरीरिति ···ते देवा एता ऋचोऽपश्यन्। —का० सं० १९. १०

६. ते देवा एतद् यजुरपश्यन् अजोऽसि महोऽसि। —का० सं० १७. ७

७. महीं गामिति काण्वो हैनां ददर्श। —शत० ब्रा० ९. २. २. ३८

८. एतत् कवषः सूक्तमपश्यत् पंचदशर्चम् 'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति। —कौषीतकि ब्रा० १२. १

९. इन्द्र क्रतुं न आभर इति·· वसिष्ठो वा एतं हतपुत्रोऽपश्यत्। —ताण्ड्य ब्राह्मण ४. ७. ३

१०. गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्। —सर्वानुक्रमणी २. १

११. ···गाथिनो विश्वामित्रः स तृतीयं मण्डलमपश्यत्। —सर्वानु० ३. १

१२. सर्वानुक्रमणी ४. १ में लिखा है—**वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्।**

१३. सर्वानुक्रमणी ६. १ में लिखा है—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत्।**

१४. सर्वानुक्रमणी ७. १ में लिखा है—**सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्।**

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि ने सप्तम मण्डल देखा।

१५. सर्वानुक्रमणी ८. १ में लिखा है—**आद्यं द्वृचं प्रगाथोऽपश्यत्।**

अर्थात् पहली दो ऋचाओं को प्रगाथ ने देखा—उनके अर्थ का रहस्य-सहित साक्षात्कार किया।

अन्य भी सैकड़ों उद्धरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों के अर्थद्रष्टा, साक्षात् करके उनका प्रचार करनेवाले को ऋषि कहते हैं। ये ऋषि वैदिक मन्त्रों के रचयिता नहीं, अन्यशा उपर्युक्त सब वाक्यों में 'अपश्यत्' अर्थात् दर्शन-क्रिया के स्थान में 'अरचयत्' अथवा बनाया, इसका प्रयोग होना चाहिए था।

वेदों में विश्वामित्र, जन्मदग्नि, भरद्वाज, अत्रि, अङ्गिरा, प्रियमेधादि शब्दों को देखकर लोगों को भ्रम हो जाता है कि ये ऋषियों के नाम हैं, जिनका उन-उन ऋषियों अथवा उनके शिष्यादि ने मन्त्रों में भी प्रयोग किया है जैसे आजकल भी कई कवि अपने नामों का अपनी रचनाओं में प्रयोग करते हैं अथवा जैसे कबीर, सूर, तुलसी, नानक आदि का प्रयोग उनकी अनेक रचनाओं में है। वस्तुतः यह बात ठीक नहीं। वेदों में इन शब्दों का प्रयोग व्यक्तिविशेषवाचक नहीं, किन्तु सामान्यगुण-सूचक है। उदाहरणार्थ विश्वामित्र शब्द यदि वेद में आता है तो उसका अर्थ गाधि का पुत्र विश्वामित्र नहीं, किन्तु सबको मित्र समझनेवाला ऋषि है चाहे वह कोई भी हो।

ये शब्द प्राणादिवाचक भी हैं जैसा हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं, किन्तु प्रसङ्गवश उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यानरूप हैं जैसा कि—

ब्रह्मभिः—चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि। म० भा० ५. १. १।

इस महाभाष्यकारसम्मत निरुक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है। ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषदादि प्राचीन ग्रन्थों में इन शब्दों की प्राणादिपरक व्याख्या स्पष्टतया उपलब्ध होती है; यथा ऐतरेयारण्यक में लिखा है—

> **'प्राणो वै गृत्सः, अपानो मदः स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदः तस्माद् गृत्समद इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं तस्येदं विश्वं मित्रम् आसीद् यदिदं किंच। तद् यस्येदं विश्वं मित्रमासीद् यदिदं किंच तस्माद् विश्वामित्रः इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं तं देवा अब्रुवन् अयं वै नः सर्वेषां वाम इति। तं यद् देवा अब्रुवन् अयं वै नः सर्वेषां वाम इति तस्माद् वामदेवः। तस्माद् वामदेव इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स इदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किंच। स यदिदं सर्वं पाप्मनो त्रायत तदिदं किंच तस्मादत्रय इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स उ एव ब्रिभ्रद्वाजः प्रजा वाजः तम् एष बिभर्ति यद् बिभर्ति तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षते।'**
>
> **एतं सन्तं देवा अब्रुवन् अयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठः तस्माद् वसिष्ठः स इदं सर्वमभि प्रागात्-तस्मात् प्रगाथः।**
>
> —ऐतरेयारण्यक २. २. १

यहां बताया गया है कि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, प्रगाथ इत्यादि पद मुख्यतया प्राणवाचक हैं। इन शब्दों के यौगिक अर्थ ऊपर उद्धृत सन्दर्भ में दिखाये गये हैं। इस यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द सामान्य गुणसूचक होने से इन-इन गुणों से युक्त व्यक्तियों और वस्तुओं के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। उदाहरणार्थ जो कोई भी सबको अपना मित्र समझता है और जिसके सब मित्र हैं, वह विश्वामित्र कहलायेगा। जो पापों से रक्षा करनेवाला हो, वह अत्रि कहलायेगा। जो वाज—प्रजा, ज्ञान और बल को धारण करनेवाला हो वह भरद्वाज कहलायेगा। जो सबसे श्रेष्ठ हो, प्राणविद्या को भली-भांति जाननेवाला हो (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः) अथवा ईश्वर को अन्दर सबसे अधिक बसाने वाला—सदा उसका स्मरण करनेवाला ज्ञानी हो वह वसिष्ठ कहलायेगा। इन्द्रिय, मन आदि को सबसे अधिक अपने वश में रखनेवाला भी वसिष्ठ कहलाएगा। उत्तम गुणों को धारण करनेवाला अथवा वाम—श्रेष्ठ गुणयुक्त भगवान् में रमण करनेवाला—उससे प्रकाशित होनेवाला (वामेन दीव्यतीति) वामदेव कहलायेगा। ऐसे ही अन्य शब्दों के विषय में समझना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण १. २८ में लिखा है 'अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः' अर्थात् अग्नि वसिष्ठ है।

शतपथ ब्राह्मण में वसिष्ठादि शब्दों के अर्थ

यजुर्वेद के व्याख्यानभूत शतपथब्राह्मण में यजुर्वेद अ० १३ के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए अष्टम काण्ड में स्पष्ट लिखा है—

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः।	शत० ८. १. १. ६।
मनो वै भरद्वाज ऋषिः।	शत० ८. १. १. ९।
श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः।	शत० ८. १. २. ६।
प्रजापतिर्वै जमदग्निः।	शत० १३. २. २. ४।
चक्षुर्वै जमदग्निः।	शत० ८. १. २. ३।
प्राणो वा अङ्गिराः।	शत० ६. १. २. २८।
वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः।	शत० ८. १. २. ९।

अर्थात् वसिष्ठ का अर्थ प्राण, भरद्वाज का अर्थ मन, विश्वामित्र का अर्थ श्रोत्र वा कान, अङ्गिरा का अर्थ प्राण और विश्वकर्मा का अर्थ वाणी है। शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् में भी गोतम, भरद्वाजादि शब्दों के इन्द्रियादिपरक अर्थ बताये गये हैं, यथा—

इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयं गोतमः अयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः अयं जमदग्निः, इमावेव वसिष्ठकश्यपौ, अयमेव वसिष्ठः अयं कश्यपः। वागेवात्रिर्वाचा अन्नमद्यते। अत्तिर्ह वै नामैतद् यदत्रिरिति। —बृहदारण्यकोप० २. २

यहां दो कान, दो आंख, दो नासिका-छिद्र और वाणी, इनको क्रमशः गोतम, भरद्वाज, जमदग्नि, वसिष्ठ इत्यादि नामों से पुकारा गया है।

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः। १. १. २७. **अनित्यदर्शनाच्च। आख्या प्रवचनात्। परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्।** सू० ३३

इत्यादि सूत्रों द्वारा पूर्वमीमांसाशास्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि वेदों में प्रयुक्त वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द कुछ विशेष गुणों को सूचित करनेवाले सामान्य शब्द हैं; वे व्यक्ति-विशेष के वाचक संज्ञा शब्द (Proper nouns) नहीं। काठक, कालापक, पैप्पलाद आदि शब्द प्रवचनमूलक हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों में अनित्य व्यक्तियों के नाम वा इतिहास नहीं। उदाहरणार्थ—

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥ —ऋ० १०. १०७. १

इत्यादि मन्त्रों में प्रयुक्त भोज शब्द से संस्कृत के अत्यधिक प्रेमी और निपुण राजा भोज का ग्रहण नहीं है जो दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ, किन्तु 'भुज्-पालनाभ्यवहारयोः' इस धातु से निष्पन्न होकर दान द्वारा प्रजा का पालन करनेहारे राजा अथवा अन्य दानशील पुरुष का इस शब्द से ग्रहण होता है।

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥ —ऋ० ८. २. १६

इत्यादि मन्त्रों में प्रयुक्त कण्व शब्द कण्व नामक ऋषिविशेष और उसके वंशजों का वाचक नहीं, अपितु—

'कण्व इति मेधाविनाम।' निघण्टु ३. १५।

इस निघण्टु-वचन के अनुसार मेधाबुद्धिसम्पन्न सब व्यक्तियों के लिए है कि हे परमेश्वर! हम तेरे मित्र तेरी ही कामना करनेवाले, मेधानामक शुद्ध बुद्धि से सम्पन्न होकर तेरी स्तुति करते हैं। इसलिए—

'विश्वामित्र! जमदग्ने! वसिष्ठ, भरद्वाज, गोतम, वामदेव शर्दिः नो अत्रिः अग्रभीन्नमोभिः सुशंसासः पितरो मृडता नः।' —अथर्व० १८.३.१६

इस मन्त्र में प्रयुक्त विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गोतम, वामदेव और अत्रि शब्दों का अर्थ गाधि के पुत्र विश्वामित्र ऋषि, परशुराम के पिता जमदग्नि, सूर्यवंशियों के पुरोहित वसिष्ठ इत्यादि व्यक्तिविशेष न लेकर यही करना चाहिए कि सबको मित्र की दृष्टि से देखनेवाले (विश्वामित्र), सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को बुद्धि की आंख से देखनेवाले अथवा पवित्र दृष्टि से सबको देखनेवाले जमदग्नि (चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः), प्राण-विद्या में निपुण अथवा उत्तम गुणों को अपने अन्दर सबसे अधिक बसानेवाले-अतिशयेन वासयिता—श्रेष्ठ (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः), वाज अथवा ज्ञान को अपने अन्दर धारण करनेवाले और शुद्ध मन वाले—(मनो वै भरद्वाजः ऋषिः), अत्यन्त गतिशील (गोतम), अत्यन्त सेवनीय परमेश्वर की सदा स्तुति करनेवाले (वामदेव), आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापों से रहित (अत्रि) इस प्रकार के उत्तमगुणयुक्त अनुभवी ज्ञानी हमें सुखी करें।

अत्यन्त आश्चर्य और दु:ख की बात यह है कि सायणाचार्य जैसे विद्वान् भाष्यकार कैसे अपने वेदभाष्य की भूमिका में मीमांसाशास्त्र के इन अति महत्त्वपूर्ण सूत्रों का निर्देश करके भाष्य करने के समय अपनी वेदों की अपौरुषेयता और नित्यतावाली प्रतिज्ञा को भूलकर अनित्य ऋषियों और राजाओं के वृत्तान्तों से अपने भाष्य को भर गये हैं, जिनमें से कई आख्यान तो इतने अश्लील तथा घृणित हैं कि उनका किसी सभ्य समाज के सामने प्रकथन तक नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने लिखा है कि—

'यदप्युक्तं प्रमगन्दाद्यनित्यसंयोगान्मन्त्रस्यानादित्वं न स्यादिति तत्रोत्तरं सूत्रयति उक्तश्चानित्यसंयोग इति। तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं युक्तं काठकं कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धाभिधानं हेतुकृत्यानित्यदर्शनाच्चेति हेत्वन्तरं सूत्रितं तस्यायमर्थ:—बबर: प्रावाहणिरकामयत इत्यनित्यानां बबराद्यर्थानां दर्शनात् तत: पूर्वमसत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति। तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इति। तस्यायमर्थो यत् काठकादि समाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तं, यत् तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तच्छब्दसामान्यमात्रं न तु तत्रानित्यो बबराख्य: कश्चित् पुरुषो विवक्षित: किन्तु बबर इति शब्दानुकृति: तथा सति बबर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते स च प्रावाहणि:—प्रकर्षेण वहनशील:, एवमन्यत्राप्यूहनीयम्।'

इस सन्दर्भ का भावार्थ यह है कि पूर्व-पक्ष के अनुसार वेद पुरुषकृत और अतएव अनित्य हैं। काठकम्, कालापकम् इत्यादि जो नाम वेदशाखाओं के प्रचलित हैं उनसे भी यह सूचित होता है कि कठ, कलाप, पिप्पलाद आदि तथा अन्य ऋषियों ने उन्हें बनाया। इसी प्रकार 'बबर: प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि जो वाक्य वेद माने जाने वाले (ब्राह्मण) ग्रन्थों में पाये जाते हैं उनसे भी स्पष्ट है कि प्रवाहण के पुत्र बबर ने ऐसी कामना की। इसका अर्थ यह हुआ कि बबर के होने के पश्चात् वह वेदभाग बना। इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्' इस सूत्र द्वारा दिया गया है कि वेद में व्यक्तिविशेषवाचक नाम नहीं हैं, किन्तु गुणसूचक सामान्य शब्द हैं, अत: 'बबर: प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि का तात्पर्य प्रवाहण के पुत्र बबर नामक किसी व्यक्तिविशेष से नहीं, किन्तु चलनेवाले वायु से है जैसा इसके यौगिक अर्थ से स्पष्ट है।

इस सन्दर्भ से तो यह स्पष्ट है कि सायणाचार्य के अनुसार न केवल वेदों में, बल्कि ब्राह्मणग्रंथों में भी अनित्य इतिहास का अभाव है। यद्यपि हम इसे ठीक नहीं समझते। ब्राह्मणग्रन्थ तो ब्रह्म अर्थात् वेद के ऋषिकृत व्याख्याग्रन्थ हैं, उनमें तो—**तत्र ब्राह्मणानितिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति॥** (तैत्तिरीयारण्यक २. ९)

इत्यादि के अनुसार इतिहासादि विद्यमान है। किन्तु इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है कि वही सायणाचार्य जो ब्राह्मणग्रन्थों तक में अनित्य इतिहास का अभाव मानते हैं ऐसे दूषित, घृणित और अश्लील इतिहासपरक अर्थ वेदमन्त्रों के अनेक स्थानों पर कर गये हैं जिन्हें पढ़कर अत्यधिक लज्जित होना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जंगहे। ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ —ऋ० १. १२६. ६

इसका अर्थ सायणाचार्य अपने भाष्य में इस प्रकार करते हैं—

'सम्भोगाय प्रार्थितो भावयव्य: स्वभार्यां रोमशाम् अप्रौढेति बुद्ध्या परिहसन्नाह—(भोज्या) भोगयोग्यैषा (आगधिता) आ-समन्तात् स्वीकृता तथा (परि गधिता) परिगृहीता (आ गधिता) आ-समन्तान्मिश्रयन्ती आन्तरं प्रजननेन बाह्यं भुजादिभि:। कीदृशी सा या (जंगहे) अत्यन्तं गृहणाति कदापि न विमुञ्चति। अत्यागे दृष्टान्त: (कशीकेव) कशीका नाम सूतवत्सा नकुली सा यथा पत्या सह चिरकालं क्रीडति न कदाचिदपि विमुञ्चति तथैवैषापि। किंच भोज्यैषा यादुरित्युदकनाम रेतोलक्षणम् उदकं प्रभूतं राति—ददातीति यादुरी बहुरेतोयुक्तेत्यर्थ:। तादृशी सती (याशूनाम्) संभोगानां यश इति प्रजनननाम तत्सम्बन्धीनि कर्माणि याशूनि भोगा: तेषां (शतम्) असंख्यातानि मह्यं ददाति।

अत्यन्त अश्लील और जुगुप्साजनक होने के कारण इसका भाषानुवाद देना भी हमें अच्छा नहीं प्रतीत होता, तथापि संक्षेप से इतना लिख देना पर्याप्त है कि सायणाचार्य के अनुसार भावयव्य नामक ऋषि ने अपनी पत्नी रोमशा को अप्रौढ़ा जान कर जब उनसे संभोग के लिए प्रार्थना की तो उसका उपहास करते हुए इस मन्त्र द्वारा कहते हैं कि यह तो बड़ी भोगयोग्य है जो अन्दर-बाहर से मेरा आलिङ्गन कर रही है और नकुली की तरह मेरा कभी परित्याग नहीं करती। इसमें बड़ा वीर्य है और यह सैकड़ों प्रकार से मुझे संभोग-सुख देती है, इत्यादि।

वस्तुतः मन्त्र में सम्भोगार्थ रोमशा की प्रार्थना, अप्रौढ़ा समझकर उसका भावयव्य द्वारा परिहासादि-सूचक एक भी शब्द वेदमन्त्र में नहीं है। इसलिए महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की उत्तम नीतिपरक व्याख्या की है। यादुरी का अर्थ उन्होंने प्रयत्नशीला और (याशूनाम्) का प्रयतमानानाम् ऐसा करते हुए मन्त्र का भावार्थ इन शब्दों में दिया है—

यया नीत्याऽसंख्यातानि सुखानि स्युः सा सर्वैः सम्पादनीया।

अर्थात् जिस नीति से असंख्य सुख हों उसका सबको अनुष्ठान करना चाहिए। विचारशील पाठक इन दोनों अर्थों की निष्पक्ष भाव से तुलना करके स्वयं निर्णय करें कि वेद के सर्वसम्मत स्वरूप की दृष्टि से कौन-सा अर्थ अधिक सङ्गत है, साथ ही किस अर्थ में कपोलकल्पना और खींचातानी अधिक है। इसी सूक्त का अगला मन्त्र निम्न है—

उपोपमे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः। सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ —ऋ० १. १२६. ७

इसका भाष्य सायणाचार्य यों करते हैं—

रोमशा नाम बृहस्पतेः पुत्री ब्रह्मवादिनी परिहसन्तं स्वपतिं प्राह भो पते! (मे) मां द्वितीयार्थे चतुर्थी (उपोप) उपेत्य (परामृश) सम्यक् स्पृश भोगयोग्याम् अवगच्छेत्यर्थः। यद्वा (मे) मम गोपनीयमङ्गम् (उपोपमृश) अत्यन्तमान्तरं स्पृश। परामर्शाभावशङ्कां निवारयति (मे) मदङ्गानि रोमाणि (दभ्राणि) अल्पानि मा बुध्यस्व। (अहम्) रोमशा बहुरोमयुक्ता अस्मि यतोऽहमीदृशी अतः (सर्वा) सम्पूर्णावयवास्मि रोमशत्वे दृष्टान्तः—गन्धारदेशीया मेषा इव यद्वा (गन्धारीणाम्) गर्भधारिणीनां स्त्रीणाम् (अविका) अत्यर्थं तर्पयन्ती योनिरिवास्मि यतोऽहमीदृशी अतो माम् अप्रौढां मावबुध्यस्वेति।'

अत्यन्त अश्लील होने के कारण इसका भी भाषानुवाद देते हुए हमें लज्जा आती है, तथापि अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप से तात्पर्य बता देना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि उस अशुद्ध अर्थ को ठीक समझकर दी गई Vedic Age के लेखकों की टिप्पणी समझने में सुगमता हो सके। सायणभाष्य के अनुसार बृहस्पति की पुत्री ब्रह्मवादिनी रोमशा परिहास करते हुए अपने पति को कहती है कि हे पते! आप मुझे स्पर्श करें और भोग के योग्य समझें अथवा मेरे गुप्ताङ्ग का आप अच्छी तरह अन्दर से स्पर्श करें। आप मेरे अङ्गों और रोमों को छोटा न समझें। मैं बहुत रोमों से युक्त और इस लिए सम्पूर्ण अवयव-सम्पन्न हूं जैसी गन्धार देश की भेड़ होती है अथवा जैसे गर्भवती स्त्रियों की बहुत तृप्त करनेवाली योनि होती है।

कितने दुःख और आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो सायणाचार्य भूमिका में वेदों में ही नहीं, ब्राह्मण-भाग तक में अनित्यता की आशङ्का से सब प्रकार के अनित्य इतिहास का निषेध करते और ब्राह्मणों में दी हुई कथाओं तक का यौगिकार्थ दिखाने का यत्न करते हैं, और दूसरी ओर वही वेदों में भावयव्य-रोमशा, अगस्त्य-लोपामुद्रा, पुरुरवा-उर्वशी, इन्द्र-इन्द्राणी आदि के अश्लील संवादपरक अर्थ लगाते और इस प्रकार वेदों को कलङ्कित करते हुए लज्जित नहीं होते!

Vedic Age के लेखकों ने पृ० ३४८ पर इस सूक्त (ऋ० १. १२६) पर निम्न टिप्पणी दी है—

'This dismal hymn ends with two more verses notable only for their extreme obscenity. It is in these *Danastutis* that Brahmanical greed appears in its worst aspects in the Rigveda.'

अर्थात् यह निराशाजनक अथवा निकृष्ट सूक्त दो मन्त्रों के साथ समाप्त होता है जो अश्लीलता की पराकाष्ठा के कारण कुख्यात हैं । इन दानस्तुतियों में ब्राह्मणों का लोभ ऋग्वेद में अपने सबसे निकृष्ट रूप में प्रकट होता है । जिन दो मन्त्रों का निर्देश किया गया है उनमें से एक का (आगधिता परिगधिता) का भावार्थ महर्षि दयानन्द जी के भाष्यानुसार हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं । पदार्थ को उद्धृत करके दूसरे मन्त्र का वास्तविक अर्थ दर्शाया जायेगा जिससे उसके अश्लील होने का भ्रम दूर हो सके । मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

या (आगधिता) समन्ताद् गृहीता (परिगधिता) परितः सर्वतो गधिता शुभैर्गुणैः युक्ता नीतिः [गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा नि० ५. १५] (जङ्गहे) अत्यंत गृहीतव्या (कशीकेव) यथा ताडनार्था कशीका (याशूनाम्) प्रयतमानानाम् अत्र यसु प्रयत्ने धातोर्बाहुलकादुणप्रत्ययः सस्य शश्च (यादुरी) प्रयत्नशीला (शता) शतानि असंख्यातानि वस्तूनि (भोज्या) भोक्तुं योग्यानि (ददाति) सा सर्वैः स्वीकार्या ।

भावार्थ-यया नीत्याऽसंख्यातानि सुखानि स्युः सा सर्वैः सम्पादनीया ॥

अर्थात् जिस उत्तम नीति-व्यवहार के ग्रहण करने से असंख्य सुखों की प्राप्ति होती है, जो सब शुभ गुण से युक्त है उसका अनुष्ठान सबको करना चाहिए । इसमें कौन-सी अश्लीलता की बात है यह पाठक स्वयं निश्चय करें । सायण के अशुद्ध भाष्य को देखकर और ग्रिफिथ की टिप्पणी के अनुकरण में *Vedic Age* के लेखकों ने भी बिना निष्पक्ष भाव से विचार किये उपरिलिखित टिप्पणी देकर पाठकों को भ्रम में डाल दिया; यह अत्यन्त निन्दनीय बात है ।

इस वेदमन्त्र का वास्तविक अर्थ जो महर्षि दयानन्द जी ने अपने भाष्य में किया है, निम्न है—

पुना राज्ञी किं कुर्यादित्याह—

हे पते राजन् ! याऽहं (गन्धारीणाम् इव अविका) पृथिवीराज्यधर्त्रीणां मध्ये रक्षिका (रोमशा) प्रशस्तलोमा (सर्वा) अस्मि तस्या मे गुणान् (परामृश) विचारय (मे) (दभ्राणि) अल्पानि कर्माणि (मा) (उपोप) अति समीपत्वे (मन्यथाः) जानीयाः !

भावार्थ—राज्ञी राजानं प्रति ब्रूयात् अहं भवतो न्यूना नास्मि । यथा भवान् पुरुषाणां न्यायाधीशोऽस्ति तथाहं स्त्रीणां न्यायकारिणी भवामि । यथा पूर्वा राजपत्न्यः प्रजास्थानां स्त्रीणां न्यायकारिण्योऽभूवन् तथाहमपि स्याम् ॥

अर्थात् रानी राजा से कहती है कि आप भी मेरे गुणों का विचार करें और मुझे कभी तुच्छ न समझें और न मेरे कामों को तिरस्कार की दृष्टि से देखें । मैं आपसे कम नहीं हूं । जैसे आप पुरुषों के लिए न्यायकारी हैं वैसे मैं भी स्त्रियों के लिए न्यायकारिणी होती हूं । मैं सदा स्त्रियों का न्याय करने में तत्पर रहूं ।

इसमें अश्लीलता की क्या बात है ? यहां तो स्त्रियों का पुरुषों के समान स्थान बताया गया है और उनका कभी अपमान न करने का आदेश है, जिसको सुसभ्य जगत् की देन माना जाता है । रानी का काम स्त्रियों का न्याय करना है अर्थात् मैजिस्ट्रेट वा जज का स्थान भी स्त्रियों को दिया जाना चाहिए और उनको कभी तुच्छ न समझना चाहिए । यह कितनी उच्च व्यावहारिक शिक्षा मन्त्र में पति-पत्नी के संवादरूप में दी गई है ! इसको पढ़ते हुए तो सुप्रसिद्ध विचारक रस्किन के शब्दों का स्मरण हो आता है कि—

'We are foolish and wihtout excuse foolish, in speaking of the superiority of the one sex to the other. Each completes the other and is completed by the other. The happiness and perfection of both depends on each asking and receiving from the other what the other only can give.'

(*Sesame and Lilies* by John Ruskin, P. 73)

अर्थात् हम पुरुष और स्त्री में से किसी एक को दूसरे से ऊंचा सिद्ध करने का यत्न करते हुए अक्षन्तव्य मूर्खता करते हैं, क्योंकि दोनों एक-दूसरे की पूर्ति करनेवाले हैं। दोनों की प्रसन्नता और पूर्णता एक-दूसरे को यथाशक्ति देने और उससे लेने में है।

ऐसे उच्च भावद्योतक मन्त्रों के बिना सोचे-समझे अश्लीलता की पराकाष्ठा (Extreme obscenity) के सूचक मान लेना कितना बड़ा दुस्साहस है !

ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने पर प्रबल आक्षेप

जो लोग ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानते हैं उन्हें अनेक प्रबल आक्षेपों का सामना करना पड़ेगा जिनका समाधान उनके लिए असम्भव है।

अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनके कई-कई, यहां तक कि सौ तक ऋषि हैं। उदाहरणार्थ—

अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ ऋ० ९. ६६. १९॥

इस एक ही मन्त्र के जो सामवेद सं० ६२७, १४६४, १५१८ में भी आया है—

'शतं वैखानसा ऋषयः'

अर्थात् सौ वानप्रस्थ ऋषि हैं। क्या इसका यह तात्पर्य समझा जाये कि इस २४ अक्षरों के गायत्री छन्द के मन्त्र को सौ ऋषियों ने मिलकर बनाया? ऐसी असङ्गत तथा बेहूदी कल्पना को कौन निष्पक्ष विद्वान् स्वीकार कर सकता है? यदि यह माना जाये कि सौ या अधिक वानप्रस्थ ऋषियों ने इस मन्त्र का रहस्य जानकर इसका प्रचार किया तो इसमें कोई असङ्गत बात नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार—

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते। शं राजन्नोषधीभ्यः॥ ऋ० ९. ११. ५३॥

इस सामवेद मं० ६५३ के 'शतं वैखानसा ऋषयः' अर्थात् सौ वानप्रस्थ ऋषि बताये गये हैं। मन्त्रों के कर्ता ऋषियों को माननेवाले क्या यह कहेंगे कि २४ अक्षरों वाले इस मन्त्र को सौ ऋषियों ने मिलकर बनाया? क्या यह सर्वथा असङ्गत और उपहासास्पद कल्पना नहीं है? सौ या अधिक ऋषियों द्वारा मन्त्रप्रोक्त भावना वा प्रार्थना का प्रचार मानने में कोई आक्षेपयोग्य बात नहीं, यह स्पष्ट है।

सर्वानुक्रमणी ९. ६६ तथा आर्षानुक्रमणी ९. १६ के अनुसार इन मन्त्रों के सौ वैखानस ऋषि स्पष्टतया उल्लिखित हैं। यथा—

पवस्व शतं वैखानसा अष्टादश्यनुष्टुप् परास्तिस्त्र आग्नेय्यः। सर्वानुक्रमणी ९. ६६।

असिद्धगोत्रास्तु पवस्व सूक्तं, वैखानसा नाम शतं विदुस्ते।

'वैखानसा नाम शतं विदुस्ते' इन शब्दों से भी यही भाव निकलता है कि सौ वैखानस (वानप्रस्थ ऋषि) इन मन्त्रों को पूर्णतया जानने और उनका विशेष प्रचार करने के कारण इनके ऋषि कहलाते हैं। दो-दो चार-चार ऋषियों वाले मन्त्र तो सैकड़ों हैं, अत: हमें उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

ऋग्वेद ९. १०७ के 'सप्तर्षय:' सात ऋषि बताये गये हैं। क्या इस छोटे-से सूक्त को सात ऋषियों ने मिलकर बनाया?

ऋ० १०. ५१. १, ३, ५, ७, ९ और १०. ५३. १-३, ६-११ के 'देवा ऋषय:' अर्थात् अनेक विद्वान् ऋषि हैं। ऋ० १०. १३६ के जिसमें ७ मन्त्र हैं 'मुनयो वातरशना:' अनेक मुनि-ऋषि हैं।

ऋग्वेद के ८वें मण्डल के ३४वें सूक्त के 'एन्द्र याहि हरिभि:' इत्यादि तीन मन्त्रों के 'वसुरोचिषोऽङ्गिरस: सहस्रसंख्याका ऋषय:' अर्थात् यज्ञ से प्रकाशमान प्राणविद्या जाननेवाले हजार ऋषि हैं। ऋषियों को मन्त्रकर्ता माननेवालों के अनुसार क्या यह माना जाय कि एक हजार ऋषियों ने अनुष्टुप् छन्द के इन तीन मन्त्रों को मिलकर बनाया? यह कल्पना कितनी असङ्गत और उपहासास्पद है! हजारों ऋषियों को किन्हीं वैदिक रहस्यों का प्रकाशक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे इस वाद का स्पष्ट खण्डन होता है कि ऋषि मन्त्रों के कर्ता हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऋषि मन्त्रद्रष्टाओं को ही कहते हैं।

एक दूसरा आक्षेप जो अत्यन्त प्रबल है वह यह है कि एक ही मन्त्र के ऋषि भिन्न-भिन्न वेदों में और उन्हीं वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में भी पृथक् हैं, उदाहरणार्थ ऋ० ४. ४८.३ में —

१. **'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।'**

यह मन्त्र आया है जिसका ऋषि वामदेव है। यही मन्त्र यजुर्वेद १७. ९१ में भी पाया जाता है परन्तु उसका ऋषि 'साध्या:' ऐसा लिखा है अर्थात् अनेक साधना करनेवाले।

२. **शास इत्था महां अस्यमित्रखादो अद्भुत:। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन॥**

यह मन्त्र ऋग्वेद १०. १५२. १ में आया है जहां इसका ऋषि 'शास: भरद्वाज:' है। यही मन्त्र अथर्व० १. २०. ४ में भी आया है, जहां इसका ऋषि 'अथर्वा' है।

३. **मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय कम्। अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्॥**

यह मन्त्र ऋ० १०. १६१. १ का है, जहां इसका ऋषि 'यक्ष्मनाशन: प्राजापत्य:' लिखा है। यही मन्त्र अथर्व० ३. ११. १ में भी है और वहां उसका ऋषि ब्रह्मा है।

४. **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**

यह सुप्रसिद्ध मन्त्र ऋ० १. १८९. १ में आया है, जिसका ऋषि 'अगस्त्य' है। यही यजुर्वेद के जब ४०. १६ में आता है तो इसका ऋषि 'दध्यङ्ङाथर्वण' है।

५. **चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने:।**
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

यह मन्त्र ऋ० १. ११५. १ में आया है, जहां इसका ऋषि 'कुत्स आङ्गिरस:' है । यजु० १३.४६ में इसका ऋषि साध्या: और प्रजापति: है । अथर्व० १३.२.३५ में इसका ऋषि ब्रह्मा है और अ० २०. १०७. १४ में सूर्य:, देवी, कुत्स: इस प्रकार हैं ।

६. **वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।**
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओत: प्रोतश्च विभू: प्रजासु ॥

इस मन्त्र का यजु० ३५.८ में स्वयंभू ब्रह्म ऋषि हैं और अथर्व० २. १. २ में वेन: ।

७. **हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥**

इस सुप्रसिद्ध मन्त्र का जो ऋ०१०. १२१. ५ में आया है, ऋषि 'हिरण्यगर्भ: प्राजापत्य:' है और यजु० ३२. ६ में इस का ऋषि स्वयंभू ब्रह्म है ।

८. **समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥**

इसका ऋषि ऋ० ८. ४४. १ में विरूप आदित्य है और यजु० ३. १ में अग्नि है ।

एक ही वेद में भिन्न स्थानों पर एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न ऋषि

अब हम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करेंगे जहां उसी वेद में एक ही मन्त्र के भिन्न स्थलों में भिन्न ऋषि हैं । उदाहरणार्थ—

१. **आप: पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥**
इदमाप: प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि । यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ ७ ॥
आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगन्महि । पयस्वानग्न आगहि तं मा संसृज वर्चसा ॥ ९ ॥

ये तीन मन्त्र ऋग्वेद १. २३. २१-२३ में हैं, जहां इनका ऋषि मेधातिथि काण्व है, किन्तु दशम मण्डल सूक्त ९ में भी ये मन्त्र आये हैं (मन्त्र ७. ९), वहां इनके ऋषि त्रिशिरास्त्वाष्ट्र: सिन्धुद्वीपो वाम्बरीष: हैं । इस भेद की मन्त्रों को ऋषिकृत मानने वाले क्या व्याख्या कर सकते हैं ? क्या वे यह कहेंगे कि इन मन्त्रों को पहले मेधातिथि काण्व ने बनाया था और फिर त्रिशिरा और सिन्धुद्वीप ने चोरी करके अपने नाम पर प्रसिद्ध कर दिया ? ऐसी कल्पना नितान्त अन्यायसूचक और ऋषियों पर चोरी का असत्य आरोप लगानेवाली होगी । यदि ऋषियों को द्रष्टा माना जाये जैसा 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार: ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेति' के आधार पर पहले भी दिखाया जा चुका है तो विषय स्पष्ट हो जाता है । एक ही मन्त्र के रहस्य और भाव का प्रचार करनेवाले अनेक ऋषि हुए और हो सकते हैं ।

२. **इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुव: । बर्हि: सीदन्त्वस्रिध: ।**

यह मन्त्र ऋग्वेद १.१३.९ में है, जहां इसका ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है । यही मन्त्र ५. ५. ८ में भी आता है और वहां उसका ऋषि वसुश्रुत आत्रेय है । जो लोग मन्त्रों को ऋषिकृत मानते हैं वे इस ऋषिभेद का कोई समाधान नहीं कर सकते सिवाय इसके कि वे यह कहें कि यह मन्त्र मेधातिथि काण्व ने बनाया और पीछे से वसुश्रुत आत्रेय ने उसे चुराकर अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया । क्या 'साक्षात्कृतधर्मा' ऋषियों के विषय में ऐसी कल्पना करना कभी उचित हो सकता है ? पाठक स्वयं निर्णय करें ।

३. **विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्त्वपरिहृताः सनुयाम वाजम्।**
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में दो बार आया है। १. १००. १९ में इसके ५ ऋषि बताये गये हैं 'वृषागिरो महाराजस्य वार्षागिरा ऋज्राश्वाम्बरीषसहदेवभयमानसुराधसः', और जब यही मन्त्र १. १०२. ११ में आता है तो उसके उपर्युक्त ५ ऋषियों के स्थान में 'कुत्स आङ्गिरस' ऋषि है। इस अन्तर की व्याख्या भी मन्त्रों को ऋषिकृत मानने पर सिवाय कुत्स आङ्गिरस की चोरी और चुराकर अपने नाम से प्रसिद्ध करने के नहीं हो सकती। ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा मानने पर एक मन्त्र के अनेक प्रचारक मानने में कोई आक्षेप का कारण नहीं।

४. **इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध। स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥**

इस मन्त्र का तमाशा ऋषियों को मन्त्रकर्ता माननेवालों की दृष्टि से देखने योग्य है। यह मन्त्र ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में कई बार आया है। ऋ० ३. १. २३ में इसका ऋषि गाथिन विश्वामित्र है। ऋ० ३. १५. ७ में इसका ऋषि गाथिन विश्वामित्र नहीं, किन्तु उत्कील वात्य है। ऋ० ३. २२. ५ में इसका ऋषि गाथी है। ऋ० ३. २३. ५ में इसके भरत-कुलोत्पन्न देवश्रवा और देववात ये दो ऋषि हैं (देवश्रवा देववातश्च भारतावृषी) शेष चार स्थानों पर ऋ० ३. ५. ११, ३. ६. ११ और ३. १०. ११ और साम० ५. १. १. ८. ४ में ऋषि विश्वामित्र है।

अब मन्त्रों को ऋषिकृत माननेवाले सिवाय इसके क्या कह सकते हैं कि यह मन्त्र बनाया तो विश्वामित्र ने था, जिसका चार स्थानों पर उसे ही ऋषि बताया गया है, किन्तु एक बार तो उसके पिता गाथी ने पुत्र की इस कृति को चुराकर अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया और उत्कील वात्य तथा देवश्रवा और देववात नामक ऋषियों ने भी किसी तरह इसे चुराकर अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया। क्या ऋषियों को ऐसा चोर और प्रसिद्धिलोलुप कपटी मानना उचित होगा ?

५. **विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्। एदं बर्हिर्निषीदत।**

यह मन्त्र ऋग्वेद २. ४१. १३ में आया है, जहां इसका ऋषि गृत्समद है और यही मन्त्र जब ऋ० ७. ५२. ७ में आता है तो इसका ऋषि गृत्समद के स्थान पर ऋजिश्वा है। इस अन्तर का भी ऋषियों को मन्त्रकर्ता माननेवाले सिवाय चोरी और धोखेबाजी के क्या समाधान कर सकते हैं ?

६. **राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद् गभीरं तव सोम धाम।**
शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम ॥

यह मन्त्र ऋ० १. ९१. ३ में है जहां इसका ऋषि 'गोतमो राहूगणः' है, किन्तु यही मन्त्र जब ऋ० ९. ८८. ८ में आता है तो उसका ऋषि गोतम राहूगण न होकर 'उशनाः काव्यः' ऐसा लिखा हुआ मिलता है।

७. **यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे ॥**

यह मन्त्र ऋ ८. ६५. ७ में आया है, जहां इसका ऋषि 'प्रगाथः काण्वः' है, किन्तु ऋ० ४. ३२. १३ में इसका ऋषि वामदेव है।

८. **पुरोडाशं च नो वसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम् ॥**

यह मन्त्र ऋ० ३. ५३. ३ में आता है, जहां उस का ऋषि विश्वामित्र है और जब यह मन्त्र ४. ३२. ६ में आता है तो उसका ऋषि वामदेव है। इस अन्तर की ऋषियों के मन्त्रकर्तृत्ववाद में सिवाय चोरी वा नकल के कोई व्याख्या नहीं की जा सकती।

९. **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥**

यह मन्त्र ऋ० १. १६४. ५० में आता है, जहां इसका ऋषि दीर्घतमा औचथ्य है, किन्तु जब यही मन्त्र १०. ९०. १६ में आता है, तो उसका ऋषि नारायण है।

१०. **अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्। स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥**

जब यह मन्त्र ऋ० १. १६६. ३१ में आता है तो इसका ऋषि 'दीर्घतमा औचथ्य' है, किन्तु यही मन्त्र ऋ० १०. १७७. ३ में आया है, वहां इसका ऋषि 'पतङ्ग प्राजापत्य' है।

११. **तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वग्निदृतायतः।**
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥

यह मन्त्र ऋ० २. १. २ में आया है, जहां इसका ऋषि 'आङ्गिरसः शौनहौत्रो भार्गवो गृत्समदः' इस प्रकार लिखा है और जब यही मन्त्र ऋ० १०. ९१. १० में आता है तो इसका ऋषि 'अरुणवैतहव्यः' है।

१२. **पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विश्वा विशो अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे ॥**

यह मन्त्र ऋग्वेद ८. ११. ८ में आया है, जहां इसका ऋषि 'वत्सः कण्वः' है और जब यह ८. ४३. ११ में आता है तो इसका ऋषि 'विरूपः आङ्गिरसः' है।

१३. **मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्।**
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद ३.४७.५ में आया है, जहां इसका ऋषि विश्वामित्र है और जब यही मन्त्र ऋ० ६. १९. ११ में आता है तो इसका ऋषि 'भरद्वाज' है। इस अन्तर की व्याख्या मन्त्रद्रष्ट्रत्ववाद के आधार पर तो सर्वथा सरल है, किन्तु ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने पर ऋषि भरद्वाज को चोर, नक्काल, धोखेबाज और प्रसिद्धिलोलुप माने बिना काम नहीं चल सकता जो ऋषित्व के विरुद्ध कल्पना है।

१४. **आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे। अर्कस्य योनिमासदम् ॥**

यह मन्त्र जब ऋग्वेद ९. २५. ६ में आता है तो इसका ऋषि 'दृढच्युत अगस्त्य' है और जब यही ऋ० ९. ५०. ४ में आता है तो इसका ऋषि अगस्त्य के स्थान पर 'उचथ्य आङ्गिरस' लिखा हुआ मिलता है। इसकी ऋषियों के मन्त्रकर्तृत्ववाद के अनुसार कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती।

१५. **इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्य। वोढामभि प्रयो हितम् ॥**

यह मन्त्र ऋग्वेद ८.३२.२९ में आता है, तो इसका ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है और जब यही ऋग्वेद ८.९३.२४ में आता है तो इसका ऋषि 'सुकक्ष आङ्गिरस' है। इस ऋषिभेद की व्याख्या ऋषियों के मन्त्रकर्तृत्ववाद के अनुसार चोरी वा नकल और कपट का आरोप ऋषियों पर किये बिना नहीं हो सकती।

१६. **इन्द्रः सुत्रामा स्ववां अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः।**
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद ६. ४७. १२ में आता है जहां इसका ऋषि 'गर्ग' है। जब यह मन्त्र ऋ० १०. १३१. ६ में आता है तो इस का ऋषि 'सुकीर्ति काक्षीवत' है और जब यही मन्त्र अथर्व० ७. ९. १. १ में आता है तो इसका ऋषि न गर्ग, न

सुकीर्ति, किन्तु 'अथर्वा' है। तब क्या यह माना जाए कि इस मन्त्र की रचना तो गर्ग ने की किन्तु उसको सुकीर्ति और उसके पश्चात् अथर्वा ने चुराकर अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया? ऐसी कल्पना ऋषियों पर भयंकर आरोप लगानेवाली है जब कि ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा मानने पर एक मन्त्र के ३, ४ या ५ ही क्या 'आङ्गिरसः सहस्रसंख्याका ऋषयः' के अनुसार हजार तक भी ऋषि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

१७. **आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः। सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तु॥**

यह तथा इसके साथ के 'तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु, वनस्पतेऽव सृजोपदेवान्, आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङ', ये तीन मन्त्र ऋग्वेद ३. ४. ८-११ में आते हैं, जहां इनका ऋषि विश्वामित्र है और जब यही मन्त्र ऋ० ७. २. ८-११ में आते हैं तो इनका ऋषि विश्वामित्र के स्थान पर वसिष्ठ है। ऋषियों को मन्त्रकर्ता माननेवालों के अनुसार तो यही कल्पना करनी पड़ेगी कि मन्त्रों को विश्वामित्र ने बनाया था, पीछे से वसिष्ठ ने, जो उसका विरोधी था, इन्हें किसी तरह चुरा लिया और अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया। 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श' के अनुसार विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों को इस मन्त्र का ऋषि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार के अन्य भी सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहां एक ही वेद और मण्डल में एक ही मन्त्र के ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। इसकी व्याख्या ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने पर नहीं हो सकती, जब कि उन्हें मन्त्रद्रष्टा मानने पर बड़ी सरलता से हो जाती है। अतः ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानना ठीक नहीं है।

ऋषि कौन होते हैं?

यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि ऋषि कौन होते हैं? यजु० ३४. ४९ में ऋषियों का लक्षण बड़े उत्तम रूप में पाया जाता है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

सह स्तोमाः सहच्छन्दस आवृतः सह प्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वलेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥

इस मन्त्र में ऋषियों के गुणसूचक निम्न शब्द हैं—

(सह स्तोमाः) प्रशंसा के साथ वर्तमान वा जिनकी शास्त्रस्तुति एक-साथ हो।

(सहच्छन्दसः) वेदादि का अध्ययन जिनका साथ हो।

(आवृतः) ब्रह्मचर्य के साथ समस्त विद्या पढ़ और गुरुकुल से समावृत्त होकर आये हुए।

(सहप्रमाः) साथ ही जिनका प्रमाणादि यथार्थ ज्ञान हो।

(सप्त दैव्याः) पांच ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण और आत्मा ये जिनके अत्यन्त दिव्य वा पवित्र हों अथवा उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव में प्रवीण ध्यानवाले योगी।

(ऋषयः) वेदों के न केवल ज्ञाता किन्तु यथार्थद्रष्टा—वेदों के रहस्य का साक्षात् करके उनका उपदेश करनेवाले, ऐसे ऋषियों के विषय में मन्त्र में कहा गया है कि वे जैसे सारथी लगाम की रस्सी को ग्रहण करता है वैसे पूर्वज विद्वानों के मार्ग को (अनुदृश्य) विवेकपूर्वक अनुकूलता से देखके (अन्वालेभिरे) पश्चात् उस सत्य मार्ग का अवलम्बन करते हैं। वैसे ही सब लोगों को उन आप्त लोगों के मार्ग पर चलना चाहिए।

इस मन्त्र का भावार्थ वैदिक धर्मोद्धारक-शिरोमणि महर्षि दयानन्द के शब्दों में यह है कि जो रागद्वेषादि दोषों को दूर छोड़कर आपस में प्रीति रखनेवाले हों, ब्रह्मचर्य से धर्म के अनुष्ठानपूर्वक समस्त वेदों को जानके सत्य-असत्य का

निश्चय कर सत्य को प्राप्त हों और असत्य को छोड़के आप्तों के भाव से वर्तते हैं वे सुशिक्षित सारथियों के समान अभीष्ट धर्मयुक्त मार्ग में जाने को समर्थ होते और वे ही ऋषिसंज्ञक होते हैं।

इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं, किन्तु वेदों का अध्ययन और मनन करके उनके द्रष्टा वा रहस्यवेत्ता होते हैं। छन्द वा वेद उनसे पूर्व विद्यमान होते हैं जिनके मन्त्रों का वे साक्षात्कार करते हैं।

'सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते स्वर्गं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥'

अर्थात् ऋषि वे होते हैं जो सर्वव्यापक परमात्मा को सर्वत्र अनुभव करते हुए ज्ञान से तृप्त, रागरहित, आनन्दित और अत्यन्त शान्त हो जाते हैं।

इसी के अनुसार निरुक्त में यास्काचार्य ने कहा है कि—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।' —निरुक्त १.१९

अर्थात् ऋषि लोग वेदोक्त धर्म का (क्योंकि धर्म का मुख्य लक्षण मीमांसादि शास्त्रानुसार **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** अर्थात् जो वेदविहित है वह धर्म है) साक्षात्कार करनेवाले होते हैं।

ऐसे ऋषियों को भ्रान्तिवश मन्त्रकर्ता मानकर और उन मन्त्रों के भी अत्यन्त अशुद्ध अर्थ समझकर स्वर्गीय श्री कन्हैयालाल जी मुन्शी ने जो भारतीय संस्कृति के प्रेमी और Vedic Age के भूमिका-लेखक तथा मुख्य प्रेरक थे, ऋषियों के सम्बन्ध में अपनी 'लोपामुद्रा' नामक पुस्तक में जो बातें लिखी हैं वे कितनी भ्रान्तिपूर्ण और अयथार्थ हैं, यह देखकर हमें अत्यधिक दुःख और आश्चर्य हुआ। आपने 'लोपामुद्रा' की भूमिका में लिखा है—'ऋषि चपटी नाक वाले, काले-कलूटे, दास-दासियों से भीख मांगते और भेंट लेते, सोमरस पीकर नशे में चूर रहते, लोभ और क्रोध का प्रदर्शन करते और गौवें देनेवाले की प्रशंसा करते थे। वे कभी-कभी द्वेष से भड़ककर आग-बबूला हो जाते और एक-दूसरे पर देवों का क्रोध उतारने का प्रयत्न करते।

युवक और युवतियां अपने हाव-भावों से एक-दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करते थे। ऋषि रूपवती स्त्रियों के आकर्षण के लिए मन्त्रों की रचना करते थे।' इत्यादि। ('लोपामुद्रा' भूमिका)

आर्यों का जो घृणित चित्र इस पुस्तक में खींचा गया है उसे उद्धृत करते हुए भी हमें लज्जा आती है, तथापि उस का उल्लेख हम प्रकरणानुसार करके उसकी सप्रमाण निस्सारता और अयथार्थता दिखायेंगे। यहां प्रसङ्गवश हमने ऋषियों के विषय में उनके भ्रान्तिपूर्ण विचारों का दिग्दर्शन कराया है। पाठक इन विचारों की ऊपर दिये वेद, उपनिषद् और निरुक्तादि प्रामाणिक ग्रंथों के ऋषि-विषयक लक्षणों के साथ निष्पक्षभाव से तुलना करेंगे तो उन्हें स्पष्टतया ज्ञात हो जायेगा कि ऋषियों के विषय में उनकी कल्पना सर्वथा अशुद्ध है। वेद और ब्रह्म के वेत्ता ऋषि जिनके ज्ञानतृप्ताः, कृतात्मानः, वीतरागाः, प्रशान्ताः, साक्षात्कृतधर्माणः इत्यादि विशेषण वेदों और उपनिषदों में तथा निरुक्तादि आर्ष ग्रन्थों में दिये गये हैं वे ऐसे लोभी, क्रोधी और कामी कभी न थे जैसा 'लोपामुद्रा' में उन्हें दिखाया गया है। एक ऐसी पुस्तक में जिसे 'आर्यावर्त की महागाथा' के नाम से प्रकाशित किया गया हो और जिसके प्रकाशकों ने भूमिका में लिखा हो कि 'आर्यावर्त की महागाथा' नाम से मुन्शी जी ने तीन खण्डों में वैदिककालीन आर्य संस्कृति के धुंधले इतिहास को सुस्पष्ट करके उपस्थित किया है। इसमें वैदिक सभ्यता और संस्कृति का बहुत ही सुन्दर और अधिकृत चित्रण है।—मुन्शी जी की अन्य सभी कृतियों की तरह यह पुस्तक भी अद्भुत एवम् अतीव रसमय है। इत्यादि— ऋषियों के चरित्र का ऐसा दूषित और निराधार चित्रण अत्यन्त निन्दनीय है। 'ऋषि रूपवती स्त्रियों के आकर्षण के लिए मन्त्रों की रचना करते थे।' ऋषियों के प्रति इस घोर अपमानजनक स्थापना

के लिए लेखक ने एक भी प्रमाण नहीं दिया। केवल उनके लिख देने से ही ऐसी बात जो ऋषियों के लक्षण के ही सर्वथा विरुद्ध हो (जो ऋषि वीतराग और प्रशान्त होते हैं) कैसे माननीय हो सकती है? ऋषियों द्वारा लोभ और क्रोध के प्रदर्शन का भी कोई उदाहरण वा प्रमाण लेखक ने देने का कष्ट नहीं किया, जिससे उसकी परीक्षा करके यथार्थ अभिप्राय बताया जा सकता।

सोम शब्द के अनेकार्थ

'ऋषि सोमरस पीकर नशे में चूर रहते थे' लेखक का यह कथन भी सर्वथा अशुद्ध है। सोम का अर्थ वे मादक पेयविशेष समझते हैं और ऋषियों को उसके नशे में चूर समझते हैं। वस्तुतः वेदों में सोम शब्द—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः। त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥

—ऋ० १. ९१. २२ तथा साम० पूर्वार्चिक अ० ६, खं० ३, मं० ३

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥

— ऋ० ९. ९६. ५; साम० पू० अ० ५, खं० ६, मं० ५

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति। पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद् रोदसी उभे॥

— ऋ० ९. १०१. ७; साम० पू० अ० ५, खं० ८, मं० २

पवस्व सोम महान् समुद्रः पिता देवानां विश्वाभिधाम।

— ऋ० १०९. ४९; साम० पू० अ० ४९, खं० ९, मं० ३

विश्वा धामानि विश्वचक्षऋभ्वसः प्रभीष्टे सतः परियन्ति केतवः।
व्यानशी पवसे सोम धर्मणा पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि॥

— ऋ० ९. ८६. ५; साम० उ० अ० ५, खं० १, मं० ३

ऋ० ९. १०१. ७, साम० पू० अ० ५ खं० ८ मं० २ इत्यादि मन्त्रों में स्पष्टतया परमेश्वरवाचक है जिसे ओषधि, जल, अन्तरिक्ष, पृथिवी, आकाश, अग्नि, सूर्य, वायु इत्यादि का उत्पादक, प्रकाशक और सारे विशाल जगत् का स्वामी तथा सब लोकों में व्यापक बताया गया है और जिसके लिए कहा गया है कि हे सोम ! तू सारे संसार का राजा है (पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि), सर्वज्ञ वा सर्वद्रष्टा, सब लोकों में व्याप्त और महान् प्रभु तथा गुणों का महान् समुद्र और सब देवों का पिता है। तू हमें पवित्र कर !—ऐसा कहा गया है।

क्या कोई मूर्ख से मूर्ख जंगली भी सोम नामक वनस्पति व ओषधि के विषय में ऐसी बातें कहने का साहस कर सकता है कि वह सर्वव्यापक, सूर्य, अग्नि, जल, वायु, पृथिवी सबका उत्पादक, सर्वज्ञ और सारे संसार का स्वामी है? कभी नहीं। अतः वेदों के अनुसार सोम शब्द परमात्मवाचक है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। जहां सोम शब्द परमात्मवाचक है वहां परमेश्वर के प्रति ज्ञानमय भक्ति का भी यही वाचक है; यह वेदों के निष्पक्ष-अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ ऋ० ९. १०८. १ में कहा है—

पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः। महि द्युक्षतमो मदः॥

यहां सोम को मधुमत्तम अर्थात् अत्यन्त माधुर्ययुक्त मस्ती उत्पन्न करनेवाला कहा है, किन्तु वह शराब की प्राकृतिक मस्ती नहीं अपितु उसे आत्मा के लिए (इन्द्राय) क्रतुवित्तम अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करानेवालों में श्रेष्ठ, अथवा श्रेष्ठ संकल्प

को प्राप्त करानेवालों में श्रेष्ठ, अत्यधिक यशस्वी बनानेवाली आध्यात्मिक मस्ती (महिद्युक्षतमो मदः) इस रूप में वर्णित किया गया है । उसे शराब आदि की तरह की कोई वस्तु समझ लेना बड़ी भूल है । सोम का वर्णन इन शब्दों में है कि—

शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतः स मधुमान् । देवावीरघशंसहा ॥

— ऋ० ९. २४. ७; साम० उ० अ० ६, खं० २, मं० ७

अर्थात् यह सोम न केवल स्वयं पवित्र है बल्कि दूसरों को भी पवित्र करनेवाला (पावकः) और (मधुमान्) माधुर्य से भरा हुआ (देवावीः) दिव्य गुणों को बढ़ानेवाला और (अघशंसहा) पापमयी भावनाओं का नाश करनेवाला है । स्पष्ट है कि यह वर्णन शराब जैसी मादक वस्तु का नहीं, किन्तु ज्ञानमय भक्ति के पवित्र और पावन आध्यात्मिक मद का है ।

इसी प्रकार ऋ० ९. ९७. ३६, सामवेद उ० अ० ४ खं० ४ मं० ६ का सोम-विषयक निम्न वर्णन भी इस विषय में अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया है—

एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति ।
इन्द्रमा विश बृहता मदेन वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम् ॥

— ऋ० ९. ९७. ३६; साम० उ० अ० ४, खं० ३, मं० ६

इसमें सोम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तू हमें सब ओर से पवित्र कर । अपनी बड़ी भारी मस्ती के साथ इन्द्र (जीवात्मा) के अन्दर प्रवेश कर, हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ा और हममें उत्तम बुद्धि को उत्पन्न कर ।

बुद्धिनाशक शराब के विषय में इस प्रकार का वर्णन सर्वथा असङ्गत है । यह स्पष्टतया ज्ञानमय भक्तिभाव की आध्यात्मिक मस्ती का वर्णन है, जो अत्युत्तम बुद्धि को उत्पन्न करती और वाणी आदि की शक्ति को बढ़ाकर मनुष्य को पवित्र कर देती है । ऋ० ९. १०८. ३, साम० पू० अ० ५ खं० ११ मं० ६ का—

त्वं ह्या३ङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय घोषयः ॥

यह सोम-विषयक वर्णन भी इस प्रसङ्ग में अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि—

हे सोम ! तू (पवमान) सबको पवित्र करनेवाला, (द्युमत्तमः) अत्यन्त प्रकाशमान और मनुष्य-जन्म को दिव्य बनाता हुआ उसके लिए अमृतत्व की घोषणा करता है । यह सोम ज्ञानमय भक्तिभाव है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता । ऐसे ही—

१. **शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजायै ।** — ऋ० ९. १०९. ५
२. **दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व ।** — ऋ० ९. १०९. ६
३. **ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत् ।** — ऋ० ९. १०८. ८

तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है, जो स्पष्टतया सूचित करते हैं कि वेदों में सोम परमेश्वर के अतिरिक्त ज्ञानमय परमेशभक्ति के आध्यात्मिक मद का सूचक है । इसे न समझकर स्वर्गीय कन्हैयालाल जी मुन्शी तथा अन्य विद्वानों का यह लिखना कि ऋषि (भौतिक) सोम का रस पीकर नशे में चूर रहते थे, सर्वथा अशुद्ध है इसमें सन्देह नहीं । इन मन्त्रों में सोम को ऋत सत्य और वेद से उत्पन्न, सत्य के कारण ही प्रसिद्ध, ज्ञान का धारण करनेवाला दिव्य अमृत, पृथिवी, आकाश और सारी प्रजा के लिए शान्ति और पवित्रताकारक बताया गया है । कोई पागल से पागल व्यक्ति भी शराब जैसी वस्तु का ऐसा वर्णन नहीं कर सकता ।

ऋषिवाचकपद प्रायः उपनाम

कई महानुभावों को वेदमन्त्रों में ऋषियों के नामों को देखकर यह सन्देह हो जाता है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, कण्व, कश्यप आदि जो ऋषि नाम से रामायण-महाभारतादि में पीछे से प्रसिद्ध हुए, उन्हीं के नाम वेदों में आये हुए हैं, अतः वेद पौरुषेय रचना है। इस विषय पर हम कुछ प्रकाश सप्रमाण पहले डाल चुके हैं, तथापि कुछ और आवश्यक बातों का निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे एतद्विषयक भ्रम की निवृत्ति हो सके। प्रथम बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह कि वेदों में वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, कण्व, कश्यपादि शब्द यौगिक हैं और वे व्यक्तिविशेष-वाचक नहीं, किन्तु उनके प्राण, श्रोत्र, विविध तापरहित, बुद्धिमान्, सर्वद्रष्टा परमेश्वर इत्यादि अर्थ हैं। इसके लिए हम अनेक आर्षवचन प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत कर चुके हैं। ऋषियों ने वेदों में उन शब्दों का यौगिकार्थ देख और उपयोग पाकर अपने लिए उन नामों को चुन लिया जैसे ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, सिख, यहूदी इत्यादि विविध मतावलम्बी अपने-अपने मान्य ग्रन्थों में से अपने मान्य महानुभावों के नाम ग्रहण कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त इस बात के सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं कि ऋषियों के जो नाम माने जाते हैं वे उनके कल्पित वा उपनाम हैं। लोक में भी देखा जाता है कि जो जिस विषय का विशेष रूप से प्रतिपादन करनेवाला हो, उसका वही नाम प्रायः प्रसिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ महात्मा मुन्शीराम जी ने जब गुरुकुल-विषयक प्रचार किया तो सर्वसाधारण उनको 'गुरुकुल' आ गया—ऐसा भी कहने लग गये थे। गुरुकुल काङ्गड़ी में स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर एक सज्जन की तद्विषयक कार्यार्थ नियुक्ति की गई। चिरकाल तक अधिकतर ब्रह्मचारी और कर्मचारी उन्हें श्री जयन्तीप्रसाद के नाम से स्मरण करते रहे। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ऋषियों के भी नाम प्रायः इसी प्रकार के हैं ऐसा दिखाने के लिए सैकड़ों में से कुछ अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जिनमें सन्देह का कोई कारण ही प्रतीत नहीं होता।

१. ऋग्वेद १०. ९० को 'पुरुष सूक्त' के नाम से कहा जाता है, जिसका प्रारम्भ—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'

इत्यादि मन्त्र से है। इसमें विराट् पुरुष अथवा परमेश्वर और तन्निर्मित जगत् का वर्णन है। इसका ऋषि नारायण है, जो परमेश्वरवाचक शब्द है और जिसकी व्युत्पत्ति मनुस्मृति १०. १० में इस रूप में की गई है—

आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

२. ऋग्वेद १०. ९७ का देवता 'ओषधीस्तुतिः' है, जिसमें ओषधियों के गुणों का बड़ा उत्तम प्रतिपादन किया गया है। इसका ऋषि 'भिषक्' अर्थात् वैद्य वा चिकित्सक है।

३. ऋ० १०. १०१ का देवता 'विश्वे देवा ऋत्विजो वा' ऐसा लिखा है और इसका ऋषि 'बुधः सौम्यः' अर्थात् सौम्य गुण युक्त बुद्धिमान् है, जो सर्वथा उपयुक्त ही है।

४. ऋग्वेद १०. १०७ का देवता 'दक्षिणा तद्दातारो वा' है, जिसमें दान देने का महत्त्व बड़ी उत्तमता से बताया गया है। इसका ऋषि 'दिव्यो दक्षिणा वा' ऐसा लिखा है।

५. ऋग्वेद १०. ११७ का देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय 'धनान्न दान प्रशंसा' है और उसका ऋषि 'भिक्षुः' है जो सर्वथा तदनुरूप है।

६. ऋ० १०. १२१ के सुप्रसिद्ध सूक्त का देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय 'कः' अर्थात् सुख-स्वरूप परमेश्वर है, क्योंकि सारे सूक्त में उसका बड़ी उत्तम रीति से प्रतिपादन है। उसका ऋषि 'हिरण्यगर्भः' यही है।

७. ऋ० १०. १२३ का देवता 'वेन:' है, जिसका अर्थ उत्तम कामना करनेवाला प्रेमी भक्त है और उसका ऋषि भी 'वेन:' ही है ।

८. ऋ० १०. १२४ के २-४ मन्त्रों का देवता 'अग्नि:' है और उनका ऋषि भी 'अग्नि:' ही है ।

९. ऋ० १०. १२५ का देवता वागाम्भृणी है और उसकी ऋषिका भी वागाम्भृणी अर्थात् महती वाक् है । विषयानुरूप ही ऋषि का उपनाम रखा गया है यह स्पष्ट है ।

१०. ऋ० १०. १२० का देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय 'रात्रि स्तव:' और उसकी ऋषिका भी 'रात्रि:' बताई गई है ।

११. ऋ० १०. १२९ के सुप्रसिद्ध सूक्त का देवता वा प्रतिपाद्य विषय—

'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्'

इत्यादि मन्त्रों में 'भाववृत्तम्' है अर्थात् इसमें सृष्टि से पूर्व का वृत्त और फिर सृष्टि की उत्पत्ति का विषय वर्णित है, जिस पर प्रो० मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य विद्वान् भी इतने मुग्ध हुए कि निम्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हुए उन भावों को ईश्वरीय ज्ञान के ही रूप में उन्हें स्वीकार करने को विवश होना पड़ा—

'These startling outbursts of philosophic thought seem indeed to require the admission of a long continued effort of meditation and speculation before so complete a rupture with the old conception of physical gods could have become possible.....nor must we forget that there always have been privileged individuals whose mind was untrammelled by the thoughts of the great mass of the people and who saw and proclaimed, as if inspired by a power not themselves, truths, far beyond the reach of their fellow men. (*The Six Systems of Indian Philosophy* Vol. I by Prof. Maxmuller)

इस सूक्त का ऋषि अथवा मन्त्रद्रष्टा भी 'प्रजापति: परमेष्ठी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

१२. ऋ० १०. १८० का देवता 'अग्नि:' है और उसका ऋषि भी 'अग्नि: पावक:' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि उस ने अग्नि-विद्या का विशेष प्रचार किया ।

१३. ऋ० १०. १५१ मन्त्रों का देवता और ऋषि श्रद्धा है—क्योंकि

श्रद्धयाग्नि: समिध्यते श्रद्धयाहूयते हवि: । श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

इत्यादि मन्त्रों में प्रतिपाद्य विषय श्रद्धा है और इसकी ऋषिका भी श्रद्धा के विषय में विशेष प्रचार के कारण श्रद्धा के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

१४. ऋ० १०. १५२ का देवता जिसका प्रारम्भ—

शास इत्था महां अस्यमित्रखादो अद्भुत: । न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥
स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । वृषेन्द्र: पुर एतु न: सोमपा अभयङ्कर: ॥

इत्यादि मन्त्रों में 'इन्द्र:' अर्थात् परमैश्वर्यसम्पन्न शासक है; उसका ऋषि भी 'शास:' इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

१५. ऋ० १०. १५८ के **'सूर्यो ना दिवस्पातु'**

मन्त्र से प्रारम्भ होनवाले सूक्त का देवता वा प्रतिपाद्य विषय 'सूर्यः' है और उसका ऋषि भी 'चक्षुः सौर्यः' ऐसा लिखा गया है।

१६. ऋ० १०. १६१ के सुप्रसिद्ध मन्त्र **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'** प्रारम्भ होनेवाले हवन द्वारा राजयक्ष्मादि रोगों की चिकित्सा का प्रतिपादन करनेवाले सूक्त का देवता 'राजयक्ष्मघ्नम्' ऐसा है और इसका ऋषि भी 'यक्ष्मनाशनः' इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१७. ऋ० १०. १६३ के—**अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।**
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते॥

इस मन्त्र से प्रारम्भ होनेवाले सूक्त का, जिसमें सब अङ्गों से रोगकृमियों को दूर करने का वर्णन है और जिसका देवता 'विवृहा काश्यपः' सर्वद्रष्टा परमेश्वर वा ज्ञानी का पुत्र रोगों को निकालकर परे फेंकनेवाला इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१८. ऋ० १०. १६४ की देवता 'दुःस्वप्नघ्नम्' है, क्योंकि इसमें—

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।

इत्यादि मन्त्र द्वारा मन के बुरे विचारों और तज्जन्य बुरे स्वप्नों को दूर करने का प्रतिपादन है, अतः उसका ऋषि भी 'प्रचेताः' अथवा उत्तम ज्ञानी माना गया है।

१९. ऋ० १०. १७३ का देवता 'राज्ञः स्तुतिः' है, जिसमें अभिषेक के समय राजा को सम्बोधन करते हुए—

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

इत्यादि मन्त्र आये हैं। इन मन्त्रों में राजा को प्रजा की इच्छा के अनुकूल कार्य करते हुए ध्रुव अथवा कर्तव्यपालन में दृढ़ होने का उपदेश है, अतः इसका ऋषि भी 'ध्रुवः' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

२०. ऋ १०. १८३ में केवल ३ तीन मन्त्र हैं, जिनमें से प्रथम में विवाहकामा कन्या की इष्ट विवाहार्थी वर के प्रति—

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम॥

यह उक्ति है और दूसरे में विवाहार्थी युवक की उक्ति है कि—

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे॥

इन मन्त्रों में वे एक-दूसरे के प्रति उत्तम सन्तानोत्पत्ति के लिए विवाह-सम्बन्ध करने का प्रस्ताव करते हैं, अतः इसका देवता 'यजमानपत्नीहोत्राशिषः' और ऋषि 'प्रजावान् प्राजापत्यः' है जो सर्वथा उपयुक्त कहा जा सकता है।

२१. ऋ १०. १८४ जिसमें—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥

इत्यादि मन्त्र हैं और 'गर्भार्थाशी:' देवता है, ऋषि 'त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्य:' माना गया है, जो उसके प्रतिपाद्य विषय के सर्वथा अनुरूप है ।

२२. ऋ० १०. १८६ में–

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

इत्यादि केवल तीन ही मन्त्र हैं, जिनमें शुद्ध वायु के सेवन का महत्त्व वर्णित है और इसलिए जिसका वायुर्देवता है; 'उलो वातायन:' यह ऋषि माना गया है जो देवता के अनुरूप है । उसका अर्थ गतिशील वायुसेवी है ।

२३. ऋ० १०. १८७ का, जिसका प्रारम्भ–

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥

इस मन्त्र से होता है, देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय 'अग्नि:' है और ऋषि 'वत्स आग्नेय:' अर्थात् अग्नि-विद्या जाननेवाले की सन्तान है ।

२४. ऋ० १०. १९० के सुप्रसिद्ध सूक्त का, जिसका प्रारम्भ—**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसो ऽध्यजायत ।**

इत्यादि मन्त्र से है और जिसमें सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम बड़ी उत्तमता से बताते हुए यह उपदेश किया गया है कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हुए सब प्रकार के पाप से बचना चाहिए और इसीलिए जिसे 'अघमर्षण' इस नाम से भी पुकारा जाता है, देवता 'भाववृत्तम्' है और ऋषि 'अघमर्षण' है, क्योंकि पाप से बचने का उपाय ईश्वरचिन्तनादि है ।

२५. ऋ० १० १९१ के सुप्रसिद्ध सूक्त का, जिसमें **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** इत्यादि ऐक्य तथा प्रीतिवर्धक मन्त्र हैं और जिनका देवता 'संज्ञानम्' है, ऋषि 'संवनन:' अर्थात् अच्छी प्रकार से मिलकर प्रेम से व्यवहार करनेवाला है जो सर्वथा तदनुरूप है ।

इसी प्रकार अन्य सैकड़ों उदाहरण शेष वेदों से भी दिए जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाजादि गुणविशेष-सूचक ऋषियों के उपनाम हैं जो किसी विशेष व्यक्ति के वाचक नहीं लिये जा सकते । इसलिए ऋषि दयानन्द का यह लेख कि–

'यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद् रचितमिति कुतो न स्यात्? मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्।......यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत् तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वात्।'
(ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, वेदोत्पत्ति विषय)

प्रश्न—मन्त्रों या सूक्तों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम लिखे हैं उन्होंने ही उन मन्त्रों की रचना की, ऐसा क्यों न माना जाये ?

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं । ब्रह्मा इत्यादि ने भी वेदों का अध्ययन और श्रवण किया । जब ऋषियों की उत्पत्ति भी न हुई थी, तो भी ब्रह्मा आदि के पास वेद विद्यमान थे । यह सर्वथा माननीय है ।

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् ६. १८)

इस वचन को पहले उद्धृत किया ही जा चुका है, जिससे महर्षि दयानन्द के कथन की सत्यता सिद्ध होती है।

अधिक गहराई में जायें तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिन ऋषियों के नाम वैदिक मन्त्रों वा सूक्तों पर लिखे हैं उनसे पूर्व भी वे मन्त्र तथा सूक्त विद्यमान थे। इनके तीन ही प्रसिद्ध और स्पष्ट उदाहरण देना यहां पर्याप्त होगा। ऋग्वेद १. २४ के सूक्त का ऋषि—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**— ऐसा लिखा है। वेदों को पुरुषकृत माननेवाले इस सूक्त में आये—**शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः**।(ऋ० १. २४. १३) इस मन्त्र में शुनःशेप शब्द को देखकर यह परिणाम निकालते हैं कि इसी शुनःशेप ने इन मन्त्रों की रचना की। किन्तु वास्तव में ऐसा मानना सर्वथा अशुद्ध है। '**कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्**' सूक्त के इस प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'निरुक्त समुच्चय' नामक ग्रन्थ के लेखक वररुचि ने (जिसके अनेक स्थलों को ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्द स्वामी ने अपने भाष्य में उद्धृत किया है) लिखा है—

> **'अस्याः प्रथमं तावदाख्यानं प्रस्तूयते—अजीगर्तो नाम ब्रह्मर्षिः सुवचस्य सूनुः पुत्रदारादि सहितो दुर्भिक्षे क्षुधया पीड्यमानो निरतिशयतपोमहाभाग्ययुक्तः प्राधान्यात् प्रजापतिमेव देवानां मध्ये प्रथमं प्रार्थयते 'कस्य नूनम्' इति।**
>
> — निरुक्त समुच्चय, पृ० ७७

अर्थात् इस मन्त्र का पहले आख्यान लिखा जाता है। सुवच का पुत्र अजीगर्त नामक ब्रह्मर्षि पुत्र और पत्नी सहित कभी दुर्भिक्ष में भूख से पीड़ित होकर तप के महाधन से युक्त 'कस्य नूनम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा देवताओं में प्रथम ब्रह्मा की प्रार्थना करता है। इत्यादि।

इस लेख से अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि '**कस्य नूनं प्रथमस्यामृतानाम्**' इत्यादि मन्त्रों का निर्माण शुनःशेप ने न किया था, किन्तु उसके पिता अजीगर्त के समय में भी ये अवश्य विद्यमान थे। अन्यथा वे उन्हीं मन्त्रों द्वारा प्रार्थनादि कैसे कर सकते थे?

'शुनःशेप' यह भी यौगिक गुणवाचक शब्द है, व्यक्तिवाचक नहीं। 'शुनमिति सुखनाम शेपः स्पृशतेः' अर्थात् सुख का स्पर्श करनेवाला। शुनःशेप का ऐसा यौगिक अर्थ मान लेने पर मन्त्रार्थ सङ्गत हो जाता है।

द्वितीय स्पष्ट उदाहरण

ऋग्वेद के तृतीयमण्डलान्तर्गत २२वां सूक्त '**अयं सो अग्निः ······इससे प्रारम्भ होता है। इस सूक्त के विषय में तैत्तिरीय संहिता तथा काठक संहिता में लिखा है—अयं सोऽग्निः इत्येतद् विश्वामित्रस्य सूक्तम्**। अर्थात् 'अयं सो अग्निः' यह विश्वामित्र का सूक्त है, किन्तु सर्वानुक्रमणी से ज्ञात होता है कि यह सूक्त न केवल विश्वामित्र के पिता गाधी के समय में विद्यमान था, अपितु वही उसका द्रष्टा था।

आर्षानुक्रमणी से यह बात स्पष्टतया ज्ञात होती है। उदाहरणार्थ आर्षानुक्रमणी ३. ४ में लिखा है—**अग्निं होतारमारभ्य, गाधीनाम स कौशिकः। सूक्तान्यपश्यच्चत्वारि, सूक्तं निर्मिमते परे॥**

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि 'सूक्तान्यपश्यच्चत्वारि' यह पाठ ही यहां पाया जाता है, जिसमें उससे पूर्वसूक्तों की विद्यमानता निश्चित सिद्ध होती है।

तृतीय स्पष्ट उदाहरण मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ का है, जो ऋग्वेद मं० १० सूक्त ६१-६२ का ऋषि है जैसा सर्वानुक्रमणीकार ने स्पष्ट लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४ में जो नाभानेदिष्ठ-विषयक कथा आती है—

नाभानेदिष्ठं शंसति । नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन् सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेति । स पितरमेत्याब्रवीत् त्वां हि वाव मह्यं तताभाक्षुरिति । तं पिताब्रवीद् मा पुत्रक तदादृथाः । अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यन्ति तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय तेषां यत् सहस्त्र सत्रपरिवेषणं तत् ते स्वर्यन्तो दास्यन्तीति ।

अर्थात् जब मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ गुरुकुल में अध्ययन कर रहा था, उसके भाइयों ने अपनी सम्पत्ति इत्यादि का विभाजन कर दिया । उसने गुरुकुल से लौटने पर पिता से कहा कि इस प्रकार भाइयों ने सम्पत्ति का विभाजन कर लिया है । मेरा क्या होगा ? पिता ने कहा तुम चिन्ता न करो । अङ्गिरा के पुत्र एक यज्ञ कर रहे हैं । छठे दिन में उनको मोह प्राप्त हो जाता है अथवा वे एक बात भूल जाते हैं । उनको तुम ये दो सूक्त समझा दो तो वे तुम्हें पुष्कल दक्षिणा दे देंगे । तब मनु-पुत्र ने उसे ऋ० १०. ६१-६२ के दो सूक्त दायभाग में दिये जिनका प्रारम्भ क्रमशः इस प्रकार है—

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्मक्रत्वा शच्यामन्तराजौ ।
क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत्पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन् ॥

तथा
ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

किन्तु इनका ऋषि नाभानेदिष्ठ लिखा है । इसी १०. ६२ सूक्त के दशम मन्त्र में 'यदुस्तुर्वश्च मामहे' यह मन्त्रांश भी मिलता है, जिसमें ऐतिहासिक पक्ष माननेवालों के अनुसार यदु और तुर्वशु का नाम है, जो महाभारत अध्याय ९५ के अनुसार मनु की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुए । यह बात कैसे संभव हो सकती है ? वस्तुतः यदु-तुर्वशु ये दोनों शब्द किसी व्यक्तिविशेष के नाम नहीं अपितु निघण्टु २. ३ के अनुसार मनुष्यनाम हैं—**प्रीताः । तुर्वशाः । द्रुह्यवः । यदवः । अनवः । पूरवः इत्यादि । पंचविंशतिः (२५)** मनुष्य नामानि

यति-प्रयत्ने से यदु शब्द प्रयत्नशील और **तुर्वशाः-चतुर्वशः, वश-कान्तौ ।**

इसके अनुसार 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना करनेवाले मनुष्य' इनके अर्थ हैं । इसलिए सायणाचार्य का यदुश्च तुर्वशश्च—एतन्नामकौ राजर्षी—ऐसा लिखना नितान्त अशुद्ध है ।

कण्वतम, अङ्गिरस्तम आदि का प्रयोग

वेदों में कण्व, अङ्गिरा, इन्द्र आदि पद व्यक्तिविशेषवाचक नहीं, अपितु यौगिक होने के कारण विशेष गुणसूचक हैं । इसके लिए यह बात भी इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बहुत स्थानों पर कण्वतम, अङ्गिरस्तम, इन्द्रतम इत्यादि का प्रयोग पाया जाता है । व्यक्ति-संज्ञावाचक पदों में कभी इस प्रकार तमप् अथवा अंग्रेजी-परिभाषानुसार Superlative degree का प्रयोग नहीं हो सकता इस बात को सब मानते हैं । उदाहरणार्थ ऋ० १. ४८. ४ में यह मन्त्र आया है—**उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः । अत्राह तत् कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् ॥**

यहां यह बताया गया है जो विद्वान् लोग उषःकाल में उठकर योगाभ्यास द्वारा अपने मन को परमेश्वर में लगाते और उसके प्रति अपने को समर्पित करते हैं उनमें से जो कण्वतम होता है वह परमेश्वर का नाम सदा स्मरण कर प्रशंसनीय बनता है । यहां कण्वतम का अर्थ स्पष्टतया कण्व इति मेधावी नाम (निघण्टु ३.५) है । इस निघण्टु-वचनानुसार मेधावियों में श्रेष्ठ के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता ।

'स इदमग्निः कण्वतमः कण्वसखार्यः ।' ऋ० १०. ११५. ५ के इस मन्त्र में भी अग्नि अर्थात् ज्ञानी अग्रणी नेता के विशेषरूप से 'कण्वतमः' का प्रयोग है जिसका अर्थ मेधावियों में श्रेष्ठ अत्यन्त स्पष्ट और सङ्गत है । उसके कण्व अर्थात् मेधावी ही मित्र होते हैं और वह अपनी इन्द्रियों का अर्य अर्थात् स्वामी होता है—यह यहां कहा गया है ।

अङ्गिरस्तम का प्रयोग

अङ्गिरस्तम का प्रयोग १. ३१. २ के **'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः'**, ऋ० १. १००. ४ **'सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमोऽभूत्'**, ऋ० ९. १०७. ६ **'त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तमः'** तथा ८. २३. १०, ८. ४३. २७, ८. ४४. ८, १०. ६२. ६ इत्यादि अनेक मन्त्रों में है । अङ्गिरा ऋषि मानने पर अंङ्गिरस्तम का प्रयोग व्याकरणादि की दृष्टि से सर्वथा असंगत है ।

अङ्गिरा उ ह्यग्निः । — शतपथ १. ४. १. २५ ।

प्राणो वा अङ्गिराः । — शतपथ ६. १. २. २८ ।

इत्यादि आर्षवचनानुसार अङ्गिरा का अर्थ अग्नि अर्थात् अग्रणी नेता अथवा प्राण-विद्यावेत्ता या अपने प्राणसमान सबको समझनेवाला—पूर्णतया संगत हो जाता है कि नेताओं अथवा प्राणविद्या जाननेवालों में श्रेष्ठ ।

ऐसे ही ऋ० ७. ७९. ३ के—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि ।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥

इस मन्त्र में उषा अर्थात् दोषों को दग्ध करनेवाली विदुषी देवी के लिए इन्द्रतमा और अङ्गिरस्तमा इन शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है कि वह ज्ञानादि परमैश्वर्यधारिकाओं में श्रेष्ठ और नायिकाओं में श्रेष्ठ होती है । उषा का अर्थ अध्यात्म-पक्ष में ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा भी होता है, जिसका योगदर्शन के प्रथम पाद में 'विशोका वा ज्योतिष्मती' इस सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया गया है । उस पर भी ये विशेषण लग सकते हैं ।

इस प्रकार वेदों में प्रयुक्त कण्वतम, अङ्गिरस्तम, इन्द्रतम आदि शब्द यौगिकवाद का समर्थन और व्यक्तिविशेषवाचक संज्ञापद होने का निराकरण करते हैं ।

'मन्त्रकृत्' शब्द पर विचार

इस पर भी कई महानुभावों को ऋषियों के लिए मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग देखकर सन्देह हो जाता है कि यह क्या बात है ? यदि वस्तुतः वेद ईश्वरीय हैं तो ऋषियों को मन्त्रकृतः क्यों कहा गया है ?

नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः । —शाङ्खायनारण्यक ७. १ ।

नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् हरादाम् । —तैत्ति० आ० ४. ११ ।

यावन्तो वा मन्त्रकृतः । —कात्यायन श्रौतसूत्र ३. २. ९ ।

दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः ।— मानवगृह्यसूत्र १-८-१

श्रद्धया दुहिता तपसो ऽधि जाता स्वसर्षीणां मन्त्रकृतां बभूव । —काठक गृ० सू० ४१. १३ ।

इत्यादि में मन्त्रकार वा मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग है । इसके विषय में निवेदन यह है कि—

१. मन्त्र शब्द और कृञ् दोनों ही अनेकार्थक हैं। मन्त्र का अर्थ सलाह तो सुप्रसिद्ध ही है, जैसे वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड सर्ग ४ के श्लोक १०१, १०२ में—

तदिहैव निवेशोऽस्तु, मन्त्रः प्रस्तूयतामिति। संप्राप्तो मन्त्रकालो नः, सागरस्येव लङ्घने॥

यहां स्पष्टतया मन्त्र शब्द का अर्थ सलाह है। इसीलिए सलाह देनेवाले के लिए मन्त्र शब्द का सर्वत्र प्रयोग पाया जाता है। इसी प्रकार कृञ् धातु का भी केवल अभूत प्रादुर्भाव या बनाना यही एक अर्थ नहीं है। उसका दर्शन अर्थ में भी प्रयोग आता है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीयारण्यक ४. ११ के—नम **ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः** की व्याख्या में भट्ट भास्कर मिश्र ने लिखा है—

अथ नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः—मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्।

ऐतरेय ब्राह्मण के 'सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्' के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—

ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत् करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः।

अर्थात् यहां करोति इस धातु का प्रयोग दर्शन अर्थ में है।

यावन्तो वा मन्त्रकृतः—इसका श्रौतसूत्र २. १. १३ के भाष्य में कात्यायन गर्ग ने ठीक लिखा है—

मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। नहि मन्त्राणां करणं भवति। अनित्यत्वप्रसङ्गात् तेन दर्शनार्थः कृञ् इत्यध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनां गन्धनावक्षेपणसेधनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः (अष्टा० ७. ३. ७७) **इत्यात्मनेपदप्रतिपादने गन्धादीनर्थान् कृञो दर्शयति।**

अर्थात् 'मन्त्रकृतः' यहां मन्त्रद्रष्टा के अर्थ में प्रयुक्त है। मन्त्रों की रचना नहीं होती, अन्यथा उनको अनित्य मानना पड़ेगा। कृञ् धातु के अनेकार्थ हैं।

कुत्स ऋषिर्भवति कर्ता स्तोमानाम् इत्यौपमन्यवः।

इस निरुक्त के पाठ में भी कर्ता का अर्थ द्रष्टा ही मानना उचित है, क्योंकि स्वयं निरुक्तकार यास्काचार्य ने **ऋषिर्दर्शनात्** २. ११ के पश्चात् औपमन्यवाचार्य की—**स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः** इस रूप में उक्ति उद्धृत की है, जिससे स्पष्ट ज्ञात है कि औपमन्यवाचार्य की दृष्टि में कर्ता और द्रष्टा का एक ही अर्थ है।

मन्त्रकृत् अथवा मन्त्रकार शब्द का प्रयोग 'मन्त्र विनियोजक' के अर्थ में किया जाता है और उस अवस्था में उसका अर्थ यह होगा कि—**'यज्ञादौ कर्मण्यनेन मन्त्रेणेदं कर्म कर्तव्यमित्येवं रूपेण यो मन्त्रान् करोति व्यवस्थापयति स 'मन्त्रकृत्'।** अर्थात् जो यज्ञ के प्रारम्भ में इस प्रकार कार्य करना चाहिए इस रूप में यज्ञादि की व्यवस्था करता है वह मन्त्रकृत् कहलाता है।

'इत ऊर्ध्वान् मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते।' (सत्याषाढ सूत्र २. १. १३०) में भी मन्त्रकृतः शब्द का उपर्युक्त मन्त्र-विनियोग को ठीक-ठीक जाननेवाले के लिए ही प्रयोग है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण के निम्न वचन में भी ऋषियों के लिए मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग है, जिससे कइयों को भ्रम हो जाता है, किन्तु ध्यानपूर्वक सारे प्रकरण को पढ़ने पर यह स्पष्ट है वहां 'मन्त्रकृत्' का अर्थ मन्त्र बनानेवाला नहीं, अपितु मन्त्रार्थाध्यापक का है। वह पाठ निम्न है—

'शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृदासीत् स पितृन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत् । तं पितरोऽब्रुवन् अधर्मं करोषीति यो नः पितृन् सतः पुत्रका इत्यामन्त्रयस इति । सोऽब्रवीदहं वाव वः पितोऽस्मि यो मन्त्रकृदस्मीति । तं देवेष्वपृच्छन्त । ते देवा अब्रुवन् एष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति ॥'

— ताण्ड्य महाब्राह्मण

अर्थात् अङ्गिरा नामक विद्वान् का पुत्र बाल्यावस्था में ही 'मन्त्रकृत्' था । उसने अपने से आयु में वृद्ध महानुभावों को पढ़ाते समय 'हे पुत्रो !' ऐसा सम्बोधन किया । इस पर उन पितरों ने कहा कि तुम अधर्म करते हो जो हम पितरों को 'पुत्रो' ऐसा सम्बोधन करते हो । उस विद्वान् बालक ने कहा कि मैं 'मन्त्रकृत्' (मन्त्रार्थाध्यापक) होने के कारण तुम्हारा पिता हूं । तब पितरों ने देवों (महाज्ञानियों) से इस विषय में पूछा । उन्होंने भी कहा कि जो 'मन्त्रकृत्' (मन्त्रों के अर्थ बतानेवाला) होता है वह सचमुच पिता कहलाता है ।

'मन्त्रकृत्' का उपर्युक्त मन्त्रार्थाध्यापक ही अर्थ यहां स्पष्टतया अभिप्रेत है, यह मनुस्मृति के निम्न श्लोकों से भी निस्सन्देह ज्ञात होता है, जहां ठीक यही कथा आई और इसके 'मन्त्रकृत्' के स्थान में 'मन्त्रदः' अर्थात् मन्त्रज्ञान को अर्थसहित देनेवाला इस शब्द का प्रयोग किया गया है । वे श्लोक निम्नलिखित हैं—

अध्यापयामास पितृन्, शिशुरांगिरसः कविः । पुत्रका इति होवाच, ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १०१
ते तमर्थमपृच्छन्त, देवानागतमन्यवः । देवाश्चैतान् समेत्योचुः, न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १०२
अज्ञो भवति वै बालः, पिता भवति मन्त्रदः । अज्ञं हि बालमित्याहुः, पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३

—मनुस्मृति अ० २

कथा सर्वथा ताण्ड्य महाब्राह्मण जैसी ही है अतः उसका अर्थ पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं । अन्तर केवल मन्त्रकृत् और मन्त्रदः शब्दों का है । मनुस्मृति ताण्ड्य महाब्राह्मण की अपेक्षा प्राचीन है यह मानने पर (जैसा हमारा विश्वास है) समझना चाहिए कि ताण्ड्य महाब्राह्मणकार ने मनुस्मृति में प्रयुक्त 'मन्त्रदः' के स्थान पर ही 'मन्त्रकृत्' शब्द का प्रयोग किया है । यदि किसी का विश्वास हो कि ताण्ड्य महाब्राह्मण मनुस्मृति के वर्तमान छन्दोबद्ध रूप की अपेक्षा प्राचीन है तो यही कहना पड़ेगा कि उसमें 'मन्त्रकृत्' के ही पर्याय के रूप में 'मन्त्रदः' शब्द का प्रयोग किया गया है । किसी भी अवस्था में 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रदः' शब्दों की समानार्थकता यहां स्पष्ट प्रतीत होती है । कृञ् धातु के अनेक अर्थ होते हैं, यह महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने 'भूवादयो धातवः' (अष्टा० १. ३. १) की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है—

यथा करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः । निर्मलीकरणे चापि दृश्यते 'पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु । उन्मृदान इत्यवगम्यते । निक्षेपणे चापि वर्तते—कटं कुरु, घटं कुरु, स्थापयेति गम्यते ।'

यहां कृञ् का जो स्थापित करना यह अर्थ भी बताया गया है उसी के भाव को ले मन्त्रों का किसी विशेष स्थान में व्यवस्थापित करना यह अर्थ लेकर मन्त्रविनियोगकृत् आदि के लिए मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया ऐसा ज्ञात होता है । यही बात जैमिनिमुनिकृत 'मीमांसा शास्त्र' के 'आदाने करोति शब्दः' (४. २. ३) से भी प्रतीत होती है, जिसके भाष्य में शबर स्वामी ने लिखा है—

आदाने करोतिशब्दो भविष्यति । स्वरुं करोति स्वरुं आदत्ते । यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति, ओदनं करोति, शब्दो भवति ।

'कृत्' का जब ग्रहण करने के अर्थ में प्रयोग मीमांसा के इस सूत्र से स्पष्ट है तो 'मन्त्रकृत्' का अर्थ मन्त्रों को विशेष रूप में ग्रहण करनेवाला अथवा उनका विनियोग यथास्थान करनेवाला यह अर्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

इसीलिए सुप्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' में ताण्ड्य महाब्राह्मण की पूर्वोद्धृत आङ्गिरस की कथा का उल्लेख करके लिखा है—**शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्रकृच्छन्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः ।**

—तन्त्रवार्तिक पूना० मं० पृ० २३१

अर्थात् आङ्गिरस के लिए जो मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है वह 'मन्त्र बनानेवाला' इस अर्थ में नहीं, 'अपितु मन्त्रों का ठीक स्थान पर प्रयोग करनेवाला' इस अर्थ में है । इसी मन्त्रकृत् के ही समान खादिर गृह्यसूत्र २. ४. १० में 'मन्त्रवान्' शब्द का ब्राह्मण के विशेषण रूप में प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ मन्त्रज्ञानयुक्त होकर उसका यथास्थान प्रयोग वा विनियोग करनेवाला, यही अर्थ करना सर्वथा उचित है । महाभारत वनपर्व १३४. ३ के—

अस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।

इस श्लोक में ब्रह्मकृत् शब्द का प्रयोग भी इसी मन्त्रद्रष्टा अथवा मन्त्रों के ठीक प्रयोग वा विनियोग करनेवाले के अर्थ में है यह उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है । रघुवंश काव्य होने के कारण धार्मिक दृष्टि से यद्यपि कोई महत्त्व नहीं रखता अतः उसमें प्रयुक्त शब्दों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं, तथापि इस प्रसङ्ग में इतना उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि उसके पंचम सर्ग में 'अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां, कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।' इस वरतन्तु ऋषि-विषयक प्रश्न में प्रयुक्त 'मन्त्रकृताम्' का अर्थ भी वस्तुतः मन्त्रों का ठीक प्रयोग वा विनियोग करनेवाला अथवा मन्त्रार्थाध्यापक ही है जैसा उसकी टिप्पणी में गोविन्द शास्त्री नामक विद्वान् ने लिखा है—**अत्र न मन्त्रान् कुर्वन्तीति मन्त्रकृत इति व्युत्पत्तिर्गरीयसी वेदापौरुषेयत्व-भङ्गात् । किंतु मन्त्रान् कुर्वन्ति प्रयोगविधिना इष्टलाभाय प्रयुञ्जत इति मन्त्रकृतः ।** (रघुवंश-श्री गोविन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित वेंकटेश्वर प्रेस मुंबई में सं० १९६९ में मुद्रित) ।

इस प्रकार मन्त्रकृत्, मन्त्रकार, ब्रह्मकृत् वा मन्त्रवान् इत्यादि शब्दों के प्रयोग से किसी को इस भ्रम में न पड़ना चाहिए कि ऋषि मन्त्रों के कर्ता थे, किन्तु उन्हें मन्त्रद्रष्टा मानना ही सर्वथा उचित है । तैत्तिरीयारण्यक ४. १. १ में जो 'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः' यह पाठ आया है उसका अर्थ महाविद्वान् भट्ट भास्कर ने उपर्युक्त तथा अन्य प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए ठीक ही किया है कि—**अथ नमः ऋषिभ्यः द्रष्टृभ्यः । मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः । दर्शनमेव कर्तृत्वम् ।** अर्थात् 'मन्त्रकृतः' का अर्थ मन्त्रों के द्रष्टा है । कृञ् धातु का दर्शन के अर्थ में भी प्रयोग होता है । ऐसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को नमस्कार हो ।

वेद-ज्ञानदाता परमेश्वर

मूर तथा अन्य अनेक पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने अपने ग्रंथों में लिखा है कि स्वयं वेदों में उन्हें ईश्वरकृत नहीं माना गया । यह वेदों को ईश्वरकृत मानने का सिद्धांत पीछे से घड़ा गया । किन्तु यह बात सर्वथा अशुद्ध है । वेदों में इस बात के सैकड़ों प्रमाण हैं जिनमें उन्हें ईश्वरीय बताया गया है । इनमें से कुछ अति स्पष्ट प्रमाणों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हुए हम इस अध्याय को समाप्त करते हैं ।

१. ऋग्वेद १०. ९० पुरुषसूक्त का मन्त्र इस विषय में सुप्रसिद्ध और स्पष्ट है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋ० १०. ९०. ९ ॥

अर्थात् उस पूजनीय परमेश्वर से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और छन्दांसि अर्थात् अथर्ववेद उत्पन्न हुए ।

क्योंकि अनेक पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी पुरुषसूक्त को प्रक्षिप्त मानते हैं, अतः हम अन्य अनेक प्रमाणों को यहां उपस्थित करेंगे, जिनके विषय में कोई सन्देह ही न हो सके ।

२. ऋ० २. २३. २ में लिखा है—

देवाश्चित् ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः ।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ॥

अर्थात् हे (असुर्य) प्राणाधार (बृहस्पते) ज्ञानपते परमात्मन् (देवाः चित्) सत्यनिष्ठ विद्वान् ही (ते) तुझ (प्रचेतसः) सर्वज्ञ के (यज्ञियम्) यज्ञयोग्य पवित्र (भागम्) भाग को (आनशुः) प्राप्त करते हैं । (इव) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (महः उस्राः) बड़ी किरणों को उत्पन्न करता है इस प्रकार तू (विश्वेषाम्) सब (ब्रह्मणाम्) वेदों का (जनिता असि) उत्पन्न करनेवाला है ।

किस प्रकार भगवान् को सूर्यसमान कहकर उसे सब वेदों का उत्पादक बताया गया है यह बात यहां अत्यन्त स्पष्ट है, जिसकी व्याख्या अनावश्यक है ।

३. **इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् । ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥** सामवेद मं० ३८८. १०२५ ॥

इस मन्त्र में इन्द्र नाम से परमेश्वर का स्मरण करते हुए उसे बृहत् विप्र, सबसे बड़ा ज्ञानी, (पनस्यवे विपश्चिते) अत्यन्त स्तुति के योग्य विद्वान् और (ब्रह्मकृते) ब्रह्म इस विशेषण से वेदों को बनानेवाला वह परमेश्वर है यह भाव नितान्त स्पष्ट है, इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं हो सकता ।

४. ऋग्वेद और सामवेद का निम्न मन्त्र भी परमेश्वर को वेदरूप ज्ञान का प्रदाता बताता है—

होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया । विदथानि प्रचोदयन् ॥ ऋ० ३. २७. ७ ॥

अर्थात् (होता) शान्ति और आनन्द देनेवाला (अमर्त्यः देवः) अमर परमेश्वर (मायया) अपनी बुद्धि से (विदथानि) ज्ञानों को (प्रचोदयन्) विशेष रूप से प्रेरित करता हुआ (पुरस्तात् एति) योगी के सन्मुख मानो प्रकट होता है । यहां भी वेदज्ञान की ईश्वरीयता का भाव अत्यन्त स्पष्ट है ।

५. ऋ० ३. ५७. ६ में निम्न मन्त्र है, जिसमें वेद को परमेश्वर द्वारा प्रदत्त सर्वजनहितकारी ज्ञान बताया गया है—

या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद् देव चित्रा ।
तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम् ॥

इस मन्त्र का अर्थ है कि हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (देव) हे सुख-शान्ति-आनन्द के देनेवाले ! (या ते पर्वतस्य असश्चन्ती धारा इव) जो तेरी पर्वत की धारा के समान कही न अटकती हुई (चित्रा) अद्भुत (धारा) वेदमयी ज्ञान-धारा वा वेदवाणी [धारेति वाङ्नामसु निघण्टु १. १२] (पीपयत्) निरन्तर ज्ञान देकर तृप्त कर रही है (हे वसो जातवेदः) सबको वसानेवाले सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमेश्वर [जाते जाते विद्यत इति वा जातानि वेद इति वा निरुक्ते] (अस्मभ्यम्) हमारे कल्याण के लिए (ताम्) उस (प्रमतिम्) अत्यन्त उत्तम ज्ञान देनेवाली (विश्वजन्याम्) सर्व मनुष्यों का कल्याण करनेवाली (सुमतिम्) वेदरूपिणी कल्याणमति को (रास्व) प्रदान करो । इस मन्त्र में स्पष्टतया वेदवाणी को ईश्वरीय और निष्पक्ष होने के कारण सब मनुष्यों का कल्याण करनेवाली कहा गया है ।

६. ऋ० १०. ५४. ६ में स्पष्टतया वेद को ईश्वरीय ज्ञान बताया गया है, यथा—

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि ।
अथ प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ॥

अर्थात् जो परमेश्वर (ज्योतिषि) जीवरूप ज्योति में (ज्योतिः अदधात्) वेद-रूप ज्योति को सृष्टि के प्रारम्भ में धारण कराता है, जो परमेश्वर मधुर उत्तम पदार्थों के साथ योग्य रीति से अन्य उत्तम उपयोगी पदार्थों का संयोग कराता है. ऐसे

(इन्द्राय) परमैश्वर्यसम्पन्न भगवान् के लिए (प्रियम्) प्यारा और (शूषम्) बलकारक—उत्साहवर्धक (बृहत्) बहुत बड़ा (मन्म) मननात्मक ज्ञान (ब्रह्मकृत: उक्थात्) परमात्मरचित वेद से (अवाचि) कहना चाहिए। परमेश्वर की यथार्थ स्तुति ईश्वरीय वेद-वाणी द्वारा भली-भांति श्रद्धापूर्वक की जानी चाहिए। इस मन्त्र द्वारा भी यह भाव स्पष्ट है कि वेदवाणी परमेश्वर द्वारा प्रदत्त होने के कारण उसके गुणों का यथार्थ प्रतिपादन करती है।

७. इसी के समान ऋ० १. ३७. ४ में—

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे। देवत्तं ब्रह्म गायत॥

इस मन्त्र में ब्रह्म अथवा वेद के लिए 'देवत्तम्' यह विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ सर्वप्रकाशक परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वा प्रेरित ऐसा है। जो परमेश्वर अत्यन्त बलवान् और तेजस्वी है उसका ईश्वरीय वाणी वेद द्वारा गान करो—यह मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय है।

८. ऋग्वेद १. ४०. ५ और यजुर्वेद ३४. ५७ में निम्न मन्त्र आता है, जो अति स्पष्ट शब्दों में वेदमन्त्रों को ईश्वरप्रदत्त बताता है—

प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे॥

इसका देवता ऋग्वेद में बृहस्पति और यजुर्वेद में ब्रह्मणस्पति: अर्थात् वाग्घिबृहती तस्या एष पति: वेदवाणी का स्वामी अथवा ज्ञान का स्वामी परमेश्वर है। मन्त्र में कहा गया है कि (यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (इन्द्रः) सूर्य वा विद्युत् (वरुणः) चन्द्र वा जल (मित्रः) प्राण (अर्यमा) वायु और सब (देवाः) दिव्य गुण (ओकांसि चक्रिरे) निवास करते हैं (ब्रह्मण: पतिः) वह ज्ञान वा वेदविद्या का स्वामी परमात्मा (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (मन्त्रम्) वेदनामक मन्त्रसंहिता को (नूनम्) निश्चय से (प्रवदति) भली-भांति कहता अथवा वेद द्वारा उपदेश करता है—इस बात को तुम सब जानो। वेदों की ईश्वरीयता में किसी प्रकार का सन्देह न हो जाए, अत: मन्त्र में 'ब्रह्मणस्पति: नूनं प्रवदति उक्थ्यं मन्त्रम्', ऐसा अति स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। ऋषि दयानन्द जी ने ठीक ही लिखा है कि—

हे मनुष्या ! येनेश्वरेण वेदा उपदिष्टाः, य: सर्वजगदभिव्याप्य स्थितोऽस्ति---स एव सर्वैर्मनुष्यैरुपास्योऽस्ति।

अर्थात् जिस ईश्वर ने वेदों का उपदेश दिया है, जो सारे संसार में व्यापक है, उसी की सब मनुष्यों को उपासना करनी चाहिए। अगले मन्त्र में भी वेदों की ईश्वरीयता के साथ सर्वहितकारिता का पुन: उपदेश है।

९. **तमिद् वोचेमा विदथेषु शंभुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्। इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद् वामा वो अश्नुवत्॥**

—ऋग्० १. ४०. ६

इस मन्त्र में कहा गया है कि हे (देवाः) विद्वानो ! हम (तम्) उस (शंभुवम्) शान्ति अथवा कल्याण करनेवाले (अनेहसम्) सर्वदोषरहित सर्वदा रक्षण करनेयोग्य (मन्त्रम्) मननीय मन्त्रसमूह को (विदथेषु) पठन-पाठन विज्ञानादि कर्तव्यों के अवसर पर (वोचेम) उपदेश करते हैं, तुम उसी को जानो। हे (नरः) नेताओ ! यदि (इमां वाचम्) इस शम्भु—शान्ति के मूल परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेदरूप वाणी को तुम (प्रतिहर्यथ) भलीभांति बार-बार जानोगे तो यह वाणी तुम्हें (विश्वा वामा) सब प्रशंसनीय गुणों को [वाम इति प्रशस्यनामसु निघ० ३. ८] प्राप्त करा देगी। इसके भावार्थ में महर्षि दयानन्द ने यथार्थ रूप से लिखा है कि—**विद्वद्भिर्विद्याप्रचाराय सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो नित्यं सार्थाः साङ्गाः सरहस्यसस्वरहस्तक्रिया वेदा उपदेष्टव्याः। यदि कश्चित् सुखमिच्छेत् स विद्वत्संगेन वेदविद्यां प्राप्नुयात्। नैतया विना कस्यचित् सत्यं सुखं भवति। तस्मादध्यापकैरध्येतृभिश्च प्रयत्नेन सकला वेदा ग्राहयितव्या गृहीतव्याश्च।**

वेदमन्त्र के आधार पर वेदों की ईश्वरीयता और उपयोगिता का और क्या उत्तम वर्णन हो सकता है !

निम्नलिखित दो मन्त्रों का निर्देश भी, जिनमें स्पष्टतया वेदों को ईश्वरीय ज्ञान तथा वेदवाणी को ईश्वरीय वाणी होने के कारण अत्यधिक लाभदायिनी बताया गया है, इस प्रसङ्ग में आवश्यक प्रतीत होता है—

एव ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ —ऋ० १. ८. ८

इस मन्त्र में मही शब्द से 'महीति वाङ्तामसु पठितम्' निघण्टु १. ११ के अनुसार महती सर्वपूज्या वेदवाणी का ग्रहण है जिसके निम्न विशेषण हैं—(सुनृता) प्रिय सत्यप्रकाशिका अथवा प्रिय और सत्य वचनों को प्रकाशित करनेवाली, (विरप्शी) महाविद्यायुक्ता [विरप्शीति महन्नामसु पठितम् निघण्टु ३. ३] बड़ी भारी विद्याओं से भरपूर, (गोमती) उत्तम स्तोताओं से युक्त [गौरिति स्तोतृनामसु निघण्टु ३. १६] अर्थात् जिसकी प्रशंसा करनेवाले उत्तम ज्ञानी हैं। इन विशेषणों से युक्त वेदवाणी के विषय में यहां कहा गया है कि यह वेदवाणी (हि) निश्चय से (अस्य) इस परमेश्वर की दी हुई है जो (दाशुषे पक्वा शाखा न) अध्ययन में अपने को ध्यानपूर्वक समर्पित करनेवाले मनुष्य के लिए, अध्ययनार्थ ध्यानं दत्तवते मनुष्याय---फलयुक्त वृक्षों की तरह विविध सुखों और विद्याओं के आनन्द को देती है।

इस मन्त्र का स्वामी आनन्दतीर्थ (श्री मध्वाचार्य), मन्त्रार्थ मंजरी के प्रणेता राघवेन्द्र यति तथा महर्षि दयानन्दादि सभी वेदभाष्यकारों ने इसी आशय का भाष्य किया है। उदाहरणार्थ स्वामी आनन्दतीर्थ जी ने ऋग्भाष्य में लिखा है–

एवमेवास्य वाणी च, वेदेता महती तथा। पक्वा शाखेव ददते, वरदात्री विरप्शिनः ॥

महर्षि दयानन्द जी ने इसका पूर्व-निर्दिष्ट अर्थ करते हुए भावार्थ इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में दिया है—

अत्रोपमालङ्कारः—यथा विविधपुष्पफलवन्त आम्रपनसादयो वृक्षा विविधफलप्रदाः सन्ति तथैवेश्वरेण विविधविद्यानन्दप्रदा वेदा अनेकसुखभोगप्रदाः पृथिव्यादयश्च प्रसिद्धीकृताः सन्ति। एतेषां प्रकाशो राज्यं च विद्वद्भिरेव कर्तुं शक्यते।

इनका सारांश पहले दिया जा चुका है अतः पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं। इससे वेदों की ईश्वरीयता अत्यन्त स्पष्टतया सिद्ध होती है इसमें सन्देह का अणुमात्र भी कारण नहीं। ऋ० १. ७२. १ में निम्न मन्त्र आया है—

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि। अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ॥

विस्तारभय से सारे मन्त्र की विस्तृत व्याख्या न करते हुए यहां इतना ही निर्देश पर्याप्त है कि वेदों को इस मन्त्र में नित्य परमेश्वर से प्राप्त तथा सर्वहितकारी बताया गया है।

सायणाचार्य ने भी इसका अर्थ (शश्वतः) शाश्वतस्य नित्यस्य (वेधसः) विधातुर्ब्रह्मणः सम्बन्धीनि (काव्या) काव्यानि मन्त्ररूपाणि अर्थात् नित्य परमेश्वर के मन्त्ररूप काव्य यही किया है। महर्षि दयानन्द जी ने (वेधसः) सकल विद्याधातुर्विधातुः मन्त्ररूपाणि... (शश्वतः) अनादिस्वरूपस्य परमेश्वरस्य सम्बन्धात् प्रकाशितानि (पुरूणि) बहूनि (सत्रा) नित्यानि सत्यार्थप्रतिपादकानि (अमृतानि) मोक्षपर्यन्तार्थप्रापकानि (नर्या) नृभ्यो हितानि।

इस रूप में इसके शब्दों की व्याख्या करते हुए जो सरल और स्पष्ट है, इसके भावार्थ में लिखा—

हे मनुष्याः ! अनन्तसत्यविद्येन अनादिना सर्वज्ञेन परमेश्वरेण युष्मद्धिताय स्वविद्यामया अनादयो वेदाः प्रकाशिताः तान् अधीत्य अध्याप्य च धार्मिका विद्वांसो भूत्वा धर्मार्थकाममोक्षान् निर्वर्तयत।

अर्थात् हे मनुष्यो ! अनादि सर्वज्ञ परमेश्वर ने तुम्हारे हित के लिए सत्य अर्थ के प्रकाशक ज्ञानमय अनादि वेद प्रकाशित किये हैं। उन्हें पढ़ और पढ़ा के तुम धर्मात्मा विद्वान् बनकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सम्पादित करो।

अब तक हमने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों से वेदों की ईश्वरीयता स्पष्ट सिद्ध की है। अब अथर्ववेद का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकशन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।
— अथर्व० १०. ७. २०

यहां परमेश्वर को स्कम्भ अथवा सर्वाधार के नाम से स्मरण करते हुए स्पष्ट बताया गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इनको बनानेवाला वही एक परमेश्वर है। यही बात—

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही। एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
— अथर्व० १०।७।१४

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ — यजुः० ४०।८

तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में भी बताई गई है किन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से इतने ही स्पष्ट प्रमाणों का उल्लेख पर्याप्त है, जिनसे वेदों को ऋषिकृत माननेवालों के विचार का स्पष्ट निराकरण होता है।

क्या वैदिक भाषा भी ईश्वरप्रदत्त है?

अनेक सज्जन वैदिक ज्ञान को ईश्वरीय मानते हुए भी मन्त्ररचना को ऋषिकृत मानते हैं। उनका यह विश्वास है कि विशेष साधना और तपस्या द्वारा ऋषियों को जो दिव्य ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ उसे ही उन्होंने मन्त्ररूप में रख दिया, जिनके संग्रह को अब वेदसंहिता के नाम से कहा जाता है। किन्तु गहराई में जाने पर इस कल्पना के अन्दर अनेक दोष स्पष्ट दिखाई देते हैं—

१. किसी शिक्षक से बिना सिखाये हुए लोगों को ध्यान इत्यादि का ठीक मार्ग किस तरह ज्ञात हुआ?

२. दिव्य ईश्वरीय ज्ञान जो ऋषियों को प्राप्त हुआ वह किस रूप में था? क्या बिना किसी प्रकार के शब्दों के ज्ञान सम्भव है?

३. ऋषियों को जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसको उन्होंने बिल्कुल शुद्ध रूप में अपनी भ्रांत कल्पनाएं सर्वथा मिलाये बिना रक्खा, इसका क्या प्रमाण है?

४. भाषा की उत्पत्ति क्या केवल मानवीय प्रयत्न से सम्भव है, विशेषतः वैदिक भाषा जैसी पूर्ण भाषा की, जो सब भाषाओं की जननी है? इसके अतिरिक्त जब हम भाषा-विज्ञान के इस प्रसिद्ध सिद्धांत को दृष्टि में रखते हैं कि विचारों और भाषा का नित्य सम्बन्ध है, जैसा कि निम्नलिखित प्रसिद्ध विद्वानों के लेखों से भी ज्ञात होता है, तब तो हमें स्पष्टतया भाषा का भी मूल ईश्वरीय मानना पड़ता है और उसके माने बिना हमारा गुजारा चल नहीं सकता—

   क. हर्डर (Herder) नामक भाषाविज्ञ का कथन है कि—

   'Without language, man could never have come to his reason and we might add, to his senses.'

   अर्थात् भाषा के बिना मनुष्य कभी ठीक तर्क को प्राप्त नहीं कर सकता।

ख. शेलिङ्ग नामक भाषाशास्त्रविशारद ने कहा–

'Without language, it is impossible to conceive philosophical, nay, even any human consciousness.'

अर्थात् भाषा के बिना दार्शनिक ही नहीं, किसी प्रकार का भी मानवीय ज्ञान असम्भव है ।

ग. हीगल नामक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ने लिखा है–

'We think in names.'

अर्थात् हम नामों में या शब्दों में सोचते हैं ।

घ. सर विलियम हैमिल्टन ने लिखा है–

'Words are the fortress of thoughts, unless thought be accompanied at each point of its evolution by a corresponding evolution of language, its further development is arrested.'

अर्थात् शब्द विचारों के दुर्ग व किले के समान हैं । जब तक विचार अपने विकास के प्रत्येक बिन्दु पर भाषा के विकास के अनुगत न हो तो इसकी भाविनी प्रगति रुक जाती है ।

ङ. वॉन हुम्बोल्ट नामक जर्मन विद्वान् ने ठीक ही लिखा है कि–

'If we separate intellect and language, such a separation does not exist in reality.'

अर्थात् यदि हम बुद्धि (वा तज्जन्य विचार) को भाषा से भिन्न कर दें तो इस प्रकार की भिन्नता का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं ।

च. श्लीर मैकर नामक विद्वान् ने लिखा है कि–

'Thinking and speaking are so entirely one that one can only distinguish them as internal and external, and as internal, every thought is already a word.'

अर्थात् सोचना और बोलना (विचार और भाषा) ये दोनों इतने पूर्णतया एक हैं कि उनका भेद केवल आंतर और बाह्य इस रूप में ही किया जा सकता है । इतना ही नहीं, आंतर रूप में प्रत्येक विचार एक शब्दरूप ही है ।

छ. सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने इस सिद्धांत को प्रबल युक्तियों से सिद्ध करते हुए इसे ही सारे भाषा-विज्ञान और दर्शनशास्त्र का आधार बताकर यहां तक लिख दिया है कि–

'We Think in words' must become the character of all exact philosophy in further.' –*The Science of Language* by Prof. Maxmuller P. 99

अर्थात् हम शब्दों में विचार करते हैं यह सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का भविष्य में आधारभूत तत्त्व माना जाना चाहिए । इसी प्रसङ्ग में उपर्युक्त विद्वानों के उद्धरण देते हुए प्रो० मैक्समूलर ने लिखा–

'We never meet with articulate sounds except as wedded to determinate ideas nor do we ever, I believe, meet with determinate ideas except as embodied forth in

articulate sounds. I, therefore, declare my conviction as explicitly as possible without language.' —*The Science of Language* by Prof. Maxmuller

अर्थात् हमें व्यक्त शब्दों की उपलब्धि उनके साथ सम्बद्ध सङ्गत विचारों के बिना कभी नहीं होती और न ही मैं विश्वास करता हूं कि सङ्गत व्यक्त विचारों की उपलब्धि स्पष्ट शब्दों के बिना हो सकती है । इसलिए मैं अपने इस विश्वास की स्पष्ट घोषणा करता हूं कि तर्क वा युक्ति इत्यादि के अर्थ में विचार भाषा के बिना कभी सम्भव नहीं ।

हमारे भारतीय आर्यों का सिद्धांत इस विषय में इतना स्पष्ट है कि उसे देने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, तथापि इतना निर्देश कर देना उचित है कि—

'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ।।' —१. १. ५

'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्यपरार्थत्वात्'। —१. १. १८

इत्यादि मीमांसा-सूत्रों में उपर्युक्त शब्द और अर्थ की नित्यता के सिद्धांत का अति स्पष्ट प्रतिपादन है जिसका कविकुल-शिरोमणि कालिदास ने रघुवंश में इस उपमा द्वारा निर्देश किया है—**'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये'**। —सर्ग १.१

महर्षि व्यास ने—

'संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते'।

योगसूत्र १. २७ के भाष्य में लिखे शब्दों द्वारा इसी सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन किया है । अतः आर्यों के परम्परागत इस विश्वास को कि वेदों का शब्द-अर्थ-सम्बन्ध नित्य है, निराधार और युक्ति-विरुद्ध नहीं माना जा सकता । भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन से वैदिकभाषा भारतीय ही नहीं, बल्कि अन्य देशों में प्रचलित सब भाषाओं की भी साक्षात् अथवा परम्परया जननी है, यह स्पष्टतया सिद्ध किया जा सकता है और प्रकरणानुसार हम इस पर प्रकाश डालेंगे ।

वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी

अभी तो हम तीन सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्रविशारद पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों से निम्नलिखित उद्धरण देना ही पर्याप्त समझते हैं—

बैरन कुवीर (Baron Cuvier) नामक विद्वान् ने संस्कृत के विषय में प्रकृति-विज्ञान विषयक अपने व्याख्यानों में कहा—

'It (Sanskrit) is the most regular language known and is especially remarkable, as containing the roots of the various languages of Europe and the Greek, Latin, German or Sclavonic.'

अर्थात् सर्वज्ञात भाषाओं में से संस्कृत सबसे अधिक नियमबद्ध है और यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि ग्रीक, लैटिन, जर्मन, स्क्लैवौनिक इत्यादि यूरोप की विविध भाषाओं की धातुएं संस्कृत में पाई जाती हैं, अर्थात् उनका मूल संस्कृत है ।

एड्लिंग नामक विद्वान् ने संस्कृत-साहित्य विषयक अपने ग्रन्थ में इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए स्पष्ट लिखा कि—

'The great number of languages which are said to have their origin or bear a close affinity to the Sanskrit, is truly astonishing and is another proof of its high

antiquity.' A German writer—Rudiger—has asserted it to be the parent of upwards of a hundred languages and dialects among which he enumerates twelve Indian, seven Median Persic, two Arnautic Albanian, seven Greek, eighteen Latin, fourteen Sclavonian and six Celtic-Gallic. The various vocabularies which we now possess, and the result of laborious and learned investigations render it pretty evident that the Sanskrit has not only furnished words for all the languages of Europe, but forms main feature in almost all those of the East. A host of writers have made it the immediate parent of the Greek and Latin and German families of languages.'

अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न अथवा संस्कृत के साथ अत्यधिक समानता रखनेवाली भाषाओं की संख्या अत्यन्त आश्चर्यजनक है और यह इस भाषा की अत्यन्त प्राचीनता का प्रमाण है। एक जर्मन विद्वान् लेखक रूडिगर् ने इसे यूरोप और एशिया की सौ से अधिक भाषाओं की जननी बताया है। अब हमारे पास भिन्न-भिन्न भाषाओं के जो शब्दकोष विद्यमान हैं और अत्यन्त परिश्रमपूर्ण जो अनुसंधान विद्वानों ने किया है, उसके परिणामस्वरूप यह स्पष्ट है कि संस्कृत ने न केवल यूरोप की सब भाषाओं को शब्दावली प्रदान की है बल्कि एशिया की सब भाषाओं की भी यह आवश्यक अङ्ग के समान है। अनेक विद्वान् लेखक इसे ग्रीक, लैटिन तथा जर्मन-परिवार की भाषाओं की जननी के रूप में मानते हैं, इत्यादि।

निष्पक्ष विद्वानों के उपर्युक्त विचार जिन्हें उन्होंने उदाहरण देकर सिद्ध करने का यत्न किया है, महत्त्वपूर्ण हैं।

बॉप इत्यादि प्रसिद्ध पाश्चात्य भाषाविज्ञों ने भी—

'At one time, Sanskrit was the one language spoken all over the world.'

—*Bopp in Edinburgh Review,* Vol. 33, P. 43

आदि वाक्य लिखकर इसी स्थापना का समर्थन किया है कि किसी समय संस्कृत भाषा सारे संसार में बोली जाती थी। इसलिए वैदिक भाषा पर किसी एक देशविशेष की भाषा होने का आक्षेप नहीं किया जा सकता।

मन्त्र-रचना की अद्‌भुतता भी उसकी ईश्वरीयता की स्पष्ट साक्षिता देती है। मनु इत्यादि प्राचीन मुनियों तथा श्री मध्वाचार्य (स्वामी आनन्द तीर्थ), ऋषि दयानन्दादि आचार्यों का सिद्धान्त था कि वेद के प्राय: प्रत्येक मन्त्र के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ये तीन अर्थ सम्भव हैं। कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्टतया इनका ज्ञान होता है।

अधियज्ञं ब्रह्म जपेत् आधिदैविकमेव च। आध्यात्मिकं च सततं, वेदान्ताभिहितं च यत्॥

(मनु० ६.८३) इत्यादि मनुस्मृति के श्लोकों, तथा—**'त्रयोऽर्था: सर्ववेदेषु।'** स्वामी आनन्दतीर्थकृत ऋग्भाष्य इत्यादि से यही बात पता लगती है।

निरुक्तकार यास्क मुनि ने भी अनेक मन्त्रों के इसी प्रकार दो-दो तीन-तीन अर्थ किये हैं। अग्निसूक्त, इन्द्रसूक्त, रुद्रसूक्त इत्यादि के मन्त्रों में किस तरह भौतिक अर्थों के साथ-साथ आत्मा, परमात्मा इत्यादि तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, यह देखकर बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी चकित हुए बिना नहीं रह सकती। इसीलिए सुप्रसिद्ध वैशेषिक कणाद मुनि ने कहा है कि—**'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।'** ६.१.१। अर्थात् वेदों में वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक है, असङ्गत नहीं।

इस विषय में अभी इतना ही लिखना पर्याप्त है।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने Vedic Age तथा तत्सदृश ग्रन्थों में स्वीकृत इस कल्पना का कि ऋषि वेद-मन्त्रों के कर्ता थे, सप्रमाण निराकरण करते हुए उन्हें मन्त्रद्रष्टा के रूप में सिद्ध किया है तथा यह भी बताया है कि अनेक ऋषियों के नाम विशेष मन्त्रों वा सूक्तों के प्रतिपाद्य विषयों के विशेष प्रचारक होने के कारण उपनाम के रूप में ही प्रसिद्ध हो गये। इतने पर भी यदि कुछ ऐसे स्थल वेदों में दिखाई दें, जहां इस सिद्धांत के मानने पर भी समाधान नहीं होता तो यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अनेक ऋषियों के नाम कवि-निबद्ध प्रवक्ता के रूप में लेने चाहिएं विशेषत: जहां ऋषि मत्स्य, कपोत, नदी, देवशुनी इत्यादि के रूप में दिये गये हों, जिनका मन्त्रद्रष्टृत्व सम्भव नहीं। जैसे पंचतन्त्रादि ग्रन्थों में सरलता से सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों को भी नीतितत्त्वों का बोध कराने के लिए विष्णुशर्मादि ने करटक, दमनक, संजीवक, वज्रदन्त, दीर्घजीवी आदि शृगाल, सिंह, काकादि पात्र कथनानुसार बना लिये हैं, जिनके मुख से उन नीतितत्त्वों का उपदेश कराया गया है, यद्यपि सब इस बात को जानते हैं कि शृगाल, सिंहादि इस प्रकार न बातचीत कर सकते हैं और न नीति के तत्त्वों को समझ वा समझा सकते हैं, तथापि ग्रन्थकार ने उन्हें प्रवक्ता के रूप में विषय-प्रतिपादन की सरलता के लिए उपनिबद्ध कर लिया है। इसी प्रकार परम कवि भगवान् ने—**'पश्य् देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'** (अथर्व० १०. ८. ३२) के अनुसार वेदरूप महाकाव्य में विषय-प्रतिपादनार्थ कई स्थलों पर कपोत, मत्स्य, नदी आदि को प्रवक्ता के रूप में लिया है। इस प्रकार उन ऋषियों के नाम की भी जो कई मन्त्रों में दिखाई देते हैं सङ्गति लग जाती है—यदि अन्य प्रकार से यौगिक अर्थ लेने पर भी उसमें कोई कठिनाई प्रतीत होती हो। इस तरह इस वैदिक ऋषियों के विषय पर प्रकाश डालकर अब हम 'वैदिक एकेश्वरवाद और अनेक देवता' इस विषय पर अगले अध्याय में प्रकाश डालना चाहते हैं।

हमारे मित्र और गुरुकुल काङ्गड़ी के सुयोग्य स्नातक श्री पं० हरिशरण जी सिद्धांतालङ्कार ने 'ऋग्वेद के ऋषि' नामक लगभग २०० पृष्ठों की पुस्तक में ऋग्वेद के समस्त ३४९ ऋषियों का यौगिक अर्थ बताते हुए मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों के साथ उनका सम्बन्ध दिखाया है, जिससे इस विषय की शङ्काओं का प्राय: पूर्ण समाधान हो जाता है।

हम समस्त विद्वान् पाठकों से उस विद्वत्तापूर्ण पुस्तक के अतिरिक्त श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ कृत 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय', श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष कृत 'वेदों में इतिहास नहीं' तथा श्री पं० जयदेव जी विद्यामार्तण्ड कृत 'क्या वेदों में इतिहास है' इन पुस्तकों को पढ़ने का अनुरोध करते हैं जिससे इस मन्तव्य की पूर्ण पुष्टि होती है कि ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं, किन्तु मन्त्रद्रष्टा थे। ऋषि मन्त्रकर्ता थे इस अशुद्ध भ्रान्त धारणा के कारण जो सायणाचार्य, स्वामी आनन्दतीर्थ, स्कन्द आदि के अपने वेदभाष्यों की भूमिकाओं में वर्णित वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के वेदादि सत्यशास्त्रसम्मत सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है, बड़ा अनर्थ हुआ है। इसका कुछ निर्देश हम पहले कर चुके हैं अंर कुछ का फिर प्रकरणानुसार आगे करेंगे। □

चतुर्थ अध्याय

वैदिक एकेश्वरवाद और अनेक देवता

इस अध्याय में हम वैदिक देवताओं तथा वेदोक्त एकेश्वरपूजा पर प्रकाश डालना चाहते हैं, क्योंकि धर्म के सम्बन्ध में सबसे अधिक भ्रम बहुत-से भारतीय और पाश्चात्य लेखकों ने इस विषय में फैलाया है।

Vedic Age के लेखकों ने इस विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है, जिसमें मौलिकता वा नवीनता का लवलेश भी नहीं एवं जो पाश्चात्य लेखकों द्वारा प्रकाशित एतद्विषयक विचारों का अनुकरण मात्र है।

'History of Sanskrit Literature' तथा *'India—What it can teach us'* by Prof. Maxmuller, *'History of Ancient Sanskrit Literature'* Vol., 1 by Winterneitze; *'History of Sanskrit Literature'* by Prof. Weber, *'Religion and Philosophy of the Veda'* by A.B. Keith, *'The Religion of the Rig Veda'* by Griswold, *'The Religion of the Veda'* by Bloomfield, *'Rig Veda and Vedic Religion'* by Clayton. इत्यादि पुस्तकों में वही विचार वैदिक देवता और वैदिकेश्वरवाद के सम्बन्ध में प्रकाशित किये गये हैं, जिन्हें *Vedic Age* के लेखकों ने निस्सङ्कोच, निष्पक्ष विवेचन किये बिना अपनाकर सारांश निम्न आशय के शब्दों में प्रकट किया है। हम उनके अपने शब्दों में इस सारांश को उद्धृत करके उसका विवेचन करेंगे। *Vedic Age* के लेखक कहते हैं—

'It has been generally held that the Rigvedic Religion is essentially poly-theistic one, taking on a pantheistic colouring only in a few of its latest hymns. Yet a deeply abstract philosophising crops up unexpectedly in some hymns as a reminder of the long journey made from primitive polytheism to systematic philosophy, through the stages of Naturalistic poly-theism, monotheism and monism.' —*Vedic Age,* P. 37.

'The appearance of what Maxmuller calls henotheism is due to this unconscious urge towards mono-theism imperfectly moulding polytheistic tendencies and thus presenting an inconsistent picture.'

'When individual gods are alternately regarded as 'highest', a large number of attributes, personal characteristics and functions become common to all the gods, the merging of all these qualities into one divine figure becomes easy, and thus poly-theistic anthropomorphism evolves into a kind of spiritual mono-theism.' —*Vedic Age,* P. 379

Summary—

Some of the significant aspects of Rigvedic mythology may now be summed up thus—

1. The principal phenomena of nature conceived as alive and represented in anthropomorphic shape, were the objects of worship.

2. The so-called simple primitive side of nature-worship may be supposed to be reflected in the adoration of plants, trees and mountains.
3. Whether fetishism is to be read into a reference to an image of *Indra* and whether the worship of idols or images of gods was known to the Rig Veda, are points on which no certain conclusions can be reached.' —*Vedic Age*, P. 376

इस लम्बे उद्धरण का भाव यह है कि यह प्राय: मान लिया गया है कि ऋग्वेद का धर्म प्रधानतया मूल रूप में बहुदेवतावादी वा अनेकेश्वरवादी है, जो अन्त के कुछ थोड़े-से सूक्तों में अद्वैतवाद का रङ्ग पकड़ लेता है। तो भी आशातीत रूप से कुछ सूक्तों में गम्भीर दार्शनिक चर्चा छिड़ जाती है, जो उस लम्बी यात्रा का स्मरण कराती है, जो प्रारम्भिक असभ्य अनेकेश्वरवाद के क्रमबद्ध तत्त्वज्ञान की ओर प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद की मंजिलों से गुजरते हुए की गई।

जिसे प्रो॰ मैक्समूलर ने हीनोथीइज्म का नाम दिया था वह बिना जाने हुए एकेश्वरवाद की ओर इस प्रवृत्ति का परिणाम है, जो बहुदेवतात्मक प्रवृत्तियों को कुछ परिवर्तित-सा कर देती है और इस प्रकार एक असम्बद्ध चित्र प्रस्तुत कर देती है।

जब पृथक्-पृथक् देवों को पर्याय रूप से (बारी-बारी) सबसे बड़ा मान लिया जाता है तो बहुत-से गुण, वैयक्तिक विशेषताएं और कार्य सब देवों के लिए समान हो जाते हैं और इस प्रकार इन सब गुणों का एक देव में समाविष्ट कर लेना सुगम हो जाता है और इस तरह बहुदेवतात्मक पुरुषवत् ईश्वरवाद एक प्रकार के आध्यात्मिक एकेश्वरवाद के रूप में विकसित हो जाता है। —*Vedic Age*, P. 379

सारांश—ऋग्वेदीय देवमाला के मुख्य रूपों का सारांश इस प्रकार रखा जा सकता है कि—

१. प्रकृति के मुख्य स्वरूप व कार्य जिनकी जीवित-जागृत रूप में कल्पना की गई और पुरुषवत् देव के रूप में जिन का प्रतिनिधित्व किया गया वे पूजनीय माने जाते थे।
२. वनस्पतियों, वृक्षों और पर्वतों की पूजा और स्तुति में प्रकृति-पूजा का सीधा-सादा प्रारम्भिक अंश प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है।
३. इन्द्र की मूर्ति के निर्देश में तथा अन्य रूपों में देवताओं की प्रतिमाओं वा मूर्तियों की पूजा ऋग्वेद के समय ज्ञात थी या नहीं इसके विषय में किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता। —*Vedic Age*, P. 376

भाषानुवाद-सहित Vedic Age से इन लम्बे उद्धरणों को देने के पश्चात् अब हम उनका विवेचन करना चाहते हैं।

वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद

वेदों को निष्पक्ष भाव से पढ़ने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें अनेक देवताओं का स्थान-स्थान पर निर्देश होने पर भी (जिनके स्वरूप और तात्पर्य पर हम आगे कुछ विस्तार से प्रकाश डालेंगे) देवाधिदेव, सब देवों के अधिष्ठाता के रूप में एक ईश्वर की पूजा का ही विधान पाया जाता है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, वायु, सूर्य, सविता आदि प्रधानतया उस एक परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न गुणों को सूचित करनेवाले नाम हैं। इसके लिए निम्नलिखित अति स्पष्ट मन्त्रों का निर्देश यहां पर्याप्त होगा—

ऋग्वेद १. १६४. ४६ में कहा गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

इस मन्त्र में स्पष्टतया बताया गया है कि (एकं सत्) एक सत्स्वरूप (सदा एकरस रहनेवाले वा निर्विकार) परमेश्वर को (विप्राः) बुद्धिमान् ज्ञानी लोग (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकारों से—अनेक नामों से पुकारते हैं। उसी को वे अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् इत्यादि नामों से याद करते हैं।

ये नाम परमेश्वर के अनेक गुणों का स्मरण कराते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्र नाम भगवान् के परमैश्वर्य-सम्पन्न होने का, मित्र उसके सबका स्नेही मित्र होने का, वरुण सर्वोत्तम और अज्ञानान्धकार निवारक होने का, अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप और सबका अग्रणी वा नेता होने का, यम सर्वनियामक होने का, मातरिश्वा आकाश व जीवादि में अन्तर्यामिरूप से व्यापक होने का, सूर्य सर्वप्रकाशक होने का, सुपर्ण अति उत्तम कर्म करने का, गरुत्मान् महान् सर्वव्यापी आत्मा होने का और दिव्य अत्यन्त अद्‌भुत दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव सम्पन्न होने का स्मरण कराता है। '**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः**' इस मन्त्र का अङ्ग्रेजी अनुवाद—

They call Him Indra—God of Supreme Power, Mitra—the Friend of all, Varuna—the most Desirable Being, Agni—the All Knowing, Divya—the Shining One and Garutman—the Mighty Soul. The sages describe the One Being in various ways, calling Him Agni—Self-refulgent One. Yama—the Ordainer of the world and Matarishwan—the life energy of the universe. — *Rigveda* 1. 164. 46

यूरोप के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् मि० अर्नेस्ट वुड (Ernest Wood) नामक अङ्ग्रेज सज्जन ने *An Englishman defends Mother India* नामक पुस्तक में इस मन्त्र का अनुवाद देते हुए यह टिप्पणी की थी—

"In the eyes of the Hindus, there is but One Supreme God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words—

"Ekam Sad Vipra Bahudha Vadanti" which may be translate,. "The Sages name the One Being variously."[1]

यूरोप के संस्कृतज्ञों में अपने समय के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रो० मैक्समूलर को भी जिन्होंने पहले ग्रन्थों में वेदों को "हीनौथीइज्म" Henotheism or Kathenotheism का प्रतिपादक बताने का प्रयत्न किया था (जिसकी आलोचना हम इस अध्याय में करेंगे) यह बात अपने अन्तिम ग्रन्थ 'The Six Systems of Philosophy' में, जो महर्षि दयानन्द कृत 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के पढ़ने के पश्चात् लिखा गया था, स्वीकार करनी पड़ी कि वेदों में इन्द्र, मित्र, अग्नि, मातरिश्वा, प्रजापति इत्यादि शब्दों द्वारा वस्तुतः एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है, जो अनन्त और निर्विकार है।

प्रो० मैक्समूलर के अपने शब्द निम्नलिखित हैं—

Whatever may be the age when the collection of our Rigveda Samhita was finished, it was before that age, that the conception had been formed that there is but One Being, neither male nor female, a Being raised high above all the conditions and

1. An Englishman defends Mother India by Ernest Wood, P. 128

limitations of personality and of human nature and nevertheless the Being that was really meant by all—such names as Indra, Agni, Matarishwan and by the name of Prajapati Lord of creatures.

ऋग्वेद ५. ५१. १६ में एकेश्वरवाद का कितने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है, जहां कहा है—

य एक इत् तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः । पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥

अर्थात् जो परमेश्वर (एकः इत्) एक ही है, हे मनुष्य ! (तम् उ स्तुहि) तू उसी की स्तुति कर । वह परमेश्वर (कृष्टीनाम्) सब मनुष्यों का (विचर्षणिः) सब-कुछ भली-भांति देखनेवाला सर्वज्ञ है । वही (वृषक्रतुः) सुखवर्षक ज्ञान और कर्मवाला (पतिः जज्ञे) सारे जगत् का स्वामी है ।

यहां परमेश्वर के लिए 'एक इत्' अर्थात् 'वह एक ही है' यह कितनी स्पष्टता से बताया गया है ! इसपर भी वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवादी अथवा प्रकृतिपूजक कहना कितना पक्षपात अथवा अज्ञानसूचक है—

O man ! Praise Him who is One and One only, being the Almighty and Omniscient Lord of all beings. (Rig. 6. 51. 16)

ऋग्वेद ६. २२. १ में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन इन स्पष्ट शब्दों में किया गया है—

य एक इद् हव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः ।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान् सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥

अर्थात् (यः) जो (इन्द्रः) परमेश्वर (चर्षणीनाम्) सब मनुष्यों का (एकः इत्) एक ही (हव्यः) पूजनीय है (तम्) उसकी (आभिः गीर्भिः) इन वाणियों से (अभि अर्च) चारों ओर से प्रेमपूर्वक पूजा कर । (यः) जो (वृषभः) सुखवर्षक (वृष्ण्यावान्) सर्वशक्तिमान् (सत्यः) सत्यस्वरूप (सत्वा पुरुमायः सहस्वान् पत्यते) अत्यधिक बुद्धिशाली सर्वज्ञ तथा सब प्रकार के बल से सम्पन्न होने के कारण सबको पराजित करनेवाला सारे जगत् का स्वामी है, वही परमेश्वर एकमात्र पूजनीय है ।

इस प्रकार मन्त्र में परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सारे जगत् का स्वामी बताते हुए उसकी पूजा का विधान किया गया है ।

O man ! Glorify that God by your words who is the only One object of worship. He is the Almighty True Lord of the universe, showerer of joy and bliss. —Rig. 6-22-1

ऋ० ८. १. १ में एकमात्र परमेश्वर की ही पूजा का विधान करते हुए अन्यों की पूजा का स्पष्ट निषेध किया गया है और उसे दुःख का कारण बताया गया है, यथा—

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्था च शंसत ॥

—ऋ० ८. १. १

अर्थात् हे (सखायः) मित्रो ! (अन्यत् मा चित् विशंसत) अन्य किसी की विशेष स्तुति वा पूजा न करो और (मा रिषण्यत) इस प्रकार अन्यों की पूजा करके दुःख मत उठाओ । (सचासुते) मिलकर यज्ञादि में भी (वृषणम्) सुखवर्षक (इन्द्रम् इत्) एक परमेश्वर की ही (स्तोत) स्तुति करो (मुहुः) बार-बार (उक्था च शंसत) उसी का वेदमन्त्रादि द्वारा गुणगान करो ।

'इन्द्रम् इत् स्तोत' केवल परमेश्वर की ही स्तुति करो । इससे बढ़कर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और क्या हो सकता है ! इस पर भी ऋग्वेदोक्त धर्म को अनेकेश्वरवादी वा Polytheistic कहना अज्ञान व पक्षपातसूचक है !

ऋ० १०.८२ में एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन सभी मन्त्रों में विश्वकर्मा अथवा जगत्कर्ता के नाम से परमेश्वर का स्मरण करते हुए किया गया है । ७ मन्त्रों के इस छोटे-से सूक्त में ३ बार 'एक' शब्द का परमेश्वर के लिए प्रयोग हुआ है (मं० २, मं० ३ और मं० ६ में) ।

मन्त्र दो में विश्वकर्मा अर्थात् जगत्कर्ता परमेश्वर के गुणों का निम्न प्रकार वर्णन करते हुए उसके एक ही होने का प्रतिपादन है— **विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।**
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥

—ऋ० १०.८२.२

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि वह (विश्वकर्मा) जगत्कर्ता परमेश्वर (विमनाः आत् विहाया) विविध मनों का स्वामी आकाश के तुल्य व्यापक (धाता) संसार का धारण करनेवाला (विधाता) विशेष रूप से सूर्य-चन्द्र तथा लोक-लोकान्तरों का धारण और पोषण करनेवाला (परमा) अत्यन्त उत्कृष्ट (उत) और (संदृक्) सर्वज्ञ है (यत्रा) जिस परमेश्वर के विषय में विद्वान् (आहुः) कहते हैं कि (सप्त ऋषीन् परे) सात इन्द्रियों से परे (एकम्) एक ही है और (यत्र) जिस परमेश्वर के आश्रय से (तेषाम्) उन इन्द्रियादि के (इष्टानि) अभिलषित समस्त भोग्य पदार्थ (इषा) उस प्रभु की प्रेरक शक्ति से (संमदन्ति) भली प्रकार हर्ष के कारण बनते हैं ।

यहां ईश्वर के जगत्कर्ता, धर्ता और सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन करते हुए उसे इन्द्रियातीत और एक ही बताया गया है, यह अति स्पष्ट है, जिसमें सन्देह का अणुमात्र भी कारण नहीं ।

इस सूक्त का मन्त्र ३ तो इस प्रकरण में अत्यधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, जिसमें परमेश्वर को एक और देवों के सब नामों को धारण करनेवाला बताया गया है । मन्त्र इस प्रकार है—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

—ऋ० १०.८२.३ । यजुः० १७.२७ । अथर्व० २.१.३

अर्थात् (यः नः पिता) जो परमेश्वर हमारा पालक है (जनिता) उत्पादक है और (यः) जो (विधाता) विशेष रूप से हमारा धारण करनेवाला और जो (विश्वा धामानि) सब स्थानों, लोकों और (भुवनानि) उत्पन्न पदार्थों को (वेद) जानता है । (यः देवानां नामधा एकः एव) जो सब देवों—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यमादि के नाम को प्रधानतया धारण करनेवाला एक ही देव है (तम्) उस (संप्रश्नम्) अच्छी प्रकार से जानने योग्य परमेश्वर की ओर ही (अन्या भुवना) अन्य सब लोक और प्राणी (यन्ति) गति कर रहे हैं ।

यहां परमेश्वर को पालक, उत्पादक, पिता, सर्वज्ञ, धारक बताते हुए स्पष्ट कहा है कि वह एक ही है जिसके अनेक देवताओं के नाम हैं अर्थात् अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, रुद्रादि नाम प्रधानतया उस एक गुण-समुद्र परमेश्वर के हैं गौणरूप से अन्यों के हैं । इससे बढ़कर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और अनेकेश्वरवाद का निराकरण और क्या हो सकता है ?

उसी सूक्त के मं० ६ में पुनः एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन निम्न शब्दों में किया गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमार्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में प्रकृति और उसके परमाणुओं को सबसे पूर्व धारण करनेवाला वही एक परमेश्वर है, यह कथन कर उत्तरार्ध में बताया है कि इस अज—प्रकृति—सत्त्व वा प्रधान की (नाभौ) नाभि में (एकम्) एक ब्रह्मतत्त्व ही (अधि

अर्पितम्) ऊपर अधिष्ठातारूप में विराजमान है (यस्मिन्) जिसके आधार पर (विश्वानि भुवनानि तस्थुः) सब लोक विद्यमान हैं—जो सारे जगत् का संचालक और अध्यक्ष है।

ऋ० १०.१२१ के हिरण्यगर्भ सूक्त में 'क' अथवा सुखस्वरूप प्रजापति के नाम से भगवान् का स्मरण करते हुए उसी की श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना का विधान किया गया है। दस मन्त्रों के इस छोटे-से सूक्त में चार बार परमेश्वर के लिए 'एकः' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसे ही देवाधिदेव तथा पूजनीय बताया गया है। उदाहरणार्थ इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ —ऋ० १०.१२१.१

अर्थात् (हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में मानो सूर्यादि प्रकाशक विद्यमान हैं [तेजो वै हिरण्यम्] वह परमेश्वर (अग्रे) सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व ही (सम् अवर्तत) अच्छी प्रकार विद्यमान था। वह (भूतस्य) सारे प्राणियों का (एकः एव पतिः आसीत्) एक ही स्वामी था और है। (स पृथिवीम् उत इमां द्याम् दाधार) वह पृथिवी और आकाशादि का धारण करनेवाला है, ऐसे (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सुख-शक्तिदायक परमेश्वर की (हविषा) श्रद्धाभक्ति से (विधेम) हम पूजा करते हैं।

मं० २ में बताया गया कि सब देव उस एक परमेश्वर की ही उपासना करते और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं—**य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।**

मं० ३ में उस परमेश्वर को ही सारे संसार का एक राजा बताते हुए उसकी उपासना का विधान किया गया है—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

अर्थात् जो परमेश्वर स्थावर-जंगम सारे संसार का (महित्वा) अपनी महिमा से (एकः इत् राजा बभूव) एक ही राजा है। (अस्य द्विपदः चतुष्पदः यः ईशे) इन दोपाये और चौपाये सब प्राणियों का जो परमेश्वर स्वामी है, उस सुखस्वरूप परमेश्वर की हम सब श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं।

मं० ७ में उस परमेश्वर को प्रकृति का धारक और सब देवों का एकमात्र प्राणस्वरूप बताते हुए उसी की उपासना का यों विधान किया गया है—**आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।**

ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यहां जिस भाग की ओर हम विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं और जिससे अनेकेश्वरवादियों का मत सर्वथा खण्डित होता है वह मन्त्र का उत्तरार्ध है, जिसमें कहा गया है कि वह (देवानाम्) सब अग्नि-सूर्य-चन्द्रादि प्रकाशक पदार्थों का और ज्ञान-प्रकाशक विद्वानों का (एकः असुः सम् अवर्तत) एक प्राणस्वरूप विद्यमान था और सदा है। उस सुखस्वरूप परमेश्वर की हम श्रद्धाभक्तिपूर्वक विशुद्ध मन से उपासना करें।

इसी सूक्त का अष्टम मन्त्र वेदों को प्रकृति-पूजा-प्रतिपादक माननेवाले लोगों के लिए अत्यधिक मननीय है जहां भगवान् को प्रकृति का अधिष्ठाता, निरीक्षक और नियामक बताते हुए देवाधिदेव और अतएव एकमात्र पूजनीय कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—**यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।**

यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

अर्थात् (यः चित्) जो (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (दक्षं दधानाः) बल को धारण करती हुई और (यज्ञं जनयन्तीः) संसाररूपी महान् यज्ञ को उत्पन्न करती हुई (आपः) प्रकृति को (परि अपश्यत्) साक्षी और अधिष्ठातारूप से भली-भांति

देखता है, (यः) जो (देवेषु अधि एकः देवः) सब प्रकाशक पदार्थों और ज्ञानियों में सर्वोत्तम एक प्रकाशक तथा आनन्द-शान्ति-दायक है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप परमेश्वर की हम श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करते हैं।

इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रजापति के नाम से भगवान् का स्मरण करते हुए स्पष्ट कहा है कि-

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

अर्थात् हे सारी प्रजाओं के स्वामिन्। (त्वत् अन्यः एतानि ता विश्वा जातानि न परिबभूव) तुझे छोड़कर और कोई नहीं, जो इन सब पदार्थों में व्यापक तथा इनका स्वामी है। इसलिए जिस शुभ कामना से हम तेरा स्मरण करें, तेरी कृपा से हमारी वह शुभ कामना पूरी हो और हम ज्ञानादि ऐश्वर्यों के स्वामी बनें।

English translation of the Mantras of the *Hiranya Garbha Hymn.*

1. हिरण्यगर्भः —

God who possesses all the luminous worlds within Himself and exists from the very eternity, is the only. One manifest Lord of the created objects. He is supporting this earth and the heaven. To that All-blissful Divinity, we offer our humble worship.

—Rig. 10-121-1

2. य आत्मदा बलदा—

He who is the giver of physical vigour and spiritual force, He whose order is carried out by all the luminous objects and by the enlightened persons, Whose shelter is immortality and turning away from Whom is death, to that All-blissful Divinity, we offer our humble worship.

—Rig. 10-121-2

3. यः प्राणतो निमिषतः —

He who by the greatness of His power is the Sole Ruler of living and lifeless objects existing in this world; He who is the Lord of these bipeds and quadrupeds; to that All-blissful Divinity, we offer our humble worship.

—Rig. 10-121-3

4. आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्—

When water in its subtle form, possessing mighty force within itself, became manifest; therein was held the Universal germ which produced the heat energy, thence the Once Universal life force of all the luminous objects became manifest, to that All blissful Divinity, we offer our humble worship.

—Rig. 10-121-7

5. यश्चिदापो महिना पर्यपश्यत्—

He who, the His might, surveys the water in its subtle stage at the time of the creation of the world which possesses production force and generates all the universal processes, Who is God of all the luminous objects and there is none beside Him; to that All-blissful Divinity, we offer our humble worship.

—Rig. 10-121-8

इस सूक्त में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है । इस बात को प्रो० मैक्समूलर तथा अन्य सब पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं । उदाहरणार्थ प्रो० मैक्समूलर ने History of Ancient Sanskrit Literature में लिखा—

'I add only one more Hymn (Rig. 10-121) in which the idea of One God is expressed with such power and decision, that it will make us hesitate before we deny to the Aryans an instinctive Mono-theism.' —P. 578

अर्थात् मैं एक और सूक्त ऋ १०. १२१ को जोड़ना चाहता हूं, जिसमें एक ईश्वर का विचार इतनी प्रबलता और निश्चय के साथ प्रकट किया गया है कि हमें आर्यों के नैसर्गिक एकेश्वरवादी होने से इन्कार करते हुए बहुत अधिक संकोच करना पड़ेगा ।

प्रो० मैक्समूलर के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वे इस सूक्त को निस्सन्देह एकेश्वरवाद का प्रतिपादक मानते थे और ऐसे सूक्तों के आधार पर आर्यों के स्वाभाविक एकेश्वरवादी होने से इन्कार न कर सकते थे, किन्तु ईसाइयत के पक्षपात के कारण वे इस सूक्त के सम्बन्ध में यह टिप्पणी देने से न रुक सके कि—

This is one of the hymns which has always been suspected as modern by European interpreters.' *Vedic Hymns,* Edited by Prof. Maxmuller P. 3

अर्थात् यह उन सूक्तों में से है, जिन पर यूरोपीय भाष्यकारों ने सदा नवीन होने का सन्देह किया है ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।

इस १०. १२१. १० पर प्रो० मैक्समूलर फिर टिप्पणी चढ़ाते हैं—

'This last verse is to my mind the most suspicious of all.' —P. 4

अर्थात् यह अन्तिम मन्त्र (जिसमें परमेश्वर को प्रजापति के नाम से सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि तुम्हें छोड़ कर अन्य कोई भी इस सारे जगत् में व्यापक और इसका स्वामी नहीं) मेरी सम्मति में सबसे अधिक सन्देहास्पद है ।

यह सन्देह इसलिए किया गया है कि ईसाइयत के पक्षपात के कारण (जिसके अनेक स्पष्ट प्रमाण हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं) ये लोग इस बात को मानने में संकोच करते हैं और इसके लिए उद्यत नहीं होते कि वेदों में एकेश्वरवाद की उच्च शिक्षा पाई जाती है । अतः इस हिरण्यगर्भ सूक्त के साथ पाश्चात्य विद्वानों में से बहुतों ने बड़ा खिलवाड़ किया है । 'हिरण्यगर्भ' का अर्थ बहुतों ने Golden egg अथवा स्वर्णमय अण्डा कर दिया है ।

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का अर्थ 'किस देव के लिए ?' ऐसा प्रश्नात्मक करके (To which God shall we offer our worship?) यह दिखाने का यत्न किया है कि उन्हें यह पता नहीं था कि वह पूजनीय देव कौन है ? केवल उसके विषय में जिज्ञासा को इस सूक्त में प्रकट किया गया है । परन्तु वस्तुतः यह सर्वथा अशुद्ध है ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव ॥

इत्यादि में उस देव के गुणों का निश्चयात्मक भाषा में वर्णन है, सन्देहात्मक नहीं । इसलिए "कस्मै देवाय" का अर्थ सुखस्वरूप परमेश्वर करना ही सर्वथा उचित है ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।

इस मन्त्र से तो यह सर्वथा स्पष्ट है कि 'कस्मै देवाय' से तात्पर्य प्रजापति परमेश्वर से ही है । इसीलिए प्रो० मैक्समूलर तथा उनके अनुयायियों को यह मन्त्र सबसे अधिक सन्दिग्ध (most suspicious) प्रतीत हुआ । वस्तुतः इसे सन्दिग्ध मानने का कोई कारण ही न था, क्योंकि इसने तो 'क' का अर्थ प्रजापति परमेश्वर ही है, इसे सर्वथा स्पष्ट कर दिया । इसीलिए शतपथकार इत्यादि ने लिखा—**को हि प्रजापतिः अथवा प्रजापतिर्वैकः** । श० ६. २२. ५, ऐ० ३. २१ गो० उ० ६. ३ ।

निम्न ऋग्वेदीय मन्त्र में भी परमेश्वर को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् बताते हुए उसके एक होने का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है, यथा—**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।**
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

—ऋग्वेद १०. ८१. ३, यजुर्वेद १७. १९, अथर्व० १३. २ २६

मन्त्र में परमेश्वर को 'देवः एकः' इस प्रकार एक देव—सर्वप्रकाशक सर्वानन्द-प्रदाता बताकर कहा है कि (विश्वतः चक्षुः) उसकी आंखें मानो चारों ओर हैं, उसके मुख सब ओर हैं, उसके रक्षा-साधन (बाहु) सब ओर हैं और उसके गति-साधन भी चारों ओर हैं । ऐसा वह परमेश्वर ज्ञान-कर्मरूप बाहुओं (ज्ञानकर्मणी हि लोकवहनाद् बाहू) और (पतत्रैः) परमाणुओं से (द्यावाभूमी जनयन्) आकाश और पृथ्वी को बनाता है ।

अथर्ववेद में 'परमेश्वर ही एकमात्र पूजनीय है' इस विषय को अनेक स्थानों पर स्पष्ट वर्णित किया गया है, यथा अथर्व० में कहा है—**दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः, एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।**
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ।—अथर्व० काण्ड २, सू० २, मं० १

अर्थात् (यः) जो (दिव्यः गन्धर्वः) दिव्य गुणयुक्त, पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों को धारण करनेवाला (भुवनस्य पतिः) सारे संसार का पालक है वह (एकः एव) एक ही (विक्षु) सब प्रजाओं में (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है । (दिव्य देव) हे दिव्य गुणयुक्त परमेश्वर ! (तं त्वा यौमि) मैं अपने को ध्यान द्वारा तेरे साथ जोड़ता हूं । (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो (ते) तेरा (सधस्थम्) स्थान (दिवि) प्रकाशमय अपनी महिमा में है ।

यहां—**'एक एव नमस्यः विक्ष्वीड्यः'** ये शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं, जिनसे वैदिक एकेश्वरवाद में अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता ।

मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः । —अथर्व० २. २. २

इस मन्त्र में भी पूर्व-मन्त्रवत् परमेश्वर के एक और पूजनीय तथा उत्तम सुखदायक होने का अति स्पष्ट उपदेश है यथा (गन्धर्वः) वेदवाणी का धारण करनेवाला (यः) जो (भुवनस्य एकः एव नमस्यः पतिः) सारे संसार का एक ही स्वामी और नमस्कार करने योग्य हैं तथा जो (सुशेवाः) उत्तम सुखदायक है वह हमें (मृडात्) सुखी करे ।

वैदिक एकेश्वरवाद का यहां कितना स्पष्ट प्रतिपादन है !

इतना ही नहीं, परमेश्वर एक और एक ही है, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० परमेश्वर नहीं, इस बात को भी अथर्व वेद के निम्न मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बता दिया गया है, ताकि किसी को इसमें अणुमात्र भी सन्देह न हो । वे मन्त्र ये हैं—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । १६
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ १९
तमिदं निगतं सहः स एष एक एक वृद् एक एव ॥ २१ —अथर्व० १३.४

अर्थात् (सः) वह (एषः) यह परमात्मा (एकः) एक है (एक वृत्) एक होकर सबको व्यापनेवाला—सर्वव्यापक है (एकः एव) वह एक ही है। (न द्वितीयः न तृतीयः चतुर्थः न अपि उच्यते, न पञ्चमः न षष्ठः सप्तमः न अपि उच्यते, न अष्टमः न नवमः दशमः न अपि उच्यते), उसे दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, सातवां, आठवां, नौवां वा दसवां नहीं कहा जाता। वह एक है और एक ही है। एक होकर वह सर्वव्यापक और प्राणी-अप्राणी सबको विशेष रूप से पूर्णतया देखनेवाला है।

एकेश्वरवाद का इतना प्रबल और स्पष्ट प्रतिपादन होते हुए भी वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवादी कहना कितना अज्ञान व पक्षपातसूचक है ?

पर पाश्चात्य विद्वानों में से अनेक अथर्व के इन प्रमाणों को यह कहकर उड़ाने का प्रयत्न करते हैं कि अथर्ववेद तो वस्तुतः वेद ही नहीं। वह तो पीछे से बनाया और वेदों की श्रेणी में जबरदस्ती घुसेड़ा गया। यद्यपि यह मत सर्वथा कल्पित है और इसकी निस्सारता को हम सप्रमाण आगे दिखायेंगे, तथापि हम पुनः ऋग्वेद के कुछ और स्पष्ट प्रमाणों को प्रस्तुत करके फिर हिनोथीइज्म के नाम से प्रचलित वाद की समालोचना करेंगे।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

इस ऋ० १. १६४. ४६ के एकेश्वर-प्रतिपादक वचन को हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। उसी के समान वचन ऋ० १०. ११४. ५ में भी है, जहां कहा है—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिः, एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। —ऋ० १०. ११४. ५

अर्थात् (कवयः) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी लोग (सुपर्णम्) सुन्दर कर्म करनेवाले परमेश्वर को (एकं सन्तम्) एक होते हुए भी (वचोभिः) अपने वचनों से (बहुधा कल्पयन्ति) अनेक रूपों में—गुणसूचक अनेक नामों द्वारा वर्णित करते हैं।

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि इत्यादि अनेक नामों से उसी एक परमेश्वर का ही ज्ञानी लोग वर्णन करते हैं। काव्यमय भाषा में भी उसी का अनेक कल्पनाओं द्वारा प्रतिपादन सर्वसाधारण को बोध देने के लिए करते हैं।

ऐसे स्पष्ट मन्त्रों के विषय में टालने का एक प्रकार कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने निकाल रक्खा है कि यह मन्त्र ऋग्वेद के दशम मंडल का है, जो पीछे से बनाया गया। वस्तुतः यह भी एक मनघड़न्त कल्पना है, जिसका हम सप्रमाण निराकरण आगे करेंगे। तथापि अन्य मण्डलों में से कुछ और स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करने में कोई हानि नहीं।

ऋग्वेद ८. २५. १६ में मन्त्र आता है—

अयम् एक इत्था पुरूरु विचष्टे विश्पतिः। तस्य व्रतान्यनु वश्चरामसि ॥

अर्थात् (अयम्) यह (विश्पतिः) प्रजाओं का स्वामी (एकः) एक ही है (इत्था) इस प्रकार निश्चय से वह एक ही संसार का स्वामी (पुरूरु विचष्टे) सब प्रजाओं का ठीक-ठीक निरीक्षण करता है—सब कुछ जानता है। हम (वः) तुम प्रजाओं के कल्याण के लिए (तस्य व्रतानि अनुचरामसि) उसके व्रतों का अनुसरण करते हैं—उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। यहां भी स्पष्टतया परमेश्वर को एक और सारी प्रजाओं का स्वामी बताते हुए उसकी आज्ञा पालने का आदेश है।

ऋग्० ८. १. २७ में भी परमेश्वर को एक बताते हुए उसके गुणों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

य एको अस्ति दंसना महां उग्रो अभिव्रतैः । अर्थात् जो परमेश्वर एक, अत्यन्त आश्चर्यजनक, महान् और अपने व्रतों के कारण अति तेजस्वी तथा दुष्टों के लिए भयङ्कर है, उसी का ध्यान सबको करना चाहिए ।

ऋ० १. १००. ७ में भी **स विश्वस्य करुणस्येश एकः** । यह कहकर परमेश्वर को सब करुणापूर्ण शुभ कार्यों का एकमात्र स्वामी बताया गया है ।

सामवेद मं० ३७२ में परमेश्वर के एकमात्र पूज्य होने का प्रतिपादन है । यही मन्त्र अथर्ववेद में भी है—

समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनम् आजिगीषन्तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ॥ — अथर्व० ७. २१. १

अर्थात् हे मनुष्यो ! तुम सब सरल भाव और आत्मिक बल के साथ परमेश्वर की ओर उसका भजन करने के लिए आओ जो (एकः इत्) एक ही (जनानाम् अतिथिः) मनुष्यों में अतिथि की तरह पूजनीय अथवा अत—सातत्यगमने सर्वव्यापक है । वह सनातन है और नयों के अन्दर भी वह व्याप रहा है । ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि के सब मार्ग उसकी ओर जाते हैं । वह निश्चय से एक ही है । **'समेत विश्व ओजसा'** का अंग्रेजी-अनुवाद—

Come together, ye all with power of spirit, to the Lord of light, who is only One, the Guest of the people. He, the Ancient, desires to come to the new. To Him all pathways turn verily. He is One.

(*The Call of the Vedas* by Principal Abinash Chandra Bose)

इससे बढ़कर विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और क्या हो सकता है ? वह परमेश्वर एक है, एक ही है, वही सबके लिए अतिथिवत् पूजनीय है ।

ऋग्वेद १. ७. ९ का निम्न मन्त्र भी परमेश्वर को सारे संसार का और सब मनुष्यों का एक ही सम्राट् घोषित करता हुआ एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थक है—**य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥** अर्थात् (यः) जो (इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (चर्षणीनाम्-पंचक्षितीनाम्) सब मनुष्यों का जो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अतिशूद्र इन विभागों में बंटे हुए हैं और (वसूनाम् इरज्यति) सारे ऐश्वर्यों का स्वामी है उसी की उपासना करो ।

ऋग्वेद १. ५४. १४ का निम्न मन्त्र परमेश्वर को एक और अनुपम बताते हुए कितनी स्पष्टता से एकेश्वरवाद का विशुद्ध रूप में प्रतिपादन करता है—

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥

अर्थात् (यस्य) जिस परमेश्वर के (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी (सिन्धवः) समुद्र और (रजसः) अन्य लोक-लोकान्तर (अन्तम् न आनशुः) अन्त नहीं पा सकते (अनुव्यचः) वह सबमें ओतप्रोत है । मेघ, बिजली आदि भी गर्जते या वृष्टि करते हुए उसकी महिमा को सूचित करते, किन्तु उसका अन्त पाने में असमर्थ हैं । ऐसा वह परमेश्वर (एकः) एक ही है; उसने (आनुषक्) सबमें व्याप्त होकर (अन्यत्) अपने से भिन्न इस (विश्वम्) संसार को (चकृषे) बनाया है ।

इससे न केवल एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन बल्कि अद्वैतवाद वा Pantheism का स्पष्ट निषेध भी सिद्ध होता है जिस पर आगे हम इसी अध्याय में प्रकाश डालेंगे ।

ऐसे ही अन्य सैकड़ों मन्त्र चारों वेदों से वैदिक एकेश्वरवाद के समर्थन में उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु विस्तार-भय से इतना ही पर्याप्त है ।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन

ऐसे वचनों को देखकर अनेक निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्टतया अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है कि वेदों में एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है। ऐसा ही अनेक पारसी और मुसलमान विद्वानों ने भी किया है, जिनके कुछ उद्धरण देना इस प्रसङ्ग में आवश्यक प्रतीत होता है।

चार्ल्स कोलमैन

चार्ल्स कोलमैन नामक अंग्रेज विद्वान् ने Mythology of the Hindus नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है—

'The Almighty, Infinite, Eternal, Incomprehensible, Self-existent Being, He who sees everything, though never seen, is Brahma—the One unknown True Being, the Creator, Preserver and Destroyer of the universe. Under such innumerable other definitions is the Deity acknowledged in the Vedas.

— Charles Coleman in the *Mythology of the Hindus*

अर्थात् वेदों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, अनन्त, नित्य, अविज्ञेय, स्वयम्भू, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता ब्रह्म के रूप में माना गया है।

कौन्ट बियॉर्न्सटीर्ना का वैदिक ईश्वरवाद-विषयक लेख

कौन्ट बियॉर्न्सटीर्ना नामक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ने Theogony of the Hindus नाम की अपनी पुस्तक में वेदमन्त्रों के उद्धरण देकर लिखा—

'These truly sublime ideas can not fail to convince us that the Vedas recognise only One God who is Almighty, Infinite, Eternal, Self-existent, the Light and Lord of the universe.' —Count Biornstierna in the *Theogony of the Hindus*, P. 53

अर्थात् इन उद्धरणों में प्रकाशित उच्च भावों से हम निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि वेद एकेश्वर का ही प्रतिपादन करते हैं, जो ईश्वर सर्वशक्तिमान्, अनन्त, नित्य, स्वयम्भू और जगत् का प्रकाशक तथा स्वामी है।

श्लीगल का लेख

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लीगल (Schlegel) ने अपने Wisdom of the Ancient Indians नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि—

'It can not be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God. All their writings are replete with sentiments and expressions, noble, clear, lovely, grand, as deeply conceived as in any human language in which men have spoken of their God.'

— Schlegel in the *Wisdom of the Ancient Indians*

अर्थात् इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीयों को सच्चे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त था। उनके सारे लेख ईश्वर के विषय में इतने उत्कृष्ट, स्पष्ट, प्रेममय, उत्तम और गम्भीरतापूर्ण विचारों और भावनाओं से भरपूर हैं, जितनी कि किसी मानवीय भाषा में लोगों ने अपने भावों को प्रकट किया है।

W.D. Brown (ब्राउन) नामक अङ्ग्रेज विद्वान् के लेख से उद्धरण हम पहले दे चुके हैं, जिस में उसने वैदिक धर्म के विषय में लिखा है कि वह एकेश्वरवादी है—

'It (Vedic Religion) recognises but One God.'

W.D. Brown in the *Superiority of the Vedic Religion*

पारसी विद्वान् का वैदिक एकेश्वरवाद-विषयक लेख

फुर्दुन दादाचान् नामक सुप्रसिद्ध पारसी विद्वान् ने Philosophy of Zoroastrianism and Comparative Study of Religions नामक पुस्तक लिखी है, जिसके वेदों के महत्त्व-विषयक कुछ उद्धरण हम पहले अध्याय २ में दे चुके हैं। वैदिक एकेश्वरवाद-विषयक उनका लेख अत्यन्त स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण होने से यहां वे लिखते हैं—

'The Vedas teach nothing but Monotheism of the purest kind, the belief that this universe manifests the love, might, wisdom and glory of God Who eternally evolves and dissolves alternately innumerable systems of worlds, for the benefit, discipline and well-being of *jeevatmas* according to the eternal laws of nature (called Rita in the Vedas) and also according to the Law of Karma (as implied in it).'

(*Philosophy of Zoroastrianism and comparative Study of Religions,* by Furdun Dadachanji, B.A. LL.B., D. Th. The Times of India Press, Bombay, 1941)

अर्थात् वेद सबसे अधिक विशुद्ध रूप में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं अर्थात् इस विश्वास का कि यह जगत् परमेश्वर के प्रेम, शक्ति, बुद्धि और महत्त्व को प्रकट करता है जो परमेश्वर जीवात्माओं के कल्याण और लाभ के लिए शाश्वत प्राकृतिक नियमों के अनुसार (जिन्हें वेद में ऋत के नाम से पुकारा गया है) तथा इसी के अन्तर्गत कर्म-नियम के अनुसार अनेक लोक-लोकान्तरों का निर्माण, धारण और अन्त में संहार करता है, इत्यादि।

इससे बढ़कर वैदिक एकेश्वरवाद का उत्तम समर्थन कहां हो सकता है ?

एक मुसलमान विद्वान् का वैदिक एकेश्वरवाद-विषयक महत्त्वपूर्ण लेख

सर मुहम्मद यामीन खां नामक एक विद्वान् मुसलमान सज्जन ने God, Soul and Universe in Science and Islam नाम की एक पुस्तक लिखी। उसके प्रथम अध्याय में वैदिक ईश्वरवाद पर प्रकाश डालते हुए पौराणिक त्रिमूर्ति तथा अवतारवाद से उसकी भिन्नता को बड़ी उत्तमता से प्रतिपादित किया गया है। सर यामीन खां लिखते हैं—

'Originally the conception of God among the Hindus was right when they believed Him to be Unit and Omnipresent, but when they started dividing Him into different shapes according to different functions which they considered He performed, they strayed far from their original conception. The result was that many who were heroes in their life-time, were gradually turned into incarnations of God and idolatry increased.

Many Hindus believe that all their sins are washed away by having a dip in the holy water of the Ganges. Thus it is seen that the great philosophical religion which had

conceived Unity of God in the beginning brought in corruption and degradation of high ideas, when His attributes as the Creator, the Preserver and the Destroyer were divided and allotted to different deities possessing separate entities in different forms.

Swami Dayananda Saraswati a man of great learning, started preaching the old religion of the Vedas which conceived unity of God.'

—*God Soul and Universe in Science and Islam* by Sir Yamin Khan, Kt. C.I.E.

इसका भावार्थ यह है कि 'प्रारम्भ में हिन्दुओं का ईश्वरविषयक विचार बिल्कुल ठीक था, जब वे उसे एक और सर्वव्यापक मानते थे, किन्तु जब उन्होंने भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए जिन्हें वे ईश्वर के मानते थे, भिन्न-भिन्न आकारों में उसे बांटना शुरू किया तो वे प्रारम्भिक मूल विचार से बहुत दूर चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि जो अनेक व्यक्ति अपने जीवित काल में वीर थे उन्हें अवतार के रूप में परिणत कर दिया गया और इस प्रकार मूर्तिपूजा में वृद्धि हुई।

बहुत-से हिन्दू यह मानते हैं कि गंगा में डुबकी लगाने से उनके सारे पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह महान् दार्शनिक धर्म, जिसने एकेश्वरवाद का विचार संसार के प्रारम्भ में दिया था, उसके उच्च विचारों में क्रमश: विकार और अवनति हो गई, जब कि जगत्कर्ता, धर्ता और संहर्ता के उसके गुणों को भिन्न-भिन्न रूपों और आकृतियों वाले भिन्न-भिन्न देवों के रूप में विभक्त कर दिया गया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो एक बहुत बड़े विद्वान् थे, वेदों के पुराने धर्म का प्रचार फिर प्रारम्भ किया, जो एकेश्वरवाद का प्रतिपादक था।'

वैदिक एकेश्वरवाद का सर यामीन खां के इस लेख में उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है, जो प्रशंसनीय है।

क्या वेदों में हीनोथीइज्म है ?

वेदों के एकेश्वरवाद के इतने अधिक स्पष्ट प्रमाण होने और अनेक निष्पक्ष पाश्चात्य पारसी और मुस्लिम विद्वानों द्वारा उपर्युक्त रीति से उनका समर्थन होने पर भी यूरोप के कई विद्वानों ने बहुत सम्भवत: ईसाई मत के पक्षपात में और उसकी उच्चता सिद्ध करने के लिए एक नया वाद Henotheism or Kathenotheism के नाम से घड़ा है। यह Henotheism क्या बला है और क्या सचमुच वेदों में इसका प्रतिपादन है ? (जैसे Vedic Age के लेखकों ने भी प्रो० मैक्समूलर के मत का निर्देश करते हुए जो इस वाद के मुख्य प्रवर्तक थे, पूर्वोद्धृत लेख में बताया है) इस बात का हम निष्पक्ष भाव से विवेचन करना आवश्यक समझते हैं। इसी प्रसंग में वैदिक देवताओं पर भी प्रकाश डाला जायगा, जिसका इस एकेश्वरवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हीनोथीइज्म या उपास्यश्रेष्ठतावाद क्या है ?

इस शब्द के अङ्ग्रेजी में घड़नेवाले प्रो० मैक्समूलर थे। उन्होंने Ancient Sanskrit Literature, P. 333-334 में इसके विषय में जो लिखा उसके कुछ मुख्यांशों को उद्धृत कर देना उसकी समालोचना से पूर्व आवश्यक है। प्रो० मैक्समूलर ने लिखा—

"Each Vedic poet seems to exalt the particular god whom he happens to be singing to a position of supremacy. It would be easy to find, in the numerous hymns of the Veda, passages in which almost every single god is represented as supreme and

absolute. In the first hymn of the Second Book of the Rig Veda, *Agni* is called the ruler of the universe, the lord of men, the wise king, the father, the brother, the son, the friend of men, nay all the power, and names of the others are distinctly ascribed to *Agni. Indra* is celebrated as the strongest in the hymns as well as in the *Brahmans,* and the burden of one of the songs of the tenth book is—

Vishvasmad Indra uttarah : "*Indra* is greater than all." Of *Soma* it is said that he was born great, and that he conquers everyone. He is called the king of the world, he has the power to prolong the life of men and is the maker of heaven and earth; of *Agni* or *Surya,* of *Indra* and *Vishnu*. In the very next hymn, addressed to *Varuna,* it is the Varuna who is, to the mind of the poet Supreme and Almighty.

—Prof. Maxmuller's *Ancient Sanskrit Literature,* P. 353-35

In his writings Maxmuller constantly referred to this and coined the word Henotheism or Kathenotheism to express what he regarded as a 'peculiar character' of the ancient Vedic religion. It denotes that each of several divinities is regarded as supreme and worshipped without reference to the rest, or that the seers held at the belief in individual gods alternately or for the time being regarded as highest the one that was worshipped and that they therefore treated him as if he were absolutely being independent and supreme, alone present to the mind of the worshipper.

—*The Rigveda and Vedic Religion* by A.C. Calyton, P. 59-6.

इसका सारांश यह है कि प्रत्येक वैदिक कवि वा ऋषि जब जिस देवता की स्तुति करने लगता है तब उसी को सर्वोत्कृष्ट बताने और उसके अन्दर सर्वोत्कृष्टता के सब गुणों को समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। वेद के अनेक ऐसे सूक्तों को पाना बहुत सुगम है, जिनमें प्रायः प्रत्येक देवता को सबसे ऊंचा और पूर्ण बताया गया है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि को सब मनुष्यों का बुद्धिमान् राजा, संसार का स्वामी और शासक, मनुष्यों का पिता, भाई, पुत्र और मित्र कहा गया है और दूसरे देवों की सब शक्तियां और नाम स्पष्टतया उसकी मानी गई हैं। इन्द्र को सबसे अधिक बलशाली वेदों और ब्राह्मणों में माना गया है और ऋग्वेद के एक सूक्त की तान यही है कि—**'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः'**।

सोम के विषय में कहा गया है कि वह महान्, सबका विजेता, संसार का स्वामी है। वह लोगों की आयु को दीर्घ करने का सामर्थ्य रखता है और पृथिवी तथा आकाश का उत्पादक है। वही अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु इत्यादि सबका पैदा करनेवाला है। उससे अगले ही वरुण देवता के सूक्त में ऋषि की दृष्टि में वरुण ही सबसे बड़ा और सर्वशक्तिमान् है।

इस वाद के लिए जिसे उसने वैदिक धर्म की एक विशेषता समझा, प्रो० मैक्समूलर ने हीनोथीइज्म यह नाम घड़ा। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक देवों में से प्रत्येक को ही उस समय जब कि उसकी स्तुति की जा रही है, कवि सबसे बड़ा और स्वतंत्र, सर्व-शक्तिमान् समझता है। उस स्तुति के समय वही एकमात्र, स्तोता वा भक्त के मन में विद्यमान होता है।

क्या उपास्यश्रेष्ठतावाद वेदों में पाया जाता है ?

अब हम निष्पक्ष भाव से इस वाद की विवेचना करना चाहते हैं। हमने वैदिक एकेश्वरवाद के समर्थन में अत्यन्त स्पष्ट मन्त्रों का पहले उल्लेख किया है, जिनका अन्य कोई अर्थ सम्भव ही नहीं है और जिनके विषय में कहा गया है कि—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'। — ऋ० १. १६४. ४६

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'। — ऋ० १०. ११४. ५

'यो देवानां नामधा एक एव।' —ऋ० १०. ८२. ३। यजु० १७. २७। अथर्व० २. १. ३

'न द्वितीयो न तृतीश्यचतुर्थो नाप्युच्यते'
'स एषः एक एकवृदेक एव।' — अ० २. २. १
'एक एव नमस्यो विश्वीड्यः।'
'एक एव नमस्यः सुशेवः।' —अ० २. २. २

अर्थात् वह परमात्मा एक ही है। २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० ईश्वर नहीं। वह एक ही है और वह एक ही सब मनुष्यों के लिए पूजनीय है। उस एक ही को ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। प्रधानतया इन देवों के नामों को धारण करनेवाला वह एक ही परमेश्वर है।

ऐसी अवस्था में वेदों को विशुद्ध और स्वाभाविक रूप में एकेश्वरवाद का प्रतिपादक न मानकर हीनोथीइज्म की कल्पना करना केवल पक्षपातसूचक है और वस्तुतः ऋषियों को झूठा और खुशामदी टट्टू बताना है। जब वेद-मन्त्रों में अग्नि को सम्बोधित करते हुए ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में (जैसे प्रो० मैक्समूलर ने कहा है और अन्यत्र भी) स्पष्ट कहा है कि—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या॥ — ऋ०. २. १. ३

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमर्यमा भवसि यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥ —ऋ० २. १. ४

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना॥ — ऋ०. २. १. ६

त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत्॥ —ऋ० २. १. ७

अर्थात् तू ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषा, द्रविणोदा, सवितादेव और भग है तो क्यों न माना जाये कि ये सब नाम प्रधानतया उस एक अग्निपदवाच्य सर्वज्ञ परमेश्वर के हैं और ये सब उसके अनेक गुणों को सूचित करते हैं। जैसे कि परिवार में एक ही व्यक्ति को अनेक सम्बन्धों के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति पिता, चाचा, दादा, भाई, मामा इत्यादि नामों से पुकारते हैं वैसे एक ही परमात्मा के अनन्त गुणों को सूचित करने के लिए ये अनेक नाम प्रयुक्त किये जाते हैं। जब ज्ञानस्वरूप के रूप में उसका स्मरण किया जाता है तो उसे अग्नि कहा जाता है, उसकी परमैश्वर्यसम्पन्नता दिखाने के लिए ब्रह्मा, ज्ञान का अधिपतित्व दिखाने के लिए ब्रह्मणस्पति, सर्वोत्तमता और पापनिवारकता सूचित करने के लिए वरुण, सबके साथ प्रेम द्योतित करने के लिए मित्र, न्यायकारित्व को सूचित कराने के लिए अर्यमा, दुष्टों को रुलानेवाला और प्राणदायक यह प्रकट करने के लिए असुर रुद्र, समस्त ज्ञानादि धन का देनेवाला वह परमेश्वर है यह दिखाने के लिए द्रविणोदा, सर्वोत्पादक और सर्वप्रेरक वह प्रकाशस्वरूप जगदीश्वर है यह सूचित करने के लिए सविता देव और उसकी भजनीयता प्रकट करने के लिए भग शब्द का उसी एक परमेश्वर के लिए प्रयोग किया जाता है। 'सोम' भी प्रभु का ही एक नाम है। वेद-मन्त्रों में सोम के विषय में कहा है (जैसा प्रो० मैक्समूलर ने स्वयं बताया है) कि—

त्वमिमा ओषधीः सोमविश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ —ऋ०. १. ९१. २२ तथा साम० मं० ६०४

सोमः पवते जनिता मतीनां, जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥ — ऋ० ९. ९६. ५ तथा साम० पू० ५. ६. ५

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति । पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद् रोदसी उभे ॥
—ऋ० ९. १०१. ७. तथा साम० पू० ५. ८. २

अर्थात् हे सोम ! तूने ही इन ओषधि-वनस्पतियों को, इन जलों और गौवों को उत्पन्न किया है, तू सारे अन्तरिक्ष में व्यापक और अपनी ज्योति से सारे अन्धकार को दूर करनेवाला है ।

सोम उत्तम बुद्धियों का उत्पादक है । वही आकाश, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, वायु इत्यादि का उत्पन्न करनेवाला है ।

यह सोम ही पुष्टिदायक होने से पूषा और सेवनीय होने से भग है । यह सारे संसार का स्वामी और सब लोकों में व्यापक है ।

यह सब जानकर कौन ऐसा मूर्ख और जंगली से जंगली व्यक्ति होगा, जो सोम ओषधि को सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, आकाशादि का उत्पादक माने ? क्यों न स्पष्टतया यह स्वीकार किया जाये कि सोम शब्द यहां शक्ति के स्रोत भगवान् का वाचक है और उसी के गुणों का यह सब वर्णन है ! अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति इत्यादि पदवाच्य प्रधानतया वह एक परमेश्वर ही है इसका ऊपर ऋग्वेद से उद्धृत मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य भी वेदों के सैकड़ों मन्त्रों में प्रतिपादन है । उदाहरणार्थ यजुः० ३२. १ मन्त्र देखिए—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

इस मन्त्र में स्पष्टतया बताया गया है कि वही एक ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होने से अग्नि, अविनाशी होने से आदित्य, संसार को गति देनेवाला होने से वायु (वा—गति गन्धनयोः), आह्लादक वा आनन्ददायक होने से चन्द्रमा (चदि, आह्लादे), शुद्ध स्वरूप होने से शुक्रः (शुचिर्—पूतीभावे), सबसे बड़ा होने से ब्रह्म (बृह—वृद्धौ), सर्वव्यापक होने से आपः और सारी प्रजा का पालक होने से प्रजापति के नाम से पुकारा जाता है ।

इसका भावार्थ यह नहीं है कि भिन्न-भिन्न देवों को पृथक्-पृथक् जानते हुए भी उनकी खुशामद करने के लिए ऋषि उन्हें बड़ा बता देते हैं, प्रत्युत वे यह जानते हैं कि ये सब अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा आदि नाम प्रधानतया उस एक परमेश्वर के अनेक गुणों के सूचक हैं । वह एक परमात्मा ही पूजनीय है । अथर्ववेद १३. ४. ४ और ५ मन्त्र स्पष्टतया इसी भाव को सूचित करते हैं कि वह एक ही परमेश्वर अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम आदि नामों से पुकारा जाता है । ये सब नाम उस परमेश्वर के अनेक गुणों को सूचित करते हैं । मन्त्र निम्नलिखित हैं—

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः । —अथर्व० १३. ४. ४
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ महायमः । —अथर्व० १३. ४. ५

He is the administrator of justice, He is the only object of our choice, He is the chastiser of evildoers and He is the Supreme Divinity. He is Agni (the Self-refulgent God), He is verily Surya (The Impeller of all), verily He is the Mahayama (the greatest Administrator of justice).

अग्नि के नाम से प्रो० मैक्समूलर द्वारा उद्धृत ऋग्वेद २. १. २ के मन्त्रों से ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का वस्तुत: ग्रहण है और इसीलिए उसे ब्रह्मा (चतुर्वेद-वेत्ता तथा सबसे बड़ा—ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमो (ऋ० २. १. २), ब्रह्मणस्पति: अर्थात् ज्ञान अथवा लोक-लोकान्तरों का स्वामी—बृहत्या वेदवाण्या अथवा बृहतां लोकानां पति: । नमस्करणीय विष्णु—सर्वव्यापक (त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्य:—ऋ० २. १. ३), अर्यमा अर्थात् न्यायकारी इत्यादि नामों से पुकारा गया है । कोई मूर्ख से मूर्ख जंगली भी इस भौतिक अग्नि को चतुर्वेद-वेत्ता और ज्ञान का दाता, न्यायकारी इत्यादि नामों से नहीं पुकार सकता । इस प्रकार मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को न समझकर पक्षपातवश प्रो० मैक्समूलर तथा उनके अनुयायियों का विशुद्ध एकेश्वरवाद को वेदों में न मानते हुए हीनोथीइज्म आदि मनघड़न्त वादों का प्रचलित करना सर्वथा अनुचित तथा अज्ञान व पक्षपात का सूचक ही है ।

प्रो० मैक्समूलर के इस नवीन वाद से यूरोप के अनेक विद्वानों ने भी मतभेद प्रकट करते हुए वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद को स्वीकार किया, जैसा पहले अनेक उद्धरण देकर बताया जा चुका है । दूसरे The Rigveda and Vedic Religion के लेखक Clayton जैसे विद्वानों ने वैदिक एकेश्वरवाद को तो स्पष्टतया स्वीकार नहीं किया और वैदिक देवताओं के विषय में बहुत-सी अशुद्ध कल्पनाएं कीं (जैसे हम इसी अध्याय में वैदिक देवताओं पर विशेष विचार करते हुए दिखायेंगे) तो भी प्रो० मैक्समूलर के इस नवीनवाद (Henotheism) की निम्न शब्दों में समालोचना की—

"More modern scholars do not, however, consider this practice so remarkable as Max Muller did. They regard it more as a species of poetic license, by which a singer magnified the god whom he was invoking, rather than an evidence that the poet actually claimed that the god whom he was then reverencing was the superior of all others."

(*The Rigveda* and Vedic Religion by A.C. Clayton published by The Christian Literature Society for India, London & Madras, 1913)

अर्थात् आधुनिक विद्वान् इस आदत को इतना उल्लेखनीय नहीं समझते, जितना प्रो० मैक्समूलर ने समझा था । वे इसे कवियों की अतिशयोक्ति का एक प्रकार समझते हैं, जिससे गायक जिस देवता का आवाहन करता था उसे ही बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करता था, न कि यह इस बात का प्रमाण है (जैसा प्रो० मैक्समूलर ने बताया) कि कवि इस बात का दावा करता था कि वह जिस देव की स्तुति कर रहा था उसे ही वह सर्वोपरि समझता था, इत्यादि ।

हम क्लेटन अथवा उस जैसे अन्य विद्वानों के विचार से भी सहमत नहीं कि कवियों की अतिशयोक्ति के कारण ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, क्योंकि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, सोम आदि सब एक परमेश्वर के नाम मानने पर (जैसा वेदों में "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—"एकं सुपर्णं कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति", "यो देवानां नामधा एक एव" इत्यादि मन्त्रों द्वारा बार-बार बताया गया है) कविसुलभ अतिशयोक्ति का प्रश्न ही नहीं रह जाता ।

भारतीय सुप्रसिद्ध योगी और विचारक श्रीयुत अरविन्द और Rigveda Unveiled के लेखक श्री द्विजदास दत्त M.A., A.R.A.C. भूतपूर्व प्रिन्सिपल चटगांव कालेज ने प्रो० मैक्समूलर आदि द्वारा अभिमत इस हीनोथीइज्म की ऐसी युक्तियुक्त प्रबल समालोचना की है कि हम उसके मुख्यांशों को उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते ।

श्रीयुत अरविन्द द्वारा हीनोथीइज्म की आलोचना

'Dayananda and the Veda' पर दिसम्बर १९१६ के वैदिक मैगजीन (Vedic Magazine) में लेख लिखते हुए जो पीछे से Dayananda Bankima Tilak नामक पुस्तक में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, श्री अरविन्द ने लिखा—

"What is the main positive issue in this matter ?

An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayananda's view is quite clear, its foundation in-expugnable. The Vedic hymns are chanted to the One Deity under many names, names which are used and even designed to express His qualities and powers. Was this conception of Dayananda's arbitrary concept fetched out of his own too ingenuous imagination ?

Not at all; it is the explicit statement of the Veda itself.

One existent 'sages'—not the ignorant, mind you, but the seers, the men of knowledge—speak of in many ways, as Indra, as Yama, as Matarishwan, as Agni.

The Vedic Rishis ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope than Roth or Maxmuller and this is what they knew.

We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production. This loftier idea which it expresses with so clear a force, rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorant fire-worshippers, sun-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophic-Dravidian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressly powers within himself, the Maruts are described as all the gods. One deity is addressed by the names of others as well as his own, or most commonly, he is given as Lord and king of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Ah, but that cannot ought not to mean, must not mean the worship of one; let us invent a new word, call it henotheism, and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity, but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and lend a more gracious ear for so hyperbolic a compliment ! But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrosity of henotheism ? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions and if you allow them to have so risen you imperil our theory of the evolutionary stages of the human development and you destroy our whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself, common sense disappear from field so that a theory may flourish ! I ask on this point and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayananda or the Western Scholars ?"

—*Dayananda and the Veda* by Shri Aravind, P. 17-18

इस महत्त्वपूर्ण उद्धरण का तात्पर्य यह है कि 'इस विषय में सबसे मुख्य विचारणीय चीज कौन-सी है ? वेदों की किसी भी व्याख्या की सफलता वा असफलता इस बात पर आश्रित है कि उसमें वेद-प्रतिपादित धर्म की केन्द्रीय भावना क्या है व वेदों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण उस भावना की कहां तक पुष्टि करते हैं । यहां पर दयानन्द के विचार अखण्डनीय हैं । उनका आधार दृढ़ एवं स्थिर है । वेदों की ऋचाओं में एक ही परम देव के अनेक नामों द्वारा गीत गाये गये हैं—जो उस परमदेव के अनेक गुणों व शक्तियों के प्रदर्शन के अभिप्राय से युक्त किये गये हैं । क्या दयानन्द ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण स्वच्छन्द कल्पना से इनका प्रयोग किया है ? कदापि नहीं, यह तो स्वयं वेदों का स्पष्ट वचन है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'। — ऋ० १. १६४. ४६

अर्थात् उस एक ही परमेश्वर को तत्त्वदर्शी ऋषि—ज्ञानी ऋषि—इन्द्र, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं । अत: हमें इतनी आशा तो अवश्य करनी चाहिए कि ऋषि, अपने धर्म के विषय में रॉथ या मैक्समूलर आदि से अधिक जानते थे और यह है सत्य, जिसे वे जानते थे ।

हमें यह पता है कि आधुनिक (पाश्चात्य) विद्वान् इस प्रमाण से कैसी तोड़-मरोड़ कर बचते हैं । उनका कहना है कि इतने उन्नत विचारोंवाले मन्त्र उस समय के आर्यों के विचारों में कभी नहीं आ सकते थे, जिनमें इतनी दृढ़ता के साथ एकेश्वरवाद का भाव प्रकट किया गया है । यह बाद की रचना है, यह भी सम्भव है कि यह विचार उन अज्ञानी, अग्निपूजक, सूर्यपूजक, आकाशपूजक आर्यों के मन में भी पैदा न हुआ हो, अपितु इस विचार को उन्होंने अपने सुसभ्य तथा दार्शनिक शत्रु द्राविड़ों के दर्शन से अपना लिया हो । परन्तु इस विचार के पोषक प्रमाण वेदों के समस्त स्थलों में प्राप्त होते हैं । ऋचाओं में इस प्रकार के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं कि अग्नि अथवा इन्द्र या अन्य देव एक ही महादेव के प्रतीक हैं । अग्नि अपने अन्दर अन्य सब देवों की शक्ति रखता है । मरुत् का सर्वदेवमय वर्णन अनेक स्थानों में उपलब्ध होता है । एक देव जहां अपने नाम द्वारा सम्बोधित होता है, वहां अन्य अनेक नामों द्वारा भी उसका आह्वान होता है । प्राय: ऐसा देखा गया है कि एक-एक देव को विश्व का पति या राजा मानकर उसकी स्तुति आदि की गई है; उसके लिए उन सब विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जो परमदेव के लिए ही होते हैं । ओह ! परन्तु ऐसा नहीं हो सकता । ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए । इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं होना चाहिए कि एक ही ईश्वर की पूजा की जाये । आओ हम इसके लिए एक नया शब्द घड़ लें और यह कल्पना करें कि वैदिक ऋषि वास्तव में अग्नि, इन्द्र आदि को परमदेव नहीं मानते थे । किन्तु वे प्रत्येक देव को उस समय के लिए ही (जब उसकी स्तुति की जा रही हो) परम देव मान लेते थे, ताकि सम्भवत: वह अपनी खुशामद को पाकर इन अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुतियों को ध्यान से सुने । परन्तु वैदिक विचार को स्वाभाविक एकेश्वरवाद क्यों न माना जाये ? इस नवकल्पित हीनोथीइज्म के भूत की क्या आवश्यकता है ? हां, क्योंकि आदिकाल के लोग असभ्य थे और उनमें इस प्रकार के विचारों का पैदा होना असम्भव था ! और यदि हम उन असभ्य लोगों को इतना विकसित मान लें तो विकासवाद का सिद्धान्त नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस पर पाश्चात्य विद्वानों ने संसार का अपना क्रमिक विकास घोषित किया है । सत्य को चाहिए कि अपने को छिपा ले, सामान्य बुद्धि भी उनके मार्ग से अलग हो जाए, जिससे उनके सिद्धान्त संसार में सफल हो सकें । यहां पर मेरा यह मूल प्रश्न है कि मूल वेद के साथ बिना किसी उलझन के सीधे और साफ तौर पर कौन चल रहा है—दयानन्द वा पाश्चात्य विद्वान् ?'

सुप्रसिद्ध विचारक और योगी श्री अरविन्द की हीनोथीइज्म की यह युक्तियुक्त आलोचना बहुत ही प्रभावोत्पादिनी है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता ।

श्री द्विजदास दत्त द्वारा आलोचना

अब हम Rig Veda Unveiled नामक पुस्तक के लेखक श्री द्विजदास दत्त M.A. A.R.A.C भूतपूर्व प्रिन्सिपल चटगांव कालेज लिखित समालोचना को उद्धृत करना चाहते हैं, जो श्री अरविन्द के समान ही प्रबल है । द्विजदास जी लिखते हैं—

'As to Maxmuller's charge of Henotheism or worship of many 'single gods' or a number of independent deities, it represents the Rishis as flattering sycophants or cowardly liars, who could call each single god, as the one Supreme Being, only to avert the wrath of the god, knowing at the same time, that he was not telling the truth. We ask the reader himself to judge whether when the rishi addresses Indra 'न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सधत्' (Rig. 1.57.4) Thou who art the sole object of my praise, none but Thee shall receive my praise ! or whether when the Rishi address Indra 'न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते' (Rig. 7. 32. 22) i.e. neither in heaven, nor in the earth, has appeared or shall appear any one like Thee; the Rishi is a henotheist, a base lying flatterer of Indra, or a true monotheist declaring like Muhammad 'La elaha Ill Allaha, or L. sharikalahu.'

(*Rigveda Unveiled* by Dwij Das Datt M.A., A.R.A.C. P. 140-141)

अर्थात् प्रो० मैक्समूलर के हीनोथीइज्म-विषयक आरोप के विषय में, जिससे तात्पर्य कई स्वतन्त्र देवों का अथवा पृथक्-पृथक् ब्रह्म-समान देवों का है, हमारा कथन यह है कि इसमें ऋषियों को खुशामदी टट्टू, दास अथवा भीरु असत्यवादी के रूप में मानना पड़ता है, जो प्रत्येक अलग-अलग देव को एक सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर कह सकते थे, इसलिए कि वे उस देव के क्रोध से बच सकें, जब कि वे यह जानते थे कि वे सत्य नहीं कह रहे। हम स्वयं पाठकों से पूछना चाहते हैं कि वे इसका निर्णय करें कि जब ऋषि इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहता है "न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सधत्। ऋ० १।५७।४।" अर्थात् 'तेरे अतिरिक्त मेरी स्तुति का पात्र और कोई नहीं' अथवा जब ऋषि कहता है "न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। ऋ० ७. ३२. २२।" अर्थात् न आकाश में और न पृथिवी में कोई है या होगा, जो तेरे समान हो। ऋषि हीनोथीइज्म को माननेवाला अथवा सीधे शब्दों में इन्द्र का एक नीच झूठा खुशामदी है अथवा सच्चा एकेश्वरवादी है जो मुहम्मद के समान ही यह घोषणा करता है कि परमेश्वर एक और अनुपम है।

इसके आगे इस मनघड़न्त वाद की विस्तृत प्रखर समालोचना करके श्रीयुत द्विजदास दत्त जी ने उन सैकड़ों मन्त्रों का निर्देश करते हुए जिनमें स्पष्ट एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, लिखा है—

We would ask the reader also to see the following passages scattered broadcast through out all the mandalas of the Rigveda—

1-21-3, 4, 5, 6, 7, 8. 9; 2-3-8; 2-12-5, 8, 9; 2-13-6; 2-16-1, 2; 2-17-5; 2-35-2; 2-38-9; 2-44-16-17; 3-46-2; 3-51-4; 3-53-8; 4-17-5; 4-32-7; 5-32-9; 5-40-5; 5-85-6; 6-18-2; 6-22-1; 6-30-1; 6-36-4; 6-45-2; 6-47-18; 7-23-5; 7-98-6; 8-2-4; 8-13-9; 8-15-3; 8-24-19; 8-30-10; 8-58-2; 8-70-5; 10-5-1; 10-31-7,8; 10-82-3; 8-90-2, 3, 4; 8-114-4; 10-121-12, 3, 8 Etc. (*Rigveda Unveiled* P. 184)

यह ऋग्वेद के एकेश्वर-प्रतिपादक मन्त्रों की भिन्न-भिन्न मण्डलों से एकत्रित सूची है, जिसे परिश्रमी पाठक देखकर स्वयं लाभ उठा सकते हैं। यह सूची इसलिए बनाई गई है कि किसी पाश्चात्य वा दूसरे विद्वान् को यह कहने का साहस न हो कि केवल ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के दो-एक मन्त्रों में अथवा दशम मण्डल के १२१वें सूक्त के कुछ मन्त्रों में ही एकेश्वरवाद की कुछ झलक है, जब कि अन्यत्र उसका अभाव है। इस दृष्टि से यह विस्तृत सूची महत्त्वपूर्ण है।

हीनोथीइज्म की इस आलोचना को समाप्त करने से पूर्व एक और बात का भी निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे हीनोथीइज्म की निस्सारता प्रकट होती है। वह यह कि The Rigveda and Vedic Religion के

लेखक A.C. Clayton ने *"The nature of Vedic Gods"* विषयक तृतीय अध्याय में वैदिक देवों के विषय में लिखा है—

Inspite of the many allusions to the gods, there is a great lack of clear description of the separate deities. The Vedic gods are not defined. Attributes of one are ascribed to another. Speaking generally, the personifications being but slightly developed, lack definiteness of outline and individuality of character.....The character of each god is made up of only a few essential qualities combined with many others which are common to all the gods; such as brilliance, power, 'beneficence, wisdom. These common attributes tend to obscure those which are distinctive.

(Quoted from Macdonell's *Sanskrit Literature,* Page 69)

सारांश यह है कि देवों का बार-बार निर्देश होने पर भी उन पृथक्-पृथक् देवों के स्पष्ट वर्णनों का अभाव है। वैदिक देवों का स्पष्ट चित्रण कहीं नहीं पाया जाता। एक के गुणों का दूसरे में समावेश हो जाता है। साधारणतया यह कह सकते हैं कि वैदिक देवताओं का चरित्र कुछ विशेष गुणों से मिलकर बना है, जो सभी में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ प्रकाश, शक्ति, करुणा, दयालुता, बुद्धिमत्ता इत्यादि सामान्य गुण उनकी विशेषताओं को ढक देते हैं, इत्यादि। वास्तविक बात यह है कि जिन्हें सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र देवता समझा जा रहा है वे पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र देव हैं ही नहीं, एक ही परमेश्वर के अनेक गुण तथा शक्तिसूचक नाम हैं। इसीलिए इनमें भेदकविशेष चिह्न दिखाई नहीं देते। यह बात वैदिक एकेश्वरवाद का ही समर्थन और हीनोथीइज्म का खण्डन करनेवाली है।

वैदिक देवता

अब तक इस अध्याय में जो कुछ लिखा गया है उसके साथ वैदिक देवों का बहुत-कुछ सम्बन्ध है, अत: उन पर निष्पक्ष भाव से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इनके अर्थ और स्वरूप को न समझने से अनेक भ्रान्तियां वेद और वैदिक धर्म के विषय में उत्पन्न हो गई हैं।

"देव" शब्द की निरुक्ति—

देव शब्द दा, द्युत्, दीप् और दिवु इन धातुओं से यास्काचार्यकृत निरुक्त में बनाया गया है—

"देवो दानाद् वा दीपनाद्वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा।"

यो देवः सा देवता॥ (निरुक्त ७. १५)

इसके अनुसार ज्ञान, प्रकाश, शान्ति, आनन्द तथा सुख देनेवाली सब वस्तुओं को देव के नाम से कहा जा सकता है। इसीलिए यजु:० १४। २० में कहा गया है कि—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

— यजु:० १४. २०

यहां अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र (विद्युत्) इत्यादि को देव के नाम से पुकारा गया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन सब की पूजा करनी चाहिए। पूजा के योग्य तो एक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, भगवान् ही है जैसे कि—

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः । पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥ ऋ० ६ । ५५ । १६
य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः ॥ ऋ० ६ । २२ । १
माचिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ ऋ० ८ । १ । १
दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ॥ अथर्व २ । २ । १
एक एव नमस्य सुशेवाः । अथर्व २ । २ । १

इत्यादि मन्त्रों के प्रमाणों से वैदिक एकेश्वरवाद पर विचार करते हुए दिखाया जा चुका है । देव शब्द का प्रयोग सत्यविद्या का प्रकाश करनेवाले सत्यनिष्ठ विद्वानों के लिए भी होता है, क्योंकि वे ज्ञान का दान करते हैं और वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को दीपित (प्रकाशित) करते हैं । 'दिवु क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकांतिगतिषु' इस धातु से जब देव शब्द बनाया जाता है तो उसका प्रयोग जीतने की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों विशेषतः वीर क्षत्रियों, परमेश्वर की स्तुति करनेवाले तथा पदार्थों का यथार्थ रूप से वर्णन करनेवाले विद्वानों (विशेषतः ऋत्विजों), ज्ञान देकर मनुष्यों को आनन्दित करनेवाले सच्चे ब्राह्मणों, प्रकाशक, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युदादि वस्तुओं और कहीं-कहीं सत्य व्यवहार करनेवाले वैश्यों के लिए भी हो जाता है । इसके स्पष्ट प्रमाण वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ निम्न ब्राह्मण-वचनों को उद्धृत करना इस प्रसङ्ग में विषय के स्पष्टीकरणार्थ आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) विद्वांसो हि देवाः ॥ शत० ३ । ७ । ३ । १०
(२) द्वया वै देवाः । अहैव देवाः अथ ये ब्राह्मणाः शत० २ । २ । २ । ६ ॥
शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः ॥ शत० ४ । ३ । ४४ । ४
(३) अथ है ते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणा शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः ॥ षड्विंशब्राह्मण १ । १
(४) एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः ॥ गोपथ उ० १ । ६
(५) अपहतपाप्मानो देवाः ॥ शत० २ । १ । ३ । ४
(६) सत्यसंहिता वै देवाः ॥ ऐतरेय १ । ६
(७) सत्यमया उ देवाः ॥ कौषीत्तकी ब्रा० २ । ८
(८) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ॥ यजुः० ११ । ४

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए शतपथ ६ । ३ । १ । १६ में लिखा है, 'प्रजापतिर्ह वै विप्रो देवाः विप्राः ।' अर्थात् परमात्मा विप्र-सबसे बड़ा ज्ञानी है और ज्ञानी-ब्राह्मण 'देव' कहलाते हैं । देव शब्द के ब्राह्मणोक्त अन्य अर्थ—

(९) प्राणा देवाः ॥ शत० ६ । ३ । १ । १५
(१०) तस्मात् प्राणा देवाः ॥ शत० ७ । ५ । १ । २१
(११) चक्षुर्देवः ॥ गो० पू० २ । १०
मनो देवः ॥ गो० पू० २ । १०
(१२) ऋतवो वै देवाः ॥ शत० ७ । २ । ४ । २६
(१३) वायुर्वै देवः ॥ जैमिनीयोप० ३ । ४ । ७

इत्यादि वचनों से ज्ञात होता है कि सत्यनिष्ठ विद्वानों को प्रधानतया देव नाम से कहा गया है तथा सूर्य, चन्द्र, वायु ऋतु इत्यादि भी प्रकाशक और लाभदायक होने से देव कहलाते हैं ।

तैंतीस देव

वेदों में और तदनुसार ब्राह्मणों में अनेक स्थानों पर तैंतीस देवों का वर्णन आता है, जिनके विषय में यह समझा जाता है कि इन तैंतीस देवों की पूजा का वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों में विधान किया गया है और इसीलिए वैदिक एज् (Vedic Age) आदि ग्रन्थों में वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवादी (Polytheistic) बताया गया है, किन्तु इस विषय में कुछ विवेचन करने से पूर्व तैंतीस देवताओं का ब्राह्मणग्रन्थादि के आधार पर निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है । उसके पश्चात् हम सप्रमाण इस बात को दिखायेंगे कि इन तैंतीस देवताओं का उस परम देव के साथ जो एकमात्र पूजनीय और देवाधिदेव, देवों का प्राण तथा देवों को अमरत्व प्रदान करनेवाला है, क्या सम्बन्ध है ।

तैंतीस देव स्कम्भ के अङ्ग-समान—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अ० १० । ७ । १३
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ मं० २३
यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः ।
अ० १० । ७ । २७

इत्यादि मन्त्रों में तैंतीस देवताओं का निर्देश करते हुए कहा गया है कि ये तैंतीस देव जिसके अङ्ग में समाये हुए हैं उसे स्कम्भ (सर्वाधार परमेश्वर) कहो । वही सबसे अधिक सुखदाता है । ये तैंतीस देव, जिसकी निधि की रक्षा करते हैं उस निधि को कौन जानता है ? ये देव जिस विराट् शरीर में अङ्ग के समान बने हैं उन तैंतीस देवों को ब्रह्मज्ञानी ही ठीक-ठीक जानते हैं, अन्य नहीं, इत्यादि । ऐसे ही तैंतीस देवों का निर्देश ऋ० १ । ४५ । २७, ८ । २८ । १, ऋ० ८ । ३० । २, यजुः० २० । ३६ इत्यादि में पाया जाता है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में तैंतीस देवता

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर तैंतीस देवों का निर्देश है जिनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) **त्रयस्त्रिंशद् देवताः ॥** तांड्य० ४ । ४ । ११
(२) **त्रयस्त्रिंशद् वै देवताः ॥** कौ० ८ । ६
(३) **त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः ।** शत० १२ । ६ । १ । ३७
(४) **त्रयस्त्रिंशद् देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः ॥** ताण्ड्य० १० । १ । १६

इस प्रकार के वचनों में तैंतीस देवताओं और चौंतीसवें उनके नियामक तथा स्वामी प्रजापति परमेश्वर का स्पष्ट उल्लेख है । अब इन तैंतीस देवताओं की गणना को सूचित करने वाले कुछ वाक्यों को उद्धृत किया जाता है-

अष्टौ वसवः । एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंशौ त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः ॥ शत० ४ । ५ । ७ । २

अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, द्यावापृथिवी, ये तैंतीस और चौंतीसवां प्रजापति परमेश्वर । यही बात अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में थोड़े-से भेद से पाई जाती है; उदाहरणार्थ—

(२) ताण्ड्य महाब्राह्मण ६. २. ५ में कहा गया है—

देवता वाव त्रयस्त्रिंशोऽष्ट वसवः एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च ॥

(३) ऐतरेय ब्राह्मण में भी ताण्ड्य महाब्राह्मण के समान वचन पाये जाते हैं—

अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिर्वषट्कारश्च ॥ —२. १८. ३७ तथा ३. २२

इन दोनों में प्रजापति की गणना भी तैंतीस देवों में कर दी गई है, यद्यपि ऊपर उल्लिखित वेदमन्त्रों में और शतपथ ब्राह्मण के वचनों में प्रजापति को इन तैंतीस देवों से पृथक् माना गया है और वही क्रम वेदानुकूल होने से अधिक मान्य है । किन्तु यहां प्रयुक्त प्रजापति शब्द का अर्थ यदि यज्ञ हो जैसे कि शतपथ के निम्न वचन में तैंतीस देवताओं की नाम सहित गणना करते हुए बतलाया गया है तो उसमें कोई आक्षेप की बात नहीं रहती । शतपथ ब्राह्मण में इन वसुओं, रुद्रों, आदित्यों की गणना निम्न प्रकार बताई गई है—

त्रयस्त्रिंशत् त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशत् इत्यष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः त एकत्रिंशत् इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति । कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं च आदित्यश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः एतेषु हीदं सर्वं वसु हितम्, एते हीदं सर्वं वासयन्ते तद् यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति । कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशस्ते यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति । कतम आदित्या इति । द्वादशमासाः संवत्सरस्य एत आदित्याः, एते हीदं सर्वम् आददाना यन्ति तद् यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति । कतम इन्द्रः । कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रः यज्ञः प्रजापतिरिति ॥

इसके अनुसार ८ वसु निम्नलिखित हैं—

अग्नि, पृथिवी, वायु, अ़न्तरिक्ष, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, जगत् के बसाने के कारण इनको वसु कहते हैं । ११ रुद्रों से तात्पर्य १० प्राण और ११वें आत्मा से है, क्योंकि ये शरीर से निकलते हुए प्राणियों को रुलाते हैं । १२ आदित्यों से तात्पर्य वर्ष के १२ मासों से है, क्योंकि ये हमारी आयु को मानो प्रतिदिन ले-जा रहे हैं । इस प्रकार ये ८ + ११ + १२ = ३१ हुए । ३२वां इन्द्र अर्थात् बिजली और ३३वां प्रजापति अथवा यज्ञ ये ३३ देव हैं । जैसे पहले लिख चुके हैं इन तैंतीस देवों को मानने का यह तात्पर्य कदापि न समझना चाहिए कि ये सब पूजनीय हैं । नहीं, पूजनीय तो वह एकमात्र परमेश्वर ही है जैसा इसी अध्याय में हम पहले वेदमन्त्रों के आधार पर स्पष्ट बता चुके हैं । इस प्रकार अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि को देव वा देवता के नाम से पुकार लेने से वैदिक धर्म अनेकेश्वरवादी वा Polytheistic नहीं कहला सकता । Polytheistic का अर्थ सुप्रसिद्ध Pears Encyclopaedia आदि के अनुसार Polytheism—The Doctrine of more than One God अर्थात् एक से अधिक ईश्वर में विश्वास है, जो वैदिक धर्म के सर्वथा विरुद्ध है । देवों का अधिदेव और प्राणस्वरूप वह एक परम देव ही है । इसके लिए निम्न मन्त्रों का उल्लेख पर्याप्त होगा—

(१) ऋ० २ । २६ । ३ में ब्रह्मणस्पति अर्थात् ज्ञान के स्वामी के नाम से भगवान् को स्मरण करते हुए उसे "देवों का पिता" पुकारा गया है ।

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥ — ऋ० २. २६. ३

अर्थात् जो श्रद्धा से देवों के पिता वा पालक उस ज्ञान के स्वामी परमेश्वर की उपासना करता है उसका जन्म सफल हो जाता है । उसे उत्तम सन्तान, धनैश्वर्यादि की प्राप्ति होती है ।

(२) ऋ० १. ३१. १ में परमेश्वर को सम्बोधन करते हुए कहा है कि—**देवो देवानामभवः शिवः सखा** ॥ अर्थात् तू सर्वानन्द-प्रदाता, सर्वप्रकाशक, परमेश्वर, सत्यनिष्ठ विद्वानों का कल्याणकारी मित्र है ।

मन्त्र का अंग्रेजी में अनुवाद—

O God ! Thou art the giver of peace and bliss to the wise and their benevolent friend.

(३) ऋग्वेद में परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—**देवो देवानामसि मित्रो अद्‌भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे** ॥ अर्थात् हे परमेश्वर ! तू ही सत्यनिष्ठ विद्वानों का अद्‌भुत मित्र है ! तू ही पृथिवी, अग्नि, सूर्य, चन्द्रादि वसुओं का वसु अथवा आधार है । _O God, Thou art wonderful friend of wise men and Thou art giver of shelter to all, shining in sacrifices.

(४) ऋग्वेद ४. ३. ७ में परमेश्वर को देवों का आत्मा और सब प्रजाओं का जनिता अथवा उत्पादक कहा गया है । यथा—**आत्मा देवानां जनिता प्रजानाम्** ॥ यहां 'आत्मा देवानाम्' यह विशेषण महत्त्वपूर्ण है, जिससे ज्ञात होता है कि देवों को शक्ति प्रदान करनेवाला वह परमेश्वर ही है । _O God, Thou art the spirit pervading the enlightened persons and Father of all beings.

(५) यही बात अथर्व० में भी निम्न शब्दों द्वारा प्रकट की गई है—**आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्** ॥ अर्थात् वह परमेश्वर सब सूर्य-चन्द्रादि देवों और मनुष्यों का अन्तर्यामी आत्मा है ।

(६) ऋग्वेद में इसी बात को कितने स्पष्ट शब्दों में बताया गया है—**आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः** ॥ ऋ० १०. १६८. ४ । अर्थात् जो (देवानाम्) सब देवों का अन्तर्यामी आत्मा और (भुवनस्य गर्भः) सारे संसार का धारक है (एषः देवः) यह सर्वप्रकाशक परमेश्वर (यथावशं चरति) स्वाधीनता से सर्वत्र मानो विचरण करता है ।

(७) सत्यनिष्ठ विद्वान् जो अमरता प्राप्त करते हैं वह परमेश्वर की ही कृपा तथा उसके द्वारा दिये ज्ञानों से करते हैं । इस बात को ऋग्वेद में कितनी उत्तमता से बताया गया है—**त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते । तव क्रतुभिरमृतत्वमायन वैश्वानर यत् पित्रोरदीदेः** ॥ यहां विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि हे सब मनुष्यों के कल्याणकारी परमात्मन् ! तू जब हृदय में प्रकट होता है तो सब देव तेरी स्तुति करते हैं । तेरे दिये ज्ञानों से ही वे अमरता को प्राप्त करते हैं ।

(८) ऋग्वेद में परमेश्वर को सम्बोधन करके कहा गया है कि—**त्वां देवासो अमृताय कं पपुः** । अर्थात् हे परमेश्वर ! (देवासः) सत्यनिष्ठ ज्ञानी लोग (अमृताय) अमरत्व की प्राप्ति के लिए तेरे (कम्) सुख का (पपुः) पान करते हैं अथवा सुख-स्वरूप तेरा ही ध्यान करते हैं ।

(९) ऋग्वेद में वैश्वानर जातवेदाः अथवा सर्वभूत-हितकारी सर्वव्यापक सर्वज्ञ के रूप में परमेश्वर का स्मरण करते हुए उसे ही देवों को सब कष्टों से बचानेवाला कहा गया है । यथा—**त्वं देवां अभिशस्तेरमुञ्चो वैश्वानरो जातवेदा महित्वा** । (वैश्वानर) सब मनुष्यों के हितकारी (जातवेदाः) सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर ! (त्वं) तू (महित्वा) अपनी महिमा से (देवात्) सत्यनिष्ठ विद्वानों को (अभिशस्तेः अमुञ्चः) कष्ट से बचा देता है ।

(१०) ऋ० १०. १२१. ७ में परमेश्वर के लिए जिसे 'क' अथवा सुख-स्वरूप परमेश्वर के नाम से स्मरण किया गया है, कहा है कि—**आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।**
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ — ऋ० १०. १२१. ७

इस मन्त्र को एकेश्वरवाद के प्रकरण में अर्थसहित उद्धृत किया जा चुका है। यहां हमें यह बताना है कि उस 'क' सुखस्वरूप प्रजापति ('को हि प्रजापतिः' शत० ६. २. २. ५. 'को वै प्रजापतिः' गोपथ उ० ६. ३) को "देवानाम् असुः" अर्थात् सब देवों का प्राणस्वरूप—जीवनाधार कहा गया है।

(११) इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र में (जिसे अर्थ-सहित एकेश्वरवाद के प्रकरण में पहले उद्धृत किया जा चुका है) उसी सुख-स्वरूप प्रजापति परमेश्वर के विषय में कहा गया है कि—**यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥** ऋ० १०. १२१. ८। अर्थात् जो सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि सब देवों—प्रकाशमान पदार्थों और विद्वानों का एक अधिष्ठता देव है उसका हम श्रद्धाभक्ति-पूर्वक स्मरण करते हैं।

(१२) ऋ० १. ५०. ९ भी इस विषय में उल्लेखनीय है, जहां परमेश्वर को सर्वप्रकाशक उत्तम ज्योति के रूप में बताते हुए "देवत्रा देवम्" अर्थात् सब देवों में बड़ा देव—सब प्रकाशकों का प्रकाशक बताया गया है। यथा—**उद् वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥** ऋ १. ५०. १०। यहां तीन नित्य पदार्थों का स्पष्ट निर्देश है, जिन्हें क्रमशः उत्, उत्तर और उत्तम कहा गया है। वे, प्रकृति जिसे जड़ होने के कारण तमस् के नाम से स्मरण किया गया है, आत्मा और परमात्मा, ये हैं। परमात्मा को ज्योति और देवों में उत्तम देव कहा गया है। यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसे ही मन्त्रों के भाव को लेकर श्वेताश्वतरोपनिषत् में कहा गया है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्, तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं पुरस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ —श्वेता० ६. ७

इस प्रकार देवाधिदेव के वैदिक भाव का ही उपनिषदों में समर्थन किया गया है।

(१३) दो और मन्त्रों का निर्देश कर देना देवों की स्थिति को स्पष्ट करने और उनका परमेश्वर के साथ सम्बन्ध सूचित करने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। उनमें से प्रथम ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥ — ऋ० १. १६४. ३९

यहां ध्यान देने योग्य जो मुख्य बात इस प्रसङ्ग में है वह यह है कि (विश्वे देवाः) सब सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युदादि पदार्थ और सत्यनिष्ठ विद्वान् (यस्मिन् अक्षरे परमे वि+ओमन् अधि निषेदुः) जिस अविनाशी परम रक्षक परमात्मा में स्थित हैं, जो उसे नहीं जानता वह केवल वेद पढ़कर भी क्या करेगा ! जो उस परमेश्वर को जानते हैं वही शान्त होकर बैठते हैं। यहां सब देवों को एक परमात्मा पर आश्रित बताया है यह बात वैदिक एकेश्वरवाद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(१४) दूसरे जिस मन्त्र का हम इस प्रकरण में उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं वह अथर्ववेद का निम्न मन्त्र स्कम्भ सूक्त का है, जिसमें सब देवों को उस स्कम्भ (सर्वाधार परमेश्वर) के आश्रित बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखा॥ — अथर्व० १०. ७. ३८

यहां सारे संसार के मध्य में व्याप्त, तप अथवा ज्ञान में (यस्य ज्ञानमयं तपः) सबसे बढ़े हुए, सलिल अथवा प्रकृति की पीठ पर अधिष्ठाता और नियामक के रूप में विद्यमान ब्रह्म को महद् यक्ष अथवा सबसे बड़ा पूजनीय बताकर कहा है कि 'य उ के च देवाः' जो कोई भी देव हैं वे सब (तस्मिन् श्रयन्ते) उसी एक परम पूजनीय देव के आश्रित हैं। वे इस प्रकार रहते हैं जैसे वृक्ष के स्कन्ध पर चारों ओर शाखाएं होती हैं। इस सुन्दर उपमा में सब देवों का आश्रय और पूजनीय वह एक परमेश्वर ही है, यह भली-भांति प्रकट किया गया है।

इस प्रकार इन अनेक देवों का आश्रयभूत अथवा आधार वह एक परमात्मा है । अतः वैदिक धर्म को Polytheism अथवा अनेकेश्वरवाद का प्रतिपादक कहना सर्वथा अशुद्ध है । पूजा के योग्य वही एक परमदेव है, जैसा वेदों में—**'एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः, एक एव नमस्यः सुशेवाः ।'** इत्यादि द्वारा बताया गया है, जिसके आधार पर शतपथ ब्राह्मण में यहां तक कह दिया गया है कि—**"स यो ऽन्यां देवतामुपास्ते यथा पशुरेवं स देवानाम् ।"** अर्थात् जो उस एक परमदेव परमेश्वर को छोड़कर अन्य किसी देवता की उपासना करता है वह विद्वानों के मध्य में पशुओं के समान है । इससे बढ़कर अनेकेश्वरवाद का निराकरण और क्या हो सकता है ? ऐसी अवस्था में देवाधिदेव, देवों के अधिष्ठाता और प्राणस्वरूप परमेश्वर-विषयक विचार इतने स्पष्ट रूप में वेदों में होते हुए पाश्चात्य विद्वानों का यह लिखना जैसा A.C. Clayton (ए.सी. क्लैटन) ने The Rigveda and Vedic Religion में लिखा है कि—_"Speaking generally, the hymns appear to be the utterances of simple men, who, under the influence of the most impressive phenomena of nature, saw everywhere the presence and agency of divine powers. They imagined that each of the great provinces of the universe was ruled and pervaded by its own separate deity, and they had not yet risen to a clear idea of one supreme creator and governor of all things."

(*The Rigveda and Vedic Religion* by A.C. Clayton, P. 51)

अर्थात् साधारणतया कहना हो तो यह कह सकते हैं कि वैदिक सूक्त उन सीधे-सादे लोगों की उक्तियां हैं, जो प्रभाव-जनक प्राकृतिक दृश्यों के प्रभाव में सर्वत्र दिव्य शक्तियों की सत्ता और उनके कर्तृत्व को देखते थे । वे यह कल्पना करते थे कि संसार के प्रत्येक क्षेत्र का शासन एक पृथक्-पृथक् देव द्वारा होता है और सब वस्तुओं के उत्पादक और शासक एक परमदेव का विचार उनके मन में अभी स्पष्टतया न आया था । वे अभी उस अवस्था को प्राप्त न हुए थे ।

कितना अज्ञान अथवा पक्षपात-सूचक है ! क्लैटन के ये शब्द अनेक पाश्चात्यों के [और दुर्भाग्यवश Vedic Age के लेखक कई भारतीय विद्वानों के भी, जिन्होंने अधिकतर इस विषय में शब्दशः मैक्डॉनल (Macdonell) की Hymns from the Rigveda का उसका नाम लिये बिना अनुकरण किया है, जैसा दोनों को ध्यानपूर्वक देखने पर हमें ज्ञात हुआ तथा आश्चर्य हुआ] विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं । इसलिए हमने उन्हें उद्धृत किया है । उपर्युक्त सप्रमाण विवेचन से इन विचारों की निस्सारता और अयथार्थता निष्पक्ष पाठकों को स्पष्ट ज्ञात हो जाएगी । देवों को जो अमर कहा जाता है वह अमरता उन्हें परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती है । इस बात को अनेक वेदमन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है और ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी इसका अनेक स्थानों पर स्पष्ट निर्देश है । उदाहरणार्थ—

(१) ऋ० में कहा है कि—**देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ॥** अर्थात् हे परमेश्वर, तू ही (यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः) पूजनीय सत्यनिष्ठ ज्ञानियों के लिए (प्रथमम्) सबसे प्रथम और उत्कृष्ट (अमृतत्वम्) अमरता को (सुवसि) प्रदान करता है । देवों को अमर बनानेवाला व मुक्ति प्रदान करनेवाला एक परमेश्वर ही है ।

(२) यजुर्वेद में परमेश्वर के विषय में कहा है कि—**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥** यजुः० ३२. १० । अर्थात् (सः) वह परमेश्वर (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है । (जनिता) उत्पादक पिता है । (स विधाता) वही विशेष रूप से संसार का धारण करनेवाला और न्यायकारी है । (विश्वा) सब (धामानि) नाम, स्थान, जन्म और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है । (अमृतम् आनशानाः देवाः) अमरता व मुक्ति के आनन्द का अनुभव करनेवाले ज्ञानी (यत्र) जिस (तृतीये धामन्) प्रकृति और जीव से भिन्न तीसरे नित्य और सबके धारक परमेश्वर में (अधि ऐरयन्त) स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते हैं । इस मन्त्र में जहां मुक्ति-अवस्था में भी जीवों की परमात्मा से पृथक्ता का निर्देश है वहां यह भी स्पष्ट बताया गया है कि मुक्त जीव भी उस परमदेव के आश्रय से ही रहते हैं ।

(३) अथर्व० में भी इस तत्त्व का निम्न मन्त्र द्वारा बड़ी उत्तमता से उपदेश है—**परि विश्वा भुवनान्यामृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्। यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त** ॥ अथर्व० २. १. ५ । अर्थात् मैंने (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (कं तन्तुं) सुखमय तन्तु को (दृशे) देखने के लिए (विश्वा भुवनानि परिआयम्) सब भुवनों का निरीक्षण किया (यत्र समाने योनौ) जिस समान मूलस्थान रूप परमेश्वर में (अमृतम् आनशानाः देवाः) मुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए ज्ञानी (अध्यैरयन्त) पहुंचते हैं, वही एक उपासनीय परम देव है।

(४) अथर्व० ४. ११. ६ में भी इसी तत्त्व को निम्न मन्त्र द्वारा बताया गया है—**येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्** ॥ अर्थात् सत्यनिष्ठ विद्वान् जिस परमेश्वर की कृपा से शरीरत्याग करने के पश्चात् अमृत के केन्द्र को प्राप्त करते हैं वही एक उपासनीय परम देव है।

(५) ऋ० १. ११५. १ में परमेश्वर को सब देवों का बल बताया गया है—**चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** ॥ अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्नि इत्यादि का प्रकाशक (देवानाम् अनीकम्) सब देवों का बल परमेश्वर मेरे हृदय में प्रकाशित हुआ है। वही पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश सबमें परिपूर्ण और सबका पालन करनेवाला है। वह स्थावर, जंगम अथवा चर-अचर सारे जगत् का अन्तरात्मा सर्वप्रकाशक परमेश्वर है। यह स्पष्ट है कि यहां इस भौतिक सूर्य का वर्णन नहीं जैसे कि प्रो० मैक्डॉनल ने Hymns from the Rigveda में इसका अशुद्ध अनुवाद निम्न शब्दों में दिया है—

> The god's refulgent countenance has risen,
> The eye of Mitra, Varuna and Agni. He has pervaded air, the earth and heaven.
> The soul of all that moves and stands is Surya.
>
> —*Hymns from the Rigveda,* by Macdonell, P. 29

मित्र का अर्थ सूर्य सुप्रसिद्ध है। स्वयं डॉ० मैक्डॉनल ने उपर्युक्त पुस्तक में मित्र के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि— The Vedic evidence thus indicates that Mitra is a solar deity. P. 23. अर्थात् वैदिक साक्ष्य से सूचित होता है कि मित्र सूर्य-लोक से सम्बद्ध देवता है। इस मन्त्र में सूर्य को उसका प्रकाशक कहा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यहां भौतिक सूर्य से तात्पर्य नहीं, सूर्यों के सूर्य उत्तम ज्योति परमदेव से तात्पर्य है। वेदों की तरह ब्राह्मणग्रन्थों में भी यह वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है कि देव पहले मर्त्य अथवा मरणशील थे, और ब्रह्म-प्राप्ति से ही उन्होंने अमरता प्राप्त की। उदाहरणार्थ—**मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः । यदैव ते ब्रह्मणापुरथामृता आसुः** ॥शत० ११. २. ३. ६ ॥

इसमें स्पष्ट बताया गया है कि देव पहले मर्त्य अथवा मरणशील थे। जब उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति हो गई तब वे अमर हो गये। तैत्तिरीय संहिता में भी यही बात कही गई है कि—**देवा वै मृत्योरबिभयुस्ते प्रजापतिमुपाधावन्।**

अर्थात् देव पहले मृत्यु से भयभीत होते थे। वे प्रजापति परमेश्वर की शरण में गये तब वे अमर बन गये।

देवता-वाचक शब्दों के अनेकार्थ

देव शब्द 'दा दाने' और 'दिवु क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युतिस्तुति मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इन दो धातुओं से बनता है, जिसके अर्थों पर हम पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। देव के उस धात्वर्थ को ध्यान में रखते हुए इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि उसके अनेकार्थ हैं। इस विषय में प्रो० मैक्समूलर ने अपनी एक सुप्रसिद्ध पुस्तक में लिखा

था कि—_Deva meant originally bright and nothing else, meaning bright, it was constantly used of sky, the stars, the sun, the dawn, the day, the spring, the rivers, the earth. And when a poet wished to speak to all these by one and the same world—by what we should call a general term—he called them all Devas. When that had been done, Deva did no longer mean the Bright only, but the name comprehended all the qualities which the sky and the sun and the dawn shared in common, excluding only those that were peculiar to each. Here you see how, by the simplest process, the Devas, the bright ones, might become and did become the Devas, the heavenly, the kind, the powerful, the invisible, the immortal.

(*India, What can It Teach Us,* _—by Prof. Maxmuller, P. 218-219, Oxfor).

अर्थात् देव का प्रारम्भिक अर्थ प्रकाशमान था और कुछ नहीं। इसी अर्थ को लेकर इसका प्रयोग आकाश, तारे, सूर्य, उषा, दिन, वसन्त ऋतु, नदी, भूमि इत्यादि के लिए किया जाता था। जब किसी कवि ने इन सबके लिए कोई बात सामान्य रूप से कहनी होती थी तो वह देव शब्द का प्रयोग करता था। अब केवल प्रकाशमान इतना ही उसका अर्थ नहीं रह गया। इन सब के अन्दर जो सामान्य गुण थे (विशेष गुणों को छोड़कर) उनका ग्रहण देव शब्द से हो जाता था। इस प्रकार क्रमशः देवों को दिव्य, दयालु, शक्तिमान, अदृश्य और अमर माना जाने लगा, इत्यादि।

प्रो० मैक्समूलर की देव के मूलार्थ-विषयक यह कल्पना भी सर्वथा सत्य नहीं है। देव शब्द 'दा' और 'दिवु' दोनों धातुओं से बनता है। 'दिवु' धातु के क्रीड़ा, विजिगीषा (जीतने की इच्छा), व्यवहार, इच्छा करना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, सोना, चमकना, गति (ज्ञान, गमन, प्राप्ति) इत्यादि अर्थ हैं। इनसे युक्त किसी भी पदार्थ को देव नाम से पुकारा जा सकता है। इसी लिए यह इतना व्यापक शब्द है और इसके अनेक अर्थ हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में देव शब्द के जो प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं उनकी निम्न तालिका दर्शनीय है—

देवः

(१)	स्वप्रकाशः प्रकाशकरो वा प्रकाशमानः परमेश्वरः	ऋग्०	१. १. ५
(२)	दिव्यगुणसम्पन्नो विद्वान्	"	१. ६८. १
	दिव्यसुखदाता	"	१. ७३. ३
(३)	दिव्यप्रकाशः	"	१. १२४. १
(४)	देदीप्यमानः सूर्यः	"	५. १. २
(५)	सर्वव्यवहार-साधकः	"	१. ३५. १०
	सत्यन्यायं कामयमानः	"	१. १२९. ११
	जिगीषुः	"	१. १८८. १
	विजयप्रदाता	"	४. ३०. २४
(६)	जीवः	यजुः०	२८. १९
(७)	सभ्यः	"	२८. ४३

(८)	रक्षकः	"	३७. १८
(९)	कमनीयः	ऋग्०	१. १२७. १
(१०)	संगमनीयः	"	१७. ९१

देवौ

(१)	अध्यापकोपदेशका विद्वांसः	यजुः०	२०. १४
(२)	दिव्यात्मानो योगिनः	"	१७. ७३
(३)	व्यवहरमाणाः	"	८. १८
(४)	वेदशास्त्रविदः सेनापतयः	"	१०. १८
(५)	दिव्या गुणाः—पृथिव्यादयो लोकाः	ऋग्०	१. १०५. ५
(६)	अग्न्यादयः	"	१. २२. १६
(७)	चन्द्रादयो दिव्याः पदार्था इव विद्वांसः	"	४. ९. ८
(८)	धनुर्वेदविदो विद्वांसः	यजुः०	७. २४
(९)	दिव्यगुणा ऋत्विजः	"	१७. ५२
(१०)	दिव्याः प्राणाः	"	१२.२
(११)	दिव्या विद्याः	ऋग्०	३. ४. ११
(१२)	विद्यादिशुभगुणानां दातारः	"	७. ३५. १२
(१३)	चक्षुरादीनीन्द्रियाणि	"	४०. ४
(१४)	विद्वांसः सभासदः	"	२९. २०
	मोदकाः		
(१५).	न्यायाधीशाः, सर्वविद्याविदः, सर्वेभ्यः सुखप्रदातारः, आयुर्वेदविदः	"	१०. १

सायणाचार्य, उव्वट, महीधर आदि कृत देव-शब्दार्थ

मध्यकालीन वेदभाष्यकार सायणाचार्य, उव्वट, महीधर आदि यद्यपि देवों को स्वर्गलोकवासी मानते और उसी के अनुसार प्रायः व्याख्या करते रहे हैं और वे महर्षि दयानन्द के समान इस शब्द की व्यापकता को नहीं समझ सके, तथापि कई स्थानों पर उन्होंने भी इस देव शब्द के स्तोता, आदि यजमान परक अर्थ किये हैं । उदाहरणार्थ—

(१) तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यः ।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधिरोचने दिवः ॥ —यजुः० १५. ५०

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए काण्वसंहिता-भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—

हे (देवाः) 'ऋत्विजः' सर्वे वयं पत्न्यादिभिः सर्वैर्मनुष्यैः उत वा सर्वसाधनद्रव्यैः सहिताः तम् अग्निम् अनुगताः सन्तः फलं प्राप्स्याम इत्याशयः ।

यहां 'देवाः' का अर्थ 'ऋत्विजः' ऐसा ही किया गया है । उव्वट और महीधर ने भी शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य में इसका ऐसा ही अर्थ किया है ।

(२) **दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ।**
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुः ॥ —यजुः० १७. ५६

इस मन्त्र का काण्वसंहिता-भाष्य में अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने 'देवाः' का अर्थ दो स्थानों पर 'ऋत्विग् यजमानाः' अर्थात् ऋत्विक् और यजमान किया है । —काव्यसंहिता-भाष्यम् पृ० १५३

(३) **एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।**
ऋक्सामाभ्या सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥ — यजुः० ४. १

इसके काण्वसंहिता-भाष्य पृ० २९ में सायणाचार्य ने लिखा है—

अस्मिन् मन्त्रे देवशब्देन षोडश ऋत्विजो ब्राह्मणा विवक्षिता इत्येतदपि तित्तरिरेव दर्शयति विश्वे ह्येतद् देवा जोषयन्ते ब्राह्मणा इति । अर्थात् देवों से तात्पर्य यहां १६ ऋत्विग् ब्राह्मणों से है ।

(४) **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥**

ऋग्० १. १६४. ५० के भाष्य में भट्ट भास्कर ने लिखा है (देवाः) 'ऋत्विजः' अर्थात् देवों का अर्थ ऋत्विक् है ।

(५) स्कन्द स्वामी ने उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए अपने निरुक्त-भाष्य में कहा है—**(देवाः) दातारो हविषां यजमाना इति ।** अर्थात् हवियों के देने वाले यजमान ।

ऐसे ही अन्य मध्यकालीन आचार्यों ने कहीं-कहीं देव शब्द के दूसरे अर्थ किये हैं, किन्तु महर्षि दयानन्द के समान वैदिक शब्दों की गम्भीरता और व्यापकता को अन्य कोई आचार्य नहीं पा सके ।

देवता का अर्थ—प्रतिपाद्य विषय

यह बात भी यहां उल्लेखनीय है कि देवता का अर्थ 'मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय' भी होता है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यम् । इच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ॥

— निरुक्त अ० ७. १

अर्थात् जिस कामना से कि मैं अमुक विषय का उपदेश करूं, ऋषि—सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने जिस-जिस वस्तु का गुण-वर्णन किया है ताकि लोग उसका ठीक-ठीक प्रयोग करके उस पर स्वामित्व वा बुद्धि द्वारा अधिकार प्राप्त कर सकें, उसे उस मन्त्र का देवता कहते हैं । यही बात **"या तेनोच्यते सा देवता"** इन शब्दों द्वारा 'सर्वानुक्रमणी' आदि में कही गई है, जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि मन्त्रों में प्रतिपाद्य विषय को देवता कहते हैं । देवता के इस अर्थ तथा "अचेतनान्यपि चेतनवत् स्तूयन्ते" अर्थात् नदी-पर्वत-पत्थर इत्यादि अचेतन वस्तुओं का भी काव्य-दृष्टि से चेतनवत् वर्णन वेदों में पाया जाता है, इसे न समझकर प्रो० मैक्समूलर तथा प्रायः सब पाश्चात्य विद्वानों और उन्हीं के अनुयायी अनेक भारतीय विद्वानों ने भी यह जो बात लिखी है कि श्रद्धा, अनुमति, अरमति, सूनृता, असुनीति, निर्ऋति, ग्रावा, आपः, घृत, बर्हिः (कुशा), यूप (स्तम्भ), दक्षिणा, लाङ्गल (हल), उर्वरा (खेती की भूमि), सीता (हल की रेखा), धनुष, बाण इत्यादि सब देवता बना दिये गये, जैसे ग्रिसवोल्ड ने Religion of the Rigveda नामक ऋग्वेद के धर्म-विषयक पुस्तक में दिखाने का यत्न किया है, यह अज्ञानसूचक है । उदाहरणार्थ ग्रिसवोल्ड लिखते हैं— The abstract goddess Shraddha (faith), Anumiti (favour), Aramati (devotion), Sunrita (Bounty), Asuniti (spirit life) and Nirriti (Disease), Deified objects connected with the ritual, as Gravanah (Press stone for

crushing the Soma-plant), Apah (Sacrificial waters mixed with Soma), Ghrita (Sacrificial Oil), Barhis 'The sacrificial litter', Yupa the sacrificial post to which the victim was bound (1-13-11) and Dakshina (largess)—the deified fee of the priest (1-18-5) etc. The deified implements and objects of agriculture such as Langala (plough), Sunasira (Plough share), Urvara (Plough land), Sita (furrow) etc. and the deified weapons of war, Bow, Arrow, Quiver, Car etc. (VI. 75)

—*The Religion of the Rigveda*, by Griswold, P. 84-85

यही बात Vedic Age में भी पाई जाती है। यदि ये विद्वान् इस बात को समझ लेते कि देवता से तात्पर्य पूजनीय व्यक्ति वा पदार्थ का नहीं, अपितु मन्त्र में प्रतिपादित विषय का भी होता है तो इन पदार्थों का भी वर्णन वेद में आने से यदि इन्हें 'देवता' के नाम से लिखा गया तो इसका तात्पर्य कदापि न लेते कि वेदों में इनकी पूजा का विधान है।

अग्नि-इन्द्रादि के अनेक अर्थ

जिस प्रकार देव वा देवता शब्द के अनेक अर्थ हैं जिनका ऊपर हम निर्देश कर चुके हैं, वैसे ही अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, यम, वायु इत्यादि शब्दों के भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से अनेक अर्थ होते हैं, जिन्हें न समझने से बड़ी भ्रान्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ, अग्नि-शब्द वेदों में प्रधानतया ईश्वरवाचक है इसमें सन्देह नहीं।

अग्नि–ईश्वरवाचक

निम्न मन्त्रों में अग्नि शब्द परमेश्वरवाचक है, इसमें सन्देह ही नहीं हो सकता—

(१) **मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासो जातवेदसः॥** ऋग्० ८. ११. ५। अमर्त्यस्य—अमर, जातवेदसः—सर्वव्यापक और सर्वज्ञ; ये विशेषण भौतिक अग्नि पर चरितार्थ नहीं होते, किन्तु परमेश्वर पर सुगमता से हो जाते हैं।

(२) **विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये। अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥** ऋग्० ८. ११. ६। यहां भी 'विप्रम्' और 'देवम्' ये विशेषण 'अग्निम्' के साथ लगे हुए हैं, जो ईश्वरपरक ही हैं।

(३) **पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे॥** यहां भी अग्नि के लिए 'विश्वा विशः प्रभुः' अर्थात् सारी प्रजाओं का स्वामी तथा 'सदृङ्' सर्वद्रष्टा अथवा सबको समान दृष्टि से देखनेवाला, ये विशेषण परमेश्वरसूचक स्पष्ट हैं। इसी प्रकार ऋ. २. ७. ७ का निम्न मन्त्र स्पष्टतया अग्नि से परमेश्वर के ग्रहण का सूचक है :—

(४) **अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे। दूतो जन्येव मित्र्यः॥** अर्थात् हे अग्ने (कवे) क्रान्तदर्शिन् सर्वज्ञ परमेश्वर ! (उभया जन्म विद्वान्) मनुष्यों के पूर्व और अपर वर्तमान सब जन्मों को जाननेवाला है, (मित्र्यः) सबका मित्र है (जन्येव दूतः) मनुष्यों के हितकारी के समान सत्य के सन्देश का (वेद द्वारा) सर्वत्र पहुंचानेवाला है और (अन्तः ईयसे) सबके अन्दर विद्यमान है। यहां अग्नि से परमेश्वर के ग्रहण के प्रमाण उसके विद्वान्, कवि, जन्य आदि विशेषण हैं। सायणाचार्य ने भी (कवे) का अर्थ मेधाविन् और (विद्वान्) का अर्थ 'जानन्' ऐसा किया है, किन्तु भौतिक अग्नि के साथ उसकी संगति नहीं जुड़ती।

(५) **अग्ने नया सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

इस मन्त्र में 'अग्नि' के लिए 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्' अर्थात् सब कर्मों को जाननेवाला यह विशेषण आया है, जो सर्वज्ञ परमेश्वर पर तो स्पष्टतया घट सकता है किन्तु भौतिक अग्नि पर नहीं। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है, जिसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं।

अग्नि के आधिभौतिक अर्थ—ब्राह्मणादि

अग्नि शब्द का आध्यात्मिक मुख्य अर्थ परमेश्वर, और दूसरा अर्थ 'अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। (ऋग्० १. १२. ६, साम० ८४४), इत्यादि में जीवात्मा है। आधिभौतिक वा सामाजिक दृष्टि से अग्नि शब्द का प्रयोग वेदों के अनेक मन्त्रों में ज्ञानी ब्राह्मण नेता के लिए हुआ है। इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनमें से निम्नलिखित ३-४ प्रमाणों का उल्लेख ही पर्याप्त है। **अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्॥** ऋग्० ९. ६६. २०॥ इस मन्त्र में ऋषि, पवमान, पाञ्चजन्य, पुरोहित तथा महागय इन विशेषणों से स्पष्ट है कि यहां अग्नि शब्द भौतिक अग्नि अथवा मुख्यतया परमेश्वरवाचक नहीं, अपितु ज्ञानी ब्राह्मण, अग्रणी वा नेता का वाचक है। तब मन्त्र का अर्थ होगा कि (अग्निः) अग्नि के समान अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला ब्राह्मण (ऋषिः) तत्त्वदर्शी (पवमानः) सबको पवित्र करनेवाला (पाञ्चजन्यः) पञ्चजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद (चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः)—निरुक्त ३. ८। इन सब प्रकार के मनुष्यों का हित करनेवाला (पुरोहितः) सत्योपदेष्टा अग्रणी वा नेता है ऐसे (महागयम्) बड़े भारी विद्यादि ऐश्वर्यसम्पन्न ब्राह्मण को हम सब (ईमहे) चाहते हैं अथवा उससे सत्योपदेश करने की प्रार्थना करते हैं।

(२) दूसरा मन्त्र जो अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण इस प्रकरण में उल्लेखनीय है वह ऋग्० ३. १. १७ का पूर्वार्ध है, जहां अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा गया है—**आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥** अर्थात् हे (अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मण, (मन्द्रः) आनन्ददायक स्वभाववाला और (विश्वानि) सब (काव्यानि) वेदरूप काव्यों को (विद्वान्) जाननेवाला होकर (देवानाम्) अन्य विद्वानों का (केतुः) झण्डे के समान नायक (अभवः) हुआ है। यहां न तो भौतिक अग्नि का ग्रहण हो सकता है जिसके लिए 'विश्वानि काव्यानि विद्वान्' इन शब्दों का प्रयोग नितान्त मूर्खतापूर्ण होगा और न मुख्यतया परमात्मा का, किन्तु ब्राह्मण नेता का ग्रहण करने पर ही अर्थ सुसंगत हो जाता है।

(३) ऋग्० ३. ६. ५. का निम्न मन्त्र भी अग्नि के 'ज्ञानी नेता' इस अर्थ का स्पष्ट द्योतक है—

व्रता ते अग्ने महतो महानि तव क्रत्वा रोदसी आततन्थ।
त्वं दूतो अभवो जायमानः त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्॥

इसका अर्थ स्पष्ट है कि हे (अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मण (महतः ते) बड़े ज्ञानादि गुणयुक्त तेरे (महानि व्रता) बड़े भारी कार्य हैं, तू (तव क्रत्वा) अपने क़र्म से (रोदसी आततन्थ) दोनों लोकों में विस्तृत हो रहा है—तेरे यश का सर्वत्र विस्तार हो रहा है (जायमानः) प्रसिद्ध होता हुआ तू (दूतः अभवः) दूत के समान उत्तम ज्ञान का सन्देश ले-जानेवाला बनता है और हे (वृषभ) सुखों की वर्षा करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण तू (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का (नेता) नायक है। यहां भी अग्नि के विषय में जो वर्णन है वह ज्ञानी ब्राह्मण नेता पर अच्छी तरह संगत होता है, भौतिक अग्नि आदि पर नहीं।

(४) ऋग्वेद ३. ११. १ का मन्त्र भी इस विषय में स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय है—**अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः। स वेद यज्ञमानुषक्॥** इसमें अग्नि के विषय में कहा गया है वह (१) (होता) हवनादि करनेवाला है। (२) वह (पुरोहितः) पुरोहित अथवा हिताहित का उपदेश करनेवाला है। (३) वह अहिंसात्मक शुभ कार्य का विशेष रूप से द्रष्टा अथवा प्रकाशक (अध्वरस्य विचर्षणिः) है। वह (यज्ञम् आनुषक् वेद) यज्ञ को अच्छी प्रकार से जानता है। ये विशेषण भौतिक अग्नि पर सर्वथा चरितार्थ नहीं होते। परमेश्वर पर भी वे भलीभांति लागू नहीं होते, किन्तु ज्ञानी ब्राह्मण नेता अर्थ लेने पर उनकी पूर्ण संगति लग जाती है, इसमें सन्देह नहीं।

(५) ऋग्० में निम्न मन्त्र अग्नि के विषय में आया है—**अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः । अग्नी रोचत आहुतः ॥** यहां अग्नि के विशेषण के रूप में शुचिव्रततमः, विप्रः, कविः इन शब्दों का प्रयोग है, जिनका अर्थ क्रमशः (क) पवित्र व्रत धारण करनेवालों में श्रेष्ठ, (ख) ज्ञान द्वारा सबको विशेष रूप से भर देनेवाला वा पालन करनेवाला ब्राह्मण और (ग) कविः—क्रान्तदर्शी, तत्त्वदर्शी, उपदेशक है । इन विशेषणों से बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि इस प्रकार के मन्त्रों में अग्नि शब्द निस्सन्देह सच्चे ब्राह्मण नेता के लिए प्रयुक्त है, न कि भौतिक अग्नि अथवा परमात्मा के लिए ।

(६) ऋग्० १. १४९. ५ का अग्नि-विषयक—**अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या । मर्तो या अस्मै सुतुको ददाश ॥** यह मन्त्र भी अग्नि के ज्ञानी ब्राह्मणपरक होने का अति स्पष्ट निर्देश, होता और द्विजन्मा शब्द के प्रयोग द्वारा करता है । मन्त्र में कहा गया है कि जो कोई (मर्तः) मनुष्य (सुतुकः) उत्तम सन्तानवाला होकर (अस्मै ददाश) इसके प्रति अपने को समर्पित कर देता है, वह उसके लिए (विश्वा श्रवस्या वार्याणि दधे) सब कीर्तिवर्धक वरणीय—श्रेष्ठ ज्ञान-भक्ति-सदाचारादि गुणों को धारण करता वा पुष्ट करता है । इसी प्रकार अग्नि शब्द के अन्य अनेक अर्थ हैं, जिनका विस्तारभय से यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता ।

इन्द्र शब्द के अनेकार्थ

अग्नि की तरह इन्द्र शब्द के भी अनेक अर्थ हैं इसमें सन्देह नहीं । 'इदि परमैश्वर्ये' इस धातु से यह शब्द बनता है, अतः उसका मुख्यार्थ परमेश्वर है ।

(क) **य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पंच क्षितीनाम् ॥** ऋग्० १. ७. ९ ॥
य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे । ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ऋग्० १. ८४. ७ ॥
मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ ऋग्० ८. १. १ ॥

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ ऋग्० १०. ८९. १० ॥

इत्यादि मन्त्रों में इन्द्र शब्द स्पष्टतया परमेश्वरवाचक है, इसमें अणुमात्र सन्देह भी नहीं ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋग्० १-१६४-४६ ॥

इत्यादि पूर्वोद्धृत मन्त्रों में इन्द्र को ईश्वरपरक ही बताया गया है । इन ऊपर के मन्त्रों में उस इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह इन्द्र (परमेश्वर) ही समस्त मनुष्यों के ऐश्वर्य का स्वामी है ।

(ख) जो आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तों को अकेला ही सब ऐश्वर्य देता है वह सबका स्वामी है, जिसकी गति को कोई रोक नहीं सकता ।

(ग) हे मित्रो ! अन्य किसी की स्तुति मत करो और इस प्रकार दुःख मत उठाओ । यज्ञों में मिलकर उस सुख-शान्ति-वर्षक परमेश्वर की ही बार-बार स्तुति करो ।

(घ) इन्द्र (परमेश्वर) ही आकाश, पृथिवी, जल, पर्वत, वृद्धिशाली बुद्धिमान् मनुष्य इन सबका स्वामी है । योगक्षेम के लिए इन्द्र [परमेश्वर] (इत्) ही सदा स्मरण करने योग्य है, इत्यादि ।

इन मन्त्रों में इन्द्र शब्द परमेश्वरवाचक है, इसमें सन्देह का अवकाश ही नहीं । सारे जगत् का कर्ता, सुखवर्षक, सबका स्वामी पूजनीय वह एक परमेश्वर ही उपासनीय है, ऐसा मन्त्रों में बताया गया है ।

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

— ऋग्० ७. ३२. २६, साम० पू० ३. २. ७, अथर्व० २०. ७९. १

इस मन्त्र में इन्द्र के नाम से परमेश्वर को स्मरण करते हुए प्रार्थना की गई है कि हे परमेश्वर ! तू (नः क्रतुम् आभर) हमें ज्ञान दे (पिता पुत्रेभ्यः यथा) जैसे पिता पुत्र को देता है । हे (पुरुहूत) बहुत-से भक्तों द्वारा पुकारे गये प्रभो ! (अस्मिन् यामनि) इस मन को वश में करने के विषय में (नः शिक्ष) तू हमें शिक्षा दे । हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करें । यहां पौराणिक भाष्यकार सायणाचार्य ने भी इन्द्र का अर्थ परमात्मा ही किया है और वह प्रकरणानुकूल होने के कारण बिलकुल ठीक है । (देखो साम० पू० ३. २. ७. का सायण-भाष्य (इन्द्र) परमात्मन् 'त्वं कर्म स्वविषयं वा ज्ञानम् अस्मभ्यं प्रयच्छ' ।)

इन्द्र का जीवात्मपरक अर्थ

इस प्रकार जहां इन्द्र शब्द का प्रयोग वेदों में अनेक मन्त्रों से परमेश्वर के अर्थ में आया है, वहां दूसरे बहुत-से मन्त्रों में जीव के अर्थ में भी इन्द्र शब्द का प्रयोग हुआ है । उदाहरणार्थ निम्न शब्दों को देखिये—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवे ऽवतस्थे कदाचन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ — ऋग्० १०. ४८. ५

इस मन्त्र में आत्मा की यह अपने विषय में उक्ति है कि मैं (इन्द्रः) आत्मा (धनम् न इत् पराजिग्ये) अपने ज्ञान व शक्तिरूप धन का कभी परित्याग न करूंगा । मैं (मृत्यवे कदाचन न अवतस्थे) मृत्यु के अधीन कभी न होऊंगा, कभी न मरूंगा । (सोमं सुन्वन्तः इत् वसु याचत) तुम लोग ज्ञानमय भक्तिभाव का सम्पादन करते हुए ही मुझसे ऐश्वर्य मांगो (पूरवः) हे मनुष्यो ! (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मित्रता में तुम कभी दुःख न उठाओ ।

आत्मा की अद्भुत शक्ति और अमरता का इस मन्त्र में प्रतिपादन है, अतः यहां इन्द्र शब्द जीवात्मवाचक है इस में सन्देह नहीं ।

अभीदमेक एको अस्मि निषाडभि द्वा किमु त्रयः करन्ति ।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥ — ऋग्० १०. ४८. ७

इस मन्त्र में भी आत्मा के मुख से कहलाया गया है कि मैं एक (कामवासना-रूप शत्रु) का मुकाबला कर सकता हूं (अभि द्वा) काम, क्रोध, इन दो का भी मैं मुकाबला कर सकता हूं (किम् उ त्रयः करन्ति) काम, क्रोध, लोभ ये तीन भी मेरा क्या मुकाबला कर सकते हैं ? मैं खलिहान में भूसे की तरह सब शत्रुओं को पीस डालूंगा । शक्तिरूप ऐश्वर्य-रहित शत्रु मेरी क्या निन्दा करते हैं ? मैं ऐसी निन्दा से कभी प्रभावित न होऊंगा ।

यहां भी इन्द्र के जीवात्मवाचक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता । जीवात्मा के इन्द्र होने के कारण ही आंख, नाक, कान, इत्यादि अवयव इन्द्रियां कहलाती हैं । अन्य भी अनेक मन्त्रों में इन्द्र शब्द जीवात्मवाचक है । विस्तारभय से केवल एक और अति स्पष्ट मन्त्र का उल्लेख करना पर्याप्त होगा—

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते । इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

— ऋग्० १. ८०. ३

यहां आत्मा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हे (इन्द्र) ज्ञानाद्यैश्वर्ययुक्त जीवात्मन् ! तू आगे बढ़, अपनी शक्ति को काम में ला । तेरे वज्र को कोई रोक नहीं सकता । तेरा बल सबको झुकानेवाला है । तू अपने वज्र का पापनाश के लिए प्रयोग कर और असत्य की धाराओं पर विजय प्राप्त कर । तू अपने स्वराज्य की भली-भांति रक्षा कर । यहां एक ओर तो इन्द्र शब्द जीवात्मा के लिए है और साथ ही वह शक्तिशाली राजा के लिए भी है, यह स्पष्ट है ।

राजवाचक इन्द्र शब्द

इन्द्र शब्द का प्रयोग वेदों के अनेक सूक्तों में राजा वा राष्ट्रपति के लिए आता है इसमें भी कोई सन्देह नहीं । उदाहरणार्थ ऋग्० १०. १५२ के निम्न मन्त्रों को देखिये—

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा वि मृधो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ २
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । यो अस्मां अभिदासत्यधरं ग या तमः ॥ ४

— ऋग्० १०. १५२. २, ४

इन तथा सूक्त के अन्य मन्त्रों में राजा वा राष्ट्रपति के अर्थ में इन्द्र शब्द का प्रयोग इतना स्पष्ट है कि उसके लिए प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । मन्त्रों में इन्द्र के लिए कहा गया है कि वह (स्वस्तिदा) कल्याण देनेवाला (विशस्पतिः) प्रजा की रक्षा करनेवाला (वृत्रहा) पाप वा पापियों का नाश करनेवाला (वशी) सबको अपने वश में रखनेवाला (वृषा) सुख की वर्षा करनेवाला (अभयंकरः) निर्भयता का संचार करनेवाला (नः पुर एतु) हमारे सम्मुख आये । हे (इन्द्र) राष्ट्रपते, हमारे हिंसकों का नाश कर दो, जो सेना लेकर हमारे ऊपर आक्रमण करते हैं उन्हें नीचे गिरा दो । जो हमें दास बनाना चाहते हैं उन्हें अन्धकार में (जेल मे) डाल दो ।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ — यजुः० २०.५०

इस मन्त्र में इन्द्र शब्द परमेश्वरवाचक होने के अतिरिक्त राष्ट्रपति व वीर राजा पर भी पूर्णतया चरितार्थ होता है ।

रक्षक, प्रेम करनेवाले, सुगमता से पुकारे जाने के योग्य शक्तिशाली इन्द्र (राष्ट्रपति) को मैं पुकारता हूं । वह परमैश्वर्य-सम्पन्न हम सबका कल्याण करे । ऐसे ही—

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।
वृजनेन वृजिनान् सं पिपेष मायाभिर्दस्यूंरभिभूत्योजाः ॥ — अथर्व० २०. ११. ६

इत्यादि मन्त्रों में जिस इन्द्र की स्तुति की गई है कि वह अपनी शक्ति से पापियों को पीस डालता है और अपनी बुद्धि से सब दुष्टों का नाश कर देता है, उसके मुख्यतया राष्ट्रपति-परक होने में कोई सन्देह का कारण नहीं ।

रुद्र के अनेकार्थ

इसी प्रकार सोम, रुद्र इत्यादि देवताओं के विषय में भी प्रमाणपूर्वक यह दिखाया जा सकता है कि इनके आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दृष्टि से अनेक अर्थ हैं । सोम के विषय में हम पहले दिखा चुके हैं कि उसका प्रयोग वेदों में परमेश्वर, ज्ञानमय भक्तिभाव और सौम्य-स्वभाव शान्त भक्तों के लिए किया गया है । रुद्र के अनेक अर्थों का यहां अति संक्षेप से निर्देश देकर हम आगे चलेंगे । महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में रुद्र शब्द के ७ अर्थ दिये हैं । यथा—

१ रोदयति दुष्टान् दण्ड-प्रदानेनेति न्यायकारी परमेश्वरः—दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाला न्यायकारी परमेश्वर।

२. रोदयति शत्रून् इति रुद्रो महावीरः—शत्रुओं को रुलानेवाला महावीर।

३. रोदयति दुष्टान् इति रुद्रो न्यायधीशः—दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाला न्यायाधीश।

४. रोदयति धनिकान् इति रुद्रश्चौरः—धनियों को रुलानेवाला चोर।

५. रुत् ज्ञानं राति-ददातीति रुद्रः उपदेशकः—अर्थात् ज्ञान देनेवाला उपदेशक।

६. रुद् दुःखं द्रावयतीति रुद्रो वैद्यः—दुःख को दूर करनेवाला वैद्य।

७. रुद् रोगं राति-ददातीति रुद्रो रोगोत्पादकः कृमिः—अर्थात् रोगोत्पादक कृमि।

वैदिक देवताओं के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दृष्टि से अनेक अर्थ होते हैं, इस बात को समझना वेद के सब विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि दयानन्द की इस बात को न समझकर The Religion of the Rigveda के लेखक डॉ० ग्रिसवोल्ड (Dr. Griswold) तथा अन्य कुछ विद्वानों ने महर्षि के वेदभाष्य और उन के द्वारा प्रतिपादित वेदों में एकेश्वरवाद की आलोचना की है। डॉ० ग्रिसवोल्ड ने लिखा है—

"Taking his clue from the late passages in Rigveda 1.164. 46, and 10.114.5 priests and poets with words make into many, the bird (The Sun) that is but one, the founder of the Arya Samaj held that all the gods mentioned in the Rigveda are simply variant names for one god. This process of raduction from multiplicity to unity would have been easier if there had been no dual gods or group gods mentioned in the Rigveda, It has already been remarked that the tendency of Rigvedic poly-theism was towards unity of some sort, either mono-theistic or pantheistic. Swami Dayananda was not a pantheist. In reading into the Rigveda a mono-theism, Vedism ought to have issued in a clear-cut and definite mono-theism. The mono-theistic interpretation of the Rigveda involved on the part of Swami Dayanand much wild and un-scientific analysis. In this, however, we may be thankful that as between theism and Pantheism, Swami Dayanand took side of theism." (*The Religion of the Rigveda,* by Griswold, P. 109-110)

अर्थात् ऋग्वेद के १. १६४. ४६ (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति) और १०. ११४. ५ (एकं सुवर्णं कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति) से संकेत पाकर आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने यह विचार प्रकट किया कि ऋग्वेद में प्रतिपादित सभी देव एक ही देव के अनेक नाम हैं। यह अनेकता से एकता की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया सुगम हो जाती यदि दो वा अनेक देवों का ऋग्वेद में वर्णन न होता। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऋग्वेदीय अनेकेश्वरवाद की प्रवृत्ति किसी एक प्रकार की एकता की ओर थी चाहे वह एकेश्वरवाद के रूप में हो अथवा अद्वैतवाद के रूप में। स्वामी दयानन्द अद्वैतवादी न थे। स्वामी दयानन्द ने क्रियात्मक रूप से इस बात को बताने का यत्न किया कि वैदिकवाद अद्वैतवाद में परिणत होने के स्थान में बिलकुल स्पष्ट और निश्चित एकेश्वरवाद के रूप में परिणत हुआ। वेदों की एकेश्वरवाद-परक व्याख्या करने के लिए स्वामी दयानन्द को बहुत ही निरर्थक और अवैज्ञानिक कल्पना करनी पड़ी। किन्तु इस बात के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि स्वामी दयानन्द ने अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद में से एकेश्वरवाद को ही चुना।

इस अध्याय में पहले जो अति स्पष्ट प्रमाण दिये जा चुके हैं उनसे निस्सन्देह यह ज्ञात होता है कि वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है और स्वामी दयानन्द ने ऐसा करने में कोई निरर्थक अथवा अवैज्ञानिक कल्पना नहीं की। द्वन्द्व अथवा सामूहिक देवताओं के विषय में जो बात डॉ० ग्रिसवोल्ड ने स्वामी दयानन्द के भाष्य की अनुचित समालोचना करते हुए लिखी उसका भी पूर्णतया समाधान सुगमता से हो सकता है। उदाहरणार्थ अग्नीषोमौ, इन्द्राग्नी, अश्विनौ के अनेक अर्थों को हम यहां संक्षेप में निर्देश करते हैं। अग्नीषोमौ के निम्न अर्थ हैं—

१.	अध्यापकसुपरीक्षकौ	ऋग्०	१. ९३. २
२.	अग्निजलविद्ये	"	१. १०
३.	तेजःशान्तिगुणौ	"	६. ९
४.	अग्निचन्द्रलोकौ	"	२. १०५
५.	शीतोष्णकारकौ जलाग्नी	"	१. २५. ५
६.	वायुविद्युतौ	"	१. ९२. ४
७.	प्रसिद्धौ वाय्वग्नी		
८.	तेजश्चन्द्राविव विज्ञानसौम्यगुणावध्यापकपरीक्षकौ		

इस प्रकार जब 'अग्नीषोमौ' के इतने अर्थ हैं तो द्विवचन का प्रयोग आने से एकेश्वरवाद में बाधा मान लेना लेखकों के अल्पज्ञान को ही सूचित करता है, अन्य कुछ नहीं।

अग्नीषोमौ के ऐसे ही अर्थ ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मणों में किये गये हैं। यथा—

प्राणापानौ—अग्नीषोमौ	ऐत०	१. ८
चक्षुषी—अग्नीषोमौ		"
यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत् सौम्यम्	शत०	१. ६. ३. २३
सूर्य एवाग्नेयः, चन्द्रमाः सौम्यः, अहरेवाग्नेयम्, रात्रिः सौम्या ३. २४ इत्यादि।	शत०	१. ६

अब हम इन्द्राग्नी के अनेक अर्थों का निर्देश करके आगे बढ़ेंगे। इसके अनेकार्थों में से निम्न का निर्देश कराना ही पर्याप्त है—

१.	विद्युदग्नी—बिजली और अग्नि	यजुः०	३३. ४९
२.	सूर्याग्नी इव प्रकाशमानौ सभापति-सभासदौ	"	७. ३१
३.	मातापितरौ	"	१२. ५४
४.	वायु-वह्नी इव वर्तमानौ राज-प्रजाजनौ	ऋग्०	६. ५९. २
५.	उपदेश्योपदेष्टारौ	"	१. १०९. ८
६.	अध्यापकोपदेशकौ		

ब्राह्मण-ग्रन्थादि में भी इन अनेक अर्थों का निर्देश पाया जाता है, उदाहरणार्थ निम्न वाक्यों को देख सकते हैं—

प्राणोदानौ वा इन्द्राग्नी	शत०	२. ५. २. ८
ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी	कौषीतकी०	१२. ८
प्राणापानौ वा एतौ देवानां यदिन्द्राग्नी	तैत्ति०	१. ६. ४. ३

अश्विनौ के अनेकार्थ

'अश्विनौ' के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दृष्टि से अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें से निम्नलिखित निर्देश ही पर्याप्त हैं—

१.	द्यावापृथिवी	यजुः०	२१. ३२
२.	प्राणापानौ	"	२१. ६०
३.	वायुविद्युतौ	"	२१. ५८
४.	वायुजले	ऋग्०	१. ४४. ८
५.	वायुसूर्याविव वर्तमानौ धर्मन्यायप्रकाशकौ		
६.	सूर्यचन्द्रवत् प्रकाशमानौ	यजुः०	७. ११
७.	सूर्यवायुसदृक्कर्मकारिणौ सभासेनेशौ	ऋग्०	१. ४७. ३
८.	विद्यादाता ग्रहीतारावध्वर्यू	"	१. ३४. ४
९.	सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ	यजुः०	३८. १२
१०.	अध्यापकोपदेशकौ	ऋग्०	५. ७८. ३
११.	प्रकाशगुणावध्वर्यू	ऋग्०	१. २२. ३
१२.	यजमानर्त्विजौ	ऋग्०	५. ७८. २

इन अर्थों के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों के—

इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीद सर्वमश्नुवाताम्	शत०	४. १. ५. १६
अश्विनावध्वर्यू	ऐ०	१. १८
श्रोत्रे अश्विनौ	शत०	१२. ९. १. १२
नासिके अश्विनौ	"	१२. ९. १. १४
तत् कावश्विनौ, द्यावापृथिव्यौ इत्येके अहोरात्रौ इत्येके सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके	निरुक्त	१२. १. १

इत्यादि प्रमाण हैं।

'अश्विनौ' का अध्यापकोपदेशकौ यह महर्षि दयानन्द ने अनेक स्थानों पर अर्थ किया है। इसे कई लोग महर्षि की मनघड़न्त कल्पना समझते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस अर्थ के लिए स्पष्ट प्रमाण और निर्देश पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ यजुर्वेद में 'अश्विनौ' के लिए 'अध्वर्यू' शब्द का विशेषण रूप में प्रयोग है—

'अश्विनावध्वर्यू सादयतामिह त्वा'

ऐतरेय ब्राह्मण १. १८, शत० १. १. २. १७, गोपथ उ० २. ६, तैत्ति० ३ २. २. १ में, ब्राह्मणों में **'अश्विनावध्वर्यू'** यह वाक्य पाया जाता है। अध्वर्यु शब्द की निरुक्ति यास्काचार्य ने निरुक्त नैगमकाण्ड १. १३ में 'अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा' और अध्वर की 'अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' इस रूप में की है।

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार हिंसारहित शुभ कार्यों को अध्वर कहते हैं और ऐसे अध्वरों की व्यवस्था करनेवाले, उनके नेता या उनकी कामना करनेवालों को अध्वर्यु कहते हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञादि पांच महायज्ञों की अध्वरों में गणना सर्वसम्मत है। ब्रह्मयज्ञ से तात्पर्य सन्ध्या और अध्ययन-अध्यापन से है—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः (मनु० ३. ७०), स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः शत० ११. ५. ६. २ इत्यादि से यह सर्वथा स्पष्ट है। ऐसे यज्ञ के संयोजक और नेता सिवाय अध्यापक-उपदेशकों के और कौन हो सकते हैं? इसलिए महर्षि दयानन्द का 'अश्विनौ' का 'अध्यापकोपदेशकौ' यह अर्थ करना सर्वथा उचित

ही है । ऋग्० १. १२० के द्वितीय और तृतीय मन्त्र जिनमें 'अश्विनौ' के लिए 'विद्वांसौ' यह विशेषण है और उनसे ज्ञानोपदेश की प्रार्थना की गई है, 'अश्विनौ' के 'अध्यापकोपदेशकौ' इस अर्थ की पुष्टि करते हैं । यथा—

विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वान् इत्थाऽपरो विचेताः । ता विद्वांसा हवामहे ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य ॥

यहां कहा गया है कि विचेता: अविद्वान्—ज्ञानरहित अविद्वान् अश्वियों से सत्यभाव से जिज्ञासु बनकर प्रश्न करता है— हे विद्वान् अश्वियो ! आप विद्वानों को हम निमन्त्रित करते हैं । आप हमें (अद्य) आज (मन्म) ज्ञान का (वोचेतम्) उपदेश वा प्रवचन करें । इस प्रकार अश्वियों के अध्यापकोपदेशकपरक होने में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता ।

अश्विनौ का अर्थ यास्काचार्य ने निरुक्त में 'यद् व्यश्नुवाते सर्वम्' यह व्युत्पत्ति देकर द्यावापृथिव्यौ, सूर्याचन्द्रमसौ, अहोरात्रौ इत्यादि किया है । विवाह-संस्कार में वर के मुख से वधू को सम्बोधन करते हुए कहा जाता है कि "द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै ।" मैं द्युलोक अथवा आकाश के समान हूं और तुम पृथिवी के समान हो, हम दोनों विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करें, इत्यादि । पुरुष को सूर्य और स्त्री को चन्द्र के समान, पुरुष को दिन और स्त्री को (रतिसुखं ददातीति रात्रि: इस अर्थ को लेकर) रात्रि के समान शास्त्रों में बताया गया है ।

'मरुत:' शब्द के अनेकार्थ

जहां तक बहुवचनान्त देवों का सम्बन्ध है उनमें 'मरुत:' की प्रधानता है, अत: उनके सम्बन्ध में कुछ विचार करना यहां आवश्यक प्रतीत होता है । 'मरुत:' ईश्वरवाचक शब्द नहीं है । उसकी 'मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा' इस प्रकार निरुक्त अ० ११. २ में अनेक व्युत्पत्तियां की गई हैं और निघण्टु २. १८ में मरुत इति ऋत्विक्नामसु तथा निघण्टु १. २ में हिरण्य वा सुवर्ण के नामों में 'मरुत:' का पाठ है ।

ताण्ड्य महाब्राह्मण १४. १२. ९ में कहा है 'मरुतो रश्मय:' अर्थात् किरणों को मरुत: कहते हैं । ऐत० ६. ३० के 'आपो वा मरुत:' के अनुसार जल को भी मरुत: कहते हैं ।

निघण्टु ५. ५ में 'मरुत:' का पाठ 'पदनामसु' है अत: गमनागमन-क्रिया के प्राप्त करानेवाले वायुओं (जिन्हें अंग्रेजी में Monsoons के नाम से कहा जाता है) का 'मरुत:' से ग्रहण है । महर्षि दयानन्द ने 'मरुत:' के निम्न अर्थ अपने वेदभाष्य के अनेक स्थानों में किये हैं—

१.	**वायव:—मरुत इति पदनामसु**	**निघं०**	**५. ५**
	अनेन गमनागमन-क्रियाप्रापका वायवो गृह्यन्ते	**ऋग्०**	**१. १५. ३**
	वायव इव ज्ञानयोगेन शीघ्रं गन्तारो मनुष्या:	**ऋग्०**	**१. ८५. ६**
२.	**सेनाध्यक्षादय:**	"	**१. ३७. १२**
	वायुवच्छीघ्रगमनकारिणो जना:	"	**१. ३८. ३**
	वायुवद् बलिष्ठा:	"	**१. १७२. २**
३.	**सभाध्यक्षादय:**	"	**१. ८६. ७**
४.	**उत्तमा मनुष्या:**	"	**६. ६६. ८**
	सभ्यमनुष्या:	**अथर्व०**	**१. ४१. ५४**
	धर्मप्राप्ता मनुष्या:	**ऋग्०**	**१ ३१. १**
	पुरुषार्थिनो मनुष्या:	"	**५५४. १४**
	योगाभ्यासिनो व्यवहारसाधका वा जना:	"	**१. ३८. ११**
	वायुविद्यावेत्तार:	"	**१. १६९. ५**
	शिल्पिनो मनुष्या:	"	**५. ६३. ५**
	परीक्षका विपश्चित:	"	**१. ८६. २**

५.	ऋत्विजः	ऋग्०	३. ४६
	विद्यावन्तः ऋत्विजोऽध्यापकाः	"	१. १०१. १
६.	प्राणादयः	"	१. ५२. ९
	प्राणा इव प्रियाचरणाः	"	५. ५५. ४
	प्राणा इव प्रिया विद्वांसः	"	१. ८६. १
	प्राणा इव नेतारः	"	७. ५९. १
७.	हिरण्यानि रूपाणि वा	यजुः०	८. ३१
	विद्वांसोऽतिथयः	"	३. ४४

कई विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते कि 'मरुतः' मनुष्यवाचक है और इसे महर्षि दयानन्द की अपनी कल्पना समझते हैं, किन्तु स्वयं वेदों में मरुतों के लिए नरः, मर्याः, मानुषासः इत्यादि का स्पष्ट प्रयोग अनेक स्थानों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ ऋग्० १. ३९, ३, ८. २०. १०, १. ६४. १०, १०. ८६. ८, ५. ५२. ५ में नरः शब्द का प्रयोग मरुतों के लिए पाया जाता है। **ते म आहुर्य आययुरुपद्युभिर्विभिर्मदे। नरः मर्या अरेपसः इमान् पश्यन्निति स्तुहि॥**

इस मन्त्र में जो 'मरुतो देवताः' वाला है मरुतों के लिए मनुष्यवाचक 'नरः और मर्याः' इन शब्दों का प्रयोग है।

ऋग्० ७. ५९. १० में मरुतों को 'गृहमेधासः' वा गृहस्थ कहा है—

गृहमेधास आगत मरुतो मापभूतन। युष्माकमूती सुदानवः॥

अथर्व० ७. ७७. ३ में मरुतों के लिए 'मानुषासः' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, यथा—

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः॥

ऋग्० ५. ५३. ३, ५. ५९. ६, ५. ६१. ४, ७. ५६. १, १०. ७७. २, इत्यादि में मरुतों के लिए 'मर्याः' का प्रयोग है, जिसका अर्थ मरणशील मनुष्य सुप्रसिद्ध है। इस प्रकार मरुतों का श्रेष्ठ मनुष्यवाचक होना स्पष्ट है। सायणाचार्य ने भी अपने ऋग्वेद-भाष्य में किसी-किसी स्थान पर 'मनुष्यरूपा वा मरुतः' ऐसा लिखा है। कनखल सुरतगिरिबंगलामठवासी महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द गिरि ने 'अथर्ववेद संहितोपनिषच्छतकम्' पृ० २९८ में—

ते अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ऋग्० ५. ५९. ६॥

की व्याख्या में मरुतों का श्रेष्ठ मनुष्य-परक अर्थ करते हुए लिखा है कि—

पृश्निमातरः—भारतमातृभक्ताः, अज्येष्ठासः-अकनिष्ठासः—परस्परं ज्येष्ठकनिष्ठभाव—उत्तमाधमभाव-रहिताः—सर्वप्रकारैः समाः समानवैदिकधर्माः समानसद्भावाः मर्याः—मनुष्याः सन्ति। पृ० २९८। इस तरह मरुतों का श्रेष्ठमनुष्यवाचकत्व स्वयं वेदमन्त्रों के प्रमाणों से स्पष्ट है, अतः इससे एकेश्वरवाद में बाधा मानना सर्वथा असङ्गत है।

चतुर्वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने भी अनेक स्थानों पर 'मरुतः' की उत्तम पुरुष-परक व्याख्या की है। उदाहरणार्थ ऋग्० ८. ८९ में निम्न दो मन्त्र आते हैं—

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्। येन ज्योतिरजयन् ऋतावृधो देवं देवाय जागृवि॥ मं. १।
प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत। वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा॥ मं. ३।

इनकी व्याख्या में सायणाचार्य ने 'मरुतः' का अर्थ इस रूप में किया है—

हे मरुतः रु शब्दे मितं रुवन्तीति मरुतः हे मितभाषिणः स्तोतारः । मं० १ । हे (मरुतः) मितराविणः स्तोतारः (बृहते) महते (वः) स्तुत्यस्तोतृत्व-लक्षणेन सम्बन्धेन युष्मदीयाय इन्द्राय (ब्रह्म) सामलक्षणं स्तोत्रं (प्रार्चत) प्रोच्चायरयत । मं० २ । अर्थात् मितभाषण करनेवाले स्तोता या भक्त पुरुष को सम्बोधन करते हुए मन्त्रों में कहा गया है कि तुम्हारे लिए स्तुति करने योग्य जो महान् परमेश्वर है उसकी तुम मन्त्रों से स्तुति करो । यही दोनों मन्त्र सामवेद के ऐन्द्र पर्व अ० ३ खं० ३ में भी आये हैं । 'प्र व इन्द्राय बृहते' की मन्त्रसंख्या २५७ और 'बृहदिन्द्राय गायत' की २५८ है । इन दोनों स्थानों पर भी सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य के समान ही मितभाषिणः स्तोतारः तथा मितराविणः स्तोतारः अर्थात् मितभाषी स्तोता वा भक्त ऐसा ही अर्थ किया है, जिसका आधार स्पष्टतया निरुक्त की 'मितराविणः' इस व्युत्पत्ति पर है ।

(सायणाचार्यकृत सामवेदभाष्य श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित)

सायणाचार्य से बहुत पूर्व के सामवेद-भाष्यकार नारायण-पुत्र माधव ने भी (जिसका काल षष्ठ शताब्दी माना जाता है) इन दोनों मन्त्रों के भाष्य में 'मरुतः' पद की मनुष्यपरक व्याख्या की है; यथा 'प्र व इन्द्राय बृहते' के भाष्य में हे (मरुतः) मदीया ऋत्विजः ।

'बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्' के भाष्य में भरत स्वामी ने 'मरुतः' का अर्थ 'मरुतः—स्तोतारः महत् रुवन्तीति मरुतः' इस व्युत्पत्ति को देकर किया है ।

(देखो 'सामवेदसंहिता-माधवभरत-स्वामिभाष्यसहिता डॉ० कुन्नन् राजा सम्पादित)

यजुः० २०. ३० में भी 'बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्' यह मन्त्र आया है । उसके भाष्य में उव्वट और महीधर दोनों भाष्यकारों ने मरुतः का ऋत्विक्परक अर्थ किया है, यथा—उव्वट ने लिखा है—हे (मरुतः) 'ऋत्विजो वा मरुतः ।' महीधर ने लिखा है—हे (मरुतः) ऋत्विजः, देखो 'शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता उव्वट-महीधर-भाष्य-संवलिता ।

प्रो० मैक्समूलर और मरुतः

यद्यपि प्रो० मैक्समूलर ने Vedic Hymns में 'मरुतः'-विषयक सूक्तों का अनुवाद करते हुए उनका अर्थ Storm Gods किया है तथापि उन्हें उनके लिए प्रयुक्त 'नरः' इत्यादि शब्दों को देखकर कई जगह मनुष्यपरक अर्थ करने को विवश होना पड़ा है । उदाहरणार्थ—**परा ह यत् स्थिरं ह थ नरो वर्तयथा गुरुः** । ऋग्० १. ३९. ३ का अर्थ प्रो० मैक्समूलर ने इन शब्दों में किया है—When ye overthrow what is firm, 'O ye men'. (Vedic Hymns P. 97) अर्थात् हे मनुष्यो ! तुम जब दृढ़ को भी हिला देते हो, इत्यादि—

शूरा इवेद् युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे ।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसन्दृशो नरः ॥ — ऋग्० १. ८५. ८

इसके अर्थ में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है— All beings are afraid of the Maruts. They are men terrible to behold like Kings. (*Vedic Hymns*, P. 127) अर्थात् सब प्राणी मरुतों से डरते हैं । वे राजाओं की तरह देखने में भयङ्कर तेजस्वी हैं । यहां मरुतों का मनुष्यपरक अर्थ स्पष्ट है । मूल में 'नरः' का मरुतों के लिए प्रयोग है जिसका प्रो० मैक्समूलर का 'men' का अर्थ करना सर्वथा उचित ही है ।

यस्य वा यूयं प्रति वाजिनो नर आहव्या वीतये गथ ।
अभि ष द्युम्नैरुत वाजसातिभिः सुम्ना वो धूतयो नशत् ॥ —ऋग्० ८. २०. १६

इसका अर्थ करते हुए प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है—He Oh men, whose libations ye went to enjoy, that mighty one, o shakers, will obtain your favours with brilliant riches, etc.

—*Vedic Hymns,* P. 40

यहां भी मरुतों के लिए मन्त्र में 'नरः' का प्रयोग है, अतः प्रो० मैक्समूलर को अपने पक्षपातपूर्ण विचारानुसार शीर्षकरूप में मरुतः To the Maruts (Storm Gods) लिखते हुए भी नीचे का अर्थ 'Oh men' करने को विवश होना पड़ा है ।

विस्तारभय से अभी देवता-विषयक इतने निर्देश ही पर्याप्त हैं । इतने लेख से यह स्पष्ट है कि वेद में यद्यपि अनेक देवताओं का वर्णन है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दृष्टि से उनके अनेक अर्थ हैं, तथापि वेदों के अनुसार उपास्य देव सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एक परमेश्वर ही है और अनेक देवों का प्रतिपादन विशुद्ध एकेश्वरवाद में बाधक नहीं, जैसा भ्रान्तिवश प्रायः समझ लिया जाता है ।

वेद अद्वैतवाद के प्रतिपादक नहीं

इस प्रसङ्ग में इस बात का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि वेदों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, अद्वैतवाद का नहीं । इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र अति स्पष्ट होने के कारण यहां उल्लेखनीय हैं—

(१) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ — ऋग्० १. १६४. २०

इस मन्त्र में बताया गया है कि जीवात्मा और परमात्मारूप दो पक्षी हैं, जो दोनों चेतन होने से परस्पर सखा (मित्र) हैं और (सयुजा) साथी हैं । वे दोनों नित्य और अनादि होने से समान प्रकृतिरूपी वृक्ष पर मानो स्थित हैं । उनमें से एक कर्मफल का भोग करता है और (अन्यः) दूसरा—परमेश्वर (अनश्नन्) कर्मफल का भोग न करता हुआ (अभिचाकशीति) सर्वज्ञ होने से द्रष्टा बनकर देखता रहता है । यहां जीवेश्वर-भेद इतनी स्पष्टतया वर्णित है कि लाख यत्न करने पर भी उसका अपलाप नहीं किया जा सकता ।

उपनिषदों में अनेक स्थानों पर वेदमन्त्रों की व्याख्या है अथवा वैदिक भावों को दूसरे स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया गया है । इस मन्त्र की व्याख्या निम्नलिखित मुण्डकोपनिषत् के ३ १. २ के वचन में की गई है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ — मु० उ० ३. १. २

अर्थात् पुरुष (जीवात्मा) नित्य और अनादि होने से समान प्रकृतिरूपी वृक्ष में निमग्न (फंसा) हुआ अपने स्वामित्व को खोकर शोक-मोह-ग्रस्त हो जाता है । किन्तु जब वह (जुष्टम्) प्रेमयुक्त सेवनीय (अन्यम्) अपने से भिन्न (ईशम्) स्वामी परमेश्वर को (पश्यति) देखता है और (अस्य महिमानम्) इस अपने स्वामी की महिमा का सर्वत्र दर्शन करता है तो (इति) इस प्रकार वह वीतशोक अथवा शोकरहित हो जाता है । उपनिषत् के इस वचन को ध्यान में रखते हुए और साथ ही उपर्युक्त मन्त्र के प्रकरण को देखते हुए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि 'द्वा सुपर्णा' से तात्पर्य जीवात्मा और परमात्मा का है, न कि बुद्धि और जीव का ।

(२) दूसरा मन्त्र जिसका निर्देश करना यहां हमें अत्यावश्यक प्रतीत होता है, वह ऋग्वेद १०. ८२. ७ अथवा यजुः १७. ३१ का है, जिसमें कहा गया है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

इसमें मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हे मनुष्यो ! तुम (तम्) उस परमेश्वर को (न विदाथ) नहीं जानते हो (यः) जो (इमा जजान) इन सब वस्तुओं और लोकों का बनानेवाला है। (अन्यत्) वह ब्रह्म तुमसे भिन्न किन्तु (युष्माकम् अन्तरं बभूव) तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। अज्ञानरूप कुहरे से तुम आवृत हो, व्यर्थ बातचीत वा बकवास में समय नष्ट करनेवाले, केवल अपने प्राणों को तृप्त करनेवाले, स्वार्थी तथा वेद वा ईश्वर का केवल नाम लेनेवाले, किन्तु तदनुसार काम न करनेवाले हो, इसलिए तुम उस परमेश्वर को नहीं जानते। यहां भी जीवेश्वर-भेद का अति स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है। ब्रह्म सब जीवों के अन्दर विद्यमान है, किन्तु है वह उनसे (अन्यत्) भिन्न।

इसी बात को शतपथ ब्राह्मण में निम्न शब्दों द्वारा अन्तर्यामिप्रकरण में कहा गया है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥

— शत० १४. ६. ७, अच्युताश्रम संस्करण, द्वितीय खण्ड

अर्थात् जो आत्मा के अन्दर स्थित होता हुआ भी आत्मा से पृथक् है। जिसे अज्ञानी आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसके शरीर के समान है, आत्मा के अन्दर स्थित होकर जो आत्मा का नियमन करता है वह तेरा अन्तर्यामी आत्मा परमेश्वर है। इससे बढ़कर जीवेश्वर-भेद अथवा द्वैत का प्रतिपादन और क्या हो सकता है ?

(३) तीसरा मन्त्र, जिसका हम इस प्रसङ्ग में अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण उल्लेख करना चाहते हैं, वह निम्न है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ — यजुः० ११. ४

अर्थात् (विपश्चितः विप्राः) ज्ञानी, सुख से सबको विशेष रूप से भरभूर कर देनेवाले विद्वान् अपने मन और बुद्धि को (बृहतः विपश्चितः) सबसे महान् ज्ञानी परमेश्वर के अन्दर (युञ्जते) जोड़ देते हैं। वह (एकः इत्) अकेला ही (वयुनावित्) सब कर्मों का जाननेवाला सर्वज्ञ होकर (होत्रा विदधे) सब पदार्थों को विशेष रूप से धारण करता है। उस (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक परमेश्वर की (मही परिष्टुतिः) बड़ी भारी स्तुति या महिमा है। यहां भी जीवेश्वर-भेद स्पष्टतया प्रतिपादित है। एक बृहत् विपश्चित्—बड़ा सर्वज्ञ परमेश्वर है जिससे भिन्न ज्ञानी लोग उसके साथ अपने मन और बुद्धि का योग करते हैं, ताकि उन्हें भी ज्ञान की प्राप्ति हो जाए। वह सर्वज्ञ देव एक है, जब कि अल्पज्ञ जीव अनेक हैं।

(४) निम्न मन्त्र भी जीवेश्वर-भेद का प्रार्थनारूप में अत्युत्तम निर्देश करता है—

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

—ऋग्० ७. ३२. २६। साम० पू० ३. २. ७। अथर्व० २०. ७९. १

अर्थात् हे (इन्द्र) परमेश्वर (नः क्रतुं भर) हमें ज्ञान दे (यथा पिता पुत्रेभ्यः) जिस प्रकार पिता पुत्रों को ज्ञान देता है। हे (पुरुहूत) बहुत-से भक्तों द्वारा पुकारे गये परमेश्वर (अस्मिन्) इस मन को रोकने के कार्य अथवा धर्म-मार्ग में (नः शिक्षा) हमें शिक्षा दे। हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्योति प्राप्त करें।

यहां यह स्पष्ट है कि वह पिता एक है जो परमेश्वर है और हम पुत्र अनेक हैं। वह सर्वज्ञ है, हम अल्पज्ञ हैं अतः उसी से हम ज्ञान की प्रार्थना करते हैं। हम जीव अनेक हैं और हमें ज्योति की आवश्यकता है, अतः उस ज्योतिर्मय से हम

ज्योति की प्रार्थना करते हैं। इतने स्पष्ट शब्दों में जीवेश्वर-भेद का प्रतिपादन होने पर भी यह कहना कि वेद अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं, कितना अशुद्ध है!

(५) पंचम मन्त्र, जिसका इस प्रसङ्ग में हम अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण उल्लेख करना चाहते हैं, निम्नलिखित है—

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद् वचः ॥

— ऋग्० १. ५७. ४। साम० ३७३। अथर्व० २०. १५. ४

अर्थात् हे (पुरुष्टुत) बहुत-से भक्तों द्वारा स्तुति किये गये (इन्द्र) परमेश्वर! (इमे वयम्) ये हम (ते) तेरे ही हैं (ये) जो (त्वारभ्य चरामसि) तेरा नाम लेकर जगत् में विचरण करते हैं। हे (प्रभूवसो) अनंतैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! (त्वत् अन्यः) तेरे से अतिरिक्त कोई (नः गिरः) हमारी वाणियों को (न सघत्) नहीं सुनता। तू हमारी वाणियों को पृथिवी की तरह अपनी ओर आकृष्ट कर। यहां भी जीवेश्वर-भेद स्पष्ट है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमेश्वर उपास्य और सबका आश्रय है, जिसका हमें सदा स्मरण करना चाहिए। उसे छोड़कर हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाला और कोई नहीं।

(६) षष्ठ मन्त्र, जिसका यहां उल्लेख करना स्पष्टता के कारण आवश्यक प्रतीत होता है, निम्न है—

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम् ॥ — यजुः० ३२. १५

इसका अर्थ यह है कि मैं (अद्भुतम्) आश्चर्यजनक गुण-कर्म-स्वभाववाले (सदसः पतिम्) संसाररूप गृह वा सभा के स्वामी (प्रियम्) अत्यन्त प्रिय (इन्द्रस्य काम्यम्) जीवात्मा के लिए कामना करने योग्य परमेश्वर से (सनिं मेधाम्) सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य में भेद करनेवाली शुद्ध बुद्धि की (अयासिषम्) याञ्चा वा प्रार्थना करता हूं। इस मन्त्र में भी जीवेश्वर-भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है। परमेश्वर इन्द्र (जीवात्मा) के लिए कामना करने योग्य है। वही सारे संसार का अद्भुत स्वामी है। शुद्ध बुद्धि का प्रदाता वही है, अतः उससे मैं अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् जीव शुद्ध बुद्धि के लिए प्रार्थना करता हूं।

(७) सप्तम मन्त्र, जिसका इस प्रसङ्ग में उल्लेख किया जा सकता है, निम्नलिखित है जो ऋ० १. २२. १९ और यजुः० ६. ४ में पाया जाता है :—**विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥**

अर्थात् हे मनुष्यो ! तुम उस (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के (कर्माणि पश्यत) कार्यों को देखो (यतः) जिससे मनुष्य (व्रतानि पस्पशे) शुभ संकल्पों और कर्मों का स्पर्श कर सकता है—उन्हें आदर्श-रूप से प्राप्त कर सकता है। वह परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः सखा) योग्य मित्र है।

यहां भी जीवात्मा से परमात्मा की भिन्नता और मित्रता का प्रतिपादन स्पष्ट है। विष्णु शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए जीव से भेद करने के लिए ही किया गया है कि परमेश्वर सर्वव्यापक है, जब कि जीव परिच्छिन्न परिमाणवाला अल्पज्ञ है। परमेश्वर के अद्भुत कार्यों को देखकर उनका यथासम्भव अनुसरण करने से ही मनुष्य अहिंसा, सत्य, परोपकारादि शुभ व्रतों को ग्रहण करता है।

(८) अष्टम मन्त्र, जिसका यहां उल्लेख करना उपयोगी होगा, वह ऋग्वेद ८. १३. २० का है, जिसमें कहा गया है—**तदिद् रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रत्नेषु धामसु। मनो यत्रा वि तद् दधुर्विचेतसः ॥**

यहां भगवान् को रुद्र के नाम से स्मरण करते हुए, जिसका अर्थ दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाला अथवा ज्ञानप्रदाता 'रुत् उपदेशं राति ददातीति ज्ञानप्रदः परमेश्वरः' है, कहा गया है कि (रुद्रस्य) उस ज्ञानप्रदाता न्यायकारी परमेश्वर का (यह्वम्)

महान् सच्चिदानन्द-स्वरूप (प्रत्नेषु धामसु) पुरातन-नित्य शरीरधारक जीवात्माओं में (चेतति) उत्तम चैतन्य वा ज्ञान को उत्पन्न करता है (यत्र) जिस ज्ञानप्रदाता परमेश्वर में (विचेतसः) विशेष ज्ञानवाले योगी (तत् मनः) उस मन को (वि दधुः) विशेष रूप से धारण करते वा टिकाते हैं।

यहां भी उस यह्व—महान् [इसी 'महान्' के वाचक यह्व शब्द से यहूदी मत में परमेश्वरवाचक Jehova (जेहोवा) आदि शब्द निकले हैं] परमेश्वर से 'प्रत्नधाम' शब्द द्वारा सूचित नित्यशरीरधारक जीवात्माओं की पृथक् सत्ता का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि विशेष-ज्ञान-सम्पन्न जीव उस महान् परमेश्वर के अन्दर ही अपने मन को लगाते हैं।

(९) नवम मन्त्र, जिसका उल्लेख करना यहां आवश्यक है, निम्न है—**उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद् वशी।** ऋग्० ८. १३. ९। परमेश्वर के विषय में इस मन्त्र में कहा गया है कि वह (कृष्टीनाम्) सब मनुष्यों का (एकः इत्) एक ही (पतिः) रक्षक, स्वामी और (वशी) वश में रखनेवाला नियन्ता (उच्यते) कहा जाता है।

यहां परमेश्वर को सब मनुष्यादि प्राणियों का एकमात्र रक्षक और वश में रखनेवाला कहा गया है, जिससे उसका जीवों से भिन्न होना सिद्ध होता है।

(१०) दशम मन्त्र, जिसे हम इस प्रसङ्ग में उद्धृत करना चाहते हैं, अति स्पष्ट है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ — यजुः० ३१. १८

अर्थात् मैं ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति (एतम्) इस (आदित्यवर्णम्) सूर्यादि के भी प्रकाशक ज्योतिर्मय (महान्तं पुरुषम्) महान् सर्वव्यापक परमेश्वर को जानता हूं, जो (तमसः परस्तात्) अज्ञानान्धकार से परे है। (तम्) उस परमेश्वर को (विदित्वा एव) जानकर ही मनुष्य (मृत्युम् अति एति) मृत्यु के पार चला जाता है, अमर हो जाता है। (अयनाय) मोक्ष की प्राप्ति के लिए (अन्यः पन्थाः न विद्यते) और कोई मार्ग नहीं है।

इस मन्त्र में दो प्रकार के पुरुषों का निर्देश स्पष्ट है—एक ज्योतिर्मय सर्वव्यापक महान् पुरुष (संसाररूपायां पुरि शेते इति पुरुषः) परमेश्वर और दूसरा अल्पशक्तिमान् अल्पज्ञ शरीररूप नगर में निवास करनेवाला जीवात्मा। इन दोनों के लिए उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष शब्द का प्रयोग किया जाता है। उस परमपुरुष परमेश्वर के ज्ञान के पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि ऐसे ही अन्य हजारों मन्त्रों में जीवेश्वरभेद का स्पष्ट प्रतिपादन है, तथापि विस्तारभय से उन सब का उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। केवल ३-४ अन्य मन्त्रों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा

(११) यजुः० २०. ३२ में निम्न मन्त्र पाया जाता है—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधि श्रिताः।
य ईशे महतो महान् तेन गृहणामि त्वामहं मयि गृहणामि त्वामहम्॥

इसमें जीव, ईश्वर और लोक (जगत्) का भेद इतना स्पष्ट है कि अणुमात्र भी सन्देह उनकी भिन्नता में नहीं रह सकता। मन्त्र का सरल शब्दार्थ निम्न है—

(यः) जो (भूतानाम्) सब प्राणियों का (अधिपतिः) स्वामी है (लोकाः) ये सब लोक-लोकान्तर (यस्मिन् अधिश्रिताः) जिसके आश्रित हैं। (यः) जो (महतः महान्) बड़ों से भी बड़ा (ईशे) सबका ईश्वर है (तेन) उस कारण से (अहम्) मैं हे परमेश्वर (त्वाम्) तुझे (गृहणामि) ग्रहण करता हूं (मयि) मैं अपने अन्दर (त्वाम्) तुझे ग्रहण करता हूं। सदा अपने अन्दर तेरा ध्यान व चिन्तन करता हूं।

यहां यह स्पष्टतया बताया गया है कि परमेश्वर सब प्राणियों का स्वामी है। सब लोक-लोकान्तर उसके आश्रित हैं। वही बड़ों से भी बड़ा है, इसलिए जीव को (जो अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् है) सदा उसकी शरण में जाना चाहिए।

इस मन्त्र के भाष्य में उव्वट, महीधर दोनों भाष्यकारों को जीवात्मभेदपरक व्याख्या करने को विवश होना पड़ा।

उव्वट ने लिखा है :—**यो भूतानां चतुःप्रकाराणाम् अधिपतिः। यस्मिंश्च लोका अधि उपरि श्रिताः स्थिताः। यश्च ईशे महतः विकारजातस्य स्वयं च महान् तेन गृह्णामि त्वाम् अहम्॥** — पृ० ३९१

महीधर ने इसके भाष्य में लिखा है :—

यः परमात्मा भूतानां जराय्वादिभूतानां चतुर्विधानाम् अधिपतिः—अधिकं पालकः। यस्मिन् आत्मनि लोकाः—भूरादयः अधिश्रिताः—आश्रिताः। लोका यदाधारा इत्यर्थः। महान् सर्वोत्कृष्टो यः (महतः) महत्तत्त्वप्रमुखस्य तत्त्वगणस्य (ईशे) ईष्टे नियन्ता वर्तते, इत्यादि।

यहां दोनों भाष्यकारों ने परमेश्वर को सब प्राणियों और लोक-लोकान्तरों का आधार तथा नियामक और इस प्रकार जीवों से पृथक् माना है, यह स्पष्ट है।

(१२) ऋग्० ८. ९६. ६ का निम्न मन्त्र भी जीवेश्वर-जगद्-भेद का स्पष्ट प्रतिपादक होने से उल्लेखनीय है—

तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम॥

इस मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

हम (तम् उ स्तवाम) उस परमेश्वर की ही स्तुति करते हैं (यः इमा जजान) जिसने इन सूर्यादि सब पदार्थों को बनाया है (विश्वा जातानि) ये सब उत्पन्न पदार्थ (अस्मात्) इस परमेश्वर की अपेक्षा जड़ होने से बहुत हीन हैं (इन्द्रेण) आत्मा द्वारा हम (मित्रं दिधिषेम) सबके सच्चे मित्र परमेश्वर की स्तुति करें तथा (नमोभिः गीर्भिः) नमस्कारयुक्त वाणियों से उस (वृषभम्) सुखों के वर्षक परमात्मा के (उप विशेम) समीप बैठ जाएं—उसकी सच्ची उपासना करें।

इस प्रकार वेदमन्त्र जीव, ईश्वर, जगत् इनके भेद का बिलकुल स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करते हैं, जब कि अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त ही इन शब्दों में बताया गया है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या वा असत्य है और जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त ऊपर उद्धृत तथा अन्य अनेक वेदमन्त्रों की शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है। वस्तुतः महर्षि वेदव्यास-प्रणीत वेदान्तदर्शन के 'नेतरोऽनुपपत्तेः १. १. १६, भेदव्यपदेशाच्च १. १. १७, भेदव्यपदेशाच्चान्यः १. १. २१, अधिकं तु भेदव्यपदेशात् २. १. २२, शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते १. २. २०' इत्यादि सूत्र स्पष्टतया जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध करते हैं।

यदि इस पर यह कहा जाये कि ये जगत् के पदार्थ दिखाई तो अवश्य देते हैं पर यह माया वा अविद्या का कारण है, वास्तव में ये सत्य नहीं हैं, तो यह बात भी वेदों की शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों को देखिये, जहां परमात्मा को सत्यस्वरूप बताते हुए उसके कार्यों को भी सत्य कहा गया है—

प्र घा न्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्॥ — ऋग्० २. १५. १

अर्थात् (अस्य महत: सत्यस्य) इस महान् सत्यस्वरूप परमेश्वर के (करणानि) कार्य भी (महानि घ सत्या) महान् और सत्य हैं। यह मैं (प्र अनुवोचम्) प्रकृष्टता से स्पष्टतया वेदों के अनुसार कथन करता हूं।

ऋग्० ४. १७. ६ में इसी बात को स्पष्टतया बताया गया है कि—

सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः ॥

अर्थात् (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वे सोमाः) सब उत्पादित पदार्थ (सत्रा अभवन्) सत्य हैं—वास्तविक हैं, सत्रा इति सत्यनाम निघं० ३. १०। (अस्य बृहतः) इस महान् जगदीश्वर के (मदासः) आनन्द (मदिष्ठाः) अत्यन्त अधिक मस्त बनानेवाले हैं। ऋग्० १०. ५५. ६ में भी कहा है कि—**यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥** अर्थात् वह परमेश्वर (यत्) जिस पदार्थसमूह वा जगत् को (चिकेत) सम्पूर्णतया जानता है वह (सत्यम् इत्) सत्य ही है (न मोघम्) व्यर्थ वा असत्य नहीं है। वह परमात्मा (स्पार्हम् वसु) वाञ्छनीय उत्तम ऐश्वर्य को (जेता उत दाता) जीतने और देनेवाला है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जगत् को मिथ्या वा असत्य मानने का सिद्धान्त सर्वथा वेद-विरुद्ध है।

यजुर्वेद ४०.८ में जगत् की यथार्थता का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

अर्थात् उस सर्वज्ञ मन के साक्षी, सर्वव्यापक, स्वयंसिद्ध भगवान् ने (शाश्वतीभ्यः) नित्य जीवरूप प्रजाओं के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थ वा सत्य रूप से (अर्थान् व्यदधात्) पदार्थों को बनाया और वेदों द्वारा उनका यथार्थ उपदेश किया।

यह जगत् न केवल सत्य किन्तु परमेश्वर से पृथक् है, इस बात को अनेक वेद-मन्त्रों में बताया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्० १. ४. १४ में कहा है—

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥

इस मन्त्र में यह बताते हुए कि परमेश्वर की महिमा का कोई पार नहीं पा सकता, पृथिवी, आकाश, समुद्र और लोक-लोकान्तर उसकी महिमा के एक अंश को ही हमारे सम्मुख प्रकट करते हैं। अन्तिम चरण में कहा है कि वह परमेश्वर (एकः) एक ही है और वह अपने से (अन्यत्) भिन्न इस (विश्वम्) जगत् को (चकृषे) बनाता है पर (आनुषक्) सर्वव्यापक होने से इस जगत् में वह सदा विद्यमान रहता है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं जहां वह न हो। इस प्रकार जगत् की परमेश्वर से पृथक् सत्ता का मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादन है। इसी प्रकार ऋग्० १. १५१. १ तथा सामवेद मं० १७५८ (उत्तरार्चिक अ० १९, खं० ५, म० ४) में निम्न मन्त्र आया है, जिसमें जगत् को ब्रह्म से पृथक् तथा उस भगवान् को जगत्कर्ता कहा गया है। मन्त्रखण्ड इस प्रकार है—**प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक् ॥** अर्थात् उस सविता—सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (पृथक् जगत्) संसार को जो उससे भिन्न है (प्रासावीत्) बनाया है।

यहां भी जगत् को स्पष्टतया परमेश्वर से पृथक् बताया गया है, अतः—**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"** इस नवीन-वेदान्त-सम्मत सिद्धान्त को वेदानुकूल नहीं कह सकते, यह स्पष्ट है।

(१३) यजुर्वेद अ० ४०. १५ का उत्तरार्ध भी जीवेश्वर-भेद के लिए उल्लेखनीय है, जिसमें कहा है—

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृत स्मर ॥

अर्थात् (क्रतो) कर्मशील जीव तू (ओ३म्) ओ३म् पदवाच्य सर्वरक्षक परमेश्वर का सदा स्मरण कर (क्लिबे स्मर) अपनी निर्बलता को दूर करने और बल की प्राप्ति के लिए उस सर्वशक्तिमान् को याद कर और साथ ही (कृतं स्मर) अपने किए हुए कामों को याद कर, जिससे आत्मनिरीक्षण करते हुए तू उन्नत होता जाये।

यहां भी परमेश्वर और जीव का सम्बन्ध उपास्य-उपासक का बताया गया है ।

(१४) ऋग्० ८. ३२.७ और साम० २३० (पूर्वार्चिक अ० २, खं० १२, मं० ८) में निम्न मन्त्र है, जो जीवेश्वर-भेद का स्पष्ट द्योतक है—**वयं घा ते अपि ष्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः । त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥** अर्थात हे (गिर्वणः इन्द्र) वाणी द्वारा सेवनीय परमेश्वर (वयम्) हम (स्तोतारः) स्तुति करनेवाले भक्त (अपि) भी (ते स्मसि) तेरे ही हैं । (सोमपाः) हमारे भक्तिरस का प्रेम से पान करनेवाला (त्वम्) तू (नः) हमें (जिन्व) तृप्त कर ।

यहां प्रभु को स्वामी और आधार तथा जीवों को उसका सेवक और तदाश्रित बताया गया है ।

ऐसे ही सैकड़ों जीवेश्वर-प्रकृति-भेदसूचक मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है, किन्तु विस्तारभय से ऐसा करना सम्भव नहीं ।

(१५) तथापि अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किए बिना हम नहीं रह सकते, जिसमें ब्रह्म, जीव और प्रकृति की पृथक् सत्ता का काव्यमय भाषा में प्रतिपादन है । मन्त्र निम्नलिखित है—

बालादेकमणीयस्कम्, उतैकं नेव दृश्यते । ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

— अथर्व० १०. ८. २५

अर्थात् तीन अनादि पदार्थ हैं उनमें से (एकम्) एक जीव (बालात् अणीयस्कम्) बाल से भी सूक्ष्म है (उत) और (एकम्) प्रकृति-रूप नित्य पदार्थ (न इव दृश्यते) अव्यक्त वा सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई देता । इन दोनों को भी अन्तर्यामिरूप से (परिष्वजीयसी) मानो आलिङ्गन करनेवाली जो (देवता) देवता है (सा मम प्रिया) वही परमेश्वररूप देवता मुझे सबसे अधिक प्रिय है । इस प्रकार ब्रह्म, जीव, प्रकृति का स्पष्ट निर्देश इस मन्त्र में पाया जाता है ।

क्या नासदीय सूक्त अद्वैतवाद का समर्थक है ?

अद्वैतवाद के समर्थक विद्वान् यह कहते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल के सूक्तों विशेषतः नासदीय सूक्त (ऋग्० १०. १२९) में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है । प्रो० मैक्समूलर ने Six Systems of Philosophy में इस सूक्त का निर्देश करते हुए लिखा है—

Mono-theism and Monism—All these tendencies worked together in one direction and made some of the Vedic poets see more or less distinctly that the idea of God if once clearly perceived, included the ideas of being One and without an equal. They thus arrived at the conviction that above the great multitude of gods, there must be one Supreme Personality and after a time they declared that there was behind all the gods that One *(Tad Ekam)* of which the gods were but various names.

—*Indian Philosophy* by Prof. Max Muller Vol. I, P. 39

इसका सारांश यह है कि इन सब प्रवृत्तियों ने मिलकर एक दिशा में कार्य किया और कई वैदिक ऋषियों को इस बात का स्पष्टतया अनुभव कराया कि ईश्वर-विषयक विचार यदि स्पष्ट हो जाये तो उसमें उसके एक और अनुपम होने का भाव समाविष्ट होता है । इसलिए वे इस परिणाम पर पहुंचे कि अनेक देवों के ऊपर एक देवाधिदेव है और कुछ समय के पश्चात् उन्होंने इस बात की घोषणा की कि सब देवों के पीछे एक सत् है, जिसे 'तदेकम्' कहा गया है और सब देव उस एक ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं ।

इसके लिए प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्० १. १६४. ४६ के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' को उद्धृत करते हुए उसका अनुवाद निम्न शब्दों में दिया है—

The sages call that one in many ways; they call it Agni, Yama, Matarishva.

अर्थात् ज्ञानी उस एक को अनेक प्रकारों से पुकारते हैं। उसे ही वे अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से याद करते हैं। इसके पश्चात् नासदीय सूक्त के मन्त्र २ के 'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास' इस भाग को उद्धृत करके उसका That One breathed breathlessly by itself, other than it, there nothing since has been.

प्रो० मैक्समूलर ने टिप्पणी की—The former thought led by itself to a mono-theistic religion, the latter, as we shall see, to a monistic philosophy.

—*Indian Philosophy,* Vol. 1, P. 40

अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट विचार से एकेश्वरवादी धर्म का सूत्रपात हुआ और नासदीय सूक्त में दिये विचार से जैसा हम देखेंगे, अद्वैतवाद का जन्म हुआ। 'Vedic Age' में भी 'Religion and Philosophy' शीर्षक के १८वें अध्याय में इसी विचार को प्रकट किया गया है—

It has been generally held that the Rigvedic religion is essentially a polytheistic one, taking on a pantheistic colouring only in a few of its latest hymns.

—*Vedic Age,* P. 378

अर्थात् प्रायः यह माना जाता है कि ऋग्वेदीय धर्म अनेकेश्वरवादी है, जो पिछले कुछ सूक्तों में अद्वैतवाद का रङ्ग पकड़ लेता है।

अन्य भी अनेक विद्वानों का ऐसा ही विचार है, अतः संक्षेप से इस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। नासदीय सूक्त (ऋग्वेद १०. १२९) के सब मन्त्रों को ध्यानपूर्वक कई बार पढ़ने पर हम तो इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि इसमें अद्वैतवाद का प्रतिपादन नहीं प्रत्युत ब्रह्म, अनेक कर्मफल-भोक्ता जीव और स्वधा के नाम से प्रकृति की सत्ता का स्पष्ट निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ मं० २ में ब्रह्म का निर्देश **'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।'**

इस तथा अन्य मन्त्रों में स्पष्ट ही है कि वह एक ब्रह्म प्रलयावस्था में सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान था और वह स्वधा के साथ था। उससे उत्कृष्ट और कुछ न था। यहां स्वधा और 'तस्मात् ह अन्यत् न परः किंचन आस' इन शब्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। यही स्वधा शब्द इस सूक्त के मन्त्र ५ में भी आया है :—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

वह एक ब्रह्म स्वधा के साथ विद्यमान था—ऐसा मं० २ में कहा गया। इस स्वधा शब्द का अर्थ सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने, जो कट्टर अद्वैतवादी थे, अपने वेदभाष्य में निम्न प्रकार से किया है—

स्वस्मिन् धीयते ध्रियते—आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया तया तद् ब्रह्म एकम् अविभागापन्नमासीत् सहयुक्ते प्रधान इति तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थयोगे भवति अत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां तस्याः स्वातन्त्र्यं निवार्यते॥

(सायणाचार्य कृते १०. १२९. २ भाष्ये)

अर्थात् स्वधा का अर्थ यहां 'स्वस्मिन् धीयते-ध्रियते—आश्रित्य वर्तते' इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'माया' है। ब्रह्म उस माया से अविभक्त-सा था।

माया शब्द का अर्थ 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वेताश्वतरोपनिषत् ४. १०) के अनुसार प्रकृति होता ही है। अतः ब्रह्म के साथ प्रकृति की सत्ता का भी प्रतिपादन यहां स्पष्ट है। वह चेतन ब्रह्म के बिना स्वयं कार्य करने में असमर्थ है, अतः उसकी स्वतन्त्रता का निषेध मानने में कोई हानि नहीं। वह अचेतन होने से ब्रह्म के आश्रित है, पर इस नासदीय सूक्त के द्वारा भी उसकी सत्ता से इन्कार करना असम्भव है। 'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' के लेखक स्वामी महेश्वरानन्द मण्डलेश्वर, जो कट्टर अद्वैतवादी हैं और वेदों में अद्वैतवाद के समर्थन के लिए ही जिन्होंने ये 'शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' तथा 'अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकम्' नामक ग्रन्थ लिखे हैं, इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऊपर उद्धृत सायणभाष्य को उद्धृत करके टिप्पणी देते हैं कि—

अत्र स्वधेत्यनेन सहार्थतृतीयया च मायाया ईश्वरानाश्रितत्वम् ईश्वरेक्षणानपेक्षत्वं च सांख्योक्तं स्वातन्त्र्यं वार्यते। (ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकं स्वामिमहेश्वरानन्द-कृत-विवृति-समलङ्कृतम्, पृ० २४४)

अर्थात् स्वधा और उसके साथ तृतीया के प्रयोग से माया (प्रकृति) का ईश्वर के आश्रित न होना और ईश्वर द्वारा ईक्षण की आवश्यकता न होना इस सांख्योक्त स्वतन्त्रता का निषेध किया गया है।

वस्तुतः प्रकृति की स्वतन्त्रता का उपर्युक्त दृष्टि से निषेध मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं, पर उसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता, जिसका यहां स्पष्ट निर्देश है। जीवात्माओं की सत्ता का भी पंचम मन्त्र में प्रयुक्त 'रेतोधाः' इस शब्द से स्पष्ट निर्देश है। इस शब्द का अर्थ सायणाचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

रेतोधाः—रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः।

अर्थात् बीजभूत कर्मों के (जिनसे सृष्टि में पुनः जन्म लेना आवश्यक हो जाता है) करनेवाले और कर्मफल का भोग करनेवाले जीव, ऐसे अनेक जीवों की सत्ता का 'रेतोधा आसन्' अर्थात् उस सृष्टि के बनने से पूर्व अवस्था में भी बीजभूत कर्म के करने और कर्मफल का भोग करनेवाले जीव विद्यमान थे, यह इस पंचम मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है, अतः उनसे इन्कार भी असंभव है। जीव को ही प्रयत्नशील होने के कारण 'प्रयतिः' इस नाम से कहा गया है। स्वधा अर्थात् प्रकृति (जिसे माया के नाम से कहा जाता है) की अपेक्षा चेतन होने के कारण प्रयत्नशील जीव उत्कृष्ट है, यह भाव 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' (मं० ५) इन शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है, जिसका अर्थ सायणाचार्य "तत्र च भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये (स्वधा) अन्ननामैतत् भोग्यप्रपंचः (अवस्तात्) अवरः निकृष्टः आसीत् (प्रयतिः) प्रयतिता भोक्ता (परस्तात्) परः उत्कृष्टः आसीत्" इन शब्दों में किया है। स्वधा का अन्न अर्थ लेकर भोग्य-प्रपंच उसका तात्पर्य लिया गया है और कहा गया है कि वह नीचे है और प्रयत्न करने और कर्मफल भोगनेवाला जीवात्मा उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट है।

इस प्रकार इस सूक्त के मन्त्रों से ब्रह्म के अतिरिक्त 'स्वधा' के नाम से प्रकृति और 'रेतोधाः' के नाम से अनेक जीवात्माओं की सत्ता स्पष्टतया प्रमाणित होती है। स्वा० महेश्वरानन्द मण्डलेश्वर ने भी 'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' के विवरण में सायणाचार्यकृत ऊपर उद्धृत भाष्य को ही उद्धृत करते हुए "रेतोधाः—बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः—कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः आसन्" ऐसा पृ० २५७ पर लिखा है। 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' का एक तो सायणाचार्यकृत ऊपर उद्धृत अर्थ ही किया है और दूसरा अर्थ पृ० २६० में निम्न शब्दों में परमेश्वरपरक किया है—

'एवं स्वधाशब्दवाच्यमायाऽविद्यादिशब्देनाभिधीयमाना पारमेश्वरी शक्तिः, अवस्तात्—अधमं निकृष्टं कल्पितत्वात् परिणाम्युपादानकारणम्।'

(प्रयतिः) सा शक्तिः प्रयतते यस्मिन् परमात्मनि—यमाश्रित्य सोऽयं शक्तिः प्रयत्नाधारः परमात्मा प्रयतिरित्यर्थः। (परस्तात्) सर्वोत्तमः सर्वाधिष्ठानः परमार्थसत्य आसीदित्यर्थः ॥ (पृ० २६०)

अर्थात् स्वधा शब्द वाच्या जिसे अविद्या आदि नामों से भी पुकारा जाता है, वह परमेश्वरीय शक्ति जगत् का उपादान कारण है और वह नीचे है, जिसके आश्रय से वह स्वधा (प्रकृति) प्रयत्न करती है, वह शक्ति और प्रयत्न का आधार परमात्मा ही सर्वोत्कृष्ट है। वह सदा निर्विकार होने से परमार्थ सत्य है।

इस प्रकार ब्रह्म, जीव और प्रकृति की सत्ता का इस नासदीय सूक्त में स्पष्ट निर्देश होने से इसे अद्वैतवाद-प्रतिपादक समझना भूल है। इस भूल का एक मुख्य कारण 'तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास' (मं० २) के अर्थ को ठीक न समझना है। इसमें जो 'परः' शब्द आया है उसका अर्थ पर अथवा दूसरा समझ लिया जाता है और तब यह अर्थ कर दिया जाता है कि उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ न था। प्रो० मैक्समूलर ने भी 'Other than it, there nothing since has been' ऐसा ही अर्थ कर दिया है कि उस एक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं था और न है, अशुद्ध है। यहां 'पर' शब्द नहीं, किन्तु 'परस्' (सकारान्त) शब्द है जो परस्तात् वा उत्कृष्ट का वाचक होता है; इसलिए उसका अर्थ यह होगा कि (तस्मात्) उस ब्रह्म से (परः) उत्कृष्ट (अन्यत्) और (ह) निश्चय से (किंचन न आस) कुछ भी न था। सायणाचार्य ने यहां 'तस्मात् खलु पूर्वोक्तान्मायासहिताद् ब्रह्मणः (अन्यत् किंचन) किमपि वस्तु भूतभौतिकात्मकजगत् (न आस) न बभूव (परः) परस्तात् सृष्टेः ऊर्ध्वं वर्तमानम् इदं जगत् तदानीं न बभूवेत्यर्थ' इस प्रकार अर्थ किया है अर्थात् सृष्टि के बनने के पश्चात् बना यह जगत् तब न था।

स्वा० महेश्वरानन्द मण्डलेश्वर ने इस अर्थ को उद्धृत करके फिर लिखा है—अथवा (परः) उत्कृष्टम्—(नास) नैवासीत्—उससे उत्कृष्ट कुछ न था।

यही वास्तविक अर्थ है, जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि परमात्मा से उत्कृष्ट कुछ भी न था और न है। इससे स्वधापदवाच्य प्रकृति और 'रेतोधाः' पदवाच्य जीवात्माओं की सत्ता का निषेध नहीं होता, इस पर भी स्वामी महेश्वरानन्द ने अद्वैतवाद के आग्रह में जो यह लिख दिया है कि—

तस्मादुत्कृष्टं निकृष्टं च किमपि ब्रह्मव्यतिरिक्तं तदा नासीतिति। (पृष्ठ २५५)

अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त उत्कृष्ट और निकृष्ट कुछ भी तब न था—वह अमान्य है, क्योंकि सूक्त के मन्त्रों में ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति और जीवात्माओं की सत्ता का अतिस्पष्ट निर्देश उनकी अपनी व्याख्यानुसार भी है, यद्यपि उन्होंने 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' की व्याख्या में स्वधा (प्रकृति) सहित ब्रह्म को बताकर भी फिर आगे लिख दिया है कि—

एवं स्वधासाहित्योक्तिरपि व्यवहारतो न परमार्थतः।

अर्थात् स्वधा वा प्रकृति एवं ब्रह्म की सत्ता का मन्त्र में जो प्रतिपादन है, वह व्यवहार-दशा में है, वास्तविक नहीं। हम उनकी इस निराधार कल्पना को नहीं मान सकते, क्योंकि यह मन्त्रोक्त तात्पर्य के सर्वथा विरुद्ध है। निषेध परमात्मा के समान वा उत्कृष्ट का है, जैसे कि—

न किरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायां अस्ति वृत्रहन्।
न किरेवं यथा त्वम्॥ —ऋग्० ४. ३०.१

न त्वावां अन्य दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। —ऋग्० ७. ३२. ३

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं मनुष्याः॥ —ऋग्० ७. ९९. २

इत्यादि मन्त्रों में बताया गया है कि (१) हे परमेश्वर ! तुझसे उत्कृष्ट और महान् कोई नहीं, तेरे समान भी कोई नहीं। (२) हे परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे जैसा (अन्यः) और कोई (न दिव्यः न पार्थिवः) दिव्य और पार्थिव प्राणी न है न होगा।

इस प्रकार के निषेध से यह नहीं सिद्ध होता कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं, किन्तु उसके समान वा उससे उत्कृष्ट कोई नहीं। ब्रह्म की अनुपमता का इससे प्रतिपादन होता है, अद्वैतवाद का नहीं। उसकी अपेक्षा ज्ञान, शक्ति, परिमाण में हीन मानकर तो आत्माओं की ओर से अनेक प्रार्थनाएं वेदों में पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद ७. १००. ५ तथा साम० मं० १६२६ में कहा है—**तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके**। अर्थात् मैं (अतव्यान्) अल्प (तवसं त्वा गृणामि) महान् तेरी स्तुति करता हूं, जो (अस्य रजसः पराके क्षयन्तम्) इस लोक के परे भी सर्वत्र स्थित है।

अभी षतस्तदाभरेन्द्र ज्यायः कनीयसः। पुरूवसुर्हि मघवन्त्सनादसि भरे भरे च हव्यः।।

— ऋग्० ७. ३२. २४। साम० मं० ३०९

अर्थात् हे (इन्द्र) परमेश्वर (ज्यायः) बड़ा तू (कनीयसः अभीषतः आभर) छोटे और तेरी शरण में आये हमें सब ओर से ज्ञान तथा शान्ति प्राप्त करा दे। (मघवन्) ज्ञान-धन-सम्पन्न तू (पुरूवसुः) बहुत ऐश्वर्यवाला (हि) निश्चय से (सनात् असि) सनातन—नित्य है (भरे भरे च) प्रत्येक यज्ञ और संग्राम में तू ही (हव्यः) पूजनीय और पुकारने योग्य है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में परमेश्वर को बड़ा (तवस इति महन्नाम निघं० ३. ३) और अपने को अतव्यान्—छोटा, परमेश्वर को (ज्यायः) बड़ा और जीवात्माओं को (कनीयसः) छोटा बताकर स्पष्ट जीवेश्वर-भेद प्रतिपादित किया गया है, जिससे इन्कार करना वेदों से नितान्त अनभिज्ञता सूचित करना है। इस प्रकार विवेचन से यह स्पष्ट है कि नासदीय सूक्त (ऋग्० १०. १२९) तथा अन्य वेदमन्त्रों से अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होता, किन्तु ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन अनादि पदार्थों की सत्ता ही सिद्ध होती है। विस्तारभय से इस प्रकरण और अध्याय को यहीं समाप्त किया जाता है। इस अध्याय में वैदिक देवताओं के स्वरूप पर प्रकाश और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की भ्रान्तियों का सप्रमाण निराकरण और वैदिक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। □

पंचम अध्याय

वैदिक यज्ञ-विषयक भ्रान्ति-निवारण

यह वैदिक धर्म का एक अत्यावश्यक तत्त्व है इसमें कोई सन्देह नहीं । वेदों में यज्ञों का महत्त्व अनेक स्थानों पर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बताया गया है, यहां तक कि यज्ञों द्वारा ही भगवान् की पूजा और प्राप्ति का विधान किया गया है ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ — ऋग्० १०. ९०. १६

अर्थात् सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग यज्ञों द्वारा ही पूजनीय परमेश्वर की पूजा करते हैं । यज्ञों में सब श्रेष्ठ धर्मों का समावेश होता है । यज्ञों द्वारा भगवान् की पूजा करनेवाले महापुरुष दुःखरहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं, जहां सब ज्ञानी लोग निवास करते हैं, इत्यादि मन्त्र इस विषय में उल्लेखनीय हैं । यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि यज्ञ शब्द जिस यज् धातु से बनता है उसके देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान—ये तीन अर्थ धातुपाठ में वर्णित हैं, जिनमें हमारे सब कर्तव्यों का समावेश हो जाता है । इसीलिए ऊपर उद्धृत मन्त्र के प्रथम चरण में 'यज्ञेन' एकवचन का प्रयोग करके भी 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस रूप में बहुवचन का आगे प्रयोग किया गया है । मनुष्य के प्रधानतया तीन प्रकार के कर्तव्य होते हैं (१) अपने से बड़ों के प्रति, (२) अपने लगभग समानों के प्रति, और (३) अपने से हीनों के प्रति । देवपूजा, संगतिकरण और दान इन द्वारा तीनों कर्तव्यों का स्पष्ट निर्देश मिलता है । इस्तलिए 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (शतपथ १. ७. ३. ५) 'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म' (तैत्तिरीय संहिता ३. २. १. ४) इत्यादि वाक्य पुरातन साहित्य में पाये जाते हैं, जिनमें यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म बताया गया है । यज्ञ न करनेवालों की कितनी दुर्गति होती है, किस प्रकार वे गिरते चले जाते हैं, इस बात को ऋग्वेद १०. ४४. ६. एवं अथर्ववेद २०. ९४. ६ में इस मन्त्र द्वारा बताया गया है—**न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम् ईर्मैव ते न्यविशन्त केपयः** । अर्थात् (ये) जो (यज्ञियां नावम् आरुहम् न शेकुः) यज्ञमयी नौका पर चढ़ने में समर्थ नहीं होते (ते) वे (केपयः) कुत्सित, अपवित्र आचरणवाले होकर (ईर्मा एव) यहीं इस लोक में (न्यविशन्त) नीचे-नीचे गिरते जाते हैं ।

यह बड़े दुःख की बात है कि जिस यज्ञ की इतनी महिमा वेदों में बताई गई है और जिसे परमेश्वर की पूजा और प्राप्ति का साधन बताया गया है, उसके विषय में इतने अशुद्ध विचार मध्यकालीन आचार्यों, पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने प्रकट किये हैं कि उन्हें पढ़कर कोई भी विचारशील लज्जित हुए बिना नहीं रह सकता । वैदिक यज्ञों में भेड़ों, बकरियों, घोड़ों, बैलों, गौओं की बलि का विधान है—ऐसा इन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर लिखा है । हम जिस Vedic Age नामक पुस्तक की विवेचना पिछले पृष्ठों में करते रहे हैं उसमें भी इस विषय में बड़ी भ्रान्त धारणाएं पायी जाती हैं । आप्री सूक्तों के विषय में विचार करते हुए इसके लेखक कहते हैं—

Scarcely less debased than the *Danastutis* are the Apri hymns, manufactured artificially for employment in animal sacrifices....There is no reason to doubt that these hymns were actually used at the animal sacrifices as tradition maintains.

—*The Vedic Age,* P. 348

अर्थात् आप्री सूक्त भी दानस्तुतियों के समान ही अत्यन्त निकृष्ट हैं, जिन्हें कृत्रिम रूप में पशु-यज्ञों में उपयोगार्थ घड़ा गया, —इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं कि इन सूक्तों का प्रयोग पशुहिंसात्मक यज्ञों में किया जाता था, जैसा परम्परागत विश्वास है ।

एक अन्य स्थान पर इसके लेखक यज्ञ के विषय में लिखते हैं—

We need not discuss here at length the Problem of the original theory of the sacrifice—whether the magic art of perpectuating the life of the herbs and of vegetation, and even of man, was the essence of the sacrifice, and whether the gift theory was original or secondary. We may only note that when the Kaushik Sutra (XIII, 1–6) prescribes a magic rite in which portions of the bodies of some animals and human beings such as a lion, a tiger, a Kshatriya and a Brahmacharin are to be eaten to acquire certain qualities, not totemism but conception of sacramental communion is hinted at.

—*Vedic Age,* P. 501

इस विषय में अधिक विस्तृत विवेचन के लिए तो बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है, किन्तु निम्न निर्देश ऐसी भ्रान्तियों को दूर करने में सहायक होंगे—

सब वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में अध्वर शब्दों का प्रयोग सैकड़ों स्थानों पर पाया जाता है, जिसकी व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार यास्काचार्य ने लिखा है—

अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः । (निरुक्त २. ७)

अर्थात् अध्वर यह यज्ञ का नाम है, जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है । चारों वेदों में अध्वर के प्रयोग के हजारों उदाहरण हैं, जिनमें से निम्नलिखित कुछ का निर्देश यहां पर्याप्त है ।

ऋग्वेद के निम्नलिखित कुछ मन्त्र यहां देखिए—

(१) **अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परि भूरसि । स इद् देवेषु गच्छति ॥** (ऋग्० १. १. ४)

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, तू हिंसारहित यज्ञों में ही व्याप्त होता है और ऐसे ही यज्ञों को सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग सदा स्वीकार करते हैं ।

(२) ऋग्० १. १. ८ में मन्त्र आता है—**राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं स्वे दमे ॥** यहां भी परमेश्वर को अध्वरों अर्थात् हिंसारहित सब कर्मों में राजमान वा विराजमान बताया गया है, जिससे पशुहिंसात्मक कर्मों का निषेध होता है ।

(३) ऋग्० १. १४. २१ में मन्त्र आया है—**त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदति । सेमं नो अध्वरं यज ॥** यहां भी यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग किया गया है और होता से प्रार्थना की गई है कि तुम हमारे इस हिंसारहित यज्ञ को कराओ ।

(४) ऋग्० १. १२८. ४ में मन्त्र आया है—**स सुक्रतुः पुरोहितो दमेदमेऽग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति क्रत्वा यज्ञस्य चेतति ।** यहां भी यह बताया गया है कि परमेश्वर और वेदवित् पुरोहित हिंसारहित यज्ञ का ही मनुष्यों को सदा उपदेश देते हैं ।

(५) इसी प्रकार ऋग्० १. १९. १ में ज्ञानस्वरूप परमेश्वर और पुरोहित को अग्नि के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा कि **प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे । मरुद्भिरग्न आगहि ॥** चारु—सुन्दर और हिंसारहित इस यज्ञादि शुभ

कर्म में पापादि से रक्षा के लिए हम तुम्हें पुकारते हैं। तुम विद्वान् ऋत्विजों अथवा प्राणशक्तियों के साथ यहां आओ (परमेश्वर-पक्ष में हृदय-देश में)। **'मरुत इति ऋत्विङ् नामसु'** निघं० ३. १८, **'प्राणा वै मरुतः'** ऐत० ३. १६—

इसी प्रकार ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों में स्पष्टतया अध्वर के नाम से यज्ञ का प्रतिपादन है, जो यज्ञ में हिंसा-प्रतिषेध को सूचित करता है।

(६) ३. २०. १ में यज्ञ के लिए अध्वर अर्थात् हिंसारहित इस विशेषण का प्रयोग करते हुए कहा है कि देव ऐसे हिंसारहित यज्ञ की ही सदा कामना करते हैं। मन्त्र का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—**सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः सजोषसो अध्वरं वावशानाः ॥** ऋग्० ३. २०. १ ॥ अर्थात् उत्तम ज्ञान की ज्योति से सम्पन्न प्रेमयुक्त, अहिंसात्मक यज्ञों को ही सदा चाहनेवाले देव-सत्यनिष्ठ विद्वान् हमारी प्रार्थना को सुनें।

(७) ऋग्० ३. २४. २ में कहा है—**अग्न इला समिध्यसे वीतिहोत्रो अमर्त्यः। जुषस्व सू नो अध्वरम् ॥** यहां अध्वर अर्थात् हिंसारहित कर्म का यज्ञ के लिए प्रयोग करते हुए ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर को उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।

(८) ऋग्० ४. २. १० से यज्ञ को अध्वर के नाम से पुकारते हुए कहा है—

यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्तस्य सुधितं रराणः।
प्रीतेदसद्धोत्रा सा यविष्ठाऽसाम यस्य विधतो वृधासः ॥

अर्थात् हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! जिसके हिंसारहित यज्ञ को तुम प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेते हो उसकी वाणी बड़ी प्रेममयी और शक्तिशालिनी बन जाती है। ऐसे ही सच्चे उपासकों की सङ्गति में रहकर हम वृद्धि को प्राप्त हों।

इसी प्रकार ऋग्० के निम्न तथा अन्य स्थलों में 'अध्वर' का प्रयोग है १, २६. १; १. ४४. १३; १. ७४. १; १. १.९३. १२; १. १०१. ८; १. १३५. ३; १. १५१. ३ और ७; २. २. ५; ३. १७. ५; ३. २०. १; ३. २०. ५; ३. ५४. १२; ४. ९. ६; ४. १५. २; ४. ३७. १; ५. ४. १; ५. २६. ३; ५ २८. ६; ५. ४४. ५; ६. २. ३ और १०; ६. १५. ७; ६. १६. २; ७. ३. १; ७. ४. १६; ८. ३. ५ और ७; ८. २७. १; ८. ३५. २३; ८. ४६. १८; ८. ५०. ५और १०; ८. ७०. २; ८. ६६. १; ८. ७१. १२; ८. ९३. २३; ९. ६७. १; ९. ७२. ५; ८. ८२. ३; ८. ९८. ३; ८. १०२. ६ और ८; १०. ८. ३; १०. ७७. ८; इत्यादि।

यजुर्वेद में यज्ञार्थक अध्वरादि शब्द

यजुर्वेद में भी निम्न तथा अन्य अनेक मन्त्रों में यज्ञ के लिए अध्वर शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त निम्न प्रकार के उपदेश आये हैं, जो पश्वादिहिंसा का स्पष्ट निषेध करते हैं—

दृते दृ ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजुः० ३६.१८। अर्थात् हे अज्ञानान्धकार-नाशक प्रभो ! मुझे सब प्राणी मित्र की दृष्टि से देखें, मैं सब प्राणियों को (केवल मनुष्यों को नहीं) मित्र की प्रेममय दृष्टि से देखूं, हम सब आपस में मित्र की दृष्टि से देखें।

यजुः० १. १ में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म के नाम से पुकारते हुए उपदेश है कि **'पशून्पाहि'** पशुओं की रक्षा कर। यजुः० ६. ११ में पति-पत्नी के लिए उपदेश है कि **'पशूंस्त्रायेथाम्'** पशुओं की रक्षा करो। यजुः० १४. ८ में उपदेश है—

द्विपादव चतुष्पात् पाहि। हे मनुष्य ! तू दो पैर वाले मनुष्यादि की रक्षा कर और चार पैर वाले पशुओं की भी सदा रक्षा कर।

इसी प्रकार पशुरक्षाप्रतिपादक और पशुहिंसा-निषेधक—

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः० १३. ४३ ॥

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्॥ यजुः ०१३. ४७ ॥

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु॥ यजुः० १३. ४८ ॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ यजुः० १३. ५० ॥

इत्यादि सैकड़ों मन्त्र पाये जाते हैं, जिनमें गाय, घोड़ा, भेड़ आदि पशुओं की हिंसा का स्पष्ट निषेध है। अध्वर शब्द का यज्ञ के पर्याय या विशेषण रूप में प्रयोग निम्नलिखित तथा अन्य मन्त्रों में है, जिनकी संख्या ४३ से कम नहीं।

१. **भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥ यजुः० १५. ३८ ॥**

२. **वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ यजुः० २. ४ ॥**

३. **उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते॥ यजुः० ३. ११ ॥**

४. **हविष्मतीरिमा आपो हविष्मां२आ विवासति। हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्मां२ अस्तु सूर्यः॥ यजुः० ६. २३ ॥**

५. **हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा। ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥ यजुः० ६. २५ ॥**

६. **मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ यजुः० २९. २६ ॥**

सामवेद में अध्वर शब्द

सामवेद में भी यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग निम्न तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में पाया जाता है—

प्रतित्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे। मरुद्भिरग्न आगहि। — मं० १६

यहां यज्ञ को अध्वर अथवा हिंसारहित शुभ कर्म के नाम से पुकारते हुए उसे ही चारु अर्थात् उत्तम व सुन्दर बताया गया है और उसी के लिए विद्वानों को निमन्त्रित किया गया है।

अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते॥ — मं० २१

यहां अग्नि परमेश्वर और ज्ञानी विद्वान् अग्रणी—नेता को अध्वरों अर्थात् हिंसारहित यज्ञों को ही बढ़ाने और उन्हें प्रोत्साहित करनेवाला कहा गया है।

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥ — मं० ३२

यहां भी यज्ञ को अध्वर अर्थात् हिंसारहित शुभ कर्म के नाम से पुकारते हुए उसमें सत्य धर्म (शाश्वत नित्य नियम) वाले सर्वरोगनाशक ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की स्तुति का उपदेश दिया गया है।

इनके अतिरिक्त निम्न मन्त्र, जो यज्ञादि में पशुहिंसा का स्पष्ट निषेधक है इस प्रसङ्ग में विशेष उल्लेखनीय है—

न कि देवा इनीमसि न क्यायोपयामसि। मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥ —साम० पू० २. ४. २

इसकी व्याख्या में भाष्यकार सायणाचार्य ने भी लिखा है कि हे देवा: ! युष्मद्विषये किमपि न हिंस्म: श्रुतौ विधिवाक्यप्रतिपाद्यं यद् युष्मद् विषये कर्म तत् आचराम: । (साम-संहिता भाष्यम्) विवरणकार सुप्रसिद्ध विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने विवरण में इस पर ठीक ही लिखा है कि प्राणिवधं कर्म पश्वादियागं न कुर्म: । अर्थात् हम प्राणिहिंसात्मक पश्वादियाग नहीं करते । मीञ् हिंसायाम् का प्रयोग है अत: अर्थ स्पष्ट है कि हम हिंसात्मक कार्य नहीं करते, न लोगों को किसी प्रकार का प्रलोभन देकर कोई बुरा कार्य कराते हैं, किन्तु वेदों के उपदेश के अनुसार ही हम आचरण करते हैं । अध्वर शब्द का प्रयोग निम्न तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में है, जिनसे यज्ञादि में पशुहिंसा का निषेध होता है इसमें सन्देह नहीं—

१. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा राति: सुभग भद्रो अध्वर: । भद्रा उत प्रशस्तय: ॥ —पू० २. २. ५

२. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे । त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ॥ —पू० २. २. ६

३. तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत । दधाति रत्नं विधते सुवीर्यम् अग्निर्जनाय दाशुषे ॥ —उ० ७. ३. २

४. स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा मह: । आ देवान् वक्षि यक्षि च ॥ —उ० ६. ३. ४. २

५. वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्रणीयते । विप्रो यज्ञस्य साधन: ॥ —उ० ६ ३. ५. २

श्री सत्यव्रत सामश्रमी का उक्त विवरण सामवेद के भाष्यकार नारायण-पुत्र माधव के भाष्य के अनुसार भी है जो इन शब्दों में है—

न कि देवा इनीमसि । नेति प्रतिषेध: । इनीमसि । मिनातेर्हिंसार्थकस्य मकारलोप: । तेनैतदुक्तं भवति । हे देवा: न इनीमसि । प्राणिबन्धनकर्म पश्वादियागं न कुर्म इत्यर्थ: । न क्यायोपयामसि योपयतिर्विमोहनकर्मा । स इह निखननार्थे द्रष्टव्य: । मन्त्रश्रुत्यं मन्त्र श्रवणीयं जपाख्यं चरामसि । जपं कुर्वन्तश्चराम: । प्राणिवधं न कुर्म: । जपमेव कुर्म इत्यर्थ: । (सामवेद-संहिता डा० कुन्नन् राजसम्पादित माधवभरतस्वामिभाष्यसहित)

पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी ने प्राय: इस भाष्य के ही शब्दों का अपने विवरण में प्रयोग किया है, अत: पुन: सम्पूर्ण शब्दार्थ देने की आवश्यकता नहीं । पशुहिंसात्मक यज्ञों का निषेध यहां अति स्पष्ट है ।

अथर्ववेद में अध्वर शब्द

ऐसे ही अथर्ववेद में यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग निम्न तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में है, जो पशुहिंसा-निषेध-सूचक है—

१. यश्चर्षणिप्रो वृषभ: स्वर्विद् यस्मै ग्रावाण: प्रवदन्ति नृणाम् ।
यस्याध्वर: सप्तहोता मदिष्ठ: स नो मुञ्चत्वंहस: ॥ — अथर्व० ४. २४. ३

२. यम: परोऽवरो विवस्वान् तत: परं नातिपश्यामि किंचन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ — अथर्व० १८. २. २

३. अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्य: सह । ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ — अथर्व० १. ४. २

४. तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समंजन् स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं न: ॥ — अथर्व० ५. १२. २

५. अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः ॥ — अथर्व० १९. ४२. ४

६. समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ॥ — अथर्व० ३. १६. ६

(२) मुख्यतः यज्ञ के पर्यायवाची मेध शब्द को अजमेध, गोमेध, पुरुषमेध, अश्वमेध इत्यादि शब्दों में देखकर (वस्तुतः वेदों में अश्वमेध शब्द को छोड़कर अन्य शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता) वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा-विधान का भ्रम हुआ, यह स्पष्ट प्रतीत होता है । मेधृ धातु के 'मेधा संगमनयोर्हिंसायां च' इस धातुपाठ के अनुसार मेधा वा शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता वा प्रेम को बढ़ाना, और हिंसा, ये तीन अर्थ होते हैं । हिंसा ही उसका एकमात्र अर्थ नहीं है, जैसा प्रायः लोग भ्रम से समझ लेते हैं । ऐसी अवस्था में कोई कारण नहीं कि हिंसा अर्थ पर ही क्यों आग्रह किया जाये, जब कि निम्नलिखित तथा अन्य पुष्ट प्रमाणों और सामान्य बुद्धि द्वारा हिंसा अर्थ का ग्रहण सर्वथा असङ्गत प्रतीत होता है ।

पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ और नृयज्ञ ये तीनों शब्द पर्यायवाचक हैं और मनुस्मृति में नृयज्ञ की व्याख्या "नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्" (मनु० ३. ७०) इस प्रकार की गई है, जिसका अर्थ यह है कि नृयज्ञ वा नृमेध से मनुष्यों को यज्ञ में बलि देने का तात्पर्य नहीं, बल्कि उत्तम विद्वानों विशेषतः अतिथियों की पूजा का उसमें भाव है । मेधृ धातु के संगमनार्थ को लेने से मनुष्यों का उत्तम कार्यों के लिए संघटित करना, उनमें प्रेम और ऐक्य को बढ़ाना भी नृमेध का तात्पर्य है । साम० उत्तरार्चिक अ० १४२ आ हरयः समृज्रिरेऽरुषीरधिबर्हिषि । यत्राभिसंनवामहे ॥ इसके नृमेध पुरुमेध ऋषि हैं । अष्टम प्रपाठक के 'पर्षि तोक तनयम्' इस मन्त्र का ऋषि नृमेध है । उसका अर्थ मनुष्यों की यज्ञों में बलि चढ़ानेवाला नहीं, अपितु मनुष्यों में संगतिकरण वा मेल-मिलाप को बढ़ानेवाला है, यह स्पष्ट है । गोमेध के विषय में हम विस्तार से आगे प्रकाश डालेंगे ।

अजमेध, अश्वमेध इत्यादि के भी वास्तविक अर्थ अन्य हैं, इस बात का ब्राह्मणग्रन्थों तथा महाभारतादि में स्पष्ट निर्देश किया गया है । उदाहरणार्थ—

शतपथ० १३. १. ६ में कहा है "राष्ट्रं वा अश्वमेधः । वीर्यं वा अश्वः" ॥ अर्थात् अश्व शब्द वीर्यवाचक भी है, अतः देशवासियों के वीर्य वा बल की वृद्धि करना और राष्ट्र का अच्छी प्रकार संचालन करना यह अश्वमेध का तात्पर्य है ।

अज एक धान्यविशेष-वाचक शब्द है, जिसे यज्ञ में डाला जाता है, ऐसा महाभारत में स्पष्ट बताया गया है—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्, इति वै वैदिकी श्रुतिः । अजसंज्ञानि बीजानि, छागान्नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवाः, यत्र बध्येत वै पशुः ॥ — शान्तिपर्व अ० ३३७

अर्थात् वैदिक साहित्य में जब यह कहा जाता है कि अजों से यज्ञों में हवन करना चाहिए तो वहां तात्पर्य अज नामक बीजों से है; बकरों का वध करना तुम्हें उचित नहीं । पशुओं की हिंसा करना अच्छे आदमियों का धर्म नहीं । इसी बात को सुप्रसिद्ध नीतिशास्त्रकार विष्णु शर्मा ने भी पंचतन्त्र में कहा है—

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः, परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम् अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति अजास्तावद् व्रीहयः साप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषाः । उक्तं च "वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा कृत्वारुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गं, नरकं केन गम्यते ।" —काकोलूकीयम्

अर्थात् ये भी जो याज्ञिक, यज्ञ-कर्म में पशुओं की हिंसा करते हैं वे मूर्ख हैं । वे वेद के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते । वहां जो यह कहा है कि 'अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्' यहां अजों से व्रीहि या पुराने धान्यविशेष का ग्रहण करना चाहिए, न

कि बकरों का। यदि पशुओं की हिंसा करके और उनके रुधिर की धारा बहाकर स्वर्ग में जा सकते हैं तो नरक में जाने का मार्ग कौन-सा है ? अर्थात् पशुहिंसात्मक यज्ञों से स्वर्ग नहीं, नरक ही मिलता है।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि जैनियों के 'स्याद्वादमंजरी' नामक ग्रन्थ में भी 'अज' का यज्ञ प्रकरण में धान्यादिपरक ही अर्थ माना गया है, यथा—

तथा हि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्गुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति।
—श्लोक २३ की व्याख्या, पृ० १०७-१०८

अर्थात् वैसे ही वेद के अनुसार 'अजों से यज्ञ करना चाहिए' इत्यादि वाक्यों में अज्ञानी अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं। सम्यग्दृश वा ज्ञानी जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जो व्रीहि आदि, पांच वर्ष के तिल-मसूर आदि, सात वर्ष के कङ्गुसर्षप आदि धान्य के पर्याय के रूप में हों, उन्हें मानते हैं। —स्याद्वादमंजरी, पृ० १७५

(३) महाभारत में इस बात का अनेक स्थानों पर स्पष्ट उल्लेख है कि वेदों में मांस, शराब, पशुमांस की बलि अथवा उसका खाना इत्यादि का कोई विधान नहीं। इन पशुहिंसात्मक यज्ञादि को जो मनु के भी सिद्धान्त-विरुद्ध हैं धूर्त, नास्तिक, लोभी, अव्यवस्थितचित्त, संशयात्मक मनोवृत्ति वाले लोगों ने धन की इच्छा से वेद के वास्तविक अभिप्राय को न समझकर प्रारम्भ किया है। यह वस्तुतः अधर्म और पाप है। धर्म वा पुण्य नहीं। निम्नलिखित श्लोक इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट हैं—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसम्, आसवं कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे, नैतद्वेदेषु विद्यते॥
अव्यवस्थितमर्यादैः, विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः। संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥
सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्। कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून् नराः॥
लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्, नास्तिकैः संप्रवर्तितम्। वेदवादानविज्ञाय, सत्याभासमिवानृतम्॥
—शांतिपर्व अ० २६३. ६

मानान्मोहाच्च लोभाच्च, लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्। विष्णुमेवाभिजानन्ति, सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः॥
पायसैः सुमनोभिश्च, तस्यापि यजनं स्मृतम्। ये चैव यज्ञिया वृक्षाः, वेदेषु परिकल्पिताः॥
तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता। अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता॥
—महाभारत शान्तिपर्व अ० २६५

इन श्लोकों में से कइयों का भावार्थ पहले बताया जा चुका है। शेष का यह है कि—

जिन लोगों को शास्त्रमर्यादा का ज्ञान नहीं, जो बिल्कुल मूर्ख, नास्तिक हैं उन्होंने ही यज्ञादि में हिंसा का विधान किया है। धर्मात्मा मनु ने तो सब कर्मों में अहिंसा का ही विधान किया था। जो यज्ञवेदी में अथवा अन्यत्र पशुहिंसा करते हैं वे अपनी इच्छा से ऐसा करते हैं। यह मनु महाराज की आज्ञा नहीं। इसलिए शास्त्रप्रमाणपूर्वक ज्ञानी को सूक्ष्म धर्म का निर्णय करना चाहिए। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा सब धर्मों में सबसे बड़ी मानी गई है। शराब, मछली, मांस तथा मादक द्रव्यों का सेवनादि धूर्तों ने यज्ञादि में चलाया है। इनका वेदों में कहीं विधान नहीं। अभिमान, मोह और लोभ से यह चंचलता प्रवृत्त हुई है। ब्राह्मण तो सब यज्ञों में सर्वव्यापक परमेश्वर को ही जानते हैं। वह यज्ञ दूध के पदार्थों तथा यज्ञिय वृक्षों की समिधा आदि द्वारा होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि यज्ञों में पशुहिंसा धूर्तकल्पित है, इसलिए श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों, ब्राह्मणग्रन्थों, स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थों में जो इस प्रकार के वचन पाये जाते हैं वे वेद-विरुद्ध होने से अमान्य और पीछे की मिलावट (प्रक्षिप्त) हैं।

ऐसे प्रक्षेप प्राचीन ग्रन्थों में बहुत होते रहे हैं इस बात को सुप्रसिद्ध द्वैतवादी आचार्य मध्वाचार्य अथवा आनन्दतीर्थ जी ने 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' में इन शब्दों द्वारा बताया है—

क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति, क्वचिदन्तरितानपि। कुर्युः क्वचिच्च व्यत्यासं, प्रमादात्क्वचिदन्यथा॥

अनुत्सन्ना अपि ग्रन्थाः, व्याकुला इति सर्वशः॥ —महाभारत तात्पर्य निर्णय अ० २

अर्थात् धूर्त लोग कहीं ग्रन्थों में प्रक्षेप कर देते हैं, कहीं कुछ वाक्यों को छिपा देते हैं, कहीं प्रमादवश बदल देते हैं और कहीं जानबूझकर वे परिवर्तन कर देते हैं। इस प्रकार जो ग्रंथ नष्ट नहीं भी हुए, वे भी व्याकुल हो गये हैं, अर्थात् उनमें बहुत गड़बड़ हो गई है।

इसलिए कौशिक सूत्र १३, १-६ में से जो उद्धरण Vedic Age के लेखकों ने दिया है कि—

सिंहे व्याघ्रे यशोहविरिति स्नातकसिंहव्याघ्रबस्तकृष्णवृषभराज्ञां नाभिलोमानि।४।

दशानां शान्तवृक्षाणां शकलानि।५। एतयोः प्रातरग्निं गिरावरगराटेषु दिवस्पृथिव्या इति सप्त मर्माणि स्थालीपाके पृक्तान्यश्नाति।६।

अर्थात् सिंह, व्याघ्र, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, बैल, राजा आदि के शरीर के कुछ भागों को मिलाकर उसे एक विशेष प्रकार की शक्ति प्राप्त करने के लिए खाया जाये इत्यादि हम वेद-विरुद्ध होने से अप्रामाणिक मानते हैं। ऐसे अन्धविश्वाससूचक वेद-विरुद्ध वचन चाहे जिस किसी ग्रन्थ में अब दिखाई दें उन्हें अमान्य समझना चाहिए। महाभारत के उपर्युक्त प्रबल साक्ष्य के अनुसार ऐसे सब वचन धूर्त, नास्तिक, मूर्ख, धनलोलुप लोगों द्वारा कल्पित हैं अतः उनकी कोई प्रामाणिकता नहीं। महाभारत अश्वमेध पर्व के निम्न श्लोक भी अति स्पष्ट और प्रबल होने के कारण इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय हैं। हम सर्वत्र यह देखते हैं कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषि लोग पशुहिंसात्मक यज्ञों का सदा प्रबल विरोध करते रहे हैं, उदाहरणार्थ अश्वमेधपर्व अ० ९१ के निम्न श्लोक देखिये—

ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा, ऋषयस्ते तपोधनाः। ऊचुः शक्रं समागम्य, नायं यज्ञविधिः शुभः॥
अपरिज्ञानमेतत्ते, महान्तं धर्ममिच्छतः। नहि यज्ञे पशुगणाः, विधिदृष्टाः पुरन्दर॥
धर्मोपघातकस्त्वेष, समारम्भस्तव प्रभो। नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते॥
आगमेनैव ते यज्ञं, कुर्वन्तु यदि चेच्छसि। विधिदृष्टेन यज्ञेन, धर्मस्तेषु महान् भवेत्॥

—अश्वमेध पर्व अ० ९१

अर्थात् तपोधन ऋषियों ने दीन पशुओं को देखकर कहा है कि यह यज्ञ की विधि अच्छी नहीं। धर्म की इच्छा करनेवाले, तुम्हारा यह बड़ा अज्ञान है। यज्ञों में पशुओं की हिंसा का कहीं विधान नहीं, यह तुम्हारा धर्म का नाश करनेवाला काम है। यदि तुम चाहते हो तो वेदादि सत्यशास्त्रों के विधान के अनुसार यज्ञ करो, तभी महान् धर्म होगा।

ऋषि लोगों का लक्षण ही 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः। अथवा ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' यह निरुक्तादि में दिया है अर्थात् जो वेदमन्त्रों के यथार्थ तत्त्व को समझनेवाले और धर्म का साक्षात् करनेवाले हों, यह है। ऐसे ऋषि जब यज्ञादि में पशुहिंसा को अज्ञानमूलक, धर्मनाशक, वेदादिशास्त्रविरुद्ध और पाप बता रहे हैं तो उसके ऐसा होने में क्या सन्देह हो सकता है? अन्यत्र भी महाभारत शान्तिपर्व में कहा है :—

ध्रुवं प्राणिवधो यज्ञे नास्ति यज्ञस्त्वहिंसकः। ततोऽहिंसात्मकः कार्यः, सदा यज्ञो युधिष्ठिर॥
यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्। यद्येवं गम्यते स्वर्गं, नरकं केन गम्यते॥

अर्थात् निश्चय से यज्ञ में पशुहिंसा विहित नहीं है। यज्ञ तो अहिंसात्मक ही होता है और उसे अहिंसात्मक रूप में ही सदा करना चाहिए। पशुओं को मारकर और उनका रुधिर बहाकर यदि स्वर्ग जा सकते हैं तो नरक में जाने का क्या उपाय है ? **'यूपं छित्वा पशून् हत्वा'** इस श्लोक के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण यह सूचित करना आवश्यक है कि इसका अनेक विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों में उल्लेख किया है। श्री विष्णुशर्मा ने पंचतन्त्र काकोलूकीय में इसको उद्धृत किया है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। स्याद्वादमंजरी में श्री मल्लिषेण ने इसका उल्लेख किया है। श्री विजय राजेन्द्र सूरीश्वर कृत 'अभिधान राजेन्द्र' के भाग ७ पृ० १२२९ में इसका उल्लेख इन शब्दों में किया गया है—**तथा च पठन्ति पारमर्षाः—**

यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्। यद्येवं गम्यते स्वर्गं, नरके केन गम्यते॥

अर्थात् परमर्षि के अनुयायी 'यूपं छित्वा पशून् हत्वा' इस श्लोक का पाठ करते हैं, जिसमें यज्ञों में पशुहिंसा को स्वर्ग नहीं, बल्कि नरक का द्वार बताया गया है।

परमर्षि शब्द की व्याख्या करते हुए संस्कृत के सुप्रसिद्ध विश्वकोष वाचस्पत्यबृहदभिधान के पृ० ४२३७ में लिखा है—

परमर्षिः—वेदव्यासादिषु ऋषिषु।

अर्थात् परमर्षि शब्द का प्रयोग वेदव्यास आदि कुछ महर्षियों के लिए होता है।

श्री राधाकान्त देव रचित 'शब्दकल्पद्रुम' के तृतीय काण्ड में परमर्षि की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'वेदव्यासो हि परमर्षिः यथा महाभारते १. १. १७ द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा॥'

वेदव्यास जी के अतिरिक्त भी कुछ महर्षियों का परमर्षि शब्द से ग्रहण होगा, किन्तु इससे मुख्यतया वेदव्यास जी का ग्रहण होता है इसमें सन्देह ही नहीं, अतः श्री विजयेन्द्र सूरीश्वर के लेखानुसार भी यह श्लोक महाभारत का ही प्रतीत होता है यद्यपि उसके ठीक-ठीक प्रतीक का हमें ज्ञान नहीं हो सका।

हमारे मान्य वेदोपाध्याय, वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड भूतपूर्व सम्पादक 'वैदिक अनुसन्धान' दिल्ली ने भी अपने अत्युत्तम ग्रन्थ 'वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा' में इसे महाभारत शान्ति पर्व के ही नाम से उद्धृत किया है। जगद्विख्यात विद्वान् और भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् जी ने भी गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के सन् १९५५ के अपने महत्त्वपूर्ण दीक्षान्त अभिभाषण में 'यूपं छित्वा पशून् हत्वा' इस सम्पूर्ण श्लोक को उद्धृत किया था। 'स्वयाद्वाद मंजरी' में व्यास जी के नाम से जो श्लोक दिये गये हैं उनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है, यद्यपि खेद है कि उसका प्रतीक वहां उद्धृत नहीं किया गया—

प्राणिघातात्तु यो धर्मम्, ईहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात्॥

अर्थात् जो मूर्ख प्राणिहिंसा से धर्म की इच्छा करता है वह काले सर्प के मुख से अमृत की वर्षा की आशा करता है।

अश्वमेध यज्ञ अहिंसात्मक

अश्वमेध के विषय में प्रायः यह विचार प्रचलित है और यही Vedic Age के लेखकों ने भी प्रकट किया है कि इसमें अश्व की बलि दी जाती थी, किन्तु महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३. ३३६ में वसु महाराज के अश्वमेध का जो वर्णन

पाया जाता है (जिसमें उस समय के सब सुप्रसिद्ध बड़े-बड़े ऋषियों तथा विद्वानों ने भाग लिया था), उससे यह स्पष्ट है कि अश्वमेध में अश्व की हिंसा नहीं की जाती थी । वहां निम्न वर्णन इस सम्बन्ध में पाया जाता है—

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः ।
बृहस्पतिरुपाध्यायः, तत्र होता बभूव ह ॥
प्रजापतिसुताश्चात्र, सदस्याश्चाभवंस्त्रयः ॥ ३४ ॥

ऋषिर्मेधातिथिश्चैव, ताण्ड्यश्चैव महानृषिः ।
ऋषिः शान्तिर्महाभागः, तथा वेदशिराश्च यः ।
ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः, शालिहोत्रपिता च यः ।
आद्यः कठस्तित्तिरिश्च, वैशम्पायनपूर्वजः ।
कण्वोऽथ देवहोत्रश्च, एते षोडश कीर्तिताः ॥ ६ ॥

संभूताः सर्वसंभाराः, तस्मिन् राजन् महाक्रतौ ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ।
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रः, निराशीः कर्मसंस्तुतः ॥ ११ ॥

अर्थात् वसु राजा का अश्वमेध नामक यज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था । बृहस्पति उसमें उपाध्याय होता था । प्रजापति के तीन पुत्र तथा अन्य अनेक सुप्रसिद्ध ऋषियों के अतिरिक्त ऋषियों में श्रेष्ठ कपिल, कठ, तैत्तिरि, कण्वादि उसके ऋत्विक् थे । वह सर्वथा हिंसारहित (अहिंस्रः) पवित्र, महान् यज्ञ था, जिसमें पशुओं का घात सर्वथा न किया गया था (न तत्र पशुघातोऽभूत्) । जो लोग अश्वमेध का अर्थ घोड़े की बलि देना समझते हैं उन्हें आंखें खोलकर इस अहिंसात्मक महान् यज्ञ का वर्णन पढ़ना चाहिए । इसके होताओं में आचार्य बृहस्पति, ऋषिश्रेष्ठ कपिल तथा कठसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, काण्वसंहितादि के प्रवक्ता ऋषि थे, जिन्होंने पूर्ण अहिंसात्मक रीति से इस महान् यज्ञ को करवाया । इस बात का उल्लेख करने की इसलिए आवश्यकता पड़ी है कि वर्तमान काल में प्रचलित तैत्तिरीय संहितादि में भी कई स्थानों पर यज्ञों में पशुहिंसा का प्रतिपादन प्रतीत होता है । उसे पीछे की मिलावट वा प्रक्षेप मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं ।

यज्ञों में पशुओं की प्रदर्शनी

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि मेधृ धातु का संगमनरूप जो अर्थ है उसका समर्थन महाभारतादि के यज्ञ-विषयक अनेक प्रकरणों से होता है । उदाहरणार्थ महाभारत अश्वमेध पर्व अ० ८५ में निम्न वर्णन पाया जाता है—

स्थलजा जलजा ये च, पशवः केचन प्रभो । सर्वानिव समानीतान्, अपश्यंस्तत्र ते नृपाः ॥ ३२ ॥
गाश्चैव महिषीश्चैव, तत्र वृद्धस्त्रियोऽपि च । औदकानि च सत्वानि, श्वापदानि वयांसि च ॥ ३३ ॥
पर्वतानूपजातानि, स्वेदजान्युद्भिजानि च । जरायुजाण्डजातानि, भूतानि ददृशुश्च ते ॥ ३४ ॥
एवं प्रमुदितं सर्वं, पशुगोधनधान्यतः । यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥

— महाभारत अश्वमेध पर्व अ० ८५

अर्थात् यज्ञमण्डप में जितने भी स्थल और जल के पशु हैं उन सबको लोगों ने लाया हुआ देखा । वहां अनेक प्रकार की गौएं थीं, भैंसें थीं, वृद्ध स्त्रियां थीं, जलचर जन्तु और पक्षी थे । पर्वत और अनूप के स्वेदज, उद्भिज, जरायुज और अण्डज जन्तु वहां एकत्रित किये गये थे । इस प्रकार पशु, गौ, धन और धान्य से भरपूर और आनन्दित यज्ञ-मण्डप को देखकर

राजा आश्चर्य को प्राप्त हुए। इससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध, अविमेधादि की प्रदर्शनी का रूप सर्वथा स्पष्टतया सिद्ध होता है।

आलम्भ, संज्ञपन तथा अवदान शब्दों का अनर्थ

यज्ञों में पशुहिंसा की निन्दनीय प्रथा जहां स्वार्थ और लोभ के कारण प्रवृत्त हुई, वहां प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त आलम्भ, संज्ञपन तथा अवदानादि शब्दों के अर्थ को न समझने के कारण भी ऐसा हुआ—**प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते, वाचे प्लुषींश्चक्षुषे मशकान्, श्रोत्राय भृङ्गान्**। यजुः० अ० २४। **अग्निषोमीयं पशुमालभेत।**

इत्यादि वाक्यों को प्रायः यज्ञों में पशुहिंसा के पक्षपाती उद्धृत कर देते हैं, किन्तु ऐसा करना अज्ञानमूलक है। आङ्पूर्वक लभ् धातु से आलम्भ शब्द बनता है, उसका अर्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त करना, स्पर्श करना वा देना यही होता है। इस विषय में निम्न प्रमाण अत्यधिक स्पष्ट हैं—

(१) मनुस्मृति अ० २ में ब्रह्मचारियों के कर्तव्यप्रकरण में निम्न श्लोक आता है—

वर्जयेन्मधुमांसं च, माल्यं गन्धं रसान् स्त्रियः। स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भम् उपघातं परस्य च॥

यहां स्त्रियों को देखने और आलम्भ का निषेध है। आलम्भ का हिंसा के अर्थ में प्रयोग यहां सङ्गत नहीं प्रतीत होता, उसका स्पर्श अर्थ लेना ही सङ्गत है और टीकाकारों ने उसका यही अर्थ लिया है।

(२) पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन प्रकरण में निम्न वाक्य पाया जाता है—

अथास्य (ब्रह्मचारिणिः) दक्षिणांसम् अधिहृदयम् आलभते।

(पारस्कर गृह्यसूत्र के द्वितीय काण्ड, द्वितीय कण्डिका, सू० १६) अर्थात् 'आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है।' हरिहर, गदाधर आदि भाष्यकारों ने 'आलभते' का अर्थ 'स्पृशति' (छूता है) यही किया है।

(३) पारस्कर गृह्यसूत्र के विवाह-प्रकरण में यह वाक्य पाया जाता है—

वरो वध्वा दक्षिणांसम् अधि हृदयम् आलभते॥ (पारस्कर गृह्यसूत्रे १. ८. ८)

अर्थात् वर वधू के दक्षिण कन्धे के ऊपर हाथ ले-जाकर उसके हृदय का स्पर्श करता है।

यहां भी जयराम, हरिहरादि भाष्यकारों ने 'आलभते' का अर्थ 'स्पृशति' (स्पर्श करता है) यही किया है।

(४) इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के जातकर्म प्रकरण में यह वाक्य पाया जाता है—

कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्ययेन प्राशयेत्।

अर्थात् बालक के उत्पन्न होने पर और किसी के स्पर्श से पूर्व उसे स्वर्णशलाका से घृत और मधु चटावे। यहां भी 'आलम्भ' का स्पर्श यह अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है, जिसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। मीमांसा दर्शन के २. ३. १७ की टीका में सुबोधिनी टीकाकार ने लिखा है कि—**वत्सस्य समीप आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवतीति**। यहां आलम्भ का अर्थ स्पर्श किया गया है। इसलिए—

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते वाचे प्लुषींश्चक्षुषे मशकान् श्रोत्राय भृङ्गान्।

इत्यादि मन्त्रों तथा अग्निषोमीयं पशुमालभेत आदि ब्राह्मण-वाक्यों में 'आलभते' का स्पर्श अथवा प्राप्त यही अर्थ लेना चाहिए, न कि मारने का। उस अवस्था में 'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते' का अर्थ यह होगा कि प्रजापति राजा

की सेवा के लिए वीर पुरुषों और हाथियों को (आलभते) प्राप्त करे (चक्षुषे मशकान्) आंख के लिए छोटे-छोटे मच्छरों को देखें। जिस प्रकार चक्षु के रूप को देखकर वे मुग्ध होते हैं ऐसे उत्तम रूपों पर चक्षुओं को लगावे। (श्रोत्राय भृङ्गान्) श्रवणेन्द्रिय के लिए (भृङ्गान्) भौरों को प्राप्त करे, उनके सुन्दर झंकार श्रवण करे। प्रजापति राजा के लिए वीर पुरुषों और हाथियों को मारे, यह अर्थ कितना असङ्गत है !

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीन् शरदे वर्तिका हेमन्ताय ककरान् शिशिराय विकिकरान्॥
—यजुः० २४. २०

इसमें वसन्त, ग्रीष्म, वर्षादि विशेष ऋतुओं के साथ कपिंजल, कलविङ्क, तित्तिरि (तीतर) इत्यादि पक्षियों का सम्बन्ध बताते हुए यह उपदेश किया गया है कि पक्षिविद्या के अध्ययन और अनुशीलन के लिए उन ऋतुओं में उन पक्षियों को प्राप्त करके उनका अच्छी प्रकार निरीक्षण किया जाए। यहां उन-उन ऋतुओं के लिए पक्षिविशेषों को मारने का अर्थ करना नितान्त असंगत है।

संज्ञपन शब्द का अर्थ

संज्ञपन शब्द का प्रयोग भी ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में अनेक स्थानों पर हुआ है, जिसका अर्थ तत्काल मारने का समझ लिया जाता है। पर यह बात भी अज्ञानमूलक है।

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्रों में संज्ञपनम् अथवा संज्ञपयामि आदि का प्रयोग है, जिसका अर्थ ज्ञान देना, दिलाना तथा मेल कराना है। यह प्रकरण से स्पष्ट है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता। सं वो ऽयं ब्रह्मणस्पतिः भगः सं वो अजीगमत्॥

संज्ञपनं वो मनसो ऽथो संज्ञपनं हृदः। अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥
—अथर्व० ६. १०. ९४-९५

अर्थात् हे मनुष्यो ! तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मिलकर व्यायामादि करो, तुम्हारे मन मिले हुए हों, तुम्हारे व्रत एक-जैसे हों। ज्ञान का स्वामी भगवान् तुम्हें सदा मिलाकर रक्खे। तुम्हारे मन का ज्ञानपूर्वक अच्छी प्रकार मेल हो, तुम्हारे हृदयों का ज्ञानपूर्वक अच्छी प्रकार मेल हो। धर्म, ज्ञान, वैराग्य वा अनासक्ति आदि का जो परिश्रम है उसमें मैं तुम्हें अच्छी प्रकार ज्ञानयुक्त करके मिलाता हूं।

इसी प्रकार शतपथ कां० १, अ० ४ में एक आख्यायिका है, जिसमें ये शब्द आये हैं—

(मनसः) श्रेयसी अस्मि, यद् वै त्वं वेत्थाहं तद् विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति।

अर्थात् मैं वाणी तुझ मन से अधिक अच्छी हूं, तू जो कुछ मन में चिन्तन करता है मैं उसे प्रकट करती हूं, मैं उसे अच्छी प्रकार से दूसरों को जतलाती हूं (संज्ञपयामि)। **'एष वा स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति'** इत्यादि वाक्यों का इसलिए यही अर्थ है कि जहां अज्ञानी पशु-समान बालक को उत्तम ज्ञानी बनाया जाता है वही स्वर्गलोक कहाता है। विस्तारभय से अभी इतने ही निर्देश पर्याप्त हैं।

Vedic Age P. 378 में लिखा है कि Animal sacrifices are indicated by the Apri-Suktas and the horse-sacrifice (Ashva Medha) was undoubtedly performed.

अर्थात् आप्री सूक्तों से पशुयाग सूचित होते हैं और इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि अश्वमेध किया जाता था। वस्तुतः निष्पक्ष-भाव से ध्यानपूर्वक समस्त आप्री सूक्तों का अध्ययन करने पर हम निश्चय से कह सकते हैं कि उनमें

पशुहिंसा की कहीं गन्ध भी नहीं है । अनेक बार यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का, जो अहिंसासूचक है, वहां प्रयोग पाया जाता है । आप्री सूक्तों में पशुहिंसा का समर्थन करनेवाले कोई मन्त्र नहीं हैं । यदि अज्ञान व भ्रम से, जैसे कि महाभारत के—

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः । संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥

इत्यादि श्लोकों को उद्धत करके दिखाया जा चुका है, पशुहिंसात्मक यज्ञ प्रवृत्त होने पर उन सूक्तों का विनियोग वहां कर दिया गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन मन्त्रों में पशुहिंसा का विधान है । विनियोग तो मध्यकाल में और अब भी बड़े अशुद्ध रूप में प्रचलित है, जिसका मन्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं । उदाहरणार्थ 'शं नो देवीरभिष्टये' इस ईश्वर और आधिदैविक दृष्टि से जलपरक मन्त्र का केवल 'शंनः' इन शब्दों के आने से शनैश्चर की पूजा में, उद्बुध्यस्वाग्ने का बुध की पूजा में, 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इस जगत्पति परमेश्वरपरक मन्त्र का कल्पित गणेश की मूर्ति की पूजा में विनियोग कर दिया जाता है, पर सब निष्पक्ष विद्वान् जानते हैं कि यह सर्वथा कपोलकल्पित है, जिसका मन्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं । इसी प्रकार यह कहना कि अश्वमेध अश्व की हिंसा के अर्थ में निस्सन्देह प्रचलित थे सर्वथा अशुद्ध है । अश्वमेध, राष्ट्रं वा अश्वमेधः । शत० १३. १. ६ वीर्यं वा अश्वः इत्यादि अर्थ में राष्ट्र-संचालन तथा राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाने के कार्यरूप में अवश्य प्रचलित थे, पर अश्व पशु की हिंसावाले यज्ञों के वैदिक काल में प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं । जो मन्त्र अश्वमेध में बोले जाते हैं ऋग् १. १६२ अथवा यजुर्वेद अ० २५ इत्यादि, इनमें अश्व-विद्या और राष्ट्र के संचालन का उपदेश है, न कि अश्व की आहुति देने का । ऋग्० १. १६२. १७ और यजुः० २५. ४० में अध्वर शब्द का प्रयोग है—

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पाठर्ष्या वा कशया वा तुतोद ।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि ॥

अध्वर का अर्थ अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिहिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः नि० १. ७ के अनुसार हिंसारहित यज्ञ है । फिर अश्व की हिंसा का विधान यहां कैसे हो सकता है ? अश्व को अच्छी प्रकार शिक्षा देने वा सिधाने का मन्त्रों में उपदेश है, जैसा महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है--

यथा यज्ञसाधनैः हवींष्यग्नौ प्रेरयन्ति तथैवाश्वादीनि सुशिक्षितरीत्या प्रेरयेयुः ।

अर्थात् जैसे यज्ञ के साधन स्रुवादि से हवियों को हिंसारहित यज्ञ में प्रेरित करते वा डालते हैं वैसे ही घोड़े आदि को अच्छी सिखावट की रीति से प्रेरणा दें । घोड़े को ऐसी उत्तम शिक्षा देकर सिधाने का—

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः । यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥

—ऋग्० १. १६२. १४ । यजुः० २५, मं० ३८

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै । संदानमर्वन्तं पड्वीशं प्रिया देवेष्वायामयन्ति ॥

—ऋग्० १. १६२. १६ । यजुः० २५. ३९

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट वर्णन है कि घोड़े का निकलना, बैठना, व्यवहार, खाना-पीना सब अश्वविद्या में निपुण विद्वानों (देवेषु) के अधीन किया जाए ।

महर्षिकृत भावार्थ

हे मनुष्याः ! भवन्तोऽश्वादीनां सुशिक्षणेन भक्ष्यपेयप्रदानेन सर्वाणि कार्याणि साध्नुवन्तु ।

अर्थात् हे मनुष्यो ! आप घोड़े आदि पशुओं की अच्छी शिक्षा तथा खान-पान के देने से अपने सब कामों को सिद्ध किया करो ।

घोड़े के लिए जो वस्त्र चारजामा, मुहेरा आदि तथा जो इसके सुवर्ण आभूषणादि हैं और जिन पैरों से प्रवेश करते और जाते हुए घोड़े को (आयामयन्ति) अच्छे प्रकार नियम में रखते हैं वे सब पदार्थ विद्वानों में प्रीति देनेवाले हों।

भावार्थ:—यदि मनुष्या अश्वादीन् पशून् यथावद् रक्षयित्वोपकारं गृह्णीयुस्तर्हि बहु कार्यसिद्ध्युपकृताः स्युः।

अर्थात् जो मनुष्य घोड़े आदि पशुओं की यथावत् रक्षा करके उपकार लेवें तो बहुत कार्यों की सिद्धि से उपकारयुक्त हों।

सूक्त के प्रायः सब मन्त्रों में इस प्रकार के स्पष्ट निर्देश हैं। अन्त में भी यही कहा है—

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्रां उत विश्वापुषं रयिम्।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान्॥

—ऋग्० १. १६२. २२। यजुः० २५. ४५

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हमें अच्छी गौएं, अच्छे घोड़े, वीर सन्तान तथा सबको पुष्ट करनेवाले धन को प्रदान करे। अखण्डित वेदवाणी हमें (अनागास्त्वं कृणोतु) निरपराध बनाए और (हविष्मान्) प्रशस्तानि हवींषि सुखदानानि यस्मिन् सः—सुखदायक अश्व (नः) हमारे (क्षत्रम्) शक्तिशाली राष्ट्र का (वनताम्) सेवन करे—हमारे राष्ट्र में उत्तम अश्व हों।

यह प्रार्थना उत्तम सुशिक्षित अश्वादि के सम्बन्ध में ही उपयुक्त है, न कि अश्वादि उपकारक पशुओं की हिंसा का अपराध वा पाप करके।

इस सूक्त में कुछ ऐसे मन्त्र अवश्य हैं, जिनके सायणाचार्य, उव्वट, महीधरादि भारतीय और मैक्समूलर, ग्रिफिथ, विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वहिंसापरक अर्थ किये हैं, पर यह उनकी भ्रांति ही है। मन्त्रों में न केवल हिंसा का विधान नहीं, बल्कि हिंसा करनेवालों और मांस खानेवालो को दण्ड देने का विधान है। उदाहरणार्थ—

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥ — यजुः० २५. ३५

इसके भावार्थ में महर्षि दयानन्द ने लिखा है—**"येऽश्वादिश्रेष्ठानां पशूनां मांसमत्तुमिच्छेयुस्ते राजादिभिः श्रेष्ठैर्निरोद्धव्याः।"** अर्थात् जो घोड़े आदि उत्तम पशुओं का मांस खाना चाहें उनको राजादि श्रेष्ठ पुरुषों को रोकना चाहिए। **"यन्नीक्षणं मा स्पचन्याऽउखायाः।"** यजुः० २५. ३६। इस मन्त्र के भावार्थ में भी महर्षि ने लिखा है—**'ये केचिदश्वादीनाम् उपकारिणां पशूनां शुभानां पक्षिणां च मांसाहारं कुर्यस्तेभ्यो दण्डो यथापराधं दातव्य एव॥'** अर्थात् यदि कोई घोड़े आदि उपकारी पशुओं और उत्तम पक्षियों का मांस खावें तो उनको यथापराध अवश्य दण्ड देना चाहिए।

अ० २५, मं० ३७ 'मात्वाऽग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिः' इसका भावार्थ इस प्रकार है—

हे मनुष्याः! यथा विद्वांसो मांसाहारिणो निवार्याश्वादीनां वृद्धिं रक्षां च कुर्वन्ति तथा यूयमपि कुरुत।

अर्थात् हे मनुष्यो! जैसे विद्वान् मांसाहारियों को निवृत्त कर घोड़े आदि पशुओं की वृद्धि और रक्षा करते हैं वैसे तुम भी करो।

इसलिए भारतीय अथवा पाश्चात्य जिन किन्हीं विद्वानों ने इन मन्त्रों का पशुहिंसापरक अर्थ समझ लिया है उनके विषय में महाभारत का यही श्लोक याद आता है कि—

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्, नास्तिकैः संप्रवर्तितम्। वेदवादानविज्ञाय, सत्याभासमिवानृतम्॥

अर्थात् वेद के वास्तविक अर्थ को न जानकर इन लोगों ने ऊपर से सत्य प्रतीत होनेवाले किन्तु वस्तुतः असत्य अर्थ को प्रकाशित किया है। अतः महाभारत में उनके लिए लोभी, नास्तिक जैसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऐसे लोगों की बात कैसे मान्य हो सकती है ?

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥

इस मन्त्र के अनेक अतिशिक्षाप्रद अर्थ हैं यथा (ये) (अर्वतः) अश्वस्य (मांसभिक्षाम्) मांसयाचनाम् उपासते ये (अश्वम्) (ईम्) प्राप्तं हन्तव्यम् (आहुः) तान् (निर्हर) दूरे प्रक्षिप। ये (वाजिनम्) वेगवन्तम् अश्वम् (पक्वम्) परिपक्वस्वभावम् (परिपश्यन्ति) सर्वतोऽन्वीक्षन्ते उतो अपि (तेषाम्) (सुरभिः) सुगन्धः (अभिगूर्तिः) अभ्युद्यमः (नः) अस्मान् (इन्वतु) प्राप्नोतु।

अर्थात् जो घोड़े के मांस को मांगते हैं और जो घोड़े को मारने योग्य कहते हैं, उनको निरन्तर हरो वा दूर पहुंचाओ। जो घोड़ों को पका वा सिखा के सब ओर से देखते हैं उनका अच्छा सुगन्ध और सब ओर से उद्यम हम लोगों को प्राप्त हो। उनके अच्छे काम हमको प्राप्त हों।

कहां यह पशुहिंसा और मांस का निषेधक महर्षि दयानन्दकृत अर्थ और कहां सायणाचार्य तथा उनके अनुयायी पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों का भ्रष्ट और असंगत अर्थ कि जो घोड़े को अग्नि में पका हुआ देखते हैं और जो कहते हैं कि इस मरे हुए घोड़े की बड़ी अच्छी गन्ध आ रही है तथा जो घोड़े के मांस की भिक्षा मांगते हैं उनका उद्यम हमें प्राप्त हो। यह अर्थ सर्वथा असङ्गत और सामान्यबुद्धि तथा वेद की भावना के विरुद्ध होने से अमान्य है। इस मन्त्र का ब्रह्मचारी और शूरवीरपरक अर्थ भी होता है, जो निम्न प्रकार है—

जो विद्वान् (वाजिनम्) ज्ञानवान् बलवान् ब्रह्मचारी को (परिपश्यन्ति) भली-भांति देखते हैं और जो इसे लक्ष्य करके (पक्वम्) ज्ञानादि दृष्ट्या परिपक्व कहते हैं और (सुरभिः) उत्तम आचार की सुगन्ध से युक्त पुरुष (निर्हर) हमसे भिक्षा ले (इति) इस भाव से (ये) जो गृहस्थ जन (अर्वतः) ज्ञानवान् पुरुष के, अर्व गतौ गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च (मांसभिक्षाम्) मन को प्रिय लगनेवाले पदार्थों की भिक्षा की—माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति मांसम् (निरुक्त ४ १. ३) प्रतीक्षा करते हैं उन हितैषी पुरुषों का (अभिगूर्तिः) उद्यम प्रयत्न हमें सफल होकर प्राप्त हो।

शूरवीर पुरुषपरक अर्थ—जो (वाजिनम्) बलवान् पुरुष को वाज इति बलनाम (निघण्टु २. ९) देखते हैं और उसे परिपक्व—शास्त्र-कौशल में सुअभ्यस्त पका हुआ बतलाते हैं (सुरभिः) सुरक्षित होकर परराष्ट्र की लक्ष्मी को ले आ।

इस प्रकार जो (अर्वतः मांसभिक्षाम् उपासते) गतिशील बलवान् पुरुष के शरीर की याचना की प्रतीक्षा करते हैं उनका राष्ट्र के प्रति किया श्रम हमें प्राप्त हो अर्थात् राजा राष्ट्र में बलवान् पुरुषों को परिपक्व करे और फिर उनके शरीरों को युद्धादि कार्यों के लिए लगावे।

यत् ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥

—यजुः० २५. ३४

इस मन्त्र का सायणाचार्य, उव्वट, महीधरादि ने बड़ा अनर्थ किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ यह है कि हे अश्व ! अग्नि से पकाये, मरे हुए तेरे अवयवों से जो मांस-रस उठता है वह भूमि वा तृण पर न गिरे, वह चाहते हुए देवों को प्राप्त होवे। वस्तुतः यह पूर्वोक्त मन्त्रों की भावना और अध्वर के अहिंसात्मक अर्थ के विपरीत होने के कारण अमान्य

है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि हे मनुष्य ! (निहतस्य ते) निश्चयेन कृतश्रमस्य तव हन् हिंसागत्योरिति अत्र गत्यर्थो ग्राह्यः (अग्निना) अन्तःकरणरूपतेजसा (पच्यमानात्) (गात्रात्) यत् (शूलम्) शु शीघ्रं लाति बोधं गृह्णाति येन तद्वचः पृषोदरादित्वात् साधु। (अभ्यवधावति) गच्छति तत् (भूम्याम्) (मा श्रिषत्) (तृणेषु) (मा श्रिषत्) किन्तु तच्च (उशद्भ्यः) कामयमानेभ्यः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (रातम्) दत्तम् अस्तु।

भावार्थः—हे मनुष्याः यानि ज्वरादिपीडितान्यङ्गानि भवेयुस्तानि वैद्येभ्यो नीरोगाणि कार्याणि तैर्यदौषधं दीयेत तद्रोगिभ्यो हितकरं भवति॥

अर्थात् हे मनुष्यो ! जो ज्वर आदि से पीड़ित अङ्ग हों उन्हें वैद्यजनों से नीरोग कराना चाहिए क्योंकि उन वैद्यजनों द्वारा जो औषध दिया जाता है वह रोगीजन के लिए हितकारी होता है; एवं मनुष्य को व्यर्थ वचनों का उच्चारण न करना चाहिए, किन्तु विद्वानों के प्रति उत्तम वचनों का ही सदा प्रयोग करना चाहिए।

अश्व की हिंसा का तो **इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु॥** (यजुः० १३.४७) इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्पष्ट निषेध है, जिसकी व्याख्या करते हुए शतपथकार ने लिखा है कि—**इमं मा हिंसीरेकशफं पशुमित्येकशफो वा एष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसीरिति।** (शत० पृ० ६६८) एकशफ पशु से तात्पर्य अश्व का है अर्थात् उसकी हिंसा न कर। इस सूक्त में भी पशुहिंसा का बार-बार निषेध है। **अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत।** यजुः० २५.४१। अश्व-शिक्षक इस अश्व के गात्रों को (वयुना) ज्ञानपूर्वक अच्छिद्र वा दोषरहित कर दे (परुष्परनुघुष्या विशस्त) प्रत्येक मर्मस्थल में अनुकूलता से घोषणा करके जो दोष हैं उनका निवारण कर दे।

मा त्वा तपत् प्रिय आत्माऽपि यन्तं मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्ताऽतिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः॥ — यजुः० २५.४३

इस मन्त्र में भी यही उपदेश है कि—**सर्वैर्मनुष्यैः स्व स्व आत्मा शोके न निपातनीयः, कस्याप्युपरि वज्रो न निपातनीयः, कस्याप्युपकारो न विच्छेदनीयश्च॥**

अर्थात् सब मनुष्यों को चाहिए कि अपनी आत्मा को शोक में न डालें, किसी के भी ऊपर वज्र न छोड़ें और किसी के किये हुए उपकार को नष्ट वा विस्मृत न किया करें। इस प्रकार 'मा स्वधितिस्तन्त्र आतिष्ठिपत् ते' शब्दों द्वारा पशुहिंसापरक अर्थ करना सर्वथा अनुचित है। पौराणिकों तथा वाममार्गी लोगों ने अज्ञानवश यह कल्पना की कि जिन पशुओं की यज्ञों में बलि दी जाती है वे स्वर्ग को जाते हैं और यजमान भी ऐसे यज्ञ कराने में स्वर्ग को जाता है। किन्तु यह युक्ति तथा सामान्य बुद्धिविरुद्ध अन्धविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसी का उपहास करते हुए चार्वाक मत प्रवर्तक ने कहा था कि—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन, तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
—सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक दर्शन

अर्थात् यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा हुआ पशु स्वर्ग को जा सकता है तो यजमान अपने पिता को मारकर क्यों न सीधा स्वर्ग को भेज देता ?

इस मिथ्या विश्वास का आधार मध्यकालीन आचार्यों ने निम्न मन्त्र को बनाया और उसका अनर्थ कर दिया—

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि पथिभिः सुगेभिः॥ ऋग्० १.१६२.२१। यजुः० २५.४४॥

इसका अर्थ अश्वपरक लगाया गया कि (न वा उ) नैव खलु एतन्म्रियसे वा शब्द एवकारार्थः। उ इत्यवधारणं। नैवेदानीम् इतराश्ववन्मृतो भवसि देवत्वप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव (न रिष्यसि) न हिंस्यसे व्यर्थहिंसाया अभावात्। ननु

प्रत्यक्षोऽवयवोनाशश्च दृश्यते कथमेवमुच्यत इति उच्यते (सुगेभिः) शोभनगमनसाधनैः (पथिभिः) मार्गैः देवयानलक्षणैः (देवान् इत् एषि) देवानेव प्राप्नोषि अतो युक्तैषा युक्तिः । (सायणभाष्यम्)

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखा है कि हे अश्व ! तू अन्य अश्वों की तरह मरता नहीं, क्योंकि तुझे देवत्व-प्राप्ति होगी और न हिंसित होता है, क्योंकि व्यर्थ हिंसा का यहां अभाव है । प्रत्यक्ष रूप में अवयव-नाश होते हुए ऐसा कैसे कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं कि सुन्दर देवयान-मार्गों से देवों को तू प्राप्त होता है, इसलिए यह हमारा कथन सत्य है । ऐसा ही उव्वट, महीधरादि ने लिखा है, किन्तु यह सर्वथा अशुद्ध अर्थ है, क्योंकि विवेक तथा ज्ञानादि-रहित अश्व को देवत्व की प्राप्ति असंभव है ।

मन्त्र का सीधा और सच्चा अर्थ यह है कि (न) (वै) निश्चये (उ) वितर्के (एतत्) चेतनस्वरूपम् एतद् विज्ञानं प्राप्य (म्रियसे) (न रिष्यसि) हंसि (देवान्) विदुषो दिव्यान् पदार्थान् वा (इत्) एव (एषि) प्राप्नोषि (पथिभिः) मार्गैः सुखेन गच्छन्ति एभिः ।

भावार्थः—यथा विद्या संयुक्तैर्वायुजलाग्निभिर्युक्ते रथे स्थित्वा मार्गान् सुखेन गच्छन्ति तथैवात्मज्ञानेन स्वस्वरूपं नित्यं बुद्ध्वा मरणहिंसात्रासं विहाय दिव्यानि सुखानि प्राप्नुयुः ।

अर्थात् जैसे विद्या से अच्छे प्रकार प्रयुक्त अग्नि, जल, वायु इत्यादि से युक्त रथ में स्थित हो के मार्गों को सुख से जाते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान से अपने स्वरूप को नित्य जान के मरण और हिंसा के डर को छोड़कर दिव्य सुखों को प्राप्त हों । कहां महर्षि दयानन्दकृत यह सच्चा उत्तम अर्थ जो इन शब्दों से स्पष्टतया सूचित होता है और कहां मध्यकालीन आचार्यों और उनके अनुगामी मैक्समूलर, ग्रिफिथ आदि कृत बुद्धिविरुद्ध अन्धविश्वाससूचक उपहासजनक अर्थ ! इसमें आकाश-पाताल का अन्तर है ।

ग्रन्थ-विस्तार के भय से सब मन्त्रों के सत्यार्थ को प्रकाशित करना यहां सम्भव नहीं, तथापि स्थालीपुलाक-न्याय से कुछ मन्त्रों का विवेचन किया गया है । इतने से निष्पक्ष विद्वान् समझ जायेंगे कि यज्ञों में पशुहिंसा वेदादि सत्यशास्त्रविरुद्ध है । अज्ञान, स्वार्थ और लोभ के कारण उसे धूर्त लोगों ने प्रवृत्त किया ।

अब हम गौओं की बलि तथा गोमांस-भक्षणादि के विषय में जो भ्रम 'वैदिक एज्' तथा अन्य ग्रन्थों में फैलाये गये हैं उनका सप्रमाण विवेचन करेंगे, क्योंकि यह विषय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

वेदों के अनुसार गोवध महापाप

The Rigveda and Vedic Religion नामक पुस्तक के लेखक क्लैटन ने Animal sacrifices वा पशुयाग शीर्षक देकर अपनी उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है कि—

'At one sacrifice, probably a very unusual sacrifice, performed once in five years called the Pancha Sharadiya Sava, seventeen young cows were offered. Bullocks, buffaloes and deer were also sacrificed. Some time in large numbers. The white Yajurveda mentions 327 domestic animals, including oxen, cows, milch cows, that are to be offered along with the horse at the great horse-sacrifice.'

—*The Rigveda and Vedic Religion* by Clayton

अर्थात् एक यज्ञ में जो सम्भवतः बड़ा असाधारण था १७ जवान गौओं की बलि दी जाती थी । बैलों, भैंसों और हरिणों की भी कई बार बहुत बड़ी संख्या में बलि दी जाती थी । शुक्ल यजुर्वेद में ३२७ पालतू पशुओं का वर्णन मिलता है, जिनमें बैलों, गौओं, दूध देनेवाली गौओं का भी समावेश है जिनकी बलि घोड़ों के साथ अश्वमेध यज्ञ में दी जाती थी ।

क्लैटन के इस अत्यन्त अशुद्ध लेख का आधार डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र की Indo-Aryans नामक पुस्तक है, जिसमें आर्यों को गोमांस-भक्षक और मद्यसेवी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है । प्राय: सभी पाश्चात्य लेखकों ने इसी तरह की बात लिखी है । 'वैदिक एज्' के लेखक भी अनेक अंशों में पाश्चात्य लोगों के ही विचारों से प्रभावित हैं, अत: उन्होंने इस विषय में कई परस्पर-विरुद्ध विचारों की खिचड़ी पका दी है, जिसका दिग्दर्शन करा कर हम उसकी सप्रमाण मीमांसा करेंगे । वैदिक काल के विवाह-संस्कार का वर्णन करते हुए पृ० ३८९ पर वे यह लिखने का दुस्साहस करते हैं कि—

'The guests are entertained with the flesh of cows got killed on the occasion (of marriage).' —*Vedic Age,* P. 389.

अर्थात् अतिथियों को उस अवसर पर मारी गई गौओं के मांस से तृप्त किया जाता है । वस्तुत: उनका ऐसा लिखना सर्वथा अशुद्ध है । गौओं को वेदों में सर्वत्र अघ्न्या और अदिति के नाम से पुकारा गया है जिसका अर्थ ही अहन्तव्या और अखण्डनीया अर्थात् जिसकी कभी किसी अवस्था में भी हिंसा न करनी चाहिए, यह है । ऋग्वेद तथा अन्य सभी वेदों में गौ के लिए अघ्न्या शब्द का बार-बार प्रयोग किया गया है, जिनमें से उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को हम यहां उद्धृत करते हैं—

(१) **सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।**
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ऋग्० १. १६४. ४० ॥

यहां गौ को 'अघ्न्या' इस नाम से सम्बोधन करते हुए, जिसका अर्थ स्पष्टतया इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कि जिसे कभी न मारना चाहिए, कहा गया है कि तू तृण तथा शुद्ध जल का सेवन करके सदा स्वस्थ रह । हम भी तेरे उत्तम सात्त्विक दूध का सेवन करते हुए धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्ययुक्त हों ।

(२) **हिंकृण्वती वसुमती वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।**
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ऋग्० १. १६४. २७ ॥

यहां भी गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग है और उसे आरोग्यादि सौभाग्य का कारण बताया गया है ।

(३) **अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य सन्दृग् देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु ।**
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ॥ ऋग्० ४. १. ६ ॥

इस मन्त्र में भी गौ को अघ्न्या के नाम से पुकारते हुए परमेश्वर के दर्शन की उसके पवित्र, तपाये हुए घी के साथ उपमा दी गई है । साथ ही उसकी स्पृहणीय (चाहने योग्य) शक्ति और बुद्धिवर्धक दुग्धधारा के समान प्रभुदर्शन को बताया गया है ।

(४) **घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः ॥ ऋग्० ५. ८३. ८ ॥**

अर्थात् कभी न मारने योग्य गौ के जल पीने आदि की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए और उसके शुद्ध घृत से पृथिवी और आकाश को भर देना चाहिए । गौघृत से ही हवन की सूचना भी इस मन्त्र से मिलती है ।

(५) **एष स्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे बुधान उषसां सुमन्मा ।**
इषां तं वर्धदघ्न्या पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ऋग्० ७. ६८. ९ ॥

इस मन्त्र में कर्मशील स्तोता का वर्णन किया गया है कि उत्तम विचारोंवाला उषःकाल से पूर्व ही जाग जाता है और अघ्न्या (कभी न मारने योग्य गौ) उसको अपनी दुग्धधारा से बढ़ाती है ।

(६) नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥

— ऋग्० ८. ६९. २, साम० १५१२

यहां भी 'धेनूनाम्' अर्थात् गौओं का विशेषण 'अघ्न्यानाम्' (न मारने योग्य) आया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऋग्० ९. १. ९ में कहा है—

(७) अभी ममघ्न्या उत श्रीणन्ति धेनवः शिशुम्। सोममिन्द्राय पातवे ॥

यहां भी 'धेनवः' (गौओ) का विशेषण 'अघ्न्या' आया है, जिसका अर्थ कभी न मारने योग्य है और शिशुओं के लिए उसके दूध को अत्यधिक लाभदायक बताया गया है। ऋग्० ९. ९३. ३ में कहा है—

(८) उत प्र पिप्य ऊधरघ्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः।
मूर्द्धानं गावः पयसा चमूष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥

इस मन्त्र में गौओं को 'अघ्न्या' के नाम से पुकारते हुए कहा गया है कि उत्तम बुद्धि-सम्पन्न, सौम्य स्वभावयुक्त विद्वान् गोदुग्ध का सेवन करके लाभ उठाता है। ऋग्वेद में कहा है—

(९) नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥

यहां भी गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग है और उपदेश दिया गया है कि इसके उत्तम सेवन से तेरा पाप दूर हो जाये। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' के अनुसार गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करने से चित्तशुद्धि में भी सहायता मिलती है।

(१०) ऋग् १०. ८७. १६ में गौ को अघ्न्या के नाम से पुकारते हुए उसके दूध का जबर्दस्ती अपहरण करने तथा उसे मारनेवाले के लिए अति कठोर दण्ड का विधान है—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

इस मन्त्र में अश्व तथा अन्य पशुओं के मांसभक्षण को भी न केवल पाप बताया गया है बल्कि ऐसे यातुधान-हिंसक पापी के लिए प्राणदण्ड का विधान है—यदि वह प्रेम से समझाने-बुझाने पर न माने। इसी मन्त्र के अनुसार मनु महाराज ने लिखा है कि—**यक्ष रक्षः पिशाचान्नं, मद्यं मांसमथासवम् ॥**

अर्थात् मांस, मद्य तथा आसवादि मादक द्रव्यों का सेवन यक्ष, राक्षस, पिशाचादि करते हैं; धर्मात्माओं को कभी इनका सेवन न करना चाहिए।

ये ऋग्वेद के १० मन्त्र हमने उदाहरण के रूप में उद्धृत किये हैं, जिनमें गौ को अघ्न्या के नाम से पुकारते हुए सर्वथा अहन्तव्या वा न मारने योग्य बताया गया है। ऐसे ही अन्य सैकड़ों मन्त्र हैं, जिन सब को ग्रन्थविस्तार के भय से उद्धृत करना यहां संभव नहीं। गोघातकों को राज्य से निकाल देने और उनका सर्वस्वहरण तक करने का आदेश अनेक मन्त्रों में हैं। उदाहरणार्थ ऋग् १०. ८७. १० तथा अथर्व० ८. ३. १६ में कहा है—

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥

अर्थात् यदि (यातुधानाः) प्रजापीड़क लोग (गवाम्) गौ आदि पशुओं को (विषम् भरन्ताम्) विष दें और उन्हें मार डालें और यदि (दुरेवाः) दुष्ट आचरण के लोग (अदितये) गाय को (आवृश्चन्ताम्) काटें, तब (सविता देवः) सबका प्रेरक राजा

(एनान्) इनको (परा ददात्) राज्य से बाहर निकाल दे या इनका सर्वस्व हर ले और वे (ओषधीनाम्) अन्न और ओषधियों के भाग को (न पराजयन्ताम्) न पा सकें ।

अघ्न्या शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त ऋग्वेद के ८. १०१. १५ के निम्न मन्त्र में गौ की हत्या का निषेध स्पष्ट आदेशरूप में विद्यमान है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्रनु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

अर्थात् रुद्र ब्रह्मचारियों की माता के समान ममतामयी, वसु ब्रह्मचारियों के लिए दुहिता के समान प्रिय, आदित्य ब्रह्मचारियों के लिए बहिन के समान स्नेहशीला, दुग्धरूप अमृत के केन्द्र इस (अनागाम्) निर्दोष (अदितिम्) अखण्डनीया (गाम्) गौ को (मा वधिष्ट) कभी मत मार, ऐसा मैं (चिकितुषे जनाय) प्रत्येक विचारशील मनुष्य के लिए (प्रनुवोचम्) उपदेश करता हूं ।

'अथर्वसंहितोपनिषच्छतकम्' के लेखक स्वा० महेश्वरानन्द ने 'माता रुद्राणाम्' इस मन्त्र की व्याख्या में रुद्राणाम्—क्षत्रियाणाम्, वसूनाम्—वैश्यानाम्, आदित्यानाम्—ब्राह्मणानाम् ऐसा अर्थ किया है । (पृ० ३९२)

यजुर्वेद में गोवधनिषेध

ऋग्वेद के समान यजुर्वेद में भी गौ के महत्त्व को सूचित करनेवाले और उसकी हिंसा का न केवल निषेध करने वाले बल्कि उसकी हत्या करनेवाले के लिए प्राणदण्ड तक का विधान करनेवाले अनेक मन्त्र हैं । उदाहरणार्थ यजुर्वेद १३. ४९ में निम्न आदेश है—

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥

हे (अग्ने) दया को प्राप्त हुए परोपकारी राजन् ! तू (जनाय) मनुष्यादि प्राणी के लिए (इमम्) इस (साहस्रम्) असंख्य सुखों का साधन (शतधारम्) असंख्य दूध की धाराओं के निमित्त (व्यच्यमानम्) अनेक प्रकार से पालन के योग्य (उत्सम्) कुएं के समान रक्षा करनेवाले वीर्यसेचक बैल के समान (घृतम्) घी को (दुहानाम्) पूर्ण करती हुई (अदितिम्) कभी न मारने योग्य गौ को (मा हिंसीः) मत मार । राजा के लिए इस आदेश का तात्पर्य यह है कि वह राज्य में विधि वा कानून द्वारा गोवध (गौओं, बैलों, भैंसों तथा बछड़ों आदि का वध) बन्द करा दे । यदि कोई इस आदेश का उल्लंघन करे तो उसके लिए यजुः० ३०. १८ में विधान है—**अन्तकाय गोघातकम् ॥** अर्थात् जो गोहत्या करनेवाला हो उसे मृत्युदण्ड दिया जाय । इससे बढ़कर गोहत्या को महापाप और महान् अपराध सिद्ध करनेवाला अन्य आदेश क्या हो सकता है ?

अथर्ववेद में गोवधनिषेध

अथर्ववेद में भी अन्य वेदों के समान गोवधनिषेधक तथा गोरक्षाप्रतिपादक अनेक स्पष्ट मन्त्र पाये जाते हैं । अघ्न्या शब्द का भी गौ के लिए बहुत स्थानों पर प्रयोग है । उदाहरणार्थ अथर्व० ३. ३०. १ में कहा है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

इस मन्त्र में भगवान् की ओर से उपदेश है कि मैं तुम्हारे हृदय और मन को मिलाता और द्वेषभाव को दूर करता हूं । तुम आपस में ऐसा प्रेम करो और एक-दूसरे की ऐसी कामना करो जैसे गौ नवजात बछड़े के साथ प्रेम करती है । यहां गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ अहन्तव्या (कभी न मारने योग्य) है ।

ऋग्वेद के समान ही गौओं की महिमा का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में भी कहा गया है—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥ —अथर्व० ४. २१. ७

अर्थात् तुम दुर्बल व्यक्ति को भी अपने अमृत-समान दुग्ध द्वारा बलवान् बनाती हो, तुम्हारी वाणी बड़ी उत्तम है, जिससे तुम घर को कल्याणमय बना देती हो। तुम्हारी महिमा का बड़ी-बड़ी सभाओं में गान किया जाता है।

जिन गौओं की इतनी महिमा हो, जिनके इतने उपकार हों, क्या उनकी हंत्या का वेदों में कभी आदेश हो सकता है? अघ्न्या शब्द ही इसका उत्तर दे रहा है, तथापि इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा गया है—

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ अथर्व० ४. २१. ७॥

अर्थात् हे गौओ ! तुम प्रजाओं से सम्पन्न होकर उत्तम घासवाले चरागाहों में विचरो। सुखपूर्वक जिनसे जल पिया जा सके ऐसे जलाशयों में से शुद्ध जल को पियो। चोर और घातक तुम्हारा स्वामी न बने, क्रूर पुरुष का शस्त्र भी तुम्हारे ऊपर न गिरे। इस प्रकार गोवध का सर्वथा निषेध कर दिया गया है, तथापि जो दुष्ट ऐसा महापाप करें उन्हें क्या दण्ड दिया जाये इसका विधान अथर्व० १. १. ६४ में इन स्पष्ट शब्दों में किया गया है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥
—अथर्व० १. १६. ४

अर्थात् हे दुष्ट ! यदि तू हमारे गाय, घोड़े आदि पशुओं की हत्या करेगा तो हम तुझे सीसे की गोली से उड़ा देंगे।

यहां भी ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों की तरह (जिन्हें पहले उद्धृत किया जा चुका है) गोघातक के लिए प्राणदण्ड का विधान किया गया है।

वेदों के इतने स्पष्ट आदेश, गोपालन और गोवधनिषेध-विषयक होते हुए यह कल्पना भी करना नितान्त असङ्गत है कि वैदिक आर्य यज्ञों में गोवध किया करते थे। यदि कोई राक्षस (जिन्हें वेदों में यातुधान वा हिंसक के नाम से पुकारते हुए अत्यन्त निन्दनीय बताया गया है) ऐसा पाप करते होंगे—जैसे कि प्रत्येक समय में अच्छे-बुरे व्यक्ति अधिक या कम मात्रा में होते हैं—तो उनके इस कार्य को किसी प्रकार भी शिष्टानुमोदित नहीं माना जा सकता। ऐसों के लिए तो वेद मृत्युदण्ड का ही विधान करते हैं जैसा ऊपर सप्रमाण दिखाया जा चुका है। इसीलिए महाभारत शान्तिपर्व अ० २६२.४९ में ठीक ही कहा है कि—**अघ्न्या इति गवां नाम, क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराकुशलं, वृषं गां वालभेत्तु यः॥** अर्थात् गौओं का नाम ही अघ्न्या है, इन्हें कौन मार सकता है? जो गाय और बैल को मारता है वह महापाप वा अनर्थकारक कार्य करता है।

गौतम बुद्ध की साक्षिता

यज्ञों में पशुहिंसा के प्रबल विरोधी महात्मा गौतम बुद्ध ने भी ब्राह्मण धम्मिक सुत्त में वैदिक और प्राचीन आर्यों के विषय में कहा है कि चावल, घी आदि मांगकर उनसे यज्ञ करते थे और उनमें पशुहिंसा न करते थे। उनकी गौओं के विषय में जो श्रेष्ठ भावना थी, उसका निर्देश करते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा कि—

यथा माता पिता भ्राता, अच्छे वापि च जातका। गावो नो परमामित्ता, यासु जायंति ओसधा॥ १३
अन्नदा बलदा चेता, बण्णदा सुखदा तथा। एतमत्थवसं ज्ञात्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते॥

अर्थात् जैसे माता-पिता, भाई और दूसरे बन्धु हैं वैसे ही गौएं परम मित्र हैं, जिनसे दवा पैदा होती है। यही अन्न, बल, वर्ण (रूप) तथा सुख देनेवाली हैं, इस बात को जानकर वे गौ को नहीं मारते थे। (ब्राह्मण धम्मिक सुत्त)

किस प्रकार लोभवश कुछ ब्राह्मणों ने वेद को तोड़-मरोड़कर उसके अनुरूप झूठे मन्त्र घड़े, इत्यादि वर्णन ब्राह्मण धम्मिक सुत्त में विस्तार से आया है, जिसके उल्लेख की यहां विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। श्री धर्मरक्षित जी ने उपर्युक्त अनुवाद की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि—

'यह सर्वसिद्ध है कि प्राचीन वैदिक ग्रन्थ हिंसामूलक न थे। मूल वैदिक धर्म बुद्ध-सिद्धान्त के प्रतिकूल न था। भगवान् बुद्ध ने गोहिंसा के प्रति स्पष्ट शब्दों में कहा था—**एवमेसो अनुधम्मो पोराणो विञ्ञ गरहितो**। अर्थात् यह गोहिंसा इस प्रकार पुराने विद्वानों द्वारा निन्दित नीचकर्म है, इत्यादि।'

'वैदिक एज्' के लेखकों का भ्रम

'वैदिक एज्' के लेखकों ने इस विषय में अनेक परस्पर-विरुद्ध तथा कपोलकल्पित बातें लिख दी हैं। हम उनके ग्रन्थ से उद्धरण देकर उसका सप्रमाण निराकरण करेंगे। वे अपनी पुस्तक के पृ० ३९३ पर लिखते हैं—

"The cow receives the epithet Aghnya (अघ्न्या) not to be killed in the Rigveda, and is otherwise a very valued possession. It is difficult to reconcile this with the eating of beef, but we may get some explanation if we remember the following—

(i) It was the flesh of the ox rather than of the cow that was eaten. A distinction was definitely made. (Vedic Age P. 393)

(ii) The flesh of the cow (if at all) was eaten at the sacrifices only and it is well-known that one sacrifices one's dearest possession to please the gods.

(iii) Even in the Rigveda only vashas (वशाः—barren cows) were sacrificed. For example, Agni is called in VII. 43. 11. as वशान्नः The expression अतिथिनीर्गाः (cows fit for guests in X. 683) implies the same distinction.

(*Vedic Age* P. 393)

अर्थात् ऋग्वेद में गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है न मारने योग्य और यह एक बहुमूल्य सम्पत्ति मानी गई है। इसका गोमांस-भक्षण के साथ समन्वय करना कठिन है, किन्तु यदि निम्न बातों को हम ध्यान में रखें तो कुछ व्याख्या हो सकती है—

(१) बैल का मांस खाया जाता था, गाय का नहीं।

इसका पूर्वोद्धृत 'The guests are entertained with the flesh of the cows killed on occasion of marriage.' (*Vedic Age*, P. 389)

अर्थात् वैदिक युग में विवाह के अवसर पर अतिथियों को तत्काल मारी गई गौओं के मांस से तृप्त किया जाता था, विरोध स्पष्ट है।

(२) यदि गाय का मांस खाया जाता था (if at all) तो वह केवल यज्ञों के अवसर पर ही, क्योंकि यह सर्वविदित है कि देवों को प्रसन्न करने के लिए अपनी प्रियतम वस्तु का भी मनुष्य परित्याग कर देते हैं ।

आलोचना—यह बात भी सर्वथा अशुद्ध (भ्रान्त) है क्योंकि यज्ञों को सारे वैदिक साहित्य में अध्वर के नाम से पुकारा गया है, जैसे कि इस अध्याय में अनेक प्रमाण देकर दिखाया गया है । यज्ञ-जैसे पवित्र कार्य में गोमांस-भक्षण की कल्पना करना भी नितान्त असङ्गत है । मांस खाने से तो यज्ञ और व्रत ही भङ्ग हो जाता है तथा उसका प्रभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है, जैसा निम्नलिखित ब्राह्मण-ग्रन्थों के वचनों से भी स्पष्ट है—

(क) **न मांसमश्नीयात्, न मिथुनमुपेयात् यन्मांसमश्नीयात्, यन्मिथुनमुपेयादिति न त्वेवैषा दीक्षा** । अर्थात् मांस न खाए, और मैथुन न करे । यदि मांस खाए और यदि मैथुन करे तो यह दीक्षा ही नहीं रहती ।

(ख) तैत्तिरीय १. १. ९. ७, ८ में कहा है—**न मांसमश्नीयात् । न स्त्रियमुपेयात् । यन्मांसमश्नीयात् यत्स्त्रियमुपेयात् निर्वीर्यः स्यात् नैनमग्निरुपनमेत्** ॥ अर्थात् मांस न खाए । मैथुन न करे । यदि मांस खाए और मैथुन करे तो यज्ञ करनेवाला निर्वीर्य वा निष्प्रभाव बन जाता है । उसकी संकल्पाग्नि प्रज्वलित नहीं होती ।

ऐसे ही ताण्ड्य महाब्राह्मण १७. १३. ११. १४ में लिखा है—**यजमानः अहतं वसानो ऽवभृथादुपैति । न मांसमश्नाति न स्त्रियमुपैति** ॥ अर्थात् यजमान शुद्ध नवीन वस्त्र को धारण किये हुए दीक्षान्त पर होनेवाले अवभृथ स्नान को करता है, वह न मांस खाता है और न यज्ञ की समाप्ति तक मैथुन करता है ।

ऐसे ही अन्य भी '**अमांसाश्यनुब्रूते तपस्व्यानुब्रवा इति** (शत० १४. १. १) इत्यादि को उद्धृत किया जा सकता है ।'

इस प्रकार के वचनों से यह स्पष्ट है कि मांस के न केवल साधारणतया किन्तु यज्ञादि पवित्र अवसरों पर भी प्रयोग को सर्वथा वर्जित माना जाता है, फिर अघ्न्या के नाम से पुकारी जाने वाली गौ के मांस की तो बात ही क्या कहनी है ! गोमांसभक्षक को तो चाण्डाल समझा जाता था और 'अन्तकाय गोघातम्' यजुः० ३०. १८ के अनुसार उसके लिए प्राणदण्ड तक का विधान था । त्याग का अर्थ काम, क्रोध, लोभ, मोहादि का परित्याग है, न कि गौ जैसे उपकारी प्राणी की हत्या ।

(२) बैल का मांस खाया जाता था, यह बात भी अशुद्ध है । वेदों में जैसे गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग है वैसे बैल के लिए भी 'अघ्न्य' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर पाया जाता है । उदाहरणार्थ—

विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्पारमस्य । ज्योतिरापाम् ॥ —यजुः० १२. ७३

इस मन्त्र में 'अघ्न्याः' शब्द बैलों के लिए आया है । सायणाचार्य ने काण्वसंहिता अ० १३ के भाष्य में लिखा है हे (अघ्न्याः) अहन्तव्या गावो बलीवर्दाः यूयं विमुच्यध्वम्—युगानि मुञ्चत ।

कात्यायनः—अनडुहो विमुच्यध्वमितीति बलीवर्दान् विसृजेत् । (सायणाचार्यकृत काण्वसंहिता-भाष्य)

कात्यायन श्रौत सूत्र में भी अघ्न्याः का अर्थ अहन्तव्य बलीवर्द (बैल) लेकर इस ऊपर उद्धृत मन्त्र का वृषभोत्सर्ग में विनियोग किया गया है । उसी के प्रमाण से सायणाचार्य ने अर्थ किया है जो स्पष्ट है ।

अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त ४ में निम्न मन्त्र आता है, जिसमें बैल के लिए अघ्न्य शब्द का प्रयोग अति स्पष्ट है—

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषशा । शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥

— अथर्व० ९. ४. १७

अर्थात् गौओं का (अघ्न्यः) अहिंसनीय पति बैल सींगों से राक्षसों अर्थात् विघ्नों को, आंखों से जीविका के अभाव को नष्ट करता है और कानों से कल्याण की बात सुनता है।

भाव—बैल सींगों से अपनी रक्षा स्वयं करता है, परन्तु मानव-समाज को भी उसकी रक्षा में भाग लेना चाहिए। यद्यपि वह चारा देख लेता और पेट भर लेता है, परन्तु हमें भी उसके भोजन की योजना रखनी चाहिए। उसे मीठी और प्यारी बातें सुनने का अभ्यास कराना चाहिए। उसके सींग भी उसकी रक्षा के साधन ही रहने चाहिएं। किसी अन्य के लिए वे हानिकारक न हों—ऐसा अभ्यास हम उसे करा सकते हैं।

इसी सूक्त के १९वें मन्त्र में भी 'अघ्न्यानाम्' यह षष्ठी-बहुवचनान्त प्रयोग है, जो अघ्न्य और अघ्न्या दोनों से बनता है और वस्तुतः दोनों के लिए उपयुक्त है, यथा—

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्वा वरीयः कृणुते मनः। पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते॥

अर्थात् ब्राह्मणों को ऋषभ (बैल) का दान करके यह दाता अपने को स्वार्थत्याग द्वारा श्रेष्ठ बनाता है। वह अपनी गोशाला में बैलों और गौओं की पुष्टि देखता है। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऋषभ के दान का इस तथा अन्य मन्त्रों में विधान है, न कि उसकी हत्या का। २०वें मन्त्र में भी—

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलन्। तत्सर्वमनुमन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥

यही बताया गया है कि जो सत्पात्र में वृषभ का दान करता है उसकी गौएं-सन्तानादि उत्तम रहती हैं तथा उसे शारीरिक बल आदि की भी विद्वानों के आदेशानुसार कार्य करने से प्राप्ति होती है। उक्षा, ऋषभादि शब्दों पर कुछ विशेष विचार हम आगे करेंगे।

(३) तीसरी बात जो 'वैदिक एज्' के लेखकों ने इस गोमांसादि-भक्षण के प्रसङ्ग में लिखी है वह यह है कि ऋग्वेद में भी केवल वशाओं अर्थात् वंध्या गौओं की बलि देने का विधान है। उदाहरणार्थ ऋग्० ८. ४३. ११ में अग्नि को वशान्न के नाम से पुकारा गया है। अतिथिनीर्गाः-अर्थात् अतिथियों के योग्य गौएं—यह प्रयोग ऋग्वेद १०. ६८. ३ में पाया जाता है।

समीक्षा—लेखक का कहना कि ऋग्वेद में वशा के नाम से वन्ध्या गौओं की अग्नि में आहुति देने का विधान है यह भी सर्वथा अशुद्ध है। जिस मन्त्र का निर्देश उन्होंने इस प्रसङ्ग में किया है उसका अर्थ समझने में उनसे भयङ्कर भूल हो गई है। वह मन्त्र यह है—**उक्षान्नाय वशान्नाय, सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये॥** ऋग्० ८. ४३. ११॥

इस मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टि से अनेक अर्थ हैं। अग्नि नाम से जब परमेश्वर का ग्रहण किया जाये जैसे 'ब्रह्माग्निः' (शत० १. ३. ३. १९) इत्यादि में सूचित किया गया है तो उसका अर्थ यह होता है कि उक्षेति महन्नाम (निघं० ३. ३.) महान् सूर्यादि भी जिसके प्रलयकाल में अन्न वा भोज्य के समान हो जाते हैं और इयं (पृथिवी) वै वशापृश्निः (शत० १. ८. ३. १५), इयं (पृथिवी) वै वशा पृश्निः (शत० ५. १. ३.) के अनुसार वशा—पृथिवी यह भी जिसके अन्न के समान भोज्य है ऐसे (वेधसे) सर्वज्ञ (अग्नये) परमेश्वर की (स्तोमैः नमसा विधेम) नमस्कारपूर्वक स्तुतियों से सेवा करते हैं।

आधिभौतिक अग्निपरक अर्थ लेने में उक्षा और वशा के अर्थों पर विचार करना आवश्यक है। इन शब्दों के अर्थ प्रायः बैल और वन्ध्या गौ ये समझ लिये जाते हैं, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। यज्ञ प्रकरण में उक्षा और वशा दोनों शब्दों के ओषधिपरक अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए, जिन्हें अग्नि में डाला जाता है। उक्षा शब्द का अर्थ 'वाचस्पत्य बृहदभिधान'

में सोम भी दिया है। ऐसे ही श्री शिवराम आप्टे की Sanskrit English Dictionary में उसका अर्थ सोम और ऋषभौषधि भी दिया है।

सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने भी अनेक स्थानों पर उक्षा का सोमपरक अर्थ किया है। उदाहरणार्थ ऋग्० १. १६४. ४३ के—**उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥** इस मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिखा है—

(उक्षाणम्) फलस्य सेक्तारम् (पृश्निम्) शुक्लवर्णम् प्राश्नुते तेन फलमिति वा स्वयं प्राश्नुत इति वा पृश्निर्वल्लीरूपः सोमः तं (वीराः) विविधप्रेरणाकुशला ऋत्विजः (अपचन्त) अत्र धात्वर्थानादरेण तिङ् प्रत्ययः करोत्यर्थः स च क्रियासामान्यवचनः अत्रौचित्यादभिषवेण सम्पादितवन्तः। (तानि) तत्साधनानि (धर्माणि) अनुष्ठानानि (प्रथमानि प्रतमानि-प्रकृष्टानि फलपर्यवसायीनि (आसन्) सम्पादितान्यभवन् यद् वा सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन् यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते। तत्परत्वेन वा मन्त्रो व्याख्येयो विचक्षणैः। —वैदिक संशोधन संस्था पूना सं० ग १, पृ० १००८-९

यहां उक्षा का सोमपरक अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। उक्षा के पचन से तात्पर्य यहां सोम के पाक अथवा उसकी आहुति से है, यह बात भी ध्यान देने योग्य है।

मोनियर विलियम्स कृत सुप्रसिद्ध Sanskrit English Dictionary के पृष्ठ १७२ में उक्षा का अर्थ देते हुए लिखा है—

उक्षन् Ukshan—Name of Soma (as sprinkling or scattering small drops) name of the maruts—of the sun and Agni—one of the eight chief medicaments Rishabhaka.

—*Sanskrit English Dictionary* by Monior Williams, P. 172

इसके अनुसार उक्षा के अर्थ सोम, सूर्य, ऋषभक नामक ओषधि के हैं। ऋषभक और जीवक का भावप्रकाश में इस प्रकार वर्णन आया है—

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ, हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोनकन्दवत्कन्दौ, निस्सारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥

इस ऋषभक नामक ओषधि का वर्णन अथर्व० १९. ३६. ५ में निम्नानुसार है—

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः। दुर्णाम्नः सर्वांस्तृढ्वाऽवरक्षांस्यक्रमीत्॥

अर्थात् यह सुवर्ण के समान चमकते हुए शृङ्गों वाला ऋषभ महौषध बुरे नाम वाले त्वचा के सब दूषक रोगों की हिंसा करके कृमियों को नष्ट करता है।

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च। तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥

—अथर्व० का० ३. २३. ४

इत्यादि प्रमाणों से ऋषभ का वीर्यवर्धक औषध होना सिद्ध है।

अग्नि को जब उक्षान्न कहा जाता है तो उसका अर्थ यह है कि अग्नि में सोम अथवा ऋषभ नामक महौषध डाले जाते हैं जो सबके लिए आरोग्यदायक होते हैं। वशा शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं, यथा—

वशा हि सत्यावरुणस्य राज्ञः॥ —अथर्व १. १०. १

यहां वशा का अर्थ ईश्वरीय नियम वा नियामक शक्ति है।

इयं वै पृथिवी वशा पृश्निः ॥ —शत० १. ८. ३. १५

आदि के अनुसार उसका अर्थ पृथिवी भी है।

वशायाः पुत्रमायन्ति ॥ — अथर्व० २०. १०३. १५

के अनुसार सन्तान को वश में रखनेवाली उत्तम स्त्री के लिए भी वशा का प्रयोग होता है। इस प्रकार अनेक अर्थ होने पर भी यज्ञप्रकरण में वशा एक ओषधिवाचक है, जिसे मेदा के नाम से भी कहा जाता है। मेदा महौषधि के निम्नलिखित नाम वैद्यक निघण्टु में दिये गये हैं—मेदा, धीरा, मणिच्छिद्रा, मधुरा, जीवनी, रसा, मेदोद्‌भवा, श्रेष्ठा, विभावरी, वशा, शल्यपर्णिका, मेदसारा, स्नेहवती, मेदिनी, स्निग्धा, द्रवा, साध्वी, मेदोवती, पुरुषदन्तिका, पल्यपर्णी, छिद्रबहुला, भव्या, जीवनिका, अध्वरा, स्वल्पपर्णी इत्यादि। इसके गुण 'निघण्टु चूड़ामणि' में इस प्रकार बताये गये हैं —

मेदा तु मधुरा शीता, पित्तदाहार्तिकासनुत्। राजयक्ष्मज्वरहरा, वातदोषकरी च सा ॥

अर्थात् यह मेदा (जिसका नाम वशा भी है) मधुर और शीत है; पित्त, दाह, पीड़ा, खांसी एवं वात-रोग आदि को दूर करनेवाली और क्षय रोग का नाश करनेवाली है।

वशान्नाय से तात्पर्य इस वशा वा मेदा नामक महौषधि को अग्नि का अन्न बनाने का है ताकि वह रोगनाशक बन सके। सोमपृष्ठाय—इस विशेषण से भी यही अभिप्राय है कि सोम ओषधि जिसकी पीठ पर मानो सवार है और जो विशेष रूप से धारण करनेवाली है—(डुधाञ्—धारणपोषणयोः)—ऐसी रोगनाशक अग्नि के गुणों का हम वर्णन करते और उसका उपयोग करके लाभ उठाते हैं।

त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः ॥ —ऋग्० २. ७. ५

इत्यादि मन्त्रों का भी वास्तविक अर्थ यही है कि हे सबके भरण-पोषण करनेवाले अग्ने! तेरे अन्दर हम वशा अर्थात् मेदा नामक महौषधि के पत्ते, उक्षा अर्थात् ऋषभक के खण्ड तथा अष्टापदी अर्थात् धतूरे के पत्रादि को डालते हैं। इस अष्टापदी या धतूरे के गुण निम्न प्रकार वैद्यक ग्रन्थों में लिखे हैं—**धतूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत्। कषायो मधुरस्तिक्तो यूकालिक्षाविनाशनः। उष्णो गुरुव्रणश्लेष्मकण्डूकृमिविषापहः ॥** अर्थात् यह ज्वर और कोढ़ का नाश करनेवाला, जुओं और लीखों को दूर करनेवाला, व्रण, कफ, कण्डू (खुजली), कृमि तथा विषनाशक है। इसलिए इसे हवन की अग्नि में डाला जाता है।

इस सत्यार्थ को न समझकर जो मन्त्र का अनर्थ किया गया कि अग्नि में बैलों, वन्ध्या गौओं और गर्भिणी गौओं तक की आहुति दी जाये वह अत्यन्त उपहासास्पद और निन्दनीय है।

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृता मतिं जनय चारुमग्नये ॥ — ऋग्० १०. ९१. १४

इस मन्त्र में भी अश्व, ऋषभ, उक्षा, वशा, मेष ये सब शब्द ओषधिवाचक हैं, जिन्हें अग्नि में डालना चाहिए।

यहां अश्व शब्द अश्वगन्धा नामक महौषधि और मेष शब्द मेषपर्णी नामक महौषधि का वाचक है। भावप्रकाश में अश्वगन्धा, हयाह्वया और राजनिघण्टु में तुरगी, वनजा, वाजिनी और हयी शब्द इस ओषधि के नाम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। **अश्वगन्धानिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा। बल्या रसायनी तिक्ता, कषायोष्णातिशुक्रला ॥**

अश्वगन्धा के भावप्रकाश में ये गुण बताये गये हैं—यह वायु, कफ, श्वेत कुष्ठ, सूजन, क्षय आदि को दूर करनेवाली और वीर्य बढ़ानेवाली रसायन है अत: उसे अग्नि में डालने का विधान है।

मेष नाम यज्ञप्रकरण में मेषपर्णी का है, भेड़ का नहीं जिसे एडक के नाम से भी कहा जाता है और जिसकी गणना शतपथ ब्राह्मण कां १२. ४ में अत्यन्त अपवित्र पशुओं में की है, जिनके असावधानी से यज्ञभूमि में आने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है—**त्रयो ह पशवोऽमेध्या: दुर्वराह:, एडक: श्वा—का तत्र प्रायश्चित्ति: ।**

ऐसी भेड़ की अग्नि में आहुति का विधान आधिभौतिक दृष्टि से कैसे हो सकता है ? अत: मन्त्र का सत्यार्थ यह है कि हे मनुष्यो !(यस्मिन्) जिस अग्नि में (उक्षण:) सेचन-समर्थ अर्थात् पुष्टिकारक—उक्ष सेचने, उक्षा:—उक्षतेर्वृद्धिकर्मण:, (ऋषभाष:) ऋषभ महौषधि के पत्रादि (उत) और (वशा:) मेषपर्णी के पत्र (आहुता अव सृष्टास:) आहुत किये गये हैं ऐसी (कीलालपे) जल की पीनेवाली (सोमपृष्ठाय) सोम ओषधि को भी पीठ पर—अपने मध्य में धारण करनेवाली (वेधसे) सब प्राणियों के पालक (अग्नये) अग्नि के लिए (हृदा) हृदय से प्रसन्नतापूर्वक (चारु मतिम्) सुन्दर स्तुति को (जनय) प्रकट करो। इस सत्यार्थ को न समझकर मध्यकालीन याज्ञिकों ने महान् अनर्थ किया है, जिसका उल्लेख करते हुए भी लज्जा आती है।

मोनियर विलियम्स की सुप्रसिद्ध Sanskrit English Dictionary में एडक, वशा, अष्टपदिका, मेद के ये ओषधिवाचक अर्थ भी दिये हैं—

वशा—Premna Spinosa and Lorgibolia —Latin

According to some Lat Vacca.

अष्टपादिका— The plant Vallaris Dichotomas Wall.

मेद:—A species of Medicinal plant L. (P. 832)

इस प्रकार ऊपर मन्त्रों का जो ओषधिपरक अर्थ किया गया है उसका समर्थन इन प्रमाणों से होता है।

इसी प्रकरण में बृहदारण्यकोपनिषत् के उस वचन पर विचार कर लेना भी उचित प्रतीत होता है जिसे प्राचीन आर्यों को वृषभ-मांसभक्षी बतानेवाले प्राय: उद्धृत करते हैं। वह वचन यह है—

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विनीत: समितिंगम: शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेणवार्षभेण वा ॥

यहां उक्षा और ऋषभ तथा मांसौदन इन तीन शब्दों पर विशेष विचार की आवश्यकता है, जिनसे अनेक पाठकों को भ्रम हो सकता है कि यहां उनके लिए, जो उत्तम वेदज्ञ सन्तान चाहते हैं, मांस और चावल मिलाकर खाने और बैल का मांस खाने का विधान किया गया है, किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है।

उक्षा का अर्थ जैसा वाचस्पत्यबृहदभिदान, Sanskrit English Dictionary by Apte and Monior Williams के प्रमाण देकर पहले भी दिखाया जा चुका है, सोम भी है तथा ऋषभ का अर्थ ऋषभक नामक ओषधि भी। अत: गर्भवती स्त्री तथा उसके पति के लिए सोम और ऋषभक जैसी वीर्यवर्धक ओषधियों के सेवन का यहां विधान किया गया है, न कि बैल के मांस के सेवन का।

सुश्रुत शरीराध्याय २ में गर्भिणी के लिए तो मांसाहार को अत्यन्त हानिकारक, यहां तक कि गर्भोपघातक बताया गया है, यथा—**गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा:—न रक्तानि वासांसि बिभृयात्, न अभ्यवहरेत्, न यानमधिरोहेत्, न मांसमश्नीयात्।**

यहां गर्भिणी के लिए जब मांसाहार का सर्वथा निषेध करते हुए उसकी गणना गर्भोपघातकों में की गई है तो यह कैसे संभव है कि वेदज्ञ उत्तम सात्विक सन्तान की प्राप्ति के लिए उसके सेवन का विधान हो ? इसके पूर्व के सन्दर्भ में क्षीरौदन, दध्योदन, उदौदन आदि का विधान पाया जाता है, अत: विचारशील विद्वानों का यह मत सर्वथा सुसङ्गत प्रतीत होता है कि यहां शुद्ध पाठ 'माषौदनम्' अर्थात् माष से मिले चावल यह होना चाहिए, न कि 'मांसौदनम् ।'

माष का ही गर्भिणी के प्रकरण में अन्य भी अनेक स्थानों पर वैदिक ग्रन्थों में विधान है, यथा—

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिः स्निग्धः सर्पिः क्षीराभ्यां शाल्यौदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद् रात्रौ । —सुश्रुत शरीराध्याय २

अर्थात् पति दूध और घी के साथ चावल खाकर तैल से स्निग्ध शरीरवाली तेल और माष का भोजन जिसने किया है ऐसी अपनी पत्नी के पास रात्रि में जाये । यहां पत्नी के लिए विशेष रूप से माष की दाल के सेवन का विधान स्पष्ट है । एक अन्य स्थल पर भी लिखा है—**मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं, स्त्रियं तु तैलमाषाभ्याम् ।** अर्थात् 'पुरुष को उत्तम सन्तति की प्राप्ति के लिए मधुर ओषधियों से संस्कृत (युक्त) घी और दूध का सेवन करावे और स्त्री को तेल और माष का' इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट है कि यहां शुद्ध पाठ 'माषौदनम्' है । किसी मांस-लोलुप ने इसे मांसौदनम् लिख दिया और फिर धीरे-धीरे यही प्रचलित हो गया ।

इस पर भी यदि किसी का आग्रह हो कि 'मांसौदनम्' को ही शुद्ध पाठ माना जाये, तो भी मांस शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर जो निरुक्त में दी है, "मन को प्रिय लगनेवाला कोई भी उत्तम मनभावना पदार्थ" यह अर्थ लिया जा सकता है । मांस की निरुक्ति निरुक्त ४. १. ३ में—**मांस माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा**—इस प्रकार दी गई है, जिसका अर्थ कोई भी मननसाधक, बुद्धिवर्धक और मन को अच्छी लगनेवाली वस्तु है, इसलिए खीर, रबड़ी, खोया, फल का गूदा आदि के लिए इसका प्रयोग होता है । चरक संहिता चिकित्सा अ० १० के 'खर्जूर-मांसान्यथ नारिकेल—कोलास्थि मज्जांजन मक्षिका विट्—तथा बृहन्निघंटु के—

आम्रस्यानुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयः, लक्ष्यते न पृथक्-पृथक् स्फुटतया, पुष्टास्त एवं स्फुटाः ।

इत्यादि में आम के गूदे के लिए मांस तथा गुठली के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग है । खर्जूर के नर्म खाने योग्य भाग के लिए खर्जूरमांस शब्द का प्रयोग चरक संहिता के वचन में विशेष द्रष्टव्य है । इसलिए मांस शब्द का ही प्रयोग देखकर उसे पशुमांसवाचक समझ लेना बड़ी भूल है ।

शतपथ ब्राह्मण ११. ७ में 'एतद् ह वै परमम् अन्नाद्यं यन्मांसम्' यह कहकर स्पष्टतया परमान्न (यही शब्द दक्षिण भारत में सर्वत्र खीर के लिए प्रचलित है) अथवा खीर के लिए मांस का प्रयोग किया गया है ।

'परमान्नं तु पायसम्' अमर कोष कां० २ श्लो० २४ पायसं परमन्नके—हैमचन्द्र; पायसस्तु क्लीबपुसौ, श्रीवासपरमान्नयोः—मेदिनी, परमान्नम्—खीर, दूध में पकाये हुए चावल । —संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

इन प्रमाणों से परमान्न का खीर अर्थ स्पष्ट है और यज्ञ की परिभाषा में इस खीर के लिए मांस शब्द का स्वादु और मनभावन होने के कारण प्रयोग है ।

यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति । यदाप उन्नयति अथ त्वग् भवति । यदा संयौत्यथ मांसं भवति ।

तथा गोपथ के उ० प्र० ४. ६ के **पशवो वै धानाः । दधिमधु घृतमापो धाना भवन्ति एतद् वै पशूनां रूपम् ॥** तैत्ति० संहिता २. ३. २. ८ पृ० ११३ ॥ इत्यादि वाक्यों से भी ज्ञात होता है कि गूंधे हुए आटे के लिए मांस तथा धान और दधि,

घृत, मधु और धान, के लिए पशु आदि शब्दों का प्रयोग भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं-कहीं पाया जाता है, जिन्हें देखकर पशुमांस के भ्रम में न पड़ना चाहिए ।

यज्ञ-प्रकरण में सुप्रसिद्ध ओषध गुग्गुल के लिए, जिसे अथर्ववेद के—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते न तं शपथो अश्नुते । यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥ अथर्व० १९. ३८.१ ॥

इस मन्त्र में, राजयक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोग के कीटाणुओं का भी नाशक कहा है, मांस शब्द का प्रयोग होता है । यथा—

यन्मांसमुपभृतं तद् गुग्गुलु ॥ — तैत्तिरीय संहिता ६. २. ८, पृ० ३८५

अर्थात् यज्ञ-सम्बन्धी सामग्री में गुग्गुल को ही मांस कहते हैं इसलिए—**एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ।** इस वाक्य से बिना सोचे-समझे कह देना कि यहां अतिथि से पूर्व गृहस्थ दम्पती के लिए केवल गाय के दूध और मांस के खाने का निषेध है, अशुद्ध है । यहां निषेध गाय के दूध और खीर जैसे स्वादिष्ट पदार्थों के सेवन का है, जिसे ऊपर उद्धृत 'मनोऽस्मिन् सीदतीति वा', इत्यादि व्युत्पत्ति के अनुसार मांस का नाम दिया है ।

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ।

इसका एक और अर्थ भी है, जिसका हम निर्देश करना चाहते हैं वह वा का इव अथवा उपमा अर्थ लेकर निकलता है, जिसके लिए अनेक प्रमाण अव्ययार्थ तथा कोषों में उपलब्ध होते हैं । उदाहरणार्थ 'अव्ययार्थ' में वा के अर्थ निम्न पाये जाते हैं —

वा—'उपमानिश्चयार्थ विकल्पेषु' यहां वा का प्रथम अर्थ उपमा दिया गया है और उसका निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है 'सिंहो वा क्रुद्धो भवति' अर्थात् वह सिंह की तरह क्रुद्ध होता है ।

(अव्ययार्थ—स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत व्याख्या-सहित)

पं० शिवदत्त शर्मा दाधीच कृत व्याख्या-सहित 'अव्ययार्थ भाग' में वा के अर्थ इस प्रकार दिये हैं—**वा समुच्चय एवार्थ उपमानविकल्पयोः ॥** यहां भी वा के समुच्चय और विकल्प के अतिरिक्त उपमान अर्थ देकर उसका उदाहरण 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बे प्रियौ वत्सतरौ मम' यह दिया है ।

शाश्वत कृत कोष में अव्ययों का अर्थ देते हुए 'वा' का अर्थ 'वा विकल्पोपमानयोः' ऐसा पृ० ६९ श्लोक ७९४ में बतलाया गया है । यहां भी विकल्प के अतिरिक्त उपमान अर्थ स्पष्ट है ।

इसलिए एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं में 'वा' का अर्थ यह होगा कि गाय के दूध की तरह जो वस्तु सात्त्विक, पुष्टिवर्धक हो वही निश्चय से स्वादु और सेवन करने योग्य है । यहां वा का निश्चय अर्थ लेना चाहिए, 'मांसं वा तदेव न अश्नीयात्' मांस की तरह हिंसाजन्य जो वस्तु हो उसे मनुष्य कभी न खाये । 'वा' के 'इव' अथवा 'इस तरह' अर्थ को ग्रहण करने पर, जिसके लिए हमने ऊपर अनेक स्पष्ट प्रमाण दिये हैं, इस अर्थ की सङ्गति लग जाती है—यदि मांस शब्द का प्रचलित मांसपरक अर्थ ही माना जाए ।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मिपीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ —ऋग्० १०. ८६. १४

इस मन्त्र का 'वैदिक एज' में भी इन्द्र को 'खाऊ' विशेषतः बैल के मांस को खानेवाला दिखाने के लिए निर्देश किया है । अन्य भी बहुत-से लोग इससे भ्रम में पड़ जाते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । इस मन्त्र के ज्योतिषपरक,

आध्यात्मिक और भौतिक अनेक अर्थ हैं, जिनमें से तीन का हम यहां उल्लेख करते हैं। इस सारे सूक्त की ज्योतिषपरक सुन्दर व्याख्या हो जाती है। उस अवस्था में इस मन्त्र का अर्थ निम्नलिखित होगा—

उत्तरध्रुव-रूप इन्द्र वृषाकपि-रूप सूर्य की पत्नी रेवती तारा (वृषाकपायिरेवती) को कहता है मेरे लिए ही—मेरे खगोल-रूप उदर को भरने के लिए ही पन्द्रह साथ बीस अर्थात् ३५ उक्षाओं—तेरे वीर्यसेचक ग्रह-उपग्रहों को प्राकृतिक नियम-सम्पन्न करते हैं वा व्यक्त करते हैं (उत अहम् आद्मि उन्हें मैं खगोल में ग्रहण करता हूं (अत्ता चराचर ग्रहणात् वेदान्त १. २. ९ प्रमाण से) अत: (पीव:) प्रवृद्ध हो गया हूं (मे उभा कुक्षी इत् पृणन्ति) मेरी दोनों कोखें, दोनों गोलार्ध पार्श्व ग्रह-उपग्रहों से पूर्ण करते हैं। यहां उक्षा शब्द ग्रहों के लिए है जैसे 'अमी ये पंचोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिव:' (ऋग्० १. १०५. १०) में मङ्गल, बुध आदि ग्रहों के लिए स्पष्ट है। ये रेवती तारे के ३५ उक्षा, सूर्य-चन्द्रादि ग्रह-उपग्रह हैं, जिनमें ९ ग्रह और २६ उपग्रह हैं। पाश्चात्य ज्योतिषियों की पद्धति से भी ३५ ग्रह-उपग्रह होते हैं। उनकी पद्धति में सूर्य, पृथिवी, मङ्गल से शनि, यूरेनस, नेप्चून ये ९ ग्रह और उपग्रह पृथिवी का १, मङ्गल के २, बृहस्पति के ९, शनि के ९, यूरेनस के ४ और नेप्चून का १।

—*वैदिक ज्योतिष*—पं० प्रियरत्न जी आर्ष कृत, पृ० ४१. ४२

वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड ने इस 'उक्ष्णो हि मे पंचदश' वाले ऋग्० १०. ८६ के सम्बन्ध में निम्नलिखित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्योतिषपरक निर्देश देने की कृपा की है। वे लिखते हैं—'ऋग्. १०. ८६. १-२३. मन्त्र ज्योतिष-सम्बन्धी हैं। इनमें वृषाकपि, मृग, श्वा, वराहयु, उक्षा, वृषभ, धन्व, कृन्तत्र, उदञ्चोगृहम्, पशु:—इत्यादि शब्द राशिचक्र के भिन्न-भिन्न भागों का वर्णन करते हैं। वर्षाकाल का वर्णन है। सूर्य जब वृष राशि में होकर वर्षा करता है तब का यह वर्णन है। वृष राशि को ही उक्षा कहा है। वृष राशि के मुख्य तारे १५ हैं, शेष मिलकर २० के लगभग हैं। सूर्य जब वृष राशि में तपता है, यही मानो इन उक्षाओं का परिपचन है, परिपाक है। जब सूर्य वृष राशि में होता है तब वृष के तारे दृष्टिगोचर नहीं होते। यही मानो उनका भक्षण-सा है। यह सब अलङ्कार है।'

हम इन महत्त्वपूर्ण निर्देशों के लिए उन्हें धन्यवाद देते हुए उन्हें विद्वान् विचारकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से उक्षा का अर्थ निम्न प्रकार है—

(मे) मेरे लिए विद्वान् लोग (उक्षण:) वीर्य-सेचन या सुख-वर्षण में समर्थ प्राणों को (पंचदश) १५ और (विंशतिम्) २० या उनमें प्रविष्ट आत्मा को (साकम्) एक साथ (पचन्ति) परिपक्व करते हैं, तपस्या द्वारा उन्हें दृढ़ करते हैं (उत) और (अहम्) मैं (अद्मि) उनका भोग करता हूं, उनको स्वीकार करता हूं, (पीव: इत्) और मैं अति बलवान् रहता हूं, वे (मे) मेरे (उभा कुक्षी) दोनों कोखों को (पृणन्ति) पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार (इन्द्र:) परमेश्वर (विश्वस्मात् उत्तर:) सबसे उत्कृष्ट है। (पंचदश) ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये ५ प्राण मिलकर १५ हुए। उनके भीतर प्रविष्ट होकर रहनेवाला आत्मा विंशति है।

भौतिक दृष्टि से उक्षा का अर्थ सोम वा ऋषभक ओषधि पहले सप्रमाण बताया जा चुका है। अत: मन्त्र का अर्थ यह होगा कि—

ऋत्विक् वा वैद्य मुझ इन्द्र-राजा के लिए (उक्षण:) सोम के (पंचदश) १५ पत्तों को (पचन्ति) पकाते हैं और उसके द्वारा (विंशतिम्) ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और १० प्राण इन सबको (साकं पचन्ति) मिलकर परिपुष्ट करते हैं। मैं उन्हें (अद्मि) खाता हूं और खाकर (पीव: इत्) पुष्ट ही होता हूं। मेरी दोनों कोखें सोमरस से पूर्ण हो जाती हैं।

सोमरस वा ऋषभक ओषधि के १५ पत्तों का विधिपूर्वक सेवन मनुष्य को बलवान् बनाता है ऐसा मन्त्र में भौतिक दृष्टि से उपदेश किया गया है । बैल के मांस का अर्थ लेना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उसे वेद में अघ्न्य (अहन्तव्य-न मारने योग्य) कहा है और शतपथ ब्राह्मण में भी—

स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयात्, धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृत····· तस्माद् धेन्वनडुहोर्नाश्नीयात् ।

—शतपथ ३. १. २. २१ ।

इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट आदेश है कि गाय और बैल का मांस कभी न खाना चाहिए, क्योंकि गाय और बैल इस पृथिवी को धारण करनेवाले हैं । ऐसी अवस्था में 'भक्षयामि त्वहं यदि आंसलं भवति' शतपथ के इस वाक्य को प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा । स्वर्गीय पं० बुद्धदेव ज़ी विद्यामार्तण्ड इन वाक्यों का अन्य ही अर्थ करते हैं । उनका इस विषय में निम्न विचार है, जिसे हम पाठकों के लाभार्थ उद्धृत करते हैं । वे लिखते हैं—

स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयात्·····त दुहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहमांसलं चेद् भवति ॥

इसका शब्दार्थ इस प्रकार है—वह (यजमान) गाय का और बैल का न खाए— इस पर याज्ञवल्क्य बोले—मैं तो खाऊंगा यदि यह बलवर्धक होगा । यहां ध्यान देने की बात यह है कि इस सारे सन्दर्भ में मांस का शब्द कहीं नहीं । यह मांस का शब्द कहां से आ टपका ? अब यदि अध्याहार द्वारा मांस शब्द लाना ही है तो इस पर एक बड़ा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मांस के रूप में तो गाय-बैल एक हैं । इसमें स्त्रीलिङ्ग पुंल्लिङ्ग का भेद क्या ? अब यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाये कि गोमांस के स्वाद के विशेषज्ञ गाय और बैल के मांस में कोई भेद कर सकते हैं, तो भी 'गव्यं मांसं नाश्नीयात्' कहने से काम चल सकता था । यह 'धेन्वै अनडुहश्च' गाय का और बैल का दोनों अलग क्यों कहे गये ? इससे स्पष्ट पता लगता है कि इस वाक्य के समझने में भयंकर भूल हुई है । इस वाक्य के समझने के लिए पहले इसका प्रसङ्ग देखना होगा । यह सोमयाग में पढ़ा हुआ वाक्य है । उपवास के प्रसङ्ग में शतपथ के आरम्भ में ही कहा गया है कि उपवास का सम्बन्ध खाने न खाने से कुछ नहीं । उपवास का अर्थ तो हाज़िरी देना है । सो यज्ञ में जब कोई देवताओं की सेवा में हाज़िर हो, उनके उप अर्थात् समीप बस रहा हो, उस समय उन्हें खिलाये बिना खाना अर्थात् यज्ञ-समाप्ति से पहले खाना देवों का अपमान है । इस पर प्रश्न उठा कि यदि बिलकुल भूखा रहेगा तो यज्ञ कैसे करेगा ? सो कुछ खाना तो अवश्य चाहिए । सो जो खाया भी 'न खाये के बराबर' हो अर्थात् जिसकी हवि ग्रहण नहीं करते वह पदार्थ अर्थात् कोई जंगली फल वा कन्द खा ले जिससे यज्ञ भी होता रहे और देवों का अपमान भी न हो ।

यही बात यहां दोहराई गई कि गाय का अर्थात् दूध के बने पदार्थ मक्खन, मलाई, दही आदि न खाये तथा बैल का अर्थात् खेती से उत्पन्न पदार्थ न खाये । इस पर याज्ञवल्क्य बोले कि सोमयाग लम्बा यज्ञ है । इसलिए यदि दुर्बलता अनुभव हो तो कोई पुष्टिकारक पदार्थ जो भारी न हो, थोड़ा-सा खा लेने में कोई हर्ज नहीं । जहां वाक्य में मांस की गन्ध भी नहीं वहां मांस का शब्द घुसेड़ना, फिर स्त्रीलिङ्ग पुंल्लिङ्ग गाय-बैल दोनों के पृथक् ग्रहण का कोई तात्पर्य न हो वह अर्थ कैसे ठीक हो सकता है ? बलिहारी है इस बुद्धि की ! भला हम रोज बोलचाल में यही व्यवहार देखते हैं, जब कोई लड़की की ससुराल में जाये और उस घर के लोग शिष्टाचारवश आग्रह करने लगें कि भोजन खा लीजिये तो उस समय प्राय: यह कहा जाता है कि भाई ! बेटी का खाने का धर्म नहीं, हम बेटी का नहीं खाते । तो क्या वहां यह अर्थ लिया जायेगा कि हम बेटी का मांस नहीं खाते ? इस प्रसङ्ग में ऐतरेय ब्राह्मण का एक प्रकरण और लीजिये—

सर्वाभिर्वा एष देवताभिरालब्धो भवति यो दीक्षितो भवति तस्मादाहुर्न दीक्षितस्याश्नीयादिति। स यदग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतानिति वपायै यजति सर्वाभ्य एव तद् देवताभ्यो यजमानं प्रमुञ्चति तस्मादाहुरशितव्यं वपायां हुतायां यजमानो हि स तर्हि भवति ॥ —ऐतरेय ६ खण्ड, ९ अध्याय

जो सोमयाग में दीक्षित होता है वह अपने-आपको सम्पूर्ण देवताओं के समर्पण कर देता है । इसलिए दीक्षित का न खाए । सो जब वह अग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतानिति' इस यज्वा द्वारा वपाहोम अर्थात् विश्वविद्यालय में शारीरिक व्यायाम द्वारा सारी चर्बी शरीर को सुडौल बनाने तथा मस्तिष्क के निर्माण में लगे, व्यर्थ शरीर में मोटापन उत्पन्न न करे इसका पूर्ण प्रबन्ध कर लेता है तब वह सब देवताओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उनकी सेवा से कृतकृत्य हो जाता है, उसके पश्चात् उसकी दशा साधारण यजमान की हो जाती है । इसलिए वपाहोम के पश्चात् दीक्षित के घर का भी खा लेना चाहिए । यहां शब्द है 'दीक्षितस्य नाश्नीयात्' । इस प्रकार मांसम् का अध्याहार क्यों नहीं किया गया ? यहां तो ये हज़रत लिखते हैं कि 'दीक्षितस्य गृहे नाश्नीयात्' सो यह क्या विचित्र लीला है ! 'धेन्वै अनडुहश्च' के सम्बन्ध में तो मांसम् आ गया और दीक्षित के सम्बन्ध में गृहे । इसी को देखकर महाभारत में कहा है कि—**धूर्तैः प्रवर्तितं चक्रम्**[१] ॥

विस्तारभय से हम इस प्रकरण को यहीं समाप्त करते हैं, पर ऐसा करने से पूर्व एक और बात पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है ।

'वैदिक एज्' के पृ० ३९३ के गोमांसभक्षण वा गोवधादि-विषयक जिन वाक्यों की हमने पिछले पृष्ठों में सप्रमाण पर्याप्त विस्तार से आलोचना की है उनके अन्त में यह वाक्य भी लिखा है 'The expression अतिथिनीर्गाः ।'

Cows fit for guests (in X. 68. 3) implies the same distinction.

अर्थात् ऋग्वेद १०. ६८. ३ में प्रयुक्त 'अतिथिनीर्गाः' से अर्थात् 'अतिथियों के लिए गौएं', इससे भी उस भेद की सूचना मिलती है । यहां लेखक का अभिप्राय स्पष्ट नहीं हुआ । संभवतः वे कहना चाहते हैं कि ऋग्० १०. ६८. ३ के—

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥

इस मन्त्र में 'अतिथिनीर्गाः' ऐसा शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ 'अतिथियों के लिए उपयुक्त गौएं' यह है । इससे उनका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि प्रतिष्ठित अतिथि के आने पर गौ को मारकर उसके मांस से उसे तृप्त किया जाता था । इसीलिए अतिथि के लिए 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' इस अष्टाध्यायी के सूत्र के अनुसार गोघ्न शब्द का प्रयोग होता था । विवाह के अवसर पर अतिथियों के लिए गौ को मारकर उसका मांस खिलाया जाता था—यह 'वैदिक एज्' पृ० ३८९ में लिखा है । 'वैदिक एज्' के भूमिका-लेखक और भारतीय विद्याभवन के संस्थापक स्वर्गीय कन्हैयालाल मुन्शी जी के 'लोपामुद्रा' में प्रकाशित विचार के अनुसार उस समय 'अतिथिग्व' यह सम्मानसूचक उपाधि थी, जिसका अर्थ उन्होंने 'अतिथियों को गोमांस परोसनेवाला' यह किया है ।

इस पर प्रकाश डालना और गोघ्न, अतिथिग्व और 'अतिथिनीर्गाः' विषयक इस भ्रम को दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है । 'अतिथिनीः' जो गाः के विशेषण-रूप ऋग्० १०. ६८. ३ में प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ सायणाचार्यादि भाष्यकारों ने भी 'अत सातत्यगमने' इस धात्वर्थ को लेकर 'सततं गच्छन्तीः' अर्थात् 'लगातार गति करनेवाली' ऐसा किया है । 'गाः' का अर्थ भी वहां गौओं के अतिरिक्त जलों का किया है 'साधु नयनादिगुणयुक्ता गाः—अपः ।' किन्तु यदि 'अतिथिनीः' में सीधा अतिथि शब्द भी माना जाये, तो भी अर्थ स्पष्ट है कि ऐसी गौएं जो 'अतिथिभ्यो नीयन्ते' अतिथियों के पास दानार्थ लाई जायें—उन्हें दान की जायें' । इसमें मारने का भाव निकालना 'अघ्न्या', 'अदितिः' इत्यादि अहिंसनीय अर्थसूचक शब्दों के होते हुए सर्वथा असङ्गत है ।

१. स्वर्गीय पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार विद्यामार्तण्ड रचित ग्रन्थ 'किसकी सेना में भर्ती होंगे ? कृष्ण की या कंस की ?' से ।

अतिथिग्व का अर्थ तो स्पष्टतया 'अतिथीन् प्रति सेवार्थं गच्छन्' अर्थात् 'सेवा के लिए अतिथियों के पास जाने वाले' का है। यही अर्थ सायणाचार्य तथा महर्षि दयानन्दादि समस्त भाष्यकारों ने किया है। अतिथिग्व का 'अतिथियों को गोमांस परोसनेवाला' यह अर्थ सर्वथा कपोलकल्पित है। अतिथिग्व से तात्पर्य अतिथि-सेवकमात्र का है; 'गोमांस परोसने वाला' यह अर्थ न जाने स्वर्गीय मुन्शीजी ने कैसे लिख दिया, जिसके लिए न उन्होंने कोई प्रमाण दिया है और न दिया जा सकता है। श्री मुन्शी जैसे संस्कृत और भारतीय संस्कृति के एक मान्य विशिष्ट प्रेमी का कपोलकल्पित अर्थ बनाकर लोगों के मन में एक भ्रम उत्पन्न कर देना नितान्त अनुचित है। मोनियर विलियम्स कृत सुप्रसिद्ध Sanskrit English Dictionary में भी अतिथिग्व का अर्थ 'To whom guests should go' (P. 14) अर्थात् 'जिसके पास अतिथि प्रेमवश जायें' ऐसा किया है। श्री ब्लूमफील्ड ने भी इसका अर्थ Presenting cows to guests अर्थात् 'अतिथियों को गौएं भेंट करनेवाला' ही किया है।

अब गोघ्न शब्द को लीजिये। प्रथम तो गोघ्न इस शब्द का अतिथि के अर्थ में प्रयोग वेदों में पाया ही नहीं जाता। जहां गोघ्न शब्द पाया भी जाता है वहां गोघ्न से सदा दूर रहने अथवा उसे दूर रखने का आदेश है, यथा—

'आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नम्।' —ऋ० १. ११४. १०

अर्थात् जो 'गोघ्न—गौ की हत्या करनेवाला' नीच पुरुष है वह तुमसे (आरे) दूर रहे; पुरुष की हत्या करनेवाला भी तुमसे दूर रहे। दूसरा, जब अतिथि के लिए इस 'गोघ्न' शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थ में कहीं पाया जाये तो उसका अर्थ यह है कि जिसके लिए गौ प्राप्त कराई जाये वा दी जाये तथा जिसके लिए सदा उत्तम, प्रिय मधुर वाणी का प्रयोग किया जाये। गोघ्न में जिस हन् धातु का प्रयोग है उसके दो अर्थ धातुपाठ में दिये हैं 'हन्' हिंसा-गत्योः, अर्थात् हिंसा और गति। 'गोघ्न' में उसका गति अथवा ज्ञान, गमन, प्राप्तिविषयक अर्थ है। मुख्य भाव वहां प्राप्ति का है, अर्थात् जिसे उत्तम गौ प्राप्त कराई जाये। गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। अथर्ववेद ६. १०१. १ में पति को उपदेश है कि—

"यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि।"

अर्थात् तू वीर्य-सम्पन्न होकर अपनी स्त्री के ही पास जा। यहां जहि शब्द का अर्थ सायणाचार्यादि सभी भाष्यकारों ने 'गच्छ' अर्थात् 'जा' यही किया है, क्योंकि स्त्री को मार डालने का अर्थ कोई मूर्ख भी नहीं ले सकता। शतपथ १. ४. १. २. १ में वाक्य आता है—**यजमानो वै सुम्नयुः स हि देवान् जिजीषति स ह देवान् जिघांसति।**

यहां भी स्पष्टतया जिघांसति में हन् गत्यर्थक है न कि वधार्थक, अन्यथा यह अर्थ निकलेगा कि यजमान देवों को मारना चाहता है, जब कि प्रकरणानुसार उसका सङ्गत अर्थ यही है कि वह देवों को प्राप्त करना चाहता है। अतः सायणाचार्य का उसकी व्याख्या में 'प्राप्तुमिच्छति' यह लिखना ठीक ही है। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अतः गोघ्न का अर्थ यह है कि 'गौः हन्यते प्राप्यते यस्मै' जिसके लिए गौ प्राप्त कराई जाती व दी जाती है। गौ का अर्थ वाणी भी वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में सुप्रसिद्ध है। निघण्टु नामक वैदिक कोष १. ११ में गौः शब्द वाणी के लिए दिया ही है। अमरकोष में भी वह वाणी के पर्याय शब्दों में से है, जिसका प्रयोग वर्तमान युग के कविकुल-शिरोमणि कालिदास ने—**"इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य, रघोरुदारामपि गां निशम्य।"** (रघुवंश, सर्ग ५) इत्यादि वचनों में किया है। उस दशा में गोघ्न का अर्थ इस अर्थ में अतिथि लिया जायेगा कि उसके लिए प्रिय मधुर वाणी प्राप्त कराई जाती है—मधुर प्रिय शब्दों का व्यवहार किया जाता है। अतः अतिथिनीः, अतिथिग्व, गोघ्न आदि शब्दों को देखकर विचारशील विद्वानों को भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए।

'वशा' शब्द पर कुछ विशेष विचार

'वैदिक एज्' के पृ० ३९३ के जिन वाक्यों की हम आलोचना कर रहे हैं उनमें वशा का अर्थ वन्ध्या गाय किया गया है और यह भाव प्रकट किया गया है कि उसकी बलि चढ़ाई जाती थी, पर यह अर्थ और विचार भी सर्वथा अशुद्ध है। वशा एक बड़ा विस्तृत शब्द है, जिसके पृथिवी, परमात्मा की सारे संसार को वश में करनेवाली शक्ति, आत्मा की इन्द्रिय-मन-बुद्धि इत्यादि को वश में करनेवाली अद्‌भुत शक्ति आदि कितने ही अर्थ हैं, परन्तु उसका वन्ध्यापरक अर्थ करना और अथर्व १०. १० में उसकी बलि चढ़ाने का विधान है ऐसा मानना सर्वथा असङ्गत है। हमने उस सूक्त का आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पाठ किया किन्तु उसके वन्ध्या गौ इस अर्थ तथा उसकी यज्ञ में बलि का समर्थक कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुआ, प्रत्युत उसके विरुद्ध अनेक प्रमाण मिले। प्रथम तो यह 'गौ' अर्थ लेने पर मन्त्रार्थ की संगति होती नहीं क्योंकि वशा के विषय में इस सूक्त में कहा है—

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः। वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छा वदामसि॥

—अ० १०. १०. ४

अर्थात् हम उस सहस्रधारा (हजारों को धारण करनेवाली) वशा का वेदमन्त्रों द्वारा अच्छी प्रकार उपदेश करते हैं, जिसने इस आकाश, पृथिवी और समस्त जलों को अच्छी प्रकार रक्षित किया हुआ है।

वन्ध्या गौ के विषय में ऐसा वर्णन नितान्त असङ्गत है। उसे तो सहस्रधारा किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। किसी दूध देनेवाली गौ को इस रूप में कहना संभव नहीं। यह परमात्मा की जगत् को वश में रखनेवाली शक्ति का स्पष्ट वर्णन है, जिसके कारण '**अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी**'। (ऋ० १०. १९०. २) में परमेश्वर को वशी कहा गया है और जिसे उपनिषदों में—'**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा**'। (कठ० ५. १२) इस रूप में स्मरण किया गया है। यदि गौपरक अर्थ कथंचित् माना भी जाये तो यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस १०. १० के प्रथम ही मन्त्र में 'अघ्न्ये ते नमः' इस प्रकार अघ्न्या शब्द का उस वशा के लिए प्रयोग है, जिसका अर्थ अहन्तव्या है। फिर उसकी बलि देने की बात कैसे सङ्गत हो सकती है ? शतौदना जिस वशा का ही पर्यायवाची माना जाता है और जिसका अथर्व ११. ९ में वर्णन है उसके लिए 'जिह्वा संमार्ष्टु अघ्न्ये' (१०. ९. ३) 'पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीः' (मं० ११) 'यानि लोमान्यघ्न्ये' (मं० २४) इस प्रकार ३ बार अघ्न्या शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ अहन्तव्या अथवा न मारने योग्य है।

वशा का अर्थ 'वन्ध्या गौ' किया जाता है, किन्तु यहां तो अ० १०. १०. ५ में कहा है कि—

'शतं कंसाः शतं दोग्धारः।'

उसके सैकड़ों दोहनेवाले और दोहने के लिए सैकड़ों कांसी के पात्र हैं। वन्ध्या गाय तो दूध ही नहीं देती, फिर उसके सैकड़ों दोहनेवाले कैसें ? 'इयं वै पृथिवी वशा' (शत० ५. १. ३. ३) के अनुसार परमेश्वर की वशकारिणी शक्ति के अतिरिक्त 'पृथिवी' अर्थ लेने पर भी अनेक मन्त्रों की अच्छी सङ्गति लग जाती है। दोनों सूक्तों में बार-बार शतौदना या वशा के दान और ग्रहण का वर्णन आता है, न कि मारने का—

यो ददाति शतौदनाम्॥ अ० १०. ९. ५॥
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम्॥ १०. ९. ६॥
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम्॥ १०. ९. १०॥
यो वशां प्रतिगृह्णीयात्॥ १०. १०. २॥
य एवं विद्यात् स वशां प्रतिगृह्णीयात्॥ अ० १०. १०. २७॥

य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ अ० १०. १०. ३२ ॥
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते ॥ अ० १०. १०. ३३ ॥

गौ को मारने का यहां कोई विधान नहीं, किन्तु अघ्न्या के प्रयोग से निषेध तो स्पष्ट है ।

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः । ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥
—अथर्व० १०. ९. ७

इस मन्त्र में शमिता और पक्ता शब्द का प्रयोग पृथिवी में शान्ति का विस्तार करनेवाले और उस पर श्रम करके फल प्राप्त करनेवाले विद्वानों के लिए आया है, जिनके विषय में कहा है कि हे पृथिवी ! वे शमिता और पक्ता तेरी रक्षा करेंगे; उनसे तू भयभीत न हो ।

मध्यकाल के याज्ञिकों तथा भाष्यकारों ने शमिता और पक्ता शब्द को मारनेवाले और पशुमांस पकानेवाले यह अर्थ करके महान् अनर्थ किया ।

अतः इन सूक्तों को वन्ध्या गौ की बलि देने में विनियुक्त करना तथा वैसा ही इनका अर्थ करना, जैसा "वैदिक एज्" के लेखकों ने समझ लिया है नितान्त असङ्गत है । गोमेध का अर्थ तो महर्षि गार्ग्यायणकृत प्रणववाद के अनुसार 'गोमेधस्तावच्छब्दमेध इत्यवगम्यते गां वाणीं मेधया संयोजनमिति तदर्थात् । शब्दशास्त्रज्ञानमात्रस्य सर्वेभ्यः प्रदानमेव गोमेधो यज्ञः ॥' (प्रणववाद—ब्रह्मवादिन् प्रेस मद्रास, प्रकरण ३, तरङ्ग ६)

अर्थात् वाणी का मेधा से संयुक्त करना अथवा बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर शुद्ध शब्दों का प्रयोग करना, अन्यों को भी शब्द-शास्त्र (व्याकरण) की शिक्षा देना यह है । गौ के वाणी अर्थ को लेकर उपर्युक्त अर्थ किया गया है ।

गौ के पृथिवीपरक अर्थ को लेकर उसके दो अर्थ होते हैं—एक तो पारसियों के गोमेध के समान (जो स्पष्टतया गोमेध का ही विस्तृत रूप है) पृथिवी पर उत्तम कृषि करना और दूसरा ताण्ड्य महाब्राह्मण १९. १३ के अनुसार—**'अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः'** अर्थात् अन्दर और बाहर का सच्चा स्वराज्य ही गोमेध वा गोसव के नाम से कहा जाता है । इन्द्रिय, वाणी इत्यादि सबको आत्मा की अधीनता में रखना और उन्हें पवित्र बनाना यह आन्तरिक स्वराज्य, और पृथिवी को उत्तम रीति से अपने ही राष्ट्र के लोगों द्वारा उत्तम रूप से प्रजाहितार्थ शासित कराना बाह्य स्वराज्य है, जिसे गोमेध वा गोसव का भी नाम दिया गया है ।

स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी का यज्ञ-विषयक महत्त्वपूर्ण लेख

उत्तर प्रदेश के स्वर्गीय मुख्यमन्त्री सम्पूर्णानन्द जी ने ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त की श्रुतिप्रभा टीका में यज्ञों में पशुबलि के विषय में एक इतना महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है कि उसे उद्धृत करना इस प्रकरण में हमें आवश्यक प्रतीत होता है । वे लिखते हैं—

'विना बलि के यज्ञ पूरा नहीं होता । बकरे-भैंस को काट देना वास्तविक बलिदान नहीं है । ऐसा कर्म हिंसात्मक है और वेद की स्पष्ट आज्ञा के विरुद्ध है कि 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'—किसी प्राणी की हिंसा न करे । ऐसे कर्म से अवश्य पातक लगता है । जो प्राणी अभी अनुद्बुद्ध है, जो काम-क्रोध का पुतला ही रहा है, उसे शास्त्र में पशु कहते हैं । इसीलिए परमात्मा का एक नाम पशुपति भी है । जब तक मनुष्य पशु है तब तक उसका यज्ञ में अधिकार नहीं है । उसकी सारी क्रियाएं तामस और क्षुद्र स्वार्थ से प्रेरित होंगी । जो सन्मार्ग पर चलना चाहता है उसे इन दुर्बलताओं को दबाना होगा । इसी को पशु का आलभन, बलिदान कहते हैं; जैसे बड़े यज्ञ का अनुष्ठान होगा वैसी ही बलि देनी होगी, उतने ही बड़े पशु का

आलभन करना होगा । योगी को सदा के लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह, स्तेय और मैथुन की प्रवृत्तियों को कुचल डालना पड़ता है । जब वह समाधि के अभ्यास से अस्मिता—मैं-पन के भाव को जीत लेने में समर्थ होता है, तब तन्त्र की भाषा में कहा जाता है कि उसने महिष का आलभन किया, भैंसे की बलि दी ।

सच्ची पशुबलि

जो योगी नहीं है वरन् लोक-कल्याणकारी किसी दूसरे काम में लगता है, उसे भी अपने पशुपन को यथाशक्य मारना पड़ता है । प्रत्येक विद्याव्यसनी, प्रत्येक लोकसेवक, प्रत्येक उपासक का ऐसा अनुभव है । अहंता और ममता की दीवार हमें दूसरों के साथ तन्मयता प्राप्त करने से रोकती है; उसे गिराना ही सच्ची बलि है । इस बल से अपनी भीतर सोई हुई शक्तियां जाग पड़ती हैं ।

हिंसात्मक बलिकर्म वास्तविक बलिकर्म की विडम्बना; अतः निषिद्ध

यह आत्मबलि, अपने सर्वप्रिय अपनेपन की बलि, सबके लिए सम्भव नहीं है । इस अपनेपन के मिट जाने पर अपना छोटा-सा 'स्व' विश्व-'स्व' में लीन हो जाता है, परन्तु सामान्य जीव इसके लिए तैयार नहीं है ।---- साधारण मनुष्य सुख चाहता है, शक्ति चाहता है, परन्तु उनका पूरा मूल्य नहीं देना चाहता । काम करना चाहता है परन्तु निष्काम भावना, यज्ञ-दृष्टि, नहीं उत्पन्न कर सकता । वह सरल उपाय ढूंढता है । इसी आत्मवंचना के प्रभाव से श्रद्धा और तप का स्थान धन को दिया जाता है और वे सब पद्धतियां निकलती हैं, जिनमें स्वयं व्रत लेने की जगह यह काम पैसा देकर दूसरों से कराया जाता है, दक्षिणा या दान के रूप में अपनी अन्यायोपार्जित सम्पत्ति का एक क्षुद्र अंश देकर देवगण की आंखों में धूल झोंकने का प्रयत्न किया जाता है और एक या अनेक निरीह पशु, कभी-कभी मनुष्य तक काटे जाते हैं । यह मान लिया जाता है कि मंत्र के प्रभाव से बलिपशु में देवता प्रवेश करेगा और उसके मरने पर यह शक्तिसंचय यजमान को प्राप्त होगा । जितने बड़े और जितने अधिक जीवों की हत्या की जाए उतना ही अधिक फल होगा, यह प्रथा वैदिक बलि-विधान की विडम्बना है; और चाहे श्रद्धा के साथ जितना धन व्यय किया जाये, याजक हत्या के पाप से बच नहीं सकता । जो मनुष्य अपनी स्वादलिप्सा की तुष्टि के लिए हत्या करता है और खाने से पहले इस मांस को किसी देव-देवी को अर्पित करता है वह अपने अपराध की गुरुता को बढ़ाता है । —ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त की श्रुतिप्रभा टीका स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी कृत

स्वामी महादेवानन्द जी और गोहत्या

श्री स्वामी महादेवानन्द जी गिरि (संन्यासाश्रम हरद्वार) ने कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'Vedic Culture' नामक अपने ग्रन्थ में एक अध्याय Slaughter of Cows in Vedic Age' अथवा वैदिक युग में गोहत्या विषयक दिया है, जो महत्त्वपूर्ण है । उसमें से निम्न कुछ उद्धरणों का देना वैदिक यज्ञ-विषयक इस अध्याय की समाप्ति से पूर्व हमें उपयोगी प्रतीत होता है । स्वामी महादेवानन्द जी लिखते हैं—

Slaughter of cows in the Vedic Age—a misconception

'In the Rigveda it has been clearly stated that cows are not to be killed.

In the following mantras the term अघ्न्या (not to be killed) is used Vide 1.37.5; 1.164.27; 1. 164, 40; 4.1.6; 5.83; 8; 7.68.8; 7.69.8; 7.102.19; 9.1.9; 9.80.2; 9.93.3; 10.46.3; 10.60.11; 10.87.16; and 10.102.7.

Yaska while recording the names (equivalents) of गो cow has first posted the word अघ्न्या Aghnya—not to be killed. Vide 11. 44. 33 अघ्न्या अहन्तव्या भवति। In the Zendavesta also the cow is to be venerated and not to be killed. In the Vedas also the cow is specially venerated. Rik 4. 58. 10. गो देवता (Go is the Devata of the Sukta). That the flesh of the cow is forbidden as food is quite clear from Rik. 10.87.16 which states—

य: पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्या भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

i.e. The monster, that partakes of the flesh of human beings or the meat of animals like the horse or who steals (robs) the milk of the unkillable cow, is beheaded by Agni." —*Vedic Culture* by Swami Mahadevananda Giri, P. 132

Some observe in the text एतद् यथा राज्ञे ब्राह्मणाय वामहोक्षं महाजं वा पचेत् a hint to the prevalence of a custom of slaying an ox or goat and cooking the meat thereof. But it must be clearly understood that the term महोक्ष (Mahoksha) used in this text does not refer to an ox. In Rik 8. 43. 11, there occurs the word 'अक्षान्नाय' which means edibles mixed with Soma juice. Later on from the राजनिघण्टु text ऋषभौषधि कर्कट शृङ्गी it is found that kings and Brahmans were offered on their arrival the juice of the Soma plant or some other herbal decoctions control the bile, just as tea is served in modern times to all guests. In Kashmir and Tibet this custom of offering tea has been in use from ancient times. It might also be a direction to bathe the guest in water warmed with many odorous and invigorating ingredients (सर्वौषधि). The word महाज (Mahaja) also does not indicate a big goat but fine rice from the Sali variety of paddy. In the Shanti Parva of the Maha Bharat there is a text—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी श्रुतिः । अजसंज्ञानि बीजानि, छागान् नो हन्तुमर्हथ ॥

It means that sacrifices should be performed with the aja. But aja according to this Vedic injunction never means the goats but cereals like wheat, Brihi etc.

Vedic Culture, P. 138, 139.

The word yajna is synonymised as अध्वर *cf.* यज्ञमध्वरम्; ध्वर stands for Hinsa (Killing, Violence), so अध्वर is non-violence and therefore no slaughter can be part of the true sacrifice. — P. 141

इन उद्धरणों का सारांश यह है कि ऋग्वेद में यह स्पष्टतया आदेश है कि गौ की हत्या कभी न करनी चाहिए। गौ के लिए ऋग्० १. ३७. ५, १. १६४. २७, १. १६४. ४०, ४. १. ६ इत्यादि में अघ्न्या शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ यास्काचार्य ने निरुक्त में 'अहन्तव्या' अर्थात् 'कभी न मारने योग्य' यह किया है। ऋग्० १०. ८७. १६ के—

य: पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते ..... यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने।

इस मन्त्र से गोमांस के खाने का निषेध अति स्पष्ट है, यहां तक कि गोमांसादि-भक्षक के सिर तक को काटने का आदेश है—यदि वह समझाने-बुझाने पर भी न माने । एतद् राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं महाजं वा पचेत् इत्यादि ब्राह्मण-वाक्यों में महोक्ष से राजनिघण्टु के अनुसार ऋषभ ओषधि, कर्कट शृङ्गी आदि का ग्रहण है । ऋग्वेद ८. ४३. ११ में उक्षान्न शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ भोजन के साथ उक्षापद वाच्य सोम के मिलाने का है । राजाओं तथा प्रतिष्ठित ब्राह्मणादि को अतिथि-रूप से आने पर पित्तादि की शान्ति के लिए सोमरस का पान कराया जाता था, जैसे आजकल चाय आदि पिलाई जाती है । सोम, ऋषभक आदि ओषधियों के रस से मिश्रित जल से स्नान कराने का भी ऐसे वाक्यों में निर्देश है । उनसे तात्पर्य यहां बकरे से नहीं, किन्तु 'अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ' इत्यादि महाभारत के वचनानुसार विशेष प्रकार के बीज और चावलों का है । यज्ञ का पर्यायवाची अध्वर शब्द है, जिसका अर्थ ही हिंसारहित कर्म है । अत: हिंसा सच्चे यज्ञ का भाग नहीं हो सकती, यह स्पष्ट है ।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी और वैदिक यज्ञ

भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी Education in Ancient India नामक पुस्तक में लिखा है कि—

'Vedic Religion did not countenance bloody sacrificing of animals by violence. As the Chhandogya Upanishad (111.6) puts it 'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।'

'The gods who do not eat or drink, should not be offered meat tainted with violence.

Thus sacrifice at a yajna meant self-sacrifice.'

The yajnas were evolved as modes of invocation of the Infinite and possessed of profound spiritual significance and educational value as aids to self-realisation.

—*Education in Ancient India* _by late Dr. Radha Kumud Mukerjee

अर्थात् वैदिक धर्म पशुहिंसात्मक यज्ञों का समर्थन नहीं करता, जैसा छान्दोग्य उपनिषत् ३. ६ के 'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' इत्यादि शब्दों से भी सूचित होता है । यज्ञ का अर्थ स्वार्थ-त्याग होता था । यज्ञों का अनन्त परमेश्वर की स्तुति के रूप में विकास हुआ । वे अत्यन्त गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व और आत्मानुभव में सहायक के रूप में शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे ।

इतना विवेचन करके अब हम वैदिक यज्ञ-विषयक इस अध्याय को समाप्त करना ही उचित समझते हैं । इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यज्ञों में परोपकार तथा आत्मकल्याणार्थ किये जाने वाले सब शुभ कर्मों का समावेश होता है । द्रव्ययज्ञों में घृत, मधु, चन्दन, कर्पूरादि जो सुगन्धित और रोगनाशक पदार्थ डाले जाते हैं उनसे जल-वायु शुद्ध होती है और क्षय रोग जैसे भयङ्कर रोग भी दूर किये जा सकते हैं, जैसा बरेली के सुप्रसिद्ध डॉ० फुन्दनलाल जी एम०डी० ने 'यज्ञ चिकित्सा' नामक उत्तरप्रदेशीय सरकार से पुरस्कृत अपने उत्तम ग्रन्थ में बताया है । यज्ञों में पशुहिंसा सर्वथा वेदविरुद्ध है । अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि शब्दों के अश्व, गौ या मनुष्य की हिंसापरक नहीं किन्तु राष्ट्र-संचालन, वाणी का शुद्ध प्रयोग वा कृषि, मनुष्यों में एकता की वृद्धि इत्यादि अर्थ हैं । वर्तमान समय में उपलब्ध ब्राह्मणों, श्रौत और गृह्यसूत्रों तथा अन्य

ग्रन्थों में जो यज्ञों में पशुहिंसा-समर्थक वाक्य दिखाई दें उन्हें वेदविरुद्ध होने के कारण अप्रमाण समझना चाहिए। वैदिक यज्ञों के सच्चे स्वरूप के विषय में जो अधिक जानना चाहते हैं उन्हें निम्न ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए—

१. वैदिक पशुयज्ञमीमांसा—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड कृत।

२. किसकी सेना में भरती होंगे? कृष्ण की वा कंस की?—स्वर्गीय पं० बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड कृत।

३. बौद्धमत और वैदिक धर्म।

४. गोरक्षा परम धर्म और गोवध महापाप।

५. वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

(३–५) — धर्मदेव विद्यामार्तण्ड कृत।

६. वैदिक यज्ञ संस्था—(स्वाध्याय मण्डल, किला पारडी, जिला सूरत द्वारा प्रकाशित)

७. यज्ञे पशुवधो वेदविरुद्धः—स्वर्गीय पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ कृत। □

षष्ठ अध्याय

'वैदिक एज्'—एक सन्दिग्ध और सन्देहजनक पुस्तक

कोरी आनुमानिक कल्पनाओं का भण्डार

'वैदिक एज्' को आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़ने पर निष्पक्ष पाठकों पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता कि यह एक सन्दिग्ध और सन्देहजनक पुस्तक है, जिसमें कोरी आनुमानिक कल्पनाओं की भरमार है। जिसके विद्वान् लेखकों को स्वयं ही किसी वस्तु का निश्चित ज्ञान न हो और बात-बात में उन्हें Probably या संभवत: का प्रयोग करना पड़े, उसके पाठकों को क्या निश्चयात्मक ज्ञान मिल सकेगा ? यदि सचमुच ही उनका ज्ञान इतना अधिक सन्देहात्मक और अनिश्चित था जैसे Probably or Perhaps की अत्यधिक भरमार से स्पष्ट प्रतीत होता है तो क्यों उन्होंने ऐसी सन्दिग्ध और सन्देहजनक बातें लिखकर अपना और पाठकों का समय नष्ट किया ? क्यों न अधिक अनुसन्धान करके वे किसी निश्चय पर पहुंचते और तब उसे पाठकों के सामने रखने का साहस करते ? ऐसा करने से चाहे उनके ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब हो जाता किन्तु यह ग्रन्थ पाठकों के लिए भ्रम और सन्देहवर्धक न होने से अधिक उपयोगी बन जाता। पाठक यह न समझें कि हम इस विषय में किसी प्रकार की अत्युक्ति से काम ले रहे हैं। हम 'वैदिक एज्' से २५-३० उदाहरण रखना ही पर्याप्त समझते हैं, जहां Probably वा Perhaps जैसे अनिश्चयसूचक शब्दों का प्रयोग है—यद्यपि ऐसे सैकड़ों उदाहरण इस ग्रन्थ से सुगमता से दिये जा सकते हैं। नमूने देखते जाइये—

(१) Regarding Race Movements and Prehistoric Culture.

इस शीर्षक से प्रागैतिहासिक संस्कृति के विषय में 'Vedic Age' का अष्टम अध्याय है, जो अटकलपच्चू और कोरी आनुमानिक कल्पनाओं पर आश्रित है। इस बात को निम्न शब्दों द्वारा लेखकों ने स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

It is strange (and somewhat difficult of explanation) that skeletal remains of Early man in India, particularly in the pre-historic and early historical times, should be so scanty. This lack of material has not allowed us to postulate with certainty about racial Movements in ancient times, and any appraisement or re-construction of Movements of peoples in India, some four or three or even two thousand years ago, is bound to remain largely hypothetical and based on or inferred from the present day situation only."
—*Vedic Age,* P. 141

अब ऐसी कोरी आनुमानिक कल्पनाओं पर ही आपका आधार है तो आप यह कैसे आशा रख सकते हैं कि निष्पक्ष और विचारशील विद्वान् आपकी इन अटकलपच्चू बातों को अवश्य मान लेंगे ? वस्तुत: तथाकथित प्रागैतिहासिक संस्कृति के विषय में इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह प्राय: कल्पनामात्र होने के कारण अमान्य है।

(२) जैसा हम 'आर्य और अनार्य, आर्य दास दस्यु द्राविड़ विषयक अध्याय में दिखाएंगे, 'वैदिक एज्' के लेखकों की द्राविड़ संस्कृति को आर्य संस्कृति से उत्कृष्ट दिखाने की ओर विशेष प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के कारण भी उन्होंने अनेक

विचित्र कल्पनाएं करते हुए उनके साथ Possibly जैसे सन्देहसूचक शब्दों का प्रयोग कर दिया है । उदहारणार्थ पृ० १५५ पर उन्होंने लिखा है—

"There is evidence, both indirect and direct, that in Central India, in North India and in Western India and possibly also in Eastern India, Dravidian was at one time fairly wide-spread."

—*Vedic Age,* P. 155

यहां पूर्वीय भारत में द्राविड़ भाषाओं के प्रसार के लिए प्रतीत होता है कि उनके पास कोई प्रमाण न था अत: उत्तर, पश्चिम, मध्य के साथ 'संभवत:' का प्रयोग करके उन्होंने पूर्वीय भारत का भी समावेश कर लिया । यदि इस स्थापना के लिए उनके पास कोई प्रमाण होता तो वे इसे अवश्य प्रस्तुत करते ।

(३) हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर-निर्माता द्राविड़-भाषाभाषी थे वा नहीं, इस विषय का 'वैदिक एज्' के लेखक कुछ निश्चय नहीं कर सके, किन्तु संदेहात्मक भाषा में लिखकर उन्होंने अपना झुकाव उनके द्राविड़-भाषाभाषी होने की ओर दिखा दिया है । वे लिखते हैं—

"We are not absolutely certain that the city-builders of Harappa and Mohenjodaro in South Punjab and Sind, whom the Aryans doubtless encountered, spoke Dravidian, but there is a balance of probability that they did.

This matter can not be proved or disproved until we find the clue to the script in the hundreds of seals found at Harappa and Mohanjodaro and other sites.

—*Vedic Age,* P. 156

जब इस बात का कोई प्रमाण आपको मिला ही नहीं कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर-निर्माता द्राविड़-भाषाभाषी थे और ऐसा करना आपके अपने लेखानुसार संभव ही नहीं, जब तक यहां पाई गई मुहरों में प्रयुक्त लिपि का ज्ञान न हो जाये तो फिर आप क्यों एक कोरी आनुमानिक कल्पना का बार-बार उल्लेख करते हैं ? ऐसी कोरी कल्पनाओं वा सम्भावनाओं से पुस्तक को भर देने से भ्रम फैलाने के सिवाय क्या लाभ हो सकता है ?

(४) ऋग्वेद के निर्माणकाल के विषय में आप अपनी पुस्तक के पृ० १९४ में स्वीकार करते हैं कि—

The age of the Rigveda is not known with even an approximate degree of certainty.

—*Vedic Age,* P. 194

अर्थात् ऋग्वेद के काल के विषय में किसी निश्चय की लगभग मात्रा के साथ भी ज्ञान नहीं है ।

ऐसी अवस्था में आपका लगभग १००० ई० पू० ऋग्वेद-निर्माण-काल बताना कितना अशुद्ध, अनुचित और भ्रमजनक है ?

(५) ऋग्वेद के ही क्यों, वैदिक काल के अन्य भी किसी ग्रन्थ के काल के विषय में निश्चिततया कुछ नहीं कहा जा सकता—इस बात को आप पृ० ४४५ पर स्वीकार करते हैं—

"Not a single work of the Vedic period can be accurately dated."

—*Vedic Age,* P. 225

किन्तु फिर पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण करते हुए आप उनका समय ३००० वर्ष के अन्दर-अन्दर निश्चित करने का यत्न करते हैं, जो सर्वथा अशुद्ध है जैसा हम अगले अध्याय में दिखाएंगे ।

(६) केशिन नामक एक वर्ग के लोगों का पृ० २५९ में उल्लेख करते हुए लिखा है—

They were probably a branch of the Panchalas.

(७) वैदिक एज् के पृ० २६० में लिखा है—

There are various other minor tribes mentioned in Vedic texts, but we know very little of them." —*Vedic Age,* P. 260

अर्थात् वेदमन्त्रों में अन्य भी अनेक छोटी-छोटी जातियों का वर्णन पाया जाता है, किन्तु हम उनके विषय में बहुत कम जानते हैं।

हमारी टिप्पणी—वास्तविक बात यह है कि जिन्हें आपने Index of Vedic names and subjects आदि पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार जातिवाचक नाम समझ लिया है वे वस्तुत: जातिवाचक नाम हैं ही नहीं। वे सामान्यवाचक पद हैं पूरव:, तुर्वशा:, यदव:, नहुषा: ये शब्द वैदिक कोष निघण्टु इत्यादि में मनुष्य-नामों में आये हैं। उनको आपका वर्गविशेष वा व्यक्तिविशेष वाचक मान लेना ही अशुद्ध है, जैसा हम अध्याय ३ में दिखा चुके हैं। वेदों में अनित्य ऐतिहासिक सामग्री है ही नहीं। इस बात को आप स्वयं पृ० २२५ में ऋग्वेद के विषय में स्वीकार कर चुके हैं कि—

Naturally it (The Rigveda) is poor in historical data. —*Vedic Age,* P. 225

अर्थात् ऋग्वेद स्वाभाविकतया ऐतिहासिक सामग्री में बहुत गरीब है।

हमारा कथन यह है कि अनादिनिधना नित्य वाणी होने के कारण इसमें अनित्य इतिहास सम्भव ही नहीं, अत: आप का तथा अन्य ऐतिहासिक विद्वानों का इस और अन्य वेदों में से ऐतिहासिक घटनाओं के निकालने का यत्न ही व्यर्थ है।

(८) पृ० २६० पर पौण्ड्रो के विषय में लिखा है कि—

The Paundras are probably the ancestors of the Puros, and aboriginal caste in Bengal. —*Vedic Age,* P. 260

(९) उसी पृ० २६० पर शबरों के विषय में लिखा है—

"The Sabaras are probably ancestors of the Savạrlu or Savras of the Vizagapattam hills, the Savaris of the Gwalior territory and the savages of the frontiers of Orissa." —*Vedic Age*, P. 260

(१०) पृ० २६१ पर आर्यों के तथाकथित आदिवासियों पर आक्रमण का वेदों में बार-बार निर्देश है ऐसी कल्पना करते हुए (जिसका हम आर्य और अनार्य विषयक अध्याय में विवेचन करेंगे) लिखा है—

"The Rigveda repeatedly refers to the attacks on the aborigines. They are called Krishna twach (black skin) metaphorically. Kuyavach (evil speaking) a demon slain by Indra, probably personifies the barbarian opponents." —*Vedic Age* P. 261

हम इस कोरी कल्पना की निस्सारता आर्य-अनार्य विषयक अध्याय में सप्रमाण दिखायेंगे।

(११) वैदिक एज् के पृ० २७० पर एक ऐसी निराधार कल्पना की गई है जिसे पढ़कर सब निष्पक्ष पाठकों को अत्यन्त आश्चर्य और खेद होगा। वहां लिखा है—

"The flood in Mesopotamia is generally held to have occurred about 3100 B.C. The flood in India probably occurred at the same time and the date 3102 B.C. supposed to be beginning of the Kali era, may therefore commemorate this event."

—*Vedic Age*, P. 270

अर्थात् मेसोपोटेमिया में जो जलप्लावन आया उसका समय अब साधारणतया ३१०० ईसवी पूर्व माना जाता है। सम्भवत: भारत में भी जलप्लावन उसी समय आया और ३१०२ ई० पू० जो कलियुग के प्रारम्भ की तिथि मानी जाती है इसी घटना की स्मृति में हो।

हम इसे एक निराधार कल्पना के अतिरिक्त क्या कहें ? जलप्लावन का कलियुग के प्रारम्भ के साथ कोई सम्बन्ध भारतीय परम्परा के अनुसार नहीं है। उसका सम्बन्ध शतपथ ब्राह्मण तथा महाभारतादि में दी हुई कथा के अनुसार वैवस्वत मनु से है। ऐसी अवस्था में बिना किसी प्रमाण के एक घटना को दूसरी के साथ जोड़ देना और एक तरह से वैवस्वत मनु के समय को ही ३००० वर्षों के लगभग बताना सर्वथा अनर्गल कल्पना है, जिसका प्रतिपादन करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। इस विषय में वैदिक काल पर प्रकाश डालते हुए अधिक विवेचन करेंगे कि क्यों महाभारत का काल ३१०० ई० पू० माना जाये। उसका जलप्लावन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

(१२) पृ० २७२ पर एक ही परिच्छेद में २-३ सम्भावनाओं और अज्ञता का निर्देश देखिये। वहां लिखा है—

"The location of the Nabhagas ascended from Nabhaga is uncertain. They probably reigned in the midlands of the Gangetic Doaba, and included Rathitara from whom came the Rathitaras who were Kshatriyan Brahmanas. The Nabhaga dynasty played practically no part in traditional history and probably disappeared under the early Aila conquests. From Dhrishta came the Dharshtak Kshatriyas who probably ruled over Vahika in the Punjab. Nothing further is known about them."

—*Vedic Age* P. 272

(१३) पृ० २७५ पर वैदिक एज् में लिखा है—

"Kuvalashva is said to have marched against an Aswa, Rakshasa or Daitya named Dhundhu near a shallow sandfilled sea in the Rajputana desert in order to rescue a sage named Uttanka. He destroyed the subterranean quarters of the Asura and put an end to his fiery home. This legend probably suggests that Kuvalashva subjugated the Asuras and aboriginals to the West and in the southern parts of Rajputana and spread Aryan culture in those lands."

—*Vedic Age*, P. 257

(१४) वैदिक एज् के पृ० २७६ पर लिखा है—

"The Bhargavas, Vasishthas and probably Angirasas appear to have been the earliest Brahmana families."

—*Vedic Age*, P. 276

अर्थात् भार्गव, वसिष्ठ और सम्भवत: आङ्गिरस प्राचीनतम ब्राह्मणकुल हुए हैं। यदि लेखक के सम्भावित मतानुसार आङ्गिरस सबसे प्राचीन ब्राह्मण कुलों में से है तो फिर अथर्वाङ्गिरस वा अथर्ववेद को नवीन वेद सिद्ध करने का दुस्साहस उन्होंने क्यों किया ? उनकी एतद्विषयक कल्पना की मीमांसा हम प्रकरणानुसार आगे करेंगे। जब इन्हें साधारण ऐतिहासिक

घटनाओं के विषय में भी कुछ निश्चय नहीं तो वैदिक काल के विषय में नितान्त अशुद्ध और समस्त आर्षपरम्पराविरुद्ध अनेक बातें लिखकर युवक-युवतियों में भ्रम फैलाने का यत्न इन्होंने क्यों किया ?

(१५) वैदिक एज् के पृ० २७८ पर नागों के विषय में लिखा है कि सम्भवतः वे आदिवासी व असभ्य लोग थे।

"This shows the extension of the Aryan culture towards the river Narmada and the land of the Nagas who were probably aborigines or primitive peoples."

—*Vedic Age,* P. 278

(१६) वैदिक एज् के पृ० २७९ पर द्रुह्युओं के विषय में लिखा है—

"After a time being over-populated the Druhyus crossed the borders of India and founded many principalities in the Mleccha territories in the north, and probably carried the Aryan culture beyond the frontiers of India." —*Vedic Age,* P. 279

(१७) वैदिक एज् के पृ० २८१ पर परशुराम के विषय में लिखा है—

It appears that on the strength of the matrimonial alliances of the Bhargavas with the ruling families of Kanyakubja and also of growing discontent due to the devastating raids and consequent unpopularity of the Haihayas, Rama organised a confederacy of various Kingdoms including Vaishali, Videha, Kashi, Kanyakubja and Ayodhya which fought the Haihaya on various battle-fields. These are probably referred to by the annihilation of the Kshatriyas twenty-one times. —*Vedic Age,* P. 281

(१८) अर्जुन के पुत्रों के विषय में वैदिक एज् के पृ० २८३ पर लिखा है—

"Arjuna had many sons of whom the chief was Jayadhvaja who reigned in Avanti. Surasena, another son, appears to have been associated with Mathura, while Sura, the third son probably was connected with Surashtra." —*Vedic Age,* P. 283

सुर को सुराष्ट्र के साथ जोड़ना उपहासास्पद है।

(१९) पृ० २८४ पर विदिशा के विषय में सन्देहात्मक भाषा में लिखा है कि वह शायद हैहयों के अधीन थी।

"Vaishali and Vidisha also were attacked by the Haihayas and Vidisha probably was under Haihaya occupation." —*Vedic Age,* P. 284

(२०) कुशिक के पुत्र गाधी के विषय में वैदिक एज् के पृ० २८४ में फिर एक कल्पना निम्नलिखित सन्देहसूचक वाक्य में की गई है—

"Kushika's son from Paurukutsi, Purukutsa's descendant in about the sixth degree, was Gadhi. Gadhi is described as an incarnation of Indra, which pobably means that he had an alternative title such as Indra or one of his synonyms."

—*Vedic Age,* P. 285

(२१) विश्वामित्र के पश्चात् कौन राजा बना इस बात को वैदिक एज् के लेखक निश्चय से नहीं जानते, अतः अष्टक के विषय में वे सन्देहसूचक भाषा में पृ० २८५ पर लिखते हैं—

"Ashtaka probably succeeded Vishvamitra on the throne."

—*Vedic Age*, P. 285

(२२) वैदिक एज् के पृ० २८७ पर विदिशा के राजा के विषय में लिखा है कि सम्भवतः वह हैहय-प्रमुख था।

"Karandhama, King of Vaishali, is said to have been besieged by a confederacy of kings whom at last he defeated. He also rescued his son Avikshit, who was captured by the king of Vidisha (probably a Haihaya chieftain)." —*Vedic Age*, P. 287

(२३) वैदिक एज् के पृ० २८९ पर सुदास के पुत्र मित्रसह के विषय में सन्देहसूचक भाषा में लिखा है कि—

"Around Sudasa's son Mitrasaha has grown a cluster of wild and fantastic legends, invented perhaps to explain his second name Kalmashapada."

—*Vedic Age*, P. 289

(२४) वैदिक एज् के पृ० २८९ पर अश्मक से सम्बद्ध एक कथा के विषय में सन्देह-सूचक भाषा में लिखा है—

"But Parashu Rama flourished generations before Ashmaka, and the story has no chronological value. Probably it refers to the disturbed state of the Kingdom after the days of Kalmashapada when his successors were weaklings. —*Vedic Age*, P. 289

(२५) वैदिक एज् के पृ० २९२ पर दुष्यन्त-पुत्र भरत के विषय में अनिश्चयात्मकता सूचित करते हुए लिखा है कि—"It was probably during Bharata's regime that the headquarters of the state were shifted from Pratishthana to the city, called later Hastinapur, after his successor Hastin." इस बात को प्रायः सभी मानते हैं कि इस देश का नाम भारतवर्ष इसी दुष्यन्त-पुत्र सम्राट् भरत के नाम पर पड़ा है। ऐसा ही महाभारत के पढ़ने से भी स्पष्टतया ज्ञात होता है, किन्तु वैदिक एज् के लेखकों ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर न कोई अनुसन्धान करना आवश्यक समझा और न प्रकाश डाला। केवल एक वाक्य में इस बात को एकपक्षीय दिखाकर वे आगे चल पड़े हैं। पृ० २९२ पर उन्होंने लिखा है—"According to some accounts, Bharata gave his name to our country which was henceforth called Bharatavarsh." —*Vedic Age*, P. 292

इसी प्रकार हजारों की संख्या में उद्धरण 'वैदिक एज्' से दिये जा सकते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अत्यन्त सन्दिग्ध और सन्देहजनक है जिसमें पग-पग पर लेखकों की अनिश्चयात्मकता सूचित होती है। यदि और प्राचीन आर्ष साहित्य के विषय में भी वे यह स्वीकार कर लेते कि हमें इन विषयों का कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है और जो कुछ हमारा अध्ययन है वह अधिकतया पाश्चात्य विद्वानों के किये हुए अनुवादों और उनके लिखे ग्रन्थों के आधार पर है (जैसा स्पष्ट प्रतीत होता है) तो हमें इतना दुःख न होता, किन्तु अन्य साधारण ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में पग-पग पर संशयात्मक भाषा में लिखते और प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर Probably और Perhaps की भरमार करते हुए भी जब वे वेदादि के विषय में निश्चयपूर्वक अशुद्ध बातें लिखने का साहस करते हैं तब हमें अवश्य दुःख होता है और उनकी भ्रान्तियों का निराकरण करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। □

सप्तम अध्याय

वेदों की प्राचीनता

वेदोत्पत्तिकाल-विषयक अटकलपच्चू परस्पर-विरुद्ध कल्पनाएं

हमने इस पुस्तक के प्रथम और द्वितीय अध्याय में इस बात को दिखाने का यत्न किया था कि प्राचीन परम्परागत विश्वास के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और उनका प्रकाश सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों द्वारा किया गया। बिना किसी शिक्षक या माता-पिता आदि से शिक्षा पाये कोई ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता—यह सबकी अनुभवसिद्ध बात है। प्राचीनकाल के अनेक परीक्षणों का हम पिछले अध्यायों में निर्देश कर चुके हैं। लखनऊ के गांधी स्मारक औषधालय में पाले जाते हुए भेड़िया बालक रामू का ताजा उदाहरण भी इस विषय में भुलाने योग्य नहीं है। स्वर्गीय कन्हैयालाल जी मुन्शी का उस बालक के विषय में जो गवेषणापूर्ण विस्तृत लेख ३० जून १९५४ के 'नवभारत टाइम्स' तथा अन्य पत्रों में निकला था, उससे अनेक तथ्यों का पता लगता है जो सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं। उन्होंने इसी संभावना को पुष्ट किया है कि कोई भेड़िया इस बालक को छोटी आयु में उठाकर ले गया और उसी ने इसका पालन किया। उस समय (जुलाई सन् १९५४) इस बालक रामू की आयु लगभग १० वर्ष की थी, किन्तु वह मनुष्य के बालक की तरह न खड़ा हो सकता था न चल सकता था। वह भेड़ियों की तरह चलता था, उन्हीं की तरह कच्चा मांस ही तब तक (लखनऊ गांधी अस्पताल में प्रविष्ट किये जाने के समय तक) खाता रहा था और वह मनुष्य की भाषा न समझ सकता था और न बोल सकता था। सभ्य मनुष्यों के सम्पर्क में आकर उस में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन आया। वह कच्चे मांस के अतिरिक्त अन्य भोजन कुछ-कुछ ग्रहण करने लगा। तब वह प्रायः बिस्तरे पर लेटा रहता और मनुष्यों के सम्पर्क वा उनकी वाणी से पूर्ववत् उद्विग्न नहीं होता था। उसने मनुष्य-वाणी में बोलना प्रारम्भ नहीं किया, पर अपना नाम सुनने पर वह प्रसन्नता प्रकट करता था। अधिक विस्तार में न जाकर हम यह दिखाना चाहते हैं कि जब तक मनुष्य को कोई सिखानेवाला न हो तब तक वह स्वयं सीख नहीं सकता और वह इस भेड़िया-बालक (Wolf-boy इसी नाम से रामू प्रसिद्ध था) की तरह पशुतुल्य ही रहता है। इसलिए आर्यों का विश्वास कि सृष्टि के प्रारम्भ में यदि मनुष्य को ईश्वर की ओर से ज्ञान न मिलता तो वह पशु-समान ही रहता और इसलिए परम पिता मङ्गलमय भगवान् ने मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वेद द्वारा ज्ञान दिया, सर्वथा युक्तियुक्त और तर्कसङ्गत है। इसे कोई भी अन्धविश्वास कहने का साहस नहीं कर सकता। अतः आर्यों के परम्परागत युक्तियुक्त विश्वासानुसार वेदों का काल वही है, जो सृष्टि का। सृष्टि के काल का निश्चय यदि किसी प्रकार किया जा सके तो वही वेदों का भी काल मानना सर्वथा उचित होगा। पर ऐसा करने से पूर्व पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानों ने वेदों का निर्माण-काल निश्चित करने का जो सर्वथा असफल यत्न किया है हम उसका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जिससे यह ज्ञात हो सके कि उनमें परस्पर कितना मतभेद है और सिवाय अटकलपच्चू कल्पनाओं के उसमें कोई सार नहीं; और अन्त में प्रायः सभी विद्वानों को यह स्वीकार करना पड़ा है कि वे इस विषय में कुछ नहीं जानते।

प्रो० मैक्समूलर का मत

वेदकाल-निर्णय का यत्न करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों में जर्मनी के प्रो० मैक्समूलर का (जो ऑक्सफोर्ड में बस गये थे) नाम प्रथम पंक्ति में रखा जाता है। प्रो० मैक्समूलर ने अपनी History of Ancient Sanskrit Literature

(प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास) नामक पुस्तक में, जो सन् १८५९ में प्रकाशित हुई, इस विषय में निम्नलिखित विचारसरणी को अपनाया—

"Buddhism is nothing else than a reaction against Brahmanism, and it pre-supposes the existence of the entire Veda i.e. of the literature embodied in the hymns, the Brahmans, Aranyakas and the Upanishads. The whole of this literature must have therefore been Pre-Buddhistic i.e. it must have arisen before 500 B.C. The Vedanga and the Sutra literature could be approximately simultaneous with the origin and the expansion of Buddhism in its initial stages. These Sutra works, whose origin might be attributed to the period from 600 to 200 B.C., are however so constructed that they of necessity pre-suppose the Brahman literature. The Brahmanas however, of which there are older and new ones, containing as they do, long lists of preceptors who handed down more ancient Brahmanas could not possibly be compressed within less than two hundred years. We must therefore regard the period 800 to 600 B.C. as that required for the growth of these prose works. The Brahmanas however, pre-suppose further in their turn, the Vedic Samhitas. At least two hundred years were now necessary in order that all these collections of songs and prayers could be put to-gether: therefore the period circa 1000 to 800 B.C. could be regarded as the period in which these collections were formed. Before the formation of these collections, however, which were already regarded as holy sacrificial songs and authoritative prayer-books, there must have preceded a time in which the hymns and the songs contained in them should have arisen as popular or religious compositions. This period must lie before 1000 B.C. Two hundred years may be assigned for the growth of this poetry and thus we may arrive at 1200 to 1000 B.C. as the initial period of the Vedic poetry."

इस लेख का सारांश यह है कि बौद्धमत ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस लिए उससे पूर्व सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत् सबका समावेश है, सत्ता स्पष्ट है। यह सारा साहित्य बौद्धकाल अर्थात् ५०० ई० पू० से पूर्व अवश्य विद्यमान होना चाहिए। सूत्र-ग्रन्थों का निर्माण ६०० से २०० ई० पू० के अन्दर हुआ। सूत्र-ग्रन्थों से ब्राह्मण-ग्रन्थों की सत्ता स्पष्टतया सूचित होती है। ब्राह्मणग्रन्थ जिनमें पुराने और नये अनेक ग्रन्थों का समावेश है और जिनमें पुराने अनेक ब्राह्मणकार शिक्षकों की लम्बी सूची पाई जाती है, २०० से कम वर्षों में नहीं बन सकते थे। इसलिए ८०० से ६०० ई० पू० का समय हम ब्राह्मणग्रन्थों के निर्माण का कल्पित कर सकते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रसंहिताओं के अस्तित्व का स्पष्ट निर्देश है अत: कम से कम २०० वर्ष का समय इन प्रार्थनागीत-संग्रहों की संहिता बनने में लगा होगा। इसलिए १००० से ८०० ई० पू० का वह समय माना जा सकता है जब इन संहिताओं का निर्माण हुआ। इन संहिताओं के निर्माण से पूर्व जिन्हें पवित्र यज्ञ-विषयक गीतों और प्रामाणिक प्रार्थना-पुस्तकों का रूप प्राप्त हो चुका था, एक ऐसा समय माना जाना चाहिए जिसमें उन्हें लोकप्रिय धार्मिक गीत के रूप में स्वीकार किया जाये। यह समय १००० ई० पू० होना चाहिए। २०० वर्ष इस कविता के विकास में लगे होंगे, अत: १२०० से १००० ई० पू० तक वैदिक कविता के प्रारम्भिक काल के रूप में माना जा सकता है।

यह प्रो० मैक्समूलर के मत का अधिकतर उसके अपने शब्दों में सारांश हमने दिया है।

यहां यह बात स्मरण रखने योग्य है कि प्रो० मैक्समूलर ने भिन्न-भिन्न कालों के लिए जो २०० वर्ष का समय रखा था वह उसके विचार में भी कम से कम था। उसका कभी यह विचार न था कि उसे अन्तिम और अधिकतम समझ लिया जाये। यहां तक कि Physical Religion : Gifford Lectures नामक अपनी पुस्तक में, जो सन् १८९० में प्रकाशित हुई, पृ० १८ पर प्रो० मैक्समूलर ने स्पष्ट कहा—

"We could not hope to be able to lay down any terminus a quo. Whether the Vedic hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B.C. no power on earth could ever fix." —Max Muller's *Physical Religion,* P. 18

अर्थात् हम कोई अन्तिम सीमा निर्धारण कर सकने की आशा नहीं रख सकते। वैदिक सूक्त १००० ई० पू० में बनाये गये, या १५०० ई० पू० में, २००० ई० पू० में, या ३००० ई० पू० में, संसार में कोई शक्ति नहीं जो इसे निश्चित कर सके।

प्रो० मैक्समूलर के इतने स्पष्ट शब्दों के होने पर भी यह बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि उसके पश्चाद्वर्ती प्राय: सभी विद्वानों ने यही समझ लिया कि प्रो० मैक्समूलर ने वैदिक दृष्टि से यह सर्वथा सिद्ध कर दिया कि वेद-निर्माणकाल १२००—१००० ई० पू० माना जाना चाहिए। इसलिए इसके विरुद्ध लिखने का बहुत कम पाश्चात्य विद्वानों को साहस हुआ, जिनमें जर्मनी के एल० फॉन श्रोडर और जैकोबी का नाम उल्लेखनीय है। फॉन श्रोडर ने Indian Literature and Culture नामक अपनी पुस्तक में वैदिक काल को २००० ई० पू० तक ले-जाने का यत्न किया और जैकोबी ने सन् १८९३ में ज्योतिषशास्त्र-विषयक निर्देशों के आधार पर लगभग ४५०० ई० पू० तक, जिसके लिए प्राचीन साहित्य में मृगशीर्ष (Orion) में वसन्त सम्पात होने का उन्होंने Uber das alter des Rigveda नामक जर्मन पुस्तक में उल्लेख किया। जैकोबी के विरुद्ध यूरोप में अधिकतर इसी आधार पर आन्दोलन किया गया कि उसने प्रो० मैक्समूलर के वैज्ञानिक रीति से निर्धारित वेदनिर्माण-काल को इतना पीछे ले-जाने का दुस्साहस कैसे किया ? वास्तविक बात यह है कि प्रो० मैक्समूलर ने वैज्ञानिक रीति से वेद-काल को निर्धारित कर दिया और वह १२००—१००० ई० पू० है, यह सर्वथा असत्य है। वह तो उसके अनुसार मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि को २०० वर्षों का समय देते हुए कम से कम समय निकलता है। स्वयं उसने Physical Religion में सन् १८९० में स्वीकार किया कि वैदिक सूक्त १०००, १५००, २०००, २५०० या ३००० ई०पू० कब बने यह संसार में कोई शक्ति भी निर्धारित नहीं कर सकती। ऐसी अवस्था में उसकी एक कल्पना को वैज्ञानिक रीति से निर्धारित मान लेना कितनी भारी अशुद्धि (भ्रान्ति) है !

प्रो० मैक्समूलर की इस कल्पना के विषय में जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् विन्टर्नीज ने Geshcikte indisbhen Literature नामक जर्मन पुस्तक में जिसके वेदकाल-विषयक अध्याय का अनुवाद श्री उद्गीकर ने 'Age of the Veda'[1] इस नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित किया, स्पष्ट लिखा—

"It is now evident that the presumption of exactly two hundred years for the various literary epochs in the development of the Veda is purely arbitrary. And Max Muller himself would not properly say anything more than that one must at the least presuppose some such period and that out Rigveda Samhita had indeed been completed at least about 1000 B.C. He has always understood his date of 1200 to

1. "The Age of the Veda" translated by N. B. Udgikar Poona, P. 4.

1000 B.C. only as the terminus ad quo and in his lectures on Physical Religion that appeared in 1890, he has distinctively said that 'we could not hope to be able to lay down any terminus a quo.' Whether the Vedic hymns were composed in 1000, or 1500, or 2000, or 3000 years B.C. no powers on earth could ever fix."

It is however remarkable how persistent is the force of suggestion even in scholarship. This purely hypothetical and in itself entirely arbitrary chronological fixing of the Vedic epochs by Max Muller, attained in course of years the respect and the character of a scientifically proved fact, no new arguments or subtantial proofs were added there. All used to say—and W. D. Whitney in his book 'Oriental and Linguistic Studies' First Series (1872) P. 78 has indeed reproved this habit—that Max Muller had proved the period 1200 to 1000 B. C. as the date of the Rigveda. Only with timidity, could some scholars like L. Von Schroeder go back to 1500 or at most to 2000 years B.C."

अर्थात् यह स्पष्ट है कि वैदिक विकास के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के लिए २०० वर्ष का समय निर्धारित कर देना सर्वथा युक्तिहीन और कपोलकल्पित है । स्वयं मैक्समूलर उचित-रूपेण इससे अधिक कुछ नहीं कहेंगे कि कम से कम इतने समय की कल्पना तो करनी ही चाहिए, और कि हमारी ऋग्वेद-संहिता लगभग १०० ई० पू० तक सम्पूर्ण हो चुकी थी । उसने १२००—१००० ई० पू० की इस तिथि को कम से कम सीमा के रूप में माना है और Physical Religion पर अपने व्याख्यानों में जो सन् १८९० में प्रकाशित हुए उसने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया है कि हम कोई अन्तिम सीमा निर्धारित कर सकने की आशा नहीं रख सकते । वैदिक सूक्त १००० ई० पू० में बनाये गये या १५०० ई० पू० में, २००० ई० पू० में या ३००० ई० पू० में, संसार में कोई शक्ति नहीं जो इसे निश्चित कर सके । किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि विद्वत्ता के क्षेत्र में भी किसी निर्देश वा सुझाव की शक्ति कितनी हठीली होती है ! यह केवल कल्पित और स्वयं सम्पूर्णतया स्वच्छन्द वा युक्तिहीन वैदिक काल के निर्धारित करने विषयक मैक्समूलर का वाद समय बीतने पर वैज्ञानिक रीति से सिद्ध किये गये तथ्य के स्वरूप और सम्मान को प्राप्त करने लग गया जब कि इसमें न कोई नई युक्तियां जोड़ी गईं और न किन्हीं सन्तोषजनक ठोस प्रमाणों की वृद्धि की गई । सब यही कहा करते थे (और ह्विटनी ने अपनी 'ओरियन्टल ऐन्ड लिंग्विस्टिक् स्टडीज' नामक सन् १८७२ में प्रकाशित पुस्तक में इस पर विद्वानों की भर्त्सना भी की) कि मैक्समूलर ने १२००—१००० ई० पू० के समय को ऋग्वेद का काल निश्चित कर दिया है । केवल भय के साथ फान श्रोडर जैसे कुछ विद्वानों ने वैदिक काल को १५०० ई० पू० या अधिक से अधिक २००० ई० पू० तक ले-जाने का यत्न किया ।

इतना लिखने के पश्चात् कुछ अन्य विद्वानों के विचार देकर जिनमें से बीवर ने History of Sanskrit Literature में वेदकाल-निर्धारण विषयक यत्न के विषय में घोषणा की थी कि—

"Any such attempt (of defining the Vedic antiquity) is absolutely fruitless." P. 7

अर्थात् ऐसा यत्न सर्वथा व्यर्थ है । डा० विन्टर्नीज ने लिखा है—

"In reality, nothing more has been known than that the Vedic period extends from an altogether undefined past to the fifth century before Christ. Neither the figures 1200 to 500, nor 1500 to 500, nor 2000 to 500, which are often to be met with in the popular account about the age of the Vedic literature have any justification. The only

date justifiable is X to 500 B.C., and as the result of the investigation of the last ten years it could be said that it is probable that in place of 500 B.C. will have to be substituted the date 800 B.C..... We must however, guard against giving any definite figures, where such a possibility is, by the nature of the case, excluded."

—*The Age of the Veda* by Winternitz, P. 10-11

अर्थात् वस्तुतः इससे अधिक और कुछ नहीं जाना गया कि वैदिक-काल का विस्तार एक सर्वथा अनिश्चित भूतकाल से ५०० ई० पू० तक है। १२०० ई० पू० से ५००, या १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०, अथवा २००० से ५०० ई० पू० जो वैदिक साहित्य के विषय में लोकप्रिय वर्णनों में पाये जाते हैं सर्वथा न्यायसंगत व प्रामाणिक नहीं हैं। यदि कोई न्यायसंगत वा समर्थनीय तिथि हो सकती है तो वह है सर्वथा अनिश्चित भूत से ५०० ई० पू० तक। पिछले १० वर्षों के अनुसन्धान के परिणामस्वरूप ५०० ई० पू० के स्थान में भी हमें ८०० ई० पू० रखना पड़ेगा। किन्तु हमें कोई निश्चित अङ्क देने से बचना होगा जब कि यह विषय ही ऐसा है जिसमें कोई निश्चित तिथि देने की सम्भावना ही नहीं।

डा० मॉरिस ब्लूमफील्ड नामक पाश्चात्य विद्वान् ने (जो Vedic Concordance नामक कोष के संकलन के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है) वेदकाल के विषय में यह लिखते हैं कि—

"I for my part, and I think I voice many scholars now much more inclined to listen to an early date, say 2000 B.C. for the beginning of Vedic literary production, and to a much earlier date for the beginning of the institution, and religious concepts which the Veda has derived from those pre-historic times which cast their shadows forward into the records that are in our hands. Anyhow, we must not be beguiled by that kind of conservativism which merely salves the conscience into thinking that there is better proof for any later date, such as 1500, 1200 or 1000 B.C. rather than the earlier date of 2000 B.C., 'Once more frankly' we do not know."

—Bloomfield's *Religion of the Vedas,* P. 191

इस सन्दर्भ का भावार्थ यह है कि मैं स्वयं अपना, तथा मैं समझता हूं कि मैं अनेक अन्य विद्वानों का प्रतिनिधित्व करता हूं, यह कहने में कि हम वैदिक काल के विषय में पूर्व की कोई तिथि मानने में, उदाहरणार्थ २००० ई० पू०, अधिक झुकाव रखते हैं। —कुछ भी हो, हमें इस प्रकार की अनुदारता के धोखे में नहीं आना चाहिए जो अपनी आत्मा को केवल संन्तुष्ट कर लेती है कि १५००, १२००, १००० ई० पू० को मानने के लिए अपेक्षाकृत २००० ई० पू० के अधिक अच्छे प्रमाण हैं।

इतना लिखने के पश्चात् भी डॉ० ब्लूमफील्ड उपसंहार में कहते हैं — एक बार फिर यदि स्पष्टवादिता से कहना हो तो हम कहेंगे कि हम नहीं जानते।

डॉ० ब्लूमफील्ड के शब्दों को उद्धृत करते हुए 'The Rigveda and Vedic Religion' के लेखक मि० क्लैटन कहते हैं—

'From what has already been said, it will be evident that no dates can be assigned to the origin of the hymns that make up the Vedas. Indeed it is necessary to go further

and so say that there is not sufficient evidence to show with any precision when the hymns of the four Vedas were collected together and the Vedas themselves as we have them formed'. —*The Rigveda and Vedic Religion* by A. C. Clayton, P. 45

सारांश यह है कि जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि वैदिक सूक्तों के उद्भव के विषय में कोई तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। वस्तुतः इससे भी आगे जाने और यह स्पष्ट कह देने की आवश्यकता है कि किसी भी निश्चय के साथ यह दिखाने के लिए हमारे पास पर्याप्त साक्षी नहीं है कि चारों वेदों के सूक्तों का संग्रह कब हुआ और ये संहिताएं कब बनीं। अन्य भी अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं यद्यपि कइयों ने प्रो० मैक्समूलर के ही वचनों को प्रामाणिक मानकर स्वतन्त्र अनुसन्धान करना अनावश्यक समझा।

'वैदिक एज्' के लेखकों पर हमें अत्यन्त आश्चर्य होता है कि एक ओर तो वे डॉ० ब्लूमफील्ड के अनुसार स्वीकार करते हैं कि—

"The age of the Rigveda is not known with even an approximate degree of certainty." —*Vedic Age,* P. 225

"Not a single work of the Vedic period can be accurately dated."

—*Vedic Age,* P. 225

अर्थात् ऋग्वेद के काल का कुछ भी निश्चय की मात्रा के साथ ज्ञान नहीं। वैदिक काल के किसी भी ग्रन्थ की ठीक तौर पर तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। और दूसरी ओर ऋग्वेद का निर्माणकाल वे १००० ई० पू० के लगभग निर्धारित करते हैं। 'वैदिक एज्' के पृ० २०४ पर The Aryan Problem (आर्य समस्या) शीर्षक दशम अध्याय में लिखा है--

"From a purely liguistic point of view the Rigveda in its present form can not be dated much earlier than 1000 B.C. The language of the Rigveda is certainly no more different from that of the Avestan Gathas than is old English from old High German and therefore they must be assigned to approximately the same age..... Thus from general linguistic considerations, we get for the Rigvedic language, as known to us, an approximate date of 1000 B.C. Although the culture represented by it must be considerably older, it can hardly be pushed back considerably before 1500 B.C."

—*Vedic Age,* P. 204

"On linguistic grounds, the language of the Rigveda, the oldest Veda, may be said to be about 1000 B.C. but its contents may be- and are certainly in the oldest parts of much more ancient date and its latest parts, resembling Atharvanic charms, are as surely of much later origin." —*Vedic Age,* P. 225

इन उद्धरणों का भाव यह है कि विशुद्ध भाषा के दृष्टिकोण से ऋग्वेद को वर्तमान रूप में १००० ई० पू० से अधिक पूर्व का नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद की भाषा अवस्ता की गाथाओं से पुरानी अंग्रेजी से पुरानी उच्चकोटि की जर्मन से अधिक भिन्न नहीं है, इसलिए दोनों का लगभग एक ही समय मानना पड़ेगा। इसलिए भाषा के विचार से ऋग्वेद

की भाषा के लिए हम लगभग १००० ई० पू० का समय स्वीकार कर सकते हैं। यद्यपि यह जिस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है वह इसकी अपेक्षा अधिक पुरानी होनी चाहिए तो भी हम इसे १५०० ई० पू० से अधिक परे नहीं ले-जा सकते।

—वैदिक एज्, पृ० २०४

पृ० २२५ के उद्धरण का भावार्थ यह है कि भाषा की दृष्टि से सबसे पुराने वेद ऋग्वेद की भाषा को हम १००० ई० पू० का मान सकते हैं, यद्यपि इसके कुछ पुराने भाग अधिक प्राचीन हैं और इसके नये भाग जो अथर्ववेद के जादू-टोनों के सदृश हैं, निश्चय ही अधिक नवीन हैं। —वैदिक एज्, पृ० २२५

इन विचारों की अशुद्धता

'वैदिक एज्' के लेखकों के इन विचारों की अशुद्धता दिखाने के लिए बड़े प्रबल प्रमाणों को प्रस्तुत किया जा सकता है और हम उन्हें प्रस्तुत करेंगे, किन्तु ऐसा करने से पूर्व हम कुछ अन्य भारतीय विद्वानों के वेदों की प्राचीनता-विषयक मत का भी दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं। हमें बड़ा आश्चर्य है कि 'वैदिक एज्' के लेखकों का ध्यान क्यों उन विद्वानों के ग्रन्थों की ओर भी नहीं गया ! यदि वे उनसे असहमत थे तो भी उनके मतों का उल्लेख करके (जैसे उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरणों और निर्देशों (References) से अपनी पुस्तक के बड़े भाग को भर दिया है) उनका निराकरण करना उनका कर्तव्य था।

वेदों के काल के विषय में जिन भारतीय विद्वानों ने लेखनी उठाई, उनमें श्री बालगङ्गाधर तिलक का नाम सुप्रसिद्ध होने के कारण उल्लेखनीय है। उनके कथन का सारांश उनके Orion नामक ग्रन्थ के अनुसार इस प्रकार है—

"यहां तक हमने सब मिलाकर तीन प्रकार के पंचाङ्गों का विचार किया। उनमें से सबसे पहले काल को अदिति-काल किंवा मृगशीर्ष-पूर्वकाल कहेंगे और इसकी अवधि अनुमान से ६००० ई० पू० से लेकर २००० ई० पू० तक है। इस समय में पूर्ण ऋचा वगैरह बनी हों ऐसा नहीं दीखता।"

अब जो दूसरा मृगशीर्ष-काल है उसकी मर्यादा स्थूल मान से ईसवी सन् से पूर्व २००० वर्ष से लेकर २५०० वर्ष तक है। यह समय आर्द्रा नक्षत्र से कृत्तिका नक्षत्र तक वसन्त-सम्पात आने का समय है जो कि सबसे महत्त्व का है। ऋग्वेद के बहुत-से सूक्त इसी समय में बने और कितनी ही कथाओं की रचना हुई। यह समय विशेषकर सूक्त-रचनाओं का था। तीसरा कृत्तिका का समय है। इसकी अवधि ईसवी सन् से पूर्व २५०० वर्ष से लेकर १४०० वर्ष पूर्व तक आती है, अर्थात् कृत्तिका में वसन्त-सम्पात था जो उस समय से लेकर वेदाङ्ग ज्योतिष के काल तक है। तैत्तिरीय संहिता तथा कितने ब्राह्मण-ग्रन्थों का यही रचनाकाल है। इस समय ऋग्वेद-संहिता पुरानी हो गई थी और उसका अर्थ भी ठीक-ठीक समझ में न आता था। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का चौथा काल ईसवी सन् से १५०० वर्ष पूर्व से लेकर ५०० वर्ष पर्यन्त है। इसे बुद्ध-पूर्वकाल कहते हैं। सूत्रग्रन्थ और ६ दर्शन इस समय में ही बने।

—ओरायन् का सारानुवाद—वेदकाल निर्णय—पं० केदारनाथ साहित्य भूषण कृत

तिलक जी ने जिस आधार पर उपर्युक्त परिणाम निकाले उनकी संक्षिप्त आलोचना हम आगे करेंगे, किन्तु यहां उनके उपर्युक्त Orion (मृगशीर्ष) ग्रन्थ से ही यह उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा—

वेद-काल का निश्चय करना संभव है कि नहीं—इस प्रश्न के विषय में बहुत-से प्राचीन वा नवीन पुरुषों की बुद्धि आज तक चल-विचल ही रही है। यद्यपि हमने इस विषय में लिखने का साहस किया है किन्तु इस कालनिर्णय के प्रश्न का साङ्गोपाङ्ग विचार करके अन्तिम परिणाम निकाल लिया, यह नहीं कहा जा सकता। तथापि इस विवेचन के योग से आर्य

लोगों की अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के समय पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य पड़ेगा, ऐसी आशा की जाती है। परन्तु इस काल का निश्चय करना विद्वानों के हाथ में है।
—*Orion* का अनुवाद, पृ० २

इसी पुस्तक के अन्तिम भाग में भी उन्होंने लिखा—

'इस प्रकार जो समय हमने दिये हैं वे बिल्कुल ठीक हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए।'

"Though I have ventured to write on the subject, I can not claim to have finally solved this problem in its bearings."
—*Orion*, P. 2

वेदों के अनादित्व-विषयक प्राचीन विश्वास के विषय में उन्होंने इसी ग्रन्थ के अन्तिम भाग में लिखा—

ऊपर दिखलाया जा चुका है कि वैदिक काल में विशेष उन्नति का समय ईसवी सन् से पूर्व ४००० वर्ष के लगभग था। और यह भी संभव है कि कदाचित् इससे और भी प्राचीन हो, क्योंकि ऐसा कहने के लिए भी थोड़े-बहुत प्रमाण हैं।

वेदों का स्वरूप अक्षरश: वैसा का वैसा रहकर कालवश उनमें कुछ अन्तर आ गया हो परन्तु उसका तात्पर्य कुछ बदला नहीं, इसी कारण इतने प्राचीन काल से वे आ रहे हैं। यह देखकर जैमिनि आदि प्राचीन ब्रह्मवादियों ने 'वेद जगत् के आरम्भ से अर्थात् जानी हुई बातों के आरम्भ-काल से अस्तित्व में हैं, और तो क्या, अनादि हैं, ऐसा ठहराया है। इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य में मिलनेवाली कथाओं तथा ज्योतिष-विषयक उल्लेख के पूर्ण विचार से वेद का समय ईसवी सन् से पूर्व ४००० वर्ष के लगभग यदि निश्चय किया जाये तो वेद-काल के सम्बन्ध में भारतीय वा यूरोपियन और प्राचीन वा नवीन विद्वानों में प्रचलित बातों वा मतों का समाधान करनेवाली रीति से अर्थ लगाया जा सकता है। इस प्रकार सब बातों का यथार्थ अर्थ लग जाने से ऊपर लिखे हुए काल के योग से आर्य सभ्यता की अत्यन्त प्राचीन काल की मर्यादा वर्तमान काल के ज्ञान की स्थिति में जहां तक हो सके वहां तक ठीक-ठीक ठहराई जा सकती है कि नहीं—यह निश्चय करने का काम विद्वानों के हाथ में ही रखना चाहिए।

जहां हमें इस बात का हर्ष है कि तिलक जी ने उस समय पाश्चात्यों द्वारा अभिमत वेदकाल की अशुद्धता को सिद्ध किया, वहां हमें दु:ख और आश्चर्य है कि वेदों के अनादित्व और अपौरुषेयत्व-विषयक परम्परागत विश्वास की उन्होंने अवहेलना की। उन्होंने ज्योतिष के आधार पर जो प्रमाण वेदों के लगभग ४००० ई० पू० में बनाये जाने के विषय में प्रस्तुत किये हम उन्हें भी ठीक नहीं समझते। प्रथम तो वेदों में मृगशीर्ष (Orion) का कहीं स्पष्ट निर्देश उन्होंने नहीं दिखाया और यह स्वीकार भी किया है कि ऐसा कोई स्पष्ट वाक्य नहीं पाया जाता जिसमें वसन्त-सम्पात के पुनर्वसु में होने का स्पष्ट उल्लेख हो।[१]

दूसरी बात यह है कि यदि कुछ देर के लिए मान भी लिया जाये कि वैदिक साहित्य में मृगशीर्ष पर वसन्त-सम्पात का वर्णन है, तो भी इसके आधार पर यह क्यों मान लिया जाये कि ईसवी सन् से ४००० वर्ष पूर्व ही वेदों की रचना हुई, जबकि तिलक जी यह भी मानते हैं कि वसन्त-सम्पात चलता है, वारी-वारी से एक-एक नक्षत्र पर आता है और सम्पात-प्रदक्षिणा (पूरा सम्पात-चलन चक्र) २५९२० वर्ष में होती है। तब ईसवी सन् से ४००० वर्ष पूर्व ही क्यों वेदकाल माना जाए ? उससे पूर्व सम्पात-प्रदक्षिणा में जब मृगशीर्ष नक्षत्र (Orion) पर वसन्त-सम्पात था जो कि ईसवी सन् से लगभग ३०००० वर्ष पूर्व बैठता है उसे, उससे पहले की सम्पात-प्रदक्षिणा में लगभग ८२००० ईसवी पूर्व मृगशीर्ष नक्षत्र पर

१. लोकमान्य तिलक के अपने शब्द 'Orion' में निम्न हैं—

"There is no express passage which states that Punarvasu was ever the first of the Nakshatras, nor have we in this case any synonyms like Agrahayan or Orion wherein we might discover similar tradition."
—Orion, P. 201

जब वसन्त-सम्पात था, एवं उससे पूर्व जहां तक जा सकते हों, प्राचीन से प्राचीन अतिप्राचीन सम्पात-प्रदक्षिणा में जो मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त-सम्पात था उसे क्यों न वेदों का काल माना जाये ? केवल समन्वय के विचार से क्यों ४००० ई० पू० वेद-काल इस वसन्त-सम्पात में मृगशीर्ष नक्षत्र के कारण माना जाये और इस प्रकार प्राचीन परम्परागत विश्वास की सर्वथा अवहेलना की जाये ?

कुछ अंश तक हर्ष की बात है कि स्वयं लोकमान्य तिलक ने Orion के पश्चात् लिखे अपने Arctic Home in the Vedas नामक ग्रन्थ में वेदकाल १० हजार वर्ष ई० पू० के लगभग बताया और इस प्रकार अपने पूर्व-ग्रन्थ की बातों का स्वयं खण्डन कर दिया। तथापि इतने से वेदों को अपौरुषेय माननेवालों को कभी सन्तोष नहीं हो सकता। अतः उनके इस मत की आलोचना सप्रमाण की जायेगी।

लोकमान्य तिलक जी के मत की इस प्रकार सप्रमाण आलोचना से पूर्व एक और भारतीय ज्योतिषी श्री दीनानाथ जी शास्त्री चुलैट का नाम निर्देश कर देना प्रसङ्गवश अनुचित न होगा जिन्होंने 'वेद काल निर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा है और उसमें ज्योतिष के प्रमाणों का अनुशीलन करके यह लिखा कि वेद आज से ३ लाख वर्ष पुराना है।

— आर्यों का आदि देश—स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी कृत, पृ० २२३ से उद्धृत

श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट की पुस्तक में यह सिद्ध किया गया कि वसन्त-सम्पात सब नक्षत्रों पर वामगति से घूमता हुआ २५८०० वर्षों में फिर उसी नक्षत्र पर आ जाता है—यह सर्व ज्योतिषिसम्मत सिद्धान्त है। इसके अनुसार गणना करने पर ज्ञात होता है कि कात्यायन श्रौत सूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य के समय वसन्त-सम्पात सूर्य के तुलासंक्रमण के समय आश्विन मास में हुआ करता था। इससे उसका समय आज से लगभग १५ हजार वर्षपूर्व सिद्ध होता है। इसी ज्योतिष-शास्त्र की गणना के अनुसार पारस्कर गृह्यसूत्रकार का समय 'मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणी कर्म' इत्यादि सूत्रों को ध्यान में रखते हुए वसन्त-सम्पात मूल नक्षत्र के तारे पर होने के कारण आज से १९ हजार वर्ष पूर्व के लगभग सिद्ध होता है (पृ० ६३)। वेदाङ्ग ज्योतिष का समय धनिष्ठा नक्षत्र-विभाग के आरम्भ पर वसन्त-सम्पात होने के कारण आज से लगभग २३९५० वर्ष पूर्व और **वेदों का समय कम से कम ३ लाख वर्ष है।**

महाभारत तथा रामायण में साङ्गोपाङ्ग वेद-वर्णन

महाभारत में न केवल चारों वेदों का अनेक स्थानों पर वर्णन है, किन्तु उनके अङ्गों और उपाङ्गों का भी स्पष्ट उल्लेख है। उदाहरणार्थ,

(१) सभापर्व में श्री कृष्ण के विषय में भीष्मपितामह ने कहा था—

वेदवेदाङ्गविज्ञानं, बलं चाप्यधिकं तथा। नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति, विशिष्टः केशवादृते॥

—सभापर्व ३८.१९

अर्थात् श्री कृष्ण को वेदों और वेदाङ्गों का पूर्ण ज्ञान है और साथ ही उनमें अत्यधिक बल है इसलिए इनसे बढ़कर इस समय संसार में और किसको माना जाये ? यहां श्री कृष्ण के न केवल वेदों किन्तु वेदाङ्गों के भी पूर्णतया जानने का स्पष्ट उल्लेख है।

(२) आदि पर्व अ० ३८६ में निम्नलिखित श्लोक इस विषय में द्रष्टव्य है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान्, साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चाख्यानमिदं विद्याद् नैव स स्याद्विचक्षणः॥

अर्थात् द्विज वही है जो अङ्गों और उपनिषदों-सहित चारों वेदों को जाने, किन्तु जो इस आख्यान (महाभारत) को न जाने वह चतुर पण्डित नहीं माना जा सकता।

यहां न केवल चारों वेदों किन्तु साथ ही उनके अङ्गों और उपनिषदों का भी स्पष्ट उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि महाभारत के समय न केवल चारों वेद विद्यमान थे, प्रत्युत उनके अनेक अङ्ग और उपनिषदें भी विद्यमान थीं।

(३) महाभारत वनपर्व अ० ४५.८ में निम्न श्लोक पाया जाता है—**साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान्॥** यहां चारों वेदों के अङ्गों और उपनिषदों-सहित महाभारत के समय विद्यमान होने का स्पष्ट उल्लेख है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

(४) महाभारत आदि पर्व २५८-२५९ में निम्न श्लोक आये हैं—

एकतश्चतुरो वेदान्, भारतं चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः, समेत्य तुलया धृतम्॥
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्, महाभारतमुच्यते॥

यहां भी रहस्यों-सहित चारों वेदों का स्पष्ट उल्लेख है।

(५) महाभारत लोकपाल सभाख्यान सभापर्व ११. ३२ में चारों वेदों और सर्वशास्त्रों का स्पष्ट उल्लेख निम्न श्लोक में आया है—**ऋग्वेदः सामवेदश्च, यजुर्वेदश्च पाण्डव। अथर्ववेदश्च तथा, सर्वशास्त्राणि चैव हि॥**

इस पर किसी-टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। महाभारत के समय वेदों के अतिरिक्त सब शास्त्र भी विद्यमान थे जिनमें वेदों को परमप्रमाण माना गया है। यह इस श्लोक से स्पष्ट है।

(६) महाभारत वनपर्व अ० ६२. ३ में चारों वेदों के यज्ञादि में उच्चारण किये जाने का स्पष्ट वर्णन निम्न श्लोक द्वारा पाया जाता है—**यजुषामृचां साम्नां च, गद्यानां च सर्वशः। आसीदुच्चार्यमाणानां, निस्स्वनो हृदयंगमः॥**

यहां गद्यों से अथर्ववेद के गद्यमय मन्त्रों का ग्रहण है। अथर्ववेद का स्पष्ट उल्लेख ऊपर उद्धृत अनेक श्लोकों में विद्यमान है। अतः इस शङ्का के लिए स्थान नहीं रह सकता कि अथर्ववेद महाभारत-काल के पश्चात् बना होगा।

महाभारत के अनुसार वेद अनादिनिधना वाक्

महाभारत में चारों वेदों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन आया है यह ऊपर के श्लोकों से अत्यन्त स्पष्ट है, किन्तु इनके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि महाभारत में वेदों को नित्य और ईश्वरकृत अथवा अपौरुषेय परम प्रमाण माना गया है। यह यहां भी स्पष्ट बताया गया है कि ऋषियों और पदार्थों के नाम वेदों के ही आधार पर रखे गये। वेदवाणी अनादिनिधना ईश्वरप्रदत्त है। उदहारणार्थ निम्न श्लोकों को देखिये—

अनादिनिधना नित्या, वागुक्ता या स्वयम्भुवा।

अर्थात् स्वयम्भू परमेश्वर ने आदि और अन्त-रहित नित्य वेदवाणी प्रदान की।

नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स ईश्वरः॥

नामधेयानि चर्षीणां, याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते सुजातानां, तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥

वह परमेश्वर वेद के शब्दों द्वारा पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और प्रकाश इन भूतों के अनेक रूपों और कर्मों का ज्ञान मनुष्यों को देकर शुभ कर्मों में उन्हें प्रवृत्त करता है। ऋषियों के नाम भी तत्प्रदत्त वेदों को देखकर रखे जाते हैं, अतः एक प्रकार से वही उनके नामों को रखता और उन्हें जीवन के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। 'वैदिक एज्' के लेखकों के अनुसार भी महाभारत का समय ईसवी सन् से १४०० वर्ष के लगभग पूर्व है जब कि ऋग्वेद का जिसको वे सबसे पुराना वेद कहते हैं निर्माणकाल वे १००० ई० पू० मानते हैं। इसकी नितान्त अशुद्धता ऊपर उद्धृत महाभारत के

श्लोकों से अत्यन्त स्पष्ट है। यदि महाभारत के समय अभी वेद बन रहे होते तो उन्हें अनादिनिधना नित्या ईश्वरीय वाक् कहने का दुस्साहस कौन कर सकता ? अतः यह तो निस्सन्दिग्ध ज्ञात होता है कि महाभारत के समय चारों वेद अपने अङ्गों, उपाङ्गों, रहस्यों अर्थात् उपनिषदों और शास्त्रों-सहित विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में 'वैदिक एज्' में वेद-निर्माणकाल को १००० ई० पू० के लगभग कहना और ऐसे संशयात्मक वाक्यों का स्थान-स्थान पर प्रयोग करना कितना अशुद्ध और भ्रामक है—

"If we remember that the Rigveda did not probably receive its final shape long before the end of the so-called Dvapara age, its testimony is decidedly fatal to the geographical views assumed in the Puranas." —*Vedic Age,* P. 312

महाभारत-काल

'वैदिक एज्' के पृष्ठ ३०० (Historical traditions Section 8) पर The Bharat War (महाभारत युद्ध) का शीर्षक देकर कोष्ठक में उसका समय (१४०० B.C.) अर्थात् ईसवी सन् से १४०० वर्ष पूर्व लिखा है। ऐसा ही कई अन्य स्थानों पर भी लिखा, किन्तु अन्य हजारों विषयों की तरह (जिनमें Probably की प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में भरमार है) इस विषय में भी 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखक स्वयं सन्देह में हैं। 'वैदिक एज्' के पृ० ३०४ में वे लिखते हैं—

"Though the Mahabharata, in its present form, is a late production. The kernel of the story takes us back to the period between 1400 and 1000 B.C. when, as noted above, the battle was probably fought." —*Vedic Age,* P. 304

यहां उन्होंने लिखा है कि महाभारत की कथा हमें उस काल तक ले जाती है जो १४०० और १००० ईसवी पूर्व के बीच में है जब सम्भवतः महाभारत का युद्ध हुआ था। किन्तु वस्तुतः अत्यन्त प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि महाभारत-युद्ध १४०० और १००० ईसवी पूर्व के मध्य में नहीं अपितु ३१०० ईसवी पूर्व के लगभग हुआ था। इसके निम्नलिखित प्रमाण अतिप्रबल होने के कारण प्रसङ्गवश यहां लिखे जाते हैं—

(१) चालुक्य कुल के महाराज पुलिकेशी द्वितीय का एक शिलालेख दक्षिण के एक जैन मन्दिर में मिला है। उसमें लिखा है—

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु, भारतादाहवादितः। सप्ताब्दशतयुक्तेषु, शतेष्वब्देषु पञ्चसु॥ ३३
पंचाशत्सु कलौ काले, षट्सु पञ्चशतासु च। समस्तु समतीतासु, शकानामपि भूभुजाम्॥ ३४

—*ऐपिग्राफिका इण्डिका* भाग ६, पृ० ७ में उद्धृत।

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि भारत-युद्ध से ३७३५ वर्ष बीत जाने पर जब कि कलि में शकों के ५५६ वर्ष बीत गये थे। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शक संवत् ५५६ अथवा सन् ६३४ में भारत के दक्षिण के विद्वान् भारत-युद्ध को ईसा से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व मानते थे।

(२) वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में लिखा है—

आसन् मघासु मुनयः, शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ। षट्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च।

—*बृहत्संहिता,* १३. ३

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि महाराज युधिष्ठिर के राज्यकाल में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे तथा युधिष्ठिर से लेकर आगे २५२६ वर्ष जोड़ने से शककाल का आरम्भ होता है।

अलबरूनी ने इस विषय में लिखा है—ब्रह्मगुप्तादि के अनुसार सन् १०३१ तक कलियुग के ४१३२ वर्ष बीत गये हैं और सन् १०३१ तक भारत के युद्ध के ३४७९ वर्ष बीते हैं। इससे निश्चित होता है कि अलबरूनी के काल के विचारों के अनुसार भारतयुद्ध ईसा से लगभग २४४८ वर्ष पहले हुआ था।

अन्य अनेक विद्वान् इस श्लोक में आये 'शककालस्तस्य राज्ञश्च' का अर्थ शाक्यसिंह, शकसिंह वा गौतमबुद्ध का काल करते हैं, न कि शालिवाहन का काल जो ईसा के जन्म से ७८ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ, जब कि प्रायः यूरोपियन विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि गर्गसंहिता ईसा के जन्म से कम से कम १५४ वर्ष पूर्व विद्यमान थी'।[१]

गौतमबुद्ध का जन्म ईसवी सन् से लगभग ६२३ वर्ष पूर्व और मृत्यु ८० वर्ष की आयु में ५४३ ई० पू० हुई थी। शाक्यसिंह का संवत् उनकी आयु के ५०वें वर्ष से आरम्भ हुआ था अर्थात् ईसा के जन्म से ५७४ वर्ष पूर्व।

गर्ग संहिता के अनुसार शाक्य संवत् के संवत्सर तक	२५२६
गौतम के संवत् आरम्भ से ईसा के जन्म तक	५७४
ईसा के जन्म से अब तक	१९७३
	५०७३

(३) उक्त गणना इस कारण भी ठीक है कि सन् १८९९ ई० में सभी प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषियों ने महाभारत-युद्ध के समय वा कलिकाल के आरम्भ की गणना की थी और सबने एकमत से कहा था कि उस वर्ष महाभारत-युद्ध को हुए ५००० वर्ष व्यतीत हो रहे थे।[२]

भारत में प्रचलित पंचाङ्गों के अनुसार वर्तमान कल्यब्द ५०७४ है, अतः ज्ञात होता है कि महाभारत प्रथम कल्यब्द में ही आरम्भ हुआ था। महाभारत गदापर्व में भीम और दुर्योधन के पश्चात् श्री कृष्ण ने क्रुद्ध बलराम को समझाते हुए कहा था—**'प्राप्तं कलियुगं विद्धि'** इससे ज्ञात होता है कि कलियुग के प्रारम्भ में ही युद्ध हुआ था।

(४) अकबर बादशाह के समय में जब कि पण्डितों की प्रतिष्ठा बादशाह के दरबार में होने लग गई थी उस समय संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा व ज्योतिष के सिद्धान्तों से अनुसन्धान करके, अकबर बादशाह के प्रधान मन्त्री ने जो कुछ लिखा है उससे पता लगता है कि कलियुग के लगते ही पहला राजा युधिष्ठिर हुआ था। विक्रम के संवतारम्भ के पूर्व युधिष्ठिर को हुए ३०४४ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।[३]

इस प्रमाणानुसार भी वर्तमान वि० २०३० में कलियुग के आरम्भ हुए ३०४४+२०३०=५०७४ वर्ष होते हैं।

(५) पं० माधवाचार्य ज्योतिषी ने संवत् १८१६ में बनाये अपने ग्रन्थ 'राजावली' में लिखा है कि 'कलियुग के आरम्भ से विक्रम के संवत् तक ३०४४ वर्ष होते हैं।' —हरिश्चन्द्रिका पत्रिका, अङ्क अगस्त, सन् १८७४, पृ० ८७-८८

उक्त प्रमाणानुसार भी अब कलियुग-प्रारम्भ वा महाभारत-युद्ध को ३०४५+२०३०=५०७४ वर्ष होते हैं।[४]

(६) कौंट जार्न्स्टजर्ना नामक यूरोपियन विद्वान् बताते हैं कि—

कलियुग का समयारम्भ लिखते हुए आर्य ज्योतिषियों ने बतलाया है कि उस समय प्रायः सब ग्रह एक सीध में आ गये थे। बेली नामक ज्योतिषी की गणनानुसार ज्ञात होता है कि वह समय ईसा के जन्म से ३१०२ वर्ष पूर्व २० फरवरी

१. देखो—भारतवर्ष का इतिहास, आचार्य रामदेव जी कृत, प्रथम खण्ड।
२. द्रष्टव्य—भारतवर्ष का इतिहास।
३. देखो आईने अकबरी
४. यह काल-गणना पुस्तक के लेखन-काल की है।

को २ बज के २७ मि० ३० से० पर आरम्भ हुआ था। उक्त प्रमाणानुसार वर्तमान संवत् २०३० में कलियुग के प्रारम्भ हुए ३१०२+१९७२=५०७५ वर्ष हो चुके हैं।

(७) मैगस्थनीज नामक सुप्रसिद्ध यात्री के निम्न लेख से भी, जो चन्द्रगुप्त के समय भारत आया था, महाभारत-युद्ध के काल पर प्रकाश पड़ता है। उसका लेख अंग्रेजी-अनुवाद में इस प्रकार है—

From the time of Dionyasos to Sandrukottas the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years. But among these republic was thrice established. The Indians also tell us that Dionyasos was earlier than Heracles by 15 generations.

—Crindle's *Ancient India,* P. 204

This Heracles is held in special honour by the Shourseni Indian tribe who possesses two large cities, Mothora and Cleisobra. —*Ancient India,* P. 201

यहां यह स्पष्ट है कि Heracles से अभिप्राय हरिकृष्ण वा हृषीकेश (श्री कृष्ण) का है जिनकी शौरसेन वंश में अत्यधिक प्रतिष्ठा होनी स्वाभाविक ही थी। मथुरा उनका एक बड़ा नगर था। दूसरा विकृत नाम स्पष्ट नहीं। Sondrakottas से तात्पर्य चन्द्रगुप्त का है। इसके अनुसार हरिकृष्ण से चन्द्रगुप्त तक १३८ राजा हुए। प्रत्येक का शासन-समय २० वर्ष के लगभग भी माना जाए तो १३८ राजाओं का शासनकाल १३८×२०=२७६० वर्ष होता है। महाराज चन्द्रगुप्त ईसा के जन्म से ३१२ वर्ष पूर्व विद्यमान थे, अतः श्रीकृष्ण का समय ईसा के जन्म से प्रायः २७६×३१२=३०७२ होता है अर्थात् श्रीकृष्ण को हुए अब लगभग ३०७२+१९७३=५०४५ वर्ष होते हैं।[१]

अन्य भी अनेक प्रमाण इस विषय में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु विस्तारभय से इतनों का उल्लेख ही पर्याप्त है।

रामायण में वेद-वेदाङ्गों का उल्लेख

महाभारत में साङ्गोपाङ्ग वेदों का उल्लेख दिखाने और उनके काल पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम, रामायण में वेद-वेदाङ्गों का उल्लेख पाया जाता है, इस पर विचार करना चाहते हैं। रामायण की कथा महाभारत से बहुत पूर्व की है इसमें तो अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। महाभारत वनपर्व २७३.६ में श्लोक आया है—

शृणु राजन् यथा वृत्तम्, इतिहासं पुरातनम्। सभार्येण यथा प्राप्तं, दुःखं रामेण भारत॥

हे भरत-कुलोत्पन्न राजन्! पत्नी सीता-सहित राम ने कैसा दुःख पाया, इस पुराने इतिहास को सुनो। श्री राम त्रेता युग में हुए और महाभारत द्वापर के अन्त में बना। कलियुग के प्रारम्भ में महाभारत-युद्ध हुआ। अतः देखना चाहिए कि रामायण में कहीं वेदों और उनके अङ्गों का निर्देश है वा नहीं। हो, तो उनकी लाखों वर्ष प्राचीनता सिद्ध होगी इसमें सन्देह नहीं।

(१) वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड १.१४ में श्री रामचन्द्र जी के विषय में लिखा है—**वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥** अर्थात् श्री राम जी वेदों और वेदाङ्गों के तत्त्वों को भलीभांति जाननेवाले और उपवेद—धनुर्वेद में अच्छी प्रकार निपुण थे। इस प्रकार रामायण के समय न केवल वेदों की सत्ता का प्रमाण मिलता है बल्कि यह भी स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय वेदाङ्ग और धनुर्वेदादि उपवेद भी बन चुके थे जिनका श्री रामादि ने श्रद्धापूर्वक अध्ययन किया था।

१. काल-गणना ग्रन्थलेखन-काल की है।

(२) वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड १.२० में श्री रामचन्द्र जी के विषय में लिखा है—

सर्वविद्याव्रतस्नातः, यथावत्साङ्गवेदवित्। इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥

अर्थात् श्री रामचन्द्र जी सारी विद्याओं और व्रतों में स्नातक थे, तथा अङ्ग-सहित वेदों को यथावत् जाननेवाले थे। वे धनुर्विद्यादि में अपने पिता जी से आगे बढ़ गये थे। यहां भी "यथावत् साङ्गवेदवित्" ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे अङ्गों-सहित वेदों की सत्ता रामायण के काल में स्पष्टतया ज्ञात होती है।

(३) इस प्रसङ्ग में वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा काण्ड ३.२८-२९ के निम्न श्लोक भी उल्लेखनीय हैं जिनमें श्री हनुमान् जी के व्याकरणादि अङ्गों-सहित वेदों के अध्ययन का स्पष्ट उल्लेख है। वे दो श्लोक निम्नलिखित हैं जिनका श्री राम जी ने हनुमान् की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उच्चारण किया है। श्री राम जी लक्ष्मण से कहते हैं—

नानृग्वेदविनीतस्य, नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः, शक्यमेवं विभाषितुम्॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नम्, अनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन, न किञ्चिदपशब्दितम्॥

अर्थात् जिसने ऋग्वेद का अध्ययन नहीं किया, जिसने यजुर्वेद को अच्छी प्रकार अपने अन्दर धारण नहीं किया या याद नहीं कर रक्खा, जो सामवेद का विद्वान् न हो वह ऐसा शुद्ध भाषण नहीं कर सकता। निश्चय से इसने सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र का अनेक वार श्रवण किया हुआ है जिससे बहुत देर तक भाषण करते हुए भी इसके मुख से कोई अशुद्ध शब्द नहीं निकला। इन श्लोकों से भी रामायण के समय व्याकरणादि अङ्गों-सहित वेदों की विद्यमानता अति स्पष्टतया प्रमाणित होती है।

इससे कहीं किसी को यह भ्रम न हो जाये कि अथर्ववेद का इन श्लोकों में निर्देश न होने से रामायण-काल में अथर्ववेद की सत्ता न थी, अतः इस विषय में वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड २६.२१ का निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है जहां 'मन्त्राश्चाथर्वणाः' यह पाठ पाया जाता है। ऋष्यशृङ्ग ने बालकाण्ड सर्ग १५ श्लोक २ में कहा है—

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि, पुत्रीयां पुत्रकारणात्। अथर्वशिरसि प्रोक्तैः, मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥

अर्थात् मैं अथर्ववेद के मन्त्रों से तुम्हारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊंगा। 'अथर्वशिरसि प्रोक्तैः' का राम टीका में 'अथर्ववेदप्रोक्तैः' यही ठीक अर्थ दिया है। ब्लूमफील्ड ने अपने Hymns of the Atharva Veda Introduction P. IIV में लिखा है—In the Ramayana the Vedas in general are mentioned very frequently; special Vedic names appear to be rare, the Sama Veda (सामगाः) being mentioned at IV. 27. 10. The Taittiriya (आचार्यः तैत्तिरीयानाम्) at 11. 32.7. The Atharva Veda (मन्त्राश्चाथर्वणाः) occurs at 11. 26. 21 । विस्तारभय से इतने ही स्पष्ट निस्सन्दिग्ध वाक्यों का उल्लेख अभी पर्याप्त है।

रामायण-काल

अब महाभारत-काल की तरह रामायण-काल-निर्णय का प्रश्न सम्मुख आता है। 'वैदिक एज्' के लेखक तो इन विषयों में पाश्चात्य लेखकों के पूर्ण भक्त हैं। उन्होंने रामचन्द्र-काल को २३५० से १९५० ईसवी पूर्व रखते हुए श्री रामचन्द्र को १९५० ईसवी पूर्व के लगभग बताया है। उनका सारा यत्न ईसाई लेखकों के अनुसार ५००० या अधिक से अधिक ६००० वर्षों के अन्दर भारत के सम्पूर्ण इतिहास को दिखाने का है। मनु वैवस्वत को प्रथम राजा बताते हुए उसके समय के विषय में वे लिखते हैं—The year 3102 B.C. thus represents the age of Manu, the first traditional king in India.

—*Vedic Age,* P. 270

अर्थात् क्योंकि मैसोपोटेमिया में जो जलप्लावन हुआ वह ३१०० ईसवी पूर्व में हुआ, इसलिए संभवतः (Probably) भारत में जलप्लावन भी तभी आया। अतः कलियुग के प्रारम्भ की जो तिथि ३१०० ईसवी पूर्व मानी जाती है वह जलप्लावन की तिथि को याद करने के लिए होगी और इसलिए मनु का भी समय ३१०० ई० पू० के लगभग है। उनके अपने शब्दों का उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं कि—

The flood in Mesopotamia is generally held to have occurred about 3100 B.C. The flood in India probably also occurred at the same time, and the date 3102 B.C. supposed to be the beginning of the Kali era, may, therefore, commemorate this event.

—*Vedic Age*, P. 270

यह सब लेखकों की मनघड़न्त कल्पना को छोड़कर और कुछ नहीं। मैसोपोटामिया के जलप्लावन के समय को भारत के जलप्लावन का समय मानने के लिए इनके पास कोई प्रमाण नहीं। ३१०० ई० पू० जो इनके अपने लेखानुसार भी कलियुग के प्रारम्भ की तिथि है उसे सत्ययुग के वैवस्वत मनु का समय मान लेना नितान्त असङ्गत और निराधार है। इसी असङ्गत मनघड़न्त कल्पना का विस्तार करते हुए आप आगे लिखते हैं कि—

'Yayati' who is fifth in descent from Manu and figures also in the Rigveda, thus flourished (18×5)=90 years after Manu or in (3100–90=3010 B.C.).....Rama flourished 65 generations after Manu, i.e. 3100—65 ×18-1930 B.C. or roughly in 1950 B.C. These dates will, of course, have to be lowered by 400 years if the Bharat war is placed in 1000 B.C.

—*Vedic Age*, P. 270

अर्थात् ययाति का नाम जो मनु की पांचवीं पीढ़ी में है ऋग्वेद में भी आया है। वह मनु के ९० वर्ष पश्चात् अर्थात् ३०१० ईसवी पूर्व में हुआ। श्री राम मनु की ६५ पीढ़ी पीछे हुए, अतः उनका समय १९३० ईसवी पूर्व है। उन तिथियों को ४०० वर्ष और कम करना पड़ेगा, यदि महाभारत-युद्ध को १००० ई०पू० में रखा जाए।

ये सब अटकलपच्चू कल्पनाएं चल रही हैं। लेखकों को न महाभारत-युद्ध और न किसी अन्य विषय में कुछ भी निश्चयात्मक ज्ञान है। कभी उसे १४०० ई०पू० बताते हैं, कभी १००० ई०पू०। बस ऋग्वेद १. ३१. १७ में—

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे ॥

यहां 'ययातिवत्' देख लिया तो झट कह दिया कि यह मनु की पांचवी पीढ़ी में उत्पन्न ययाति राजा का वर्णन है जिसके लिए न केवल कोई प्रमाण नहीं बल्कि जो निरुक्त-मीमांसादि शास्त्रसम्मत सिद्धान्त 'परन्तु श्रुतिसामान्यम्, सर्वाणि नामान्याख्यातजानि, इति नैरुक्त समयः' इत्यादि के कि वेदों में व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं, केवल सामान्य गुणसूचक हैं। सब शब्द यौगिक हैं अतः उनका यौगिक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए, यह व्याकरण और निरुक्तादि का सिद्धान्त है—इसके सर्वथा विरुद्ध है। ययाति शब्द 'यती प्रयत्ने' धातु से औणादिक इन् प्रत्यय करने पर बना है जिसका अर्थ प्रयत्नशील है। ऐसा ही महर्षि दयानन्द ने ऋग्० १. ३१. १७ के भाष्य में लिखा है—**यथा प्रयत्नवन्तः पुरुषाः कर्माणि प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति च तद्वत्। अत्र यती प्रयत्ने इत्यस्मादौणादिक इन् प्रत्ययः। स च बाहुलकाण्णित् सनवच्च।**

अतः उसका इतना ही अर्थ हुआ कि जैसे प्रयत्नशील पुरुष होते हैं वैसे ही अग्नि अर्थात् अग्रणी नेता को करना चाहिए, अथवा मनु—मननशील अङ्गिरस्वत्—तेजस्वी पुरुषों की तरह। इसको मनु की पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न राजा ययाति पर लगा देना कितना अनुचित है! मनु ने तो अपने धर्मशास्त्र में वेदों की इतनी स्तुति की है और उन्हें नित्य बताया है—

बिभर्ति सर्वभूतानि, वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत् परं मन्ये, यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

मनुस्मृति अ० १२. ९९

परमात्मा ने सनातन (नित्य) वेद को अग्नि, वायु, आदित्य नामक ऋषियों द्वारा यज्ञ वा शुभ कार्यों की सिद्धि के लिए प्रकट किया, इत्यादि, और आप कहते हैं कि मनु की ५वीं पीढ़ी में उत्पन्न ययाति का नाम भी ऋग्वेद में आया है। क्या 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' (ऋग्० १०. १०७) इत्यादि मन्त्रों में भोज का नाम देखकर आप कहेंगे कि ११वीं शताब्दी में उत्पन्न सुप्रसिद्ध संस्कृत-प्रेमी भोज का वर्णन मन्त्रों में होने से वेद ११वीं शताब्दी में बनाये गये ? यह कितनी उपहासास्पद बात होगी ? ऐसे ही ययाति इत्यादि शब्दों को देखते ही ऐसी कल्पना कर लेना कि मनु की पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न ययाति के विषय में यह कहा गया है, सर्वथा अमान्य है। 'Historical Traditions' अर्थात् ऐतिहासिक परम्पराएं ऐसा शीर्षक रखकर परम्परागत युग तथा युग-काल की सर्वथा उपेक्षा करके पांच-छः हजार वर्षों के अन्दर सारे भारतीय इतिहास को ले आना, जब कि परम्परानुसार सृष्टि को १९७२९४९०७३ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, कितना असङ्गत और अनुचित है !

श्री राम-काल की युगानुसार गणना इस प्रकार है—

सत्य युग वा कृत युग	१७२८०००	वर्ष
त्रेता युग	१२९६०००	वर्ष
द्वापर युग	८६४०००	वर्ष
कलियुग	४३२०००	वर्ष

इनमें से कलियुग के ५०७३ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।[१] इस प्रकार यदि श्रीराम को त्रेता के अन्त में भी माना जाये तो भी १२ लाख ९६ हजार वर्षों के लगभग समय उन्हें हो चुका है। ऐसी अवस्था में श्री राम वा रामायण का समय केवल १९३० ईसवी पूर्व मान लेना सर्वथा आप्रमाणिक और कोरी कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। कोई प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ नहीं जिसमें वेदों का नाम और महत्त्व वर्णित न हो। अतः उन्हें युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर सनातन मानना और सृष्टि के प्रारम्भ में मङ्गलमय भगवान् मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए उनको पवित्रात्मा ऋषियों द्वारा प्रकट करता है यह मानना सर्वथा उचित ही है। श्री अविनाशचन्द्र दास ने Rigvedic India में ऋग्वेद-काल के विषय में लिखा है—

The Rigveda must be held to be as old as the Miocene or the Pliocene Epoch whose age is to be computed by some hundreds of thousands, if not Millions of years. This at first sight would seem to be extremely incredible. But it may be mentioned here in passing that the Indo-Aryans believe the Rigveda to be as old as the creation of man, in other words, to have emanated from Brahma, the Creator Himself, and is regarded as Apaurusheya i.e. not ascribable to any human agency, though the Rishis or seers might have clothed the revealed truths and eternal verities in language of their own from time to time. This bereft of all exaggerations, would mean that the Rigveda has existed from time immemorial. To this belief of the Indo-Aryans, however absurd it might seem, the results of geological investigations, undoubtedly lend some strong colour. —*Rigvedic India* by Dr. A.C. Das M.A., Ph.D., P. 21

१. यह काल-गणना ग्रन्थलेखन-काल की है।

इसका सारांश यह है कि ऋग्वेद को अवश्य इतना पुरातन माना जाना चाहिए जितना आदियुग, जिसका काल यदि कई करोड़ वर्ष नहीं तो कम से कम कई लाख वर्ष है। यह विचार प्रारम्भ में सर्वथा अविश्वसनीय-सा प्रतीत होता है किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि आर्य लोग वेदों को अपौरुषेय और मानव-सृष्टि के आदि में ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान मानते हैं जिसे ऋषियों ने अपनी भाषा द्वारा प्रकट किया। सब अत्युक्तियों को छोड़ देने पर इसका तात्पर्य यह निकलता है कि ऋग्वेद अनादिकाल से विद्यमान है। आर्यों का यह विश्वास चाहे कुछ असङ्गत-सा प्रतीत हो, किन्तु भूगर्भविद्या की खोजों से उसकी पर्याप्त प्रबल पुष्टि मिल रही है।

सूर्य सिद्धान्त, मनुस्मृति इत्यादि के अनुसार ४३२०००० सामान्य वर्षों की चतुर्युगी ७१ बार बीतने पर एक मन्वन्तर होता है। इस प्रकार के १४ मन्वन्तरों की पृथिवी की आयु होती है। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त-रूप में एक सत्य युग के वर्षों के बराबर की सन्धि होती है जो जल-प्रलय के रूप में होती है और १४ मन्वन्तरों के पहले भी अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में भी एक सत्य युग के वर्षों के बराबर समय की सन्धि होती है। इस प्रकार सन्धि-सहित १४ मन्वन्तरों (पूरी पृथिवी की आयु) का महायोग चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होता है जिसका अथर्ववेद के कां० ८ सू० २ मन्त्र २१ में स्पष्ट निर्देश किया गया है—

शतं ते ऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।

इसमें कहा गया है कि सौ अयुत अर्थात् १० हजार से युक्त २, ३, ४ अर्थात् अङ्कों को बाईं ओर लिखने के नियम से ४३२०००००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षों का पृथिवी का समय मनुष्यों के लिए नियत किया गया है। इसमें से ६ मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं, ७ वें मन्वन्तर में २७ चतुर्युगियां हो चुकी हैं और २८वीं चतुर्युगी के सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के क्रमशः १७२८०००, १२९६०००, ८६४००० और कलियुग के ५०७३ वर्ष, अर्थात् कुल १९७२९४९०७३ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। आर्य लोग यज्ञादि के प्रारम्भ में—

> **ओं तत् सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्यावर्तान्तर्गतैकदेशे ऽमुक नगरे····· अमुक संवत्सरायनर्तुमासे······ इदं कार्यं मया करिष्यते।**

इस रूप में जो संकल्प पढ़ते हैं उससे भी उक्त गणना की सत्यता प्रमाणित होती है।

वैज्ञानिकों द्वारा इसकी पुष्टि

पृथिवी की आयु का पता लगाने के लिए वैज्ञानिक अनेक साधन और उपाय काम में लाते हैं जिनमें से एक मुख्य साधन रेडियोऐक्टिविटी द्वारा इसका पता लगाना है। यह पता लगाया गया है कि चट्टानों में यूरेनियम (Uranium) और थोरियम (Thoreum) तत्त्व थोड़ी-थोड़ी मात्रा में विद्यमान हैं। ये दोनों रेडियोऐक्टिव अतएव अस्थिर हैं। यूरेनियम की किसी मात्रा में ४५०००००००० वर्षों में और थोरियम की किसी मात्रा में १६५०००००००० वर्षों में उसके भार का आधा रह जाता है। यदि हमें विदित हो जाये कि इस विधि से चट्टान में निर्मित सीसे का परिमाण कितना है तो हम उसकी रचनाकाल की अवधि की गणना कर सकते हैं और यही उस चट्टान के ठोस होने की आयु होगी। इसी उपाय से पता लगाया गया है कि फिनलैंड में कारेलिया की चट्टानें १ अरब ८५ करोड़ वर्ष और डकोटा की ब्लैकहिल नामक चट्टानें १ अरब ४६ करोड़ वर्ष पुरानी हैं। इसी आधार पर पृथिवी की आयु के विषय में जो अनुमान किया गया है उसे हम 'Science Past and Present' by Sherwood Taylor Ph.D., M.A., B.Sc., London की पुस्तक से उद्धृत करते हैं। वे लिखते हैं—

Some good evidence that the real age of the earth is two or three thousand million years has been supplied by the study of the proportions of Uranium and an isotope of lead (into which it slowly changes) in the various rocks. —P. 235

The weight of scientific evidence is against an infinitely extended past, but the past which we formerly reckoned as six thousand years, cannot be shorter than 1800 Million and may be far longer.

—*Science Past and Present* by Sherwood Taylor, P. 237

इन उद्धरणों का तात्पर्य यह है कि भूमि की आयु २ या ३ अरब वर्ष है। इस विषय में यूरेनियम के अनुपातों के अनुशीलन से अच्छी साक्षी प्राप्त हुई है।

वैज्ञानिक साक्षी असीम भूत के विस्तार के विरुद्ध है, किन्तु जो भूत पहले ६ हजार के लगभग माना जाता था वह १ अरब ८० करोड़ से कम नहीं हो सकता, किन्तु इससे पर्याप्त अधिक हो सकता है। आर्यों के मन्तव्यानुसार पृथिवी की आयु १९६०८५३०७३ वर्ष है जो उपर्युक्त वैज्ञानिक साक्षियों से बहुत अधिक मेल खाती है।

"An Outline of Modern Knowledge" Edited by Dr. William Rose नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक में भूमि की आयु के विषय में निम्न पंक्तियां पाई जाती हैं—

'The age of the earth is about two thousand Million years.'

—*Outline of Modern Knowledge,* P. 152

अर्थात् पृथिवी की आयु लगभग २ अरब वर्ष है।

जिस लेख से यह उद्धरण लिया गया है वह स्कॉटलैण्ड के सुप्रसिद्ध राजकीय ज्योतिषी ज्योतिषशास्त्र-विशारद प्रो० सैमसन् (Prof. R.A. Sampson M.A. F.R.S. Astronomer Royal for Scotland का 'Astronomy' अथवा ज्योतिषशास्त्र-विषयक लेख है।

इस प्रकार पृथिवी की आयु-विषयक आर्यमन्तव्य की अद्भुत पुष्टि होती है। लैकोम्टे दुन्वाय (Lecomte Dunouy) नामक आजकल के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने अपनी Human Destiny नामक अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक में लिखा है कि—

"Our globe must be about two thousand Million years old and can in no case be much older."

—*Human Destiny,* P. 48

अर्थात् हमारी पृथिवी लगभग २ अरब वर्ष पुरानी है और किसी भी अवस्था में इससे अधिक पुरानी नहीं।

श्री एच०जी० वेल्स (H.G. Wells) नामक जगद्विख्यात ऐतिहासिक ने The Outline of History नामक अपनी पुस्तक में इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखा है—

"Astronomers and Mathematicians give us 200 Million years as the age of the earth as a body separate from the sun."

—*Outline of History* by H.G. Wells, P. 19

अर्थात् ज्योतिषी और गणितज्ञ सूर्य से पृथक् हुई पृथिवी की आयु लगभग २ अरब वर्ष बताते हैं।

बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि इस प्रकार नवीनतम वैज्ञानिक साक्ष्य द्वारा भी पृथिवी की आयु- विषयक जिस आर्य मन्तव्य की पुष्टि हो रही है उसकी सर्वथा उपेक्षा करके ईसाइयों के मन्तव्यानुसार पृथिवी की आयु लगभग ६००० वर्ष मानते हुए 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखकों ने भी उसकी अवधि के अन्दर सारे प्राचीन इतिहास को बन्द करने का प्रयत्न

किया है जो नितान्त अनुचित है । पृथिवी पर मनुष्योत्पत्तिकाल ही वेदों का आविर्भाव-काल है जैसा पहले अनेक युक्तियों और प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है ।

श्री मैटर्लिक और वेदों की अतिप्राचीनता

इस अध्याय की समाप्ति से पूर्व नोबेल पुरस्कार-विजेता श्री मैटर्लिङ्क के वेदों की अति प्राचीनता विषयक महत्त्वपूर्ण लेख से एक अंश उद्धृत करना हमें अत्यावश्यक प्रतीत होता है । वे लिखते हैं—

As for the sources of the primary source, it is almost impossible to re-discover them. Here we have only the assertions of the occultist tradition, which seem, here and there, to be confirmed by historical discoveries. This tradition attributes to the vast reservoir of the wisdom that somewhere took shape simultaneously with the origin of man....., to more spiritual, entities, to beings less entangled in matter.

—*Great Secret* by Materlink, Prologue, P. 6

इसका सारांश यह है कि आदि-स्रोत को फिर से खोज लेना असम्भवप्राय है । यहां हमें अध्यात्मवादी परम्परा के कथन मिलते हैं जिनकी कहीं-कहीं ऐतिहासिक अनुसन्धानों से भी पुष्टि होती है । इस परम्परा के अनुसार ज्ञान के विशाल भण्डार का आविर्भाव मनुष्य की उत्पत्ति के साथ अधिक आध्यात्मिक और प्रकृति में अनासक्त व्यक्तियों पर हुआ ।

इसी प्रसङ्ग में श्री मैटर्लिक ने यह भी लिखा है कि प्रसिद्ध जर्मन पुरातत्त्ववेता हालेड् (Halled) की गणना के अनुसार प्राचीन भारतीय शास्त्र (वेद) कम से कम ७० लाख वर्ष पुराने हैं । (देखो 'ग्रेट सीक्रेट', भूमिका, पृ० १२) □

अष्टम अध्याय

आर्य और अनार्य

आर्य, दस्यु, दास, द्राविड़ विवेचन

इस अध्याय में हम आर्य, अनार्य, दस्यु, दास, द्राविड़—इनके विषय में विवेचन करना चाहते हैं क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे ग्रन्थों में तो यह बात प्राय: सर्वत्र पाई ही जाती है कि आर्य लोग बाहर (बहुत संभवत: मध्य एशिया) से आये थे और उन्होंने, भारत के मूल निवासी काले रंग के लोगों पर जो द्राविड़ थे और जिन्हें आर्यों ने दास और दस्युओं का नाम दिया, अनेक प्रकार के अत्याचार किये। 'वैदिक एज्' में भी उसी का अधिकतर समर्थन किया गया है और निम्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है—

"The Aryan invaders or immigrants found in India two groups of people, one of which they named the Dasas and Dasyus, and the other Nishadas."

—*Vedic Age*, P. 156

अर्थात् आर्य आक्रान्ताओं ने भारत में दो प्रकार के वर्गों को पाया। एक वर्ग को उन्होंने दास और दस्यु का नाम दिया और दूसरे को निषादों का।

यह कुछ हर्ष की बात है कि 'वैदिक एज्' के अष्टम अध्याय के परिशिष्ट में मैसूर महाराजा कॉलेज के प्रो० श्रीकण्ठ शास्त्री का एक लेख प्रकाशित किया गया है जिसमें उन्होंने भारत को ही आर्यों का आदि-देश सिद्ध करने के लिए अनेक प्रबल प्रमाण दिये हैं। (देखो 'वैदिक एज्' पृ० २१५ से २१७)।

किन्तु 'वैदिक एज्' के अधिकतर भाग में द्राविड़ संस्कृति और सभ्यता को आर्य-संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा उन्नत तथा परिष्कृत दिखाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। आर्यों और दस्युओं अथवा द्राविड़ों को आर्यों से पृथक् एक जाति (Race) मानने का भाव भी बहुत स्थानों पर पाया जाता है जिसे हम ठीक नहीं समझते।

आर्य कौन होते हैं ? क्या आर्य कोई जाति है ?

सबसे प्रथम हम इस बात का विवेचन करना आवश्यक समझते हैं कि आर्य शब्द का क्या अर्थ है ? कौन आर्य कहाते हैं तथा क्या आर्य और दस्यु वा द्राविड़ कोई पृथक्-पृथक् जातियां हैं ?

आर्य शब्द का अर्थ

ऋग्० १०. ६५. ११ में आर्यों के विषय में बताया गया है कि—**आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि।**

अर्थात् आर्य वे कहलाते हैं जो भूमि पर सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकारादि व्रतों को विशेष रूप से धारण करते हैं। आर्य शब्द ऋ धातु से बनता है जिसका अर्थ 'गति-प्रापणयो:' है अर्थात् गति—ज्ञान, गमन, प्राप्ति करने और प्राप्त करानेवाले को आर्य कहते हैं। इस धात्वर्थ के अनुसार आर्य वे हैं जो ज्ञान-सम्पन्न हैं, जो सन्मार्ग की ओर सदा गति करने वाले पुरुषार्थी हैं और जो ईश्वर तथा परमानन्द को प्राप्त करते तथा तदर्थ प्रयत्नशील होते हैं। इसी को लेकर संस्कृत के शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यबृहदभिधानादि कोषों में आर्य शब्द के निम्न अर्थ पाये जाते हैं—

आर्यः—पूज्यः, श्रेष्ठः, धार्मिकः, धर्मशीलः, मान्यः, उदारचरितः, शान्तचित्तः, न्याय-पथावलम्बी, सततं कर्तव्यकर्मानुष्ठाता, यथोक्तम्—

कर्तव्यमाचरन् कार्यम्, अकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे, स तु आर्य इति स्मृतः ॥

अर्थात् आर्य का अर्थ सद्‌गुणों के कारण पूजनीय, श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदा धर्मयुक्त स्वभाव और आचरणवाला, माननीय, जातिभेद, वर्ण या रंगभेद आदि जन्य संकुचित भावनाओं का परित्याग करके जो उदार चरित्रवाला है, जिसमें संकीर्णता नहीं है, ईश्वरभक्ति तथा भगवान् में पूर्ण विश्वास के कारण जिसका चित्त सदा शान्त रहता है, जो न्याय के मार्ग का सदा अवलम्बन करता है और कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता, जो कर्तव्य-कर्म का सदा निरन्तर अनुष्ठान करता है, जैसे वसिष्ठस्मृत्यादि में कहा है कि आर्य वह कहलाता है जो कर्तव्य-कर्म का सदा आचरण करता और अकर्तव्य-कर्म अर्थात् पापादि से दूर रहता हो और जो पूर्ण सदाचारी हो ।

महाभारत में आर्य के विषय में निम्न श्लोक पाये जाते हैं, जो इस प्रकरण में विशेष उल्लेखनीय हैं—

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं, तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं, स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥

अर्थात् आर्य वह है जो शान्त हुए वैर को बढ़ाता नहीं, जो न अभिमान करता है और न निराश होता है; दुर्गति को प्राप्त करने पर भी जो कभी पाप-कार्य नहीं करता; जो सुख प्राप्त होने पर बहुत अधिक प्रसन्नता नहीं दिखाता व आपे से बाहर नहीं हो जाता; जो दूसरों के दुःख में कभी प्रसन्न नहीं होता; दान देकर जो पश्चात्ताप नहीं करता उसे आर्य कहा जाता है । इस प्रकार आर्य शब्द में अनेक अत्युत्तम गुणों का समावेश होता है । इन गुणों को धारण करनेवाला जो कोई भी हो, वह जिस किसी देश, वंश वा कुल में उत्पन्न हुआ हो और जैसे भी काले, गोरे व गेहुंए रंग का हो, वह आर्य कहलायेगा ।

महर्षि वेदव्यास ने निम्न ८ गुणों से युक्त को आर्य कहा है—

ज्ञानी तुष्टश्च दान्तश्च, सत्यवादी जितेन्द्रियः । दाता दयालुर्नम्रश्च स्यादार्यो ह्यष्टभिर्गुणैः ॥

अर्थात् जो ज्ञानी हो, सदा सन्तुष्ट रहनेवाला हो, मन को वश में रखनेवाला, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दानी, दयालु और नम्र हो, इन आठ गुणोंवाला व्यक्ति आर्य कहलाता है ।

निरुक्त में आर्य शब्द का अर्थ महामुनि यास्क ने 'आर्यः ईश्वरपुत्रः', इन शब्दों में दिया है । अर्य शब्द का अर्थ स्वामी, परमेश्वर होता है । अर्यः स्वामिवैश्ययोः । जो उस सर्वजगत् के स्वामी परमेश्वर के सच्चे पुत्र अर्थात् उसकी आज्ञाओं का सदा पालन करनेवाले हों वे आर्य कहलाते हैं । इसीलिए वेदों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, गीता इत्यादि सब प्राचीन ग्रन्थों में सज्जनों के लिए आर्य और दुर्जनों के लिए अनार्य वा दस्यु शब्द का प्रयोग पाया जाता है । श्री राम के उत्तम गुणों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि रामायण में नारद मुनि ने कहा है—**आर्यः सर्वसमश्चायं, सोमवत् प्रियदर्शनः ।**

— रामायण बालकाण्ड १. १६

अर्थात् श्री राम आर्य—धर्मात्मा, सदाचारी, सबको समान दृष्टि से देखनेवाले और चन्द्र की तरह प्रिय दर्शनवाले थे ।

भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने जब देखा कि वीर अर्जुन अपने क्षात्र धर्म के आदर्श से च्युत होकर मोह में फंस रहा है तो उसे सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं, विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरमर्जुन॥ —गीता २. ३

अर्थात् हे अर्जुन, यह अनार्यों व दुर्जनों द्वारा सेवित, नरक में ले-जानेवाला, अपयश करनेवाला पाप इस कठिन समय में तुझे कैसे प्राप्त हो गया ?

कैकेयी ने जब श्री राम को अरण्य भेजने की मांग की तो राजा दशरथ ने उसके लिए 'अनार्या' शब्द का अनेक बार रामायण के अनुसार प्रयोग किया। यथा—

मृते मयि गते रामे, वनं मनुजपुंगवे। हन्तानार्ये ममामित्रे, सकामा सुखिनी भव॥ —अयोध्याकाण्ड १३. ५

स्वयं वाल्मीकि ने भी कैकेयी के लिए इस अनार्योचित बुरी मांग के लिए अनार्या शब्द का प्रयोग किया है—

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोपमम्। श्रुत्वा गतव्यथो रामः, कैकेयीं वाक्यमब्रवीत्॥

—अयोध्या काण्ड १९. १९

महात्मा बुद्ध और आर्य

महात्मा गौतम बुद्ध ने भी सज्जनों के लिए सर्वत्र आर्य शब्द का प्रयोग करते हुए उसका लक्षण किया कि—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति। अहिंसा सब पाणानं, अरियोति पवुच्चति॥ — धम्मपद २७०

अर्थात् प्राणियों का हनन करने से कोई आर्य नहीं होता। सभी प्राणियों की अहिंसा से मनुष्य को आर्य—श्रेष्ठ, धर्मात्मा वा सदाचारी कहा जाता है।

पारसियों और जैन मतावलम्बियों में भी आर्य शब्द का श्रेष्ठ पुरुषों के लिए प्रयोग किया गया है। जैनों के तत्त्वार्थसूत्र अ० ३ में 'आर्या म्लेच्छाश्च' इत्यादि सूत्र पाये जाते हैं जिनमें श्रेष्ठ पुरुषों को आर्य के नाम से स्मरण किया गया है। जैनों में साध्वियां अभी तक आर्या वा आरजा कहलाती हैं। श्री रतनचन्द्र जैन कृत 'अर्ध मागधी कोष' के भाग २, पृ० ८२ में आरिय वा आर्य का अर्थ पवित्र, विशुद्ध, श्रेष्ठ, पापरहित और High in Civilisation दिया है।

जिन्दावस्ता में आर्य शब्द

पारसियों के मान्य धर्मग्रन्थ जिन्दावस्ता में श्रेष्ठ पुरुषों के लिए आर्य शब्द का सैकड़ों बार प्रयोग पाया जाता है, उदाहरणार्थ ज़िन्दावस्ता के भाग सिरोजह १-२५ में लिखा है कि आर्यों की प्रतिष्ठा में जिन्हें मज्दा (परमेश्वर) ने बनाया। सिरोजह २. ९ में लिखा है 'हम आर्यों के सम्मानार्थ हवन करते हैं जिन्हें मज्दा ने बनाया।'

अस्तद यश्त का १८वां अध्याय आर्यों की वीरता से भरा हुआ है। उसके प्रारम्भिक श्लोक का अनुवाद इस प्रकार है—'अहुर मज्दा ने स्पितामा जरदुश्त से कहा 'मैंने आर्यों को भोजन, पशुसमूह, धन, प्रतिष्ठा, ज्ञानभण्डार और द्रव्यराशि से सम्पन्न किया है जिससे वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। —*Zend Avesta,* Part 11, P. 283

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सुप्रसिद्ध जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्द जी ने 'आर्य' शब्द के अर्थ और महत्त्व के विषय में अपने त्रैमासिक पत्र 'Arya' के प्रथम अङ्क में सन् १९१४ में जो लिखा था, आजकल के सुशिक्षित वर्ग का ध्यान हम उसकी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। उन्होंने लिखा था कि—

The word Arya expresses a particular ethical and social order of well-governed life, candour, courtesy, nobility, straight dealing, courage, gentleness, purity, humanity, compassion, protection of the weak, liberality, observance of social duties, eagerness for knowledge, respect for the wise and the learned, and the social accomplishments. There is no word in human speech that has a nobler history. The Arya is he who strives and overcomes all outside him and within him that stands opposed to human advance. Self-conquest is the first law of his nature. He over-comes mind and its habits and he does not live in a shell of ignorance, inherited prejudices, customary ideas, pleasant opinion, but knows how to seek and choose, to be large and flexible in intelligence even as he is firm and strong in his will. For in everything he seeks truth, in everything right, in everything height and freedom.

The Arya is a worker and a warrior. Always he fights for the coming of the kingdom of God within himself and the world. —*Arya,* Vol. I, P. 63

भावार्थ यह है कि आर्य शब्द में उदारता, नम्रता, श्रेष्ठता, सरलता, साहस, पवित्रता, दया, निर्बल संरक्षण, ज्ञान के लिए उत्सुकता, सामाजिक कर्तव्य-पालनादि सब उत्तम गुणों का समावेश हो जाता है । मानवीय भाषा में इससे अधिक उत्तम और कोई शब्द नहीं । आर्य आत्मसंयमी और आन्तरिक तथा बाह्य स्वराज्य-प्रेमी होता है । वह अज्ञान, बन्धन तथा किसी प्रकार की दासता में रहना पसन्द नहीं करता । उसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है । प्रत्येक वस्तु में वह सत्य, उच्चता तथा स्वतन्त्रता की खोज करता है । आर्य एक कार्यकर्ता और योद्धा होता है जो अपने अन्दर और जगत् में ईश्वर के राज्य को लाने के लिए अज्ञान, अन्याय तथा अत्याचारादि के विरुद्ध युद्ध करता है ।

इस प्रकरण में एक और बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण उल्लेख्य है—

उत्तरप्रदेश के शिक्षाविभाग ने 'स्याम की संस्कृतमूलक शब्दावली' नामक पुस्तक प्रकाशित की है जिसकी भूमिका स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी ने लिखी है । वह अंग्रेजी-स्यामी पारिभाषिक शब्दावली स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव जी को 'थाई-भारत संस्कृति भवन स्याम' से प्राप्त हुई थी । इसमें पृ० ८ पर निम्न दो शब्दों को देखकर जहां हमें आश्चर्य हुआ वहां अपार प्रसन्नता भी हुई । ये स्यामी शब्द निम्न हैं—

Civilisation	=	आर्य धर्म
Civilised people	=	आर्य जन

यहां सभ्यता के लिए आर्य धर्म और सभ्य जन के लिए आर्यजन शब्द का प्रयोग स्यामी भाषा में प्रचलित है यह बताया गया है । ऊपर उद्धृत संस्कृत-ग्रन्थों के प्रमाणों से उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है ।

दस्यु कौन है ?

दस्यु शब्द 'दसु उपक्षये' इस धातु से बनता है; इसलिए उसकी व्युत्पत्ति और अर्थ करते हुए यास्काचार्य ने निरुक्त ७. २३ में लिखा है 'दस्यु दस्यतेः, क्षयार्थात् उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि ।'

अर्थात् दस्यु वह है जिसमें रस अथवा उत्तम गुणों के सारभार कम होते हैं और जो यज्ञादि उत्तम कर्मों का नाश करता अथवा उन में बाधा डालता है । उसका लक्षण वेदों के शब्दों में निम्न प्रकार है—

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः । त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ॥ — ऋग्० १०. २२. ८

अर्थात् दस्यु वह है जो (अकर्मा) अच्छे कर्म न करनेवाला और निकम्मा है, जो (अमन्तुः) विचारशील नहीं है, सोच-विचारकर कर्म करनेवाला नहीं (अन्यव्रतः) जो सत्य, अहिंसा, परोपकारादि अच्छे व्रतों को न ग्रहण कर इनसे भिन्न प्रकार के हिंसा, असत्य, चोरी, छल, कपटादि संकल्पों को करता रहता है और इस प्रकार जो (अमानुषः) मनुष्यता की पवित्र भावना न रखता हुआ क्रूर, कठोर, केवल स्वार्थ-साधक होने के कारण मानवता से दूर है । ऐसे दस्यु का ही हे इन्द्र, तुम नाश करो । इसी प्रकार के विशेषण दस्यु के लिए सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं, यथा ऋग्० १. ५३. ४ के सुप्रसिद्ध मन्त्र में आर्यों और दस्युओं का भेद बताते हुए कहा है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥

इसमें दस्युओं का विशेषण अव्रत रखा गया है । जहां आर्य लोग 'आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि' ऋग्० १०. ६५. ११ के अनुसार सत्य, अहिंसा, परोपकारादि व्रतधारी होते हैं यहां दस्यु अव्रत अर्थात् इन उत्तम व्रतों से रहित होते हैं । यही मुख्यतया आर्यों और दस्युओं का अन्तर जानो । इस मन्त्र की वैदिक धर्मोद्धारकशिरोमणि महर्षि दयानन्द ने जो व्याख्या 'आर्याभिविनय' में की है वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । उन्होंने लिखा है—

हे यथायोग्य सबको जाननेवाले ईश्वर ! आप 'आर्यान्' विद्या-धर्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरण-युक्त आर्यों को जानो 'ये च दस्यवः' और जो नास्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषय-लम्पट, हिंसादि दोषयुक्त, उत्तम कर्म में विघ्न करनेवाले, स्वार्थी, स्वार्थ-साधन में तत्पर, वेदविद्या-विरोधी अनार्य मनुष्य 'बर्हिष्मते' सर्वोपकारक यज्ञ के विध्वंसक हैं । इन सब दुष्टों को आप (रन्धय) समूलान् विनाशय—मूलसहित नष्ट कर दीजिये । और (शासदव्रतान्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादिधर्मानुष्ठान व्रतरहित, वेदमार्गोच्छेदक अनाचारियों को यथायोग्य शासन कीजिए (शीघ्र उन पर दण्ड-निपातन करो) जिससे वे भी शिक्षायुक्त हो के शिष्ट हों अथवा उनका प्राणान्त हो जाय, किं वा हमारे वश में ही रहें (शाकी) तथा जीव को परम शक्तियुक्त, शक्ति देने और उत्तम कामों में प्रेरणा करनेवाले हों । आप हमारे दुष्ट कामों के विरोधक हो । मैं उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्मों की कामना करता हूं सो आप पूरी करें ।"

—आर्याभिविनय, १. १४ व्याख्या

इस प्रकार आर्यों और दस्युओं के स्वभाव में अन्तर है और इसीलिए ऐसे दस्युओं के नाश पर वेदों में बल दिया गया है क्योंकि ये न केवल स्वयं दुष्ट होते हैं, किन्तु समाज और राष्ट्र के भी विघातक होते हैं ।

ऋग्वेद १. ११७. ३ में दस्यु का विशेषण 'अशिवस्य' अर्थात् अशान्तिकारक, दुःखप्रद आया है—**'मनन्ता दस्योरशिवस्य मायाः'** अर्थात् 'अश्विनौ' अध्यापकोपदेशक अशिव—अकल्याणकारी दस्यु की दुष्ट बुद्धियों का नाश करने वाले होते हैं । ऋग्० ४. १६. ९ में दस्यु का विशेषण **'मायावान् अब्रह्मा दस्युः'** ऐसा आया है अर्थात् जो छल-कपट करने वाला ब्रह्म (परमेश्वर) और वेद को न माननेवाला तथा संकीर्ण-हृदय हो (वृह वृद्धौ) उसका इन्द्र—शक्तिशाली राजा नाश करता है—ज्ञानादि का प्रचार करके उसके अब्रह्मत्व व अज्ञान का नाश करता है ।

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥ —ऋग्० ६. २२. १०

ऋग्वेद का यह मन्त्र भी इस प्रसङ्ग में विशेष उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यसम्पन्न राजा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम (वृत्रा दासानि नाहुषाणि आर्याणि अकरो:) धर्म-कार्यों में विघ्न डालनेवाले तथा उनका नाश करनेवाले दासों को भी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदाचारी, धर्म-कर्म-परायण कर देते हो ।

सायणाचार्य का भाष्य भी इसी भाव का समर्थक है जो निम्न प्रकार है—

हे इन्द्र शत्रूणां तारणाय महतीम् (अमृध्राम्) अहिंसिताम् (संयतीम्) संगच्छमानाम् (स्वस्तिम्) क्षेमलक्षणां सम्पदम् अस्मभ्यम् आ भर । हे वज्रवन्निन्द्र ! यया स्वस्त्या (दासानि) कर्महीनानि मनुष्यजातानि (आर्याणि) कर्मयुक्तानि अकरो: । (नाहुषाणि) मनुष्यसम्बन्धीनि नहुष इति मनुष्यनामैतत् निघं० (वृत्रा) वृत्राणि शत्रून् (सुतुका) शोभन हिंसोपेतानि अकरो: ।

—तिलक संस्थान सं० भाग ३, पृ० ९१

यहां जो बात विशेष उल्लेखनीय है वह यह है कि सायणाचार्य के अनुसार भी इन्द्र का कार्य उत्तम कर्महीन मनुष्यों को श्रेष्ठ कर्मकारी आर्य बनाना है जिससे स्पष्ट है कि यह आर्य-दस्यु का अन्तर कर्मों के कारण है, जाति के कारण नहीं ।

वेदों का उपदेश पतितों को उन्नत करने, पापियों में भी धर्म-भावना को जागृत करके नवजीवन का संचार करने और सारे विश्व को आर्य (श्रेष्ठ सदाचारी) बनाने का है जैसा निम्नलिखित ३ मन्त्रों में स्पष्टतया सूचित होता है—

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ — ऋग्० १०. १३७. १

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ — ऋग्० ९. ६३. ५

अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् । दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥ — सामवेद मं० १०५

अर्थात् (देवा:) हे सत्यनिष्ठ विद्वानो ! सत्यसंहिता वै देवा: सत्यमया उ देवा विद्वांसो हि देवा: (शतपथ ३. ७. ३. १०) तुम (अवहितम्) नीचे गिरे हुए पतित पुरुष को (उन्नयथ) ऊपर उठाओ । हे देवो (उत) और (आग: चक्रुषम्) अपराध व पाप करनेवाले को भी उस पाप से मुक्त करके (पुन: जीवयथ) उसमें फिर नवजीवन का संचार करो । देवों (सत्यनिष्ठ ज्ञानियों) के स्वभाव का इसमें वर्णन माना जाये कि तुम पतितों का उद्धार करते और पापियों को भी पाप से मुक्त करके उनमें नवजीवन का संचार करते हो, तो भी भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः—यह मन्त्र इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, इसी लिए आर्यों ने अपने लिए इसे आदर्श वाक्य (Motto) बना लिया है—तुम (इन्द्रं वर्धन्त:) ज्ञानैश्वर्य अथवा आत्मिक शक्ति को बढ़ाते हुए (अप्तुर:) कर्मशील, पुरुषार्थी, प्रमादरहित होकर (अराव्ण: अपघ्नन्त:) अदान-भाव=कृपणता आदि का नाश करते हुए (विश्वम् आर्यम्—कृण्वन्त:) सारे संसार को आर्य—श्रेष्ठ धर्मात्मा सदाचारी बनाते हुए जगत् में विचरण करो ।

इस वैदिक आदेश के अनुसार अनार्यों, दासों और दस्युओं को भी आर्य बनाने का प्रयत्न करना आर्यों का कर्तव्य है । इसी लिए 'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यव:' की 'आर्याभिविनय' में व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि वे (दस्यु—डाकू, चोर, विश्वासघाती, विषयलम्पटादि दुष्ट पुरुष) भी शिक्षायुक्त हो के शिष्ट हों अथवा आर्यों के अधीन होकर रहें, और जो इतने नीच हों कि उनका सुधार ही असम्भव हो जाये, जो समाज और राष्ट्र के विघातक हों उनका प्राणान्त ही हो जाये या कर दिया जाये जिससे समाज की उन्नति में बाधा न पड़े ।

तृतीय मन्त्र में इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है जिसका अर्थ है—

(सत्पते) हे श्रेष्ठों के रक्षक (त्यम्) उस (वृजिनम्) पापी (स्तेनम्) चोर (दुराध्यम्) दुष्ट बुद्धिवाले (रिपुम्) इसलिए सज्जनों के शत्रु को (अप दविष्टम् अस्य) हमसे बहुत दूर रख अथवा उस दुष्ट—दुर्मार्गगामी को भी (सुगम् कृधि) उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बना दे । इन आदेशों और प्रार्थनाओं के अनुसार आर्य लोग दस्यु को भी आर्य बनाने का यत्न करते थे; किन्तु जो अत्यधिक दुष्ट, समाज-विनाशक होते थे उनका नाश करना वे समाजरक्षार्थ अपना कर्तव्य समझते थे । दुष्टों के नाश में अन्य किसी बात का वे विचार न करते थे । आर्य-वंशज होकर भी जो दुष्ट, समाजनाशक कार्यों में प्रवृत्त होते थे उनका भी नाश करना क्षत्रिय अपनां कर्तव्य समझते थे—यदि ब्राह्मण ज्ञान-प्रसार द्वारा उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त करने में सफल न होते थे—यह निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है । ऋग्० ६. ३३. ३ में निम्न मन्त्र आता है—

त्वं तां इन्द्रोभयां अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर । वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणां नृतम ॥

इसमें इन्द्र अथवा शूरवीर सेनापति को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे (नृणां नृतम) नेता मनुष्यों में श्रेष्ठ ! तुम दोनों प्रकार के शत्रुओं को चाहे वे स्वभाव से ही (वृत्र, दास) अच्छे कार्यों में बाधा डालनेवाले हों अथवा आर्यवंशज होकर भी जो आर्यत्व से गिरकर नीच कर्म में प्रवृत्त हो गये हों उनका तुम नाश कर देते हो । इससे किसी आर्येतर जातिविशेष के प्रति द्वेष का भाव सूचित नहीं होता, किन्तु समाजरक्षार्थ सब दुष्टों के नाश का ही भाव द्योतित होता है ।

ऋग्० में इन्द्रावरुणौ (राजा और उसके प्रधानमंत्री को) सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि—

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राच्य गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ॥

यहां वृत्र—दास अर्थात् स्वभाव से अच्छे कार्यों में बाधा डालनेवाले पुरुषों के नाश का जहां वर्णन है वहां आर्यवंशज होकर ऐसे बुरे कार्य करनेवालों के भी वध का स्पष्ट निर्देश है जिससे न्यायपूर्ण समदृष्टि ही सूचित होती है—किसी वर्गविशेष व जातिविशेष के प्रति घृणा वा विद्वेष का भाव नहीं । ऋग्० १०. १०२. ३ का निम्न मन्त्र भी इसी बात को स्पष्टतया प्रमाणित करता है—

अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः । दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम् ॥

अर्थात् हे (इन्द्र) शूरवीर सेनापते (अभिदासतः) हमें दास बनाने की इच्छा करनेवाले और हमारे यज्ञादि शुभ कामों में बाधा डालनेवाले का तुम नाश करो, चाहे वह स्वभावतः दास, दस्यु, दुष्ट हो और चाहे आर्यवंशज होकर दुष्टों की संगति से दुष्ट स्वभाववाला बन गया हो । इस प्रकार भी दस्युओं के एक जातिविशेष होने और आर्यों की उनसे घृणा का भाव वेदों द्वारा समर्थित नहीं होता । वेदों के अनुसार तो जिस प्रकार के दस्यु को मारने का विधान है उसका लक्षण पहले 'अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः' इस ऋग्० १०. २२. ८ को उद्धृत करके बताया जा चुका है । ऋग्वेद ८. ७०. ११ का निम्न मन्त्र भी उसी बात को बताता है—

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् । अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्यु पर्वतः ॥

यहां दस्यु के विशेषण (अन्यव्रतम्) सत्य, अहिंसा, परोपकारादि से भिन्न असत्य-हिंसा-स्वार्थसाधनादि संकल्प रखनेवाला, (अमानुषम्) मानवता की सहानुभूति-प्रेम-दयादि भावनाओं से रहित (अयज्वानम्) यज्ञ की त्याग-परोपकारादि भावनाओं से शून्य (अदेवयुम्) दिव्य गुणों तथा सत्यनिष्ठ विद्वानों की कामना न करनेवाला, ये आये हैं जिनसे किसी जातिविशेष वा वर्गविशेष के प्रति न घृणा सूचित होती है न विद्वेष । ऋग्० का निम्न मन्त्र भी ऐसे ही दुष्ट लोगों के लिए दस्यु शब्द का प्रयोग करते हुए उनके अग्नि (ज्ञानी नेता) द्वारा विनाश का वर्णन करता है—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धान् । महाभारत में ठीक ही कहा है कि ये दस्यु सभी वर्णों और आश्रमों में हो सकते हैं ।

दृश्यन्ते मानवे लोके, सर्ववर्णेषु दस्यवः । लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥

—शान्ति पर्व, अ० ६५. २३

अतः दस्युओं, दासों अथवा पणियों को आर्यों से भिन्न जाति अथवा भारत का मूल निवासी समझना और यह कहना कि वेदों में उनके प्रति द्वेष के भाव रखने का उपदेश है, सर्वथा अशुद्ध है । उनके लिए कुछ थोड़े-से स्थानों पर यदि असिक्नीं त्वचम् जैसे शब्दों का प्रयोग हो भी तो प्रकरण देखने से स्पष्ट है कि वह आलङ्कारिक भाषा में है, क्यों कि उसी मन्त्र में—

ऋचा शोचन्तः सं दहन्तो अव्रतान् । वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि ॥ —ऋग्० ९. ७३. ५

अव्रतों को ही मेघ की उपमा से काला कहा गया है । मन्त्र का शेष भाग निम्न है—

अवृधां अयज्ञान् । प्र प्र तान् दस्यूंरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापरां अयज्यून् ॥

अर्थात् जो पणि (पण व्यवहारे) व्यापारादि करनेवाले केवल स्वार्थी जन (ग्रथिनः) कुटिलता की गांठ पैदा करने वाले हैं, (अक्रतून्) जो शुभ कर्मों को करने का संकल्प नहीं रखते (मृध्रवाचः) जो वाणी को विकृत करनेवाले हैं, (अश्रद्धान्) जो श्रद्धा वा सत्य धारण करने का भाव नहीं रखते (अवृधान्) इसलिए वास्तविक विद्वत्ता, सत्सङ्ग, दानादि से जो वृद्धि को नहीं प्राप्त होते (अयज्यून्) जो यज्ञ नहीं करते उन्हें (अग्निः) अग्रणी नेता बहुत दूर खदेड़ देता है, उन्हें वह नीचे गिरा देता है ।

गाथा उस्तवैती में ज़रदुश्त ने जो कहा है उसका अंग्रेजी-अनुवाद इस प्रकार है—

That I will ask thee, tell me it right, thou living God, who is the religious man and who the impious, after whom I wish to inquire ? With whom of the both is the black spirit and with whom the bright one ? Is it not right to consider the impious man who attacks me and thee, to be a black one?

यहां दुष्ट दुराचारी पुरुषों को स्पष्टतया पहले तो Black Spirit अथवा काली आत्मा वाले और फिर काले कह दिया गया है । ऐसे ही प्रयोग सब भाषाओं में होते हैं, अतः बहुत थोड़े-से स्थानों पर ऐसे प्रयोग को देखकर यह न समझना चाहिए कि आर्य लोग श्वेत वर्ण के थे और दस्यु वा दास काले, इसलिए आर्य उनसे घृणा करते थे । आर्यों और दस्युओं का वह भेद गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित था, न कि जातीय भेद (Racial difference) पर । दस्यु भी अपने गुण-कर्म स्वभाव में परिवर्तन करके आर्य बन सकते थे और आर्यवंशोत्पन्न यहां तक कि पुलस्त्य जैसे ब्रह्मर्षि के कुल में उत्पन्न होकर भी रावण-समान दुराचारी दस्यु या राक्षस कहलाते थे ।

'Vedic Age' के लेखकों ने पृ० ३५१ के Reference में इस प्रकार के परिवर्तन के एक उदाहरण को स्वीकार किया है । यद्यपि हम उनके ऐतिहासिक पक्ष को ठीक नहीं समझते और बल्बूथ को संज्ञावाचक नहीं मानते, तथापि उनकी टिप्पणी को इस प्रसङ्ग में उद्धृत करना उचित समझते हैं । वे लिखते हैं—

At least one Dasa Chief, however, named Balbuth had adopted Aryan culture and even patronised Brahman singers.

—P. 351

अर्थात् कम से कम एक दास सरदार ने जिसका नाम बल्बूथ था आर्य संस्कृति को अपना लिया था और वह ब्राह्मण गायकों व ऋषियों को संरक्षण देने लग गया था । इसी विषय में 'वैदिक एज्' के लेखकों की एक और टिप्पणी उद्धृत करने योग्य है—

It is significant that as a rule, Indra himself has been made to combat the Dasa princes on his own initiative and not in course of rendering merely routine assistane to Aryan chiefs. For it shows that even in the heydays of Rigvedic culture there was no longer a living memory of the first encounters with the oboriginal races.

—*Vedic Age*, P. 347

अर्थात् यह बात महत्त्वपूर्ण है कि एक नियम के रूप में इन्द्र दस्युओं वा दासों के सरदारों से युद्ध स्वयं करता है न कि आर्य मुखियाओं की सहायता के प्रयत्न से । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृति की पराकाष्ठा के दिनों में भी भारत के मूल निवासियों से प्रथम संघर्षों वा युद्धों की स्मृति आर्यों की बनी हुई न थी ।

महर्षि दयानन्द का लेख

वास्तविक बात यह है कि ऐसे कोई जातीय युद्ध आर्यों और दस्युओं व दासों के बीच हुए ही न थे । आर्य कहीं बाहर से आये ही न थे, किन्तु वही इस देश के मूल निवासी थे । ये तिब्बत से यहीं आकर बस गये थे, जैसा महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश में' लिखा है कि—

(प्रश्न) प्रथम इस देश (आर्यावर्त) का नाम क्या था और इसमें कौन बसते थे ?

(उत्तर) इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी न था और न कोई आर्यों से पूर्व इस देश में बसते थे, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे ।

(प्रश्न) कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये, इसी से इन लोगों का नाम आर्य हुआ है । इनके पूर्व यहां जङ्गली लोग बसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे । आर्य लोग अपने को देवता बताते थे और उनका जब संग्राम हुआ उसका नाम देवासुर-संग्राम कथाओं में ठहराया ।

(उत्तर) यह सर्वथा झूठ है क्योंकि—**विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।**

—ऋग्० १. ५१. ८

उत शूद्रे उतार्ये । —अथर्व० १९. ६२. १

यह लिख चुके हैं कि आर्य नाम धार्मिक, विद्वान् आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है ।— जब वेद ऐसा कहता है तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते । —सत्यार्थप्रकाश समु० ८

योगी श्री अरविन्द का लेख

इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति उद्धृत करने से पूर्व हम यहां जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्द जी के 'वेदरहस्य' प्रथम भाग (आचार्य अभयदेव जी द्वारा अनूदित) के 'अन्धकार के पुत्र' अ० २५ और 'दस्युओं पर विजय' ३. २३ में से कुछ उद्धरण देना उचित समझते हैं जिनसे इस विवादास्पद विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है और आर्य वर्ण, दस्युवर्ण आदि शब्दों का भी स्पष्टीकरण होता है । श्री अरविन्द जी ने अनेक वेदमन्त्रों की आध्यात्मिक हृदयङ्गम

व्याख्या करते हुए लिखा—"एक बार नहीं बल्कि कई बार हम यह देख चुके हैं कि यह संभव ही नहीं है कि अङ्गिरसों, इन्द्र और सरमा की कहानी में हम पणियों की गुफ़ा से उषा, सूर्य व गौओं की विजय करने का यह अर्थ लगावें कि यह आर्य आक्रान्ताओं तथा गुफ़ा-निवासी द्रविड़ियों के बीच होने वाले राजनैतिक व सैनिक संघर्ष का वर्णन है । यह तो वह संघर्ष है जो प्रकाश के अन्वेष्टाओं और अन्धकार की शक्तियों के बीच होता है ।— इसके अनुरूप ही पणियों को इस रूप में लेना चाहिए कि वे अन्धकार-गुहा की शक्तियां हैं । दस्यु हैं पवित्र वाणी से घृणा करनेवाले । ये वे हैं जो हवि को या सोमरस को देवों के लिए अर्पित नहीं करते, जो गौओं व घोड़ों की दौलत को तथा अन्य खजानों को अपने ही लिए रख लेते हैं और उन चीजों को द्रष्टाओं (ऋषियों) के लिए नहीं देते । ये वे हैं जो यज्ञ नहीं करते ।— इतना तो पूर्णतया निश्चित है कि ऋग्वेद में कम से कम जिस युद्ध और विजय का वर्णन हुआ है वह कोई भौतिक युद्ध और लूटमार नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है ।" —वेद रहस्य, पृ० ३०८-३०९

इन दस्युओं के सामान्य स्वरूप को बतलानेवाले मूल सूत्र के तौर पर हम ऋग्वेद ५. १४. ४ को ले सकते हैं—

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यून् ज्योतिषा तमः । अविन्दद् गा अपः स्वः ॥

अग्नि पैदा होकर चमका, ज्योति से दस्युओं को, अन्धकार को हनन करते हुए , उसने गौओं को, जलों को, स्वः को पा लिया ।— क्योंकि सारी लड़ाई प्रकाश और अन्धकार के बीच, सत्य और अनृत के बीच, दिव्य माया और अदिव्य माया के बीच है, इसलिए सभी दस्यु यहां एक-समान अन्धकार से अभिन्न रूप मान लिये गए हैं और यह अग्नि के पैदा होने और चमकने लगने पर होता है कि ज्योति उत्पन्न हो जाती है जिसके द्वारा वह दस्युओं का और अन्धकार का हनन करता है । ऐतिहासिक व्याख्या से यहां बिल्कुल भी काम न चलेगा । —पृ० ३१०

मेरी सम्मति में सत्य के प्रकाश का, आर्य-ज्योति का चमकीलापन ही आर्य-वर्ण है अर्थात् उन आर्यों का वर्ण जो 'ज्योतिरग्राः' (ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित है) । अज्ञान की रात्रि का कालापन पणियों का रङ्ग है दासवर्ण, इस प्रकार प्रायः वर्ण का अर्थ होगा स्वभाव अथवा वे सब जो उस विशेष स्वभाववाले हैं, क्योंकि रङ्ग स्वभाव का द्योतक है और यह बात कि यह विचार प्राचीन आर्यों के अन्दर एक प्रचलित विचार था, मुझे इससे इसकी पुष्टि होती प्रतीत होती है कि बाद के काल में भिन्न-भिन्न रङ्ग सफेद, लाल, पीला और काला चार वर्णों में भेद करने के लिए व्यवहृत हुए हैं । —पृ० ३११

इसलिए यह स्पष्ट है कि ये 'पणि'-दस्यु अनृत और अज्ञान की कुटिल शक्तियां हैं जो अपने मिथ्या ज्ञान को, अपने मिथ्या बल, संकल्प और कर्मों को देवों तथा आर्यों के सच्चे ज्ञान, सच्चे बल, सच्चे संकल्प और कर्मों के विरोध में लगाती हैं । प्रकाश की विजय से अभिप्राय है—इस मिथ्या ज्ञान या दानवीय ज्ञान पर सत्य के दिव्य ज्ञान की विजय ।

—पृ० ३१७

श्रीनिवास अय्यङ्गार का लेख

प्रिन्सिपल पी०टी० श्रीनिवास अय्यङ्गार एक सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् हुए हैं । उन्होंने 'Dravidian Studies' नामक पुस्तक लिखी है । उसमें उन्होंने आर्यों और दस्युओं के भेद को जातीय भेद न मानकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित भेद ही माना है । उन्होंने लिखा है—

The Aryas and Dasyus or Dasas are referred to not as indicating different races......The words refer not to race but to cult.....The Dasyus are without rites, fireless, non-sacrificers, without prayers, without riks, haters of prayers. Thus the difference between Aryas and Dasyus was not one of race, but of cult.

अर्थात् आर्यों और दस्युओं का जो वेदादि में निर्देश है वह पृथक्-पृथक् जातियों के भेद को सूचित नहीं करता, किन्तु भिन्न क्रियाकलाप और मन्तव्य वा संस्कृति को सूचित करता है। दस्यु अयज्वा (यज्ञ न करनेवाले) अकर्मा (श्रेष्ठ कर्म न करनेवाले) प्रार्थना न करनेवाले, वेदरहित (अब्रह्मा) प्रार्थना के द्वेषी (ब्रह्मद्विट्) हैं। इस प्रकार इन आर्यों और दस्युओं का भेद जातियों का भेद न होकर सांस्कृतिक भेद है। दक्षिण भारत के एक सुशिक्षित विद्वान् का यह लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

श्री रामचन्द्र दीक्षितार् का मत

मद्रास यूनिवर्सिटी के श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार् एम०ए० नामक दाक्षिणात्य विद्वान् ने २९-३० नवम्बर १९४० को मद्रास विश्वविद्यालय में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये जो ऐड्यार लाइब्रेरी से सन् १९४७ में Origin and Spread of the Tamils नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इस विद्वान् ने अपने इन व्याख्यानों में आर्यों, दस्युओं वा द्राविड़ों के जातीय भेद का प्रबल खण्डन करते हुए कहा है—

The fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyus—Dravidians inhabited the Punjab and the Ganges Valley at time of the so-called Aryan invasion of India, and overcome by the latter, they fled to South India and adopted it as their home can not stand. To say that all India was a wild country once, and that it was civilised by the invading Dravidians first and by the invading Aryans next, can not carry conviction home.... —P. 12

In the same way we have to look upon the theory of a Dravidian race. If the Aryan race theory is a myth, the theory of the Dravidian race is a greater myth. The word Dravida is the name for the speakers of a group of South Indian languages—Tamil, Malayalam, Kanarese and Telugu.

—Origin and Spread of the Tamils,
by V.R. Rama Chandra Dikshi tar, M.A., P. 14

सचाई यह है कि दस्यु (जातीय भेद की दृष्टि से) अनार्य न थे। यह वाद कि—दस्यु द्राविड़ लोग पंजाब और गङ्गा की घाटी में रहते थे जब आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया और आर्यों से पराजित होकर वे दक्षिण भारत में भाग गये और उसी को उन्होंने अपना घर बना लिया—प्रामाणिक नहीं है। यह कहना कि सारा भारत एक जंगली प्रदेश था और इसे पहले आक्रान्ता द्राविड़ों और फिर आक्रान्ता आर्यों ने सभ्य बनाया—यह भी विश्वसनीय नहीं।

आर्य जाति की तरह द्राविड़ जाति के वाद को भी हमें देखना चाहिए। यदि 'आर्य जाति' का वाद कल्पित है तो द्राविड़ जाति का वाद उससे भी अधिक कल्पित है। द्राविड़ यह शब्द तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु इस दक्षिण भारतीय भाषा-वर्ग के बोलनेवालों का नाम है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों की साक्षियां

म्यूर—पाश्चात्य विद्वानों में से जिन्होंने आर्यदस्यु-द्राविड़ आदि के विषय में बहुत-सा संग्रह किया और बहुत-कुछ लिखा है उनमें म्यूर महोदय का नाम सुप्रसिद्ध है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

I have gone over the name of Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indigenous origin, but I have not observed that appear to be of this character.

—*Original Sanskrit Texts,* Vol. II, P. 387

अर्थात् मैंने ऋग्वेद में आये हुए दस्युओं अथवा असुरों के नाम पर इस दृष्टि से विचार किया था कि क्या उनमें से किसी को अनार्यों या मूल निवासियों की उत्पत्ति का समझा जा सकता है किन्तु, मुझे कोई नाम ऐसा नहीं मिला।

प्रो० मैक्समूलर की सम्मति

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने दस्यु के विषय में लिखा है कि—

Dasyu simply means enemy, for instance when Indra is praised because he destroyed the Dasyu and protected the Aryan colour.

अर्थात् दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है जैसे उस वाक्य में है जहां इन्द्र की इसलिए प्रशंसा की गई है कि उसने दस्यु का नाश कर आर्य-वर्ण की रक्षा की। एक अन्य स्थान पर यातुधान और राक्षस के विषय में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा—

They (the epithets) are too general to allow us the inference of any ethnological conclusions.

अर्थात् उक्त दोनों शब्द (राक्षस और यातुधान) बहुत साधारण हैं और उनसे कोई मनुष्य-जातीय भेद-सम्बन्धी परिणाम नहीं निकल सकता।

आर्य जाति वा Aryan Race का वाद भी अधिकतर प्रो० मैक्समूलर का चलाया हुआ है, किन्तु अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में सन् १८८८ में उन्होंने लिखा—

I have declared again and again that if I say Aryan, I mean neither blood nor bones, nor hair nor skull, I mean simply those who speak an Aryan language......To me an ethnologist who speaks of Aryan race, Aryan blood, Aryan eyes and hair, is as great a sinner as a linguist who speaks of a dolichocephalic dictionary of a brachycephalic grammar. —*Biographies of words and House of the Aryans*, London 1888, P. 120

इन वाक्यों द्वारा प्रो० मैक्समूलर ने आर्य जाति की पृथक् जाति के रूप में सत्ता का खण्डन किया और कहा—जो ऐसा कहता है एक पाप करता है। आर्यों से उन्होंने अपना तात्पर्य आर्य भाषाओं के बोलनेवालों से बताया।

प्रो० रॉथ

सुप्रसिद्ध संस्कृत कोष के जर्मन में निर्माता प्रो० रॉथ ने लिखा कि—

It is but seldom, if at all, that the explanation of Dasyu as referring to the Non-Aryans, the barbarians is advisable.

अर्थात् यदि ऐसे स्थल हैं तो वे बहुत ही कम होंगे जहां दस्यु का अर्थ अनार्य—बर्बर किया जा सके।

नैसफील्ड की सम्मति

नैसफील्ड (Nesfield) नामक विद्वान् ने Brief View of the Caste System of the North-West Provinces and Oudh (P. 27) नाम की अपनी पुस्तक में स्पष्ट शब्दों में लिखा—

There is no division of the people as the Aryan conquerors of India and the aborigines of the country, that division is modern and that there is essential unity of the Indian races. The great majority of the Brahmins are not of lighter complexion or of finer or better red features than any other caste or distinct in race and blood from the scavangers who swept the roads.

अर्थात् भारतीयों में आर्य विजेता और मूल निवासी जैसा कोई विभाग नहीं है । ये विभाग बिल्कुल आधुनिक हैं । यहां तो समस्त भारतीय जातियों में एकता है । ब्राह्मणों की बहुसंख्या रङ्ग-रूप में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक अच्छी अथवा सुन्दर हो अथवा सड़कों पर झाड़ू देनेवाले मेहतरों से जाति और रुधिर की दृष्टि में सर्वथा भिन्न हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

इसी प्रकार अन्य अनेक पाश्चात्य विद्वानों के प्रमाण् भी दिये जा सकते हैं जो आर्यों और अनार्यों में जातीय भेद का खण्डन करते हैं ।

मनुस्मृति में द्रविड़

मनुस्मृति में इस बात का उल्लेख मिलता है कि आन्ध्र, चौल, द्रविड़, काम्बोज, यवन, खश, चीन आदि क्षत्रिय-कुलोत्पन्न होने पर भी शनैःशनैः ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने तथा वैदिक क्रियाओं के लोप से वृषलता वा नीचता को प्राप्त हो गए—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके, ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौलद्रविड़ाः, काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदा पह्लवाश्चीनाः, किराता दरदाः खशाः ॥

—मनुस्मृति अ० १०. ४३-४४

कुल्लूक-भाष्य में इनमें से प्रथम श्लोक का अर्थ लिखा है—इमा वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातयः (क्रियालोपात्) उपनयनादिक्रियालोपेन ब्राह्मणानां च याजनाध्यापनप्रायश्चित्ताद्यर्थदर्शनाभावेन शनैःशनैर्लोके शूद्रतां प्राप्ताः ॥

इससे भी आर्यों का और द्रविड़ादि का भेद जातीय भेद नहीं, केवल सांस्कृतिक भेद सूचित होता है जिसे वेदप्रचार तथा शिक्षा-प्रसारादि से दूर किया जा सकता है ।

आर्य और द्रविड़ भाषाएं

बहुत-से लोगों का विचार है कि दक्षिण भारत की भाषाओं का जिन्हें सामूहिक रूप में द्राविड़ भाषाओं के नाम से कहा जाता है और जिनमें मुख्य रूप से तमिल, कन्नड़, मलयालम और तेलुगु की गणना है, संस्कृत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । वे संस्कृत से सर्वथा स्वतन्त्र भाषाएं हैं । इस विचार को अनेक पाश्चात्य लेखकों ने भी विशेष रूप से राजनैतिक स्वार्थ-सिद्ध्यर्थ प्रसारित और प्रोत्साहित किया, किन्तु वस्तुतः यह सत्य नहीं है । उत्तर और दक्षिण भारत के लोगों तथा आर्यों और द्रविड़ों तथा ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतरों में परस्पर-विरोध व विद्वेष की भावना उत्पन्न करने के लिए उनमें से कइयों ने ऐसे असङ्गत विचारों को पुस्तकों द्वारा प्रचारित किया जिन्हें सुनकर भी निष्पक्ष विद्वानों को हंसी आयेगी । उदाहरणार्थ

डॉ० टेलर (Dr. Taylor) नामक पाश्चात्य विद्वान् के मत को दिखाते हुए ताम्बी पिल्ले (Tamby Pillai) नामक दाक्षिणात्य विद्वान् ने *Tamilian Antiquary* Vol. II No. 2 में Origin of the word 'Arya' में लिखा—

'It was proved years ago by Dr. Taylor that a Tamiloid Language now represented by its most cultivated branch in the South, constituted the original staple of all the languages of India. The existence of a Tamilian substratum in all the modern dialects of India and of the profound influence, which the classical Tamil has exercised on the formation and development of both the Vedic and classical Sanskrit, is gradually coming to be recognised by students of Indian Philology.

अर्थात् कुछ वर्ष पूर्व डॉ० टेलर ने सिद्ध कर दिया था कि तमिलॉयड् भाषा (जिसका प्रतिनिधित्व दक्षिण की सबसे अधिक विकसित भाषा तमिल करती है) सब भारतीय भाषाओं की मूल भाषा थी। भारतीय भाषाशास्त्र के विद्यार्थी शनैः-शनैः इस बात को स्वीकार करते जा रहे हैं कि भारत की सब भाषाओं में तमिल का मूलाधार है और उसने वैदिक और लौकिक संस्कृत के निर्माण तथा विकास को विशेष रूप से प्रभावित किया है। ऐसा ही विचार डॉ० गुण्डर्ट (Dr. Gundert) तथा कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने (जिनमें प्रो० राइस डेविड्स का नाम देखकर हमें अत्यन्त आश्चर्य होता है) प्रकट किया है। प्रो० राइस् डेविड्स का मत उद्धृत करते हुए 'The Ancient Dravidians' के लेखक श्री शेष अय्यङ्गार एम०ए० ने लिखा है—

Prof. Rhys Davids in his Buddhist India commenting on the evolution of the Aryan languages of India maintains that the Vedic Sanskrit is largely mixed up with primitive Dravidian.

—*The Anicent Dravidians* by T.R. Shesha Iyangar M.A., P. 43

अर्थात् प्रो० राइस् डेविड्स का आर्य भाषाओं के विकास पर टिप्पणी करते हुए यह कथन है कि वैदिक संस्कृत में मूल द्राविड़ भाषा का बहुत मिश्रण है।

हम इस प्रकार के विचारों को नितान्त अशुद्ध और असङ्गत समझते हैं। बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, पाली तथा अन्य आर्य भाषाओं में संस्कृत के शब्द इतनी अधिकता से पाये जाते हैं कि हमें इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करना भी समय नष्ट करना प्रतीत होता है कि इनकी माता संस्कृत भाषा है। द्राविड़ भाषाओं में से किसी को—तमिल को भी—उनका मूल बतलाना सर्वथा असत्य है। हमने अपनी 'हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि' नामक पुस्तक में बंगाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी, उड़िया, असमी आदि भाषाओं के उदाहरण संस्कृत को उनकी जननी सिद्ध करने के लिए दिए हैं। जो देखना चाहें उसे देख सकते हैं। यहां हमें इस बात को दिखाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पर क्योंकि हमें दक्षिण भारत में लगभग २० वर्ष रहने और वहां की भाषाएं सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है, अतः हम इस विषय को उदाहरण-सहित दिखाना चाहते हैं कि दक्षिण की इन भाषाओं का संस्कृत से कहां तक सम्बन्ध है।

कन्नड़ और संस्कृत

सबसे पहले मैं कन्नड़ वा कर्णाटक भाषा को लेता हूं जिसे पढ़ने, लिखने और बोलने का कर्णाटक प्रान्त के विभिन्न भागों में रहते हुए मैंने विशेष रूप से अभ्यास किया और जिसमें 'वेद सन्देश' नामक मासिक पत्र का अनेक वर्षों तक

सम्पादन किया था। इस भाषा की एक पुस्तक, इस पुस्तक को लिखते हुए मेरे सम्मुख है। इसमें से मैं एक उद्धरण देना पर्याप्त समझता हूं। यह पुस्तक उत्तरादि मठ के स्वामी श्री सत्यध्यान तीर्थ कृत है जिसका नाम 'अद्वैतमत विचार' है। इसमें लिखा है—

ई जगत्तितल्लि सर्वदा सुखवे नमगागलि दुःखवु स्वल्पवादरू बेडेन्दु सर्वरिन्दलू प्रार्थ्यमानवाद सुखवु जीवन स्वरूपवागिद्दरू अदरमेले प्रकृतिरूपवाद बंध (आवरण) इरूवदरिन्द अनुभवक्के बारदे जीवरु ओंदोंदु जन्मदल्लि अनेक जन्मापादक कर्मगलन्नु माडुत्त आ कर्म गलिन्द सम्पादितदेहानुभवद कालदल्लि नानाविध दुःखवन्नु अनुभविसुव जीवर दुःखनिवृत्तिगोस्कर श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधनगलन्नु उपदेशिसुव वेदगल उपदेशानु सारवागि भगवदर्पण बुद्धियिन्द सदाचार गलन्नु माड़ि अन्तःकरणशुद्धियंनु होंदि परमात्मन गुणपलन्नु श्रवणमाड़ि आ विषयदल्लि अनेकवादिगल विवादमूलक बरूव संदेहद निवृत्तियागुवदर सलुवागि 'ब्रह्ममीमांसा' शास्त्रोक्तप्रकार विचारदिंद तत्त्व निश्चय माड़िकोंडु आमेले परमात्मन शास्त्रोक्त गुणगल ध्यानवन्नु माड़ि आतन अपरोक्षवेन्नु होंदि तन्नल्लियू तन्नवरल्लियू इरुव स्नेहद अनेकपालु हेच्चागियू येष्ठु प्रतिबन्धकगलु बंदरू कडिमियागदिरुव परमात्मन माहात्म्य ज्ञान पूर्वकवाद स्नेहरूपवाद भक्तियन्नु माड़ि आ परमात्मन प्रसादवन्नु दोरकिसि आ प्रसाददिन्द आवरकवाद बंधनिवृत्तियाद मेले वैकुण्ठादिस्थानगलंल्लि भगवद्गुणगलन्नु गानमाडुत्त परमात्मन दर्शनसुखवन्नु होंदुत्त परमात्मन दासनागि सेवेयन्नु माडुत्ता नानाविधाहारविहारगलन्नु माड़त्ता जीवनु अक्षय्य सुखवन्ननुभविस तक्कदेन्दु श्री श्री गलवरु उपदेशवन्नु माडिदरु॥

—अद्वैतमत विचार, पृ० २-३

इस सन्दर्भ का ग्रन्थविस्तार-भय से अर्थ देना हमें अनावश्यक प्रतीत होता है, तथापि इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि इस छोटे-से लगभग पौन पृष्ठ के सन्दर्भ में जगत्, सर्वदा, सुख, दुःख, स्वल्प, जीव, स्वरूप, प्रकृतिरूप, बन्ध, आवरण, अनुभव, अनेक जन्मापादक कर्म, सम्पादित, देहानुभव, काल, नानाविध, निवृत्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, उपदेशानुसार, भगवदर्पण बुद्धि, सदाचार, अन्तःकरण शुद्धि, विषय, वादी, विवादमूलक, संदेह, शास्त्रोक्तप्रकार, विचार, तत्त्वनिश्चय, ध्यान, अपरोक्ष, स्नेह, प्रतिबंधक, माहात्म्यज्ञानपूर्वक, भक्ति, प्रसाद, आवरक, स्थान, गान, दर्शन, सुख, दास, आहार, विहार, अक्षम्य, इत्यादि शुद्ध संस्कृत के शब्दों की भरमार है। ऐसे ही कर्णाटक भाषा व कन्नड़ के प्रायः सब ग्रन्थों में ६५ से ७० प्रतिशत तक संस्कृत के तत्सम वा तद्भव शब्द रहते हैं। यह कन्नड़ भाषाभिज्ञ जानते हैं। यह अनुपात संस्कृत की पुत्री कहलाने वाली हिन्दी भाषा से कम नहीं है। ऐसी भाषा के विषय में यह कहना कि संस्कृत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं कितना असत्य है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

तेलुगु और संस्कृत

अब मैं तेलुगु के साथ संस्कृत का कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह सप्रमाण दिखाना चाहता हूं। तेलुगु (आन्ध्र भाषा) के निम्नलिखित दो पद्यों को देखिये—

सदा शिवं शिखाग्रमध्ये प्रणव मूल ज्योति, हृदयपुण्डरीकममलं, नित्य परं ज्योति।
अंगुष्ठमात्र परमपुरुष दिव्यपरं ज्योति, शृङ्गमध्ये शुंशुमार नित्यपरं ज्योति॥

वासना क्षयादि त्रिगुणातीत नीलं ज्योति, सासिरारु जलज्ज्योति साम्ब शिवस्वरूपा।
मात्रिकाक्षराग्ररामतारकाग्नितेजसे, नित्य मङ्गलाङ्गमूल प्रणव मन्त्रस्वरूपिणे॥

—दरबार रागश्री, षडक्षरी दीक्षित प्रणीत

इन पद्यों का अनुवाद विस्तारभय से देना अनावश्यक है किन्तु इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि इन छोटे-से पद्यों में सदाशिवम्, शिखाग्रमध्ये, प्रणवमूल, ज्योति, हृदयपुण्डरीकम्, अमलम्, नित्य परं ज्योति, अंगुष्ठमात्र परमपुरुष, शृङ्ग वासना, क्षय आदि, त्रिगुणातीत, नीलम्, मात्रिकाक्षर, तारक, अग्नि, तेजसे, नित्य मङ्गल अङ्ग प्रणव मन्त्रस्वरूपिणे इत्यादि शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं । आन्ध्र भाषा के महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में कम से कम ७५ प्रतिशत तक संस्कृत के शब्द हैं—यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति नहीं ।

एक दूसरा पद देखिए जो संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध श्लोक का तेलुगु में अनुवाद है—

दानमु भोगमु नाशमु हूनिकतो मुडुगतल भुविं धनमुनकम् ।
दानुमु भोगमु निरुगने दीननि धनमुनक गति तृतीयमे पोसगुन ॥

यह भर्तृहरि के जिस श्लोक का अनुवाद है वह निम्न है । उसके साथ इसका मेल संस्कृत से तेलुगु के सम्बन्ध को दिखाने के लिए पर्याप्त है—

दानं भोगो नाशः, तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य । यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

इस पद्य में दान, भोग, नाश, धन, भुवि, गति, तृतीय—ये सब शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं, यह लिखने की आवश्यकता नहीं ।

इस पुस्तक को लिखते समय मेरे हाथ में 'तेलुगु स्वयंशिक्षक' नामक दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) से प्रकाशित पुस्तक है । उसमें से देखकर मैं निम्नलिखित शब्दों को पाठकों के अवलोकनार्थ यहां अङ्कित करता हूं—

प्रतिदिनमु भोजनमु अन्नमु (भात) नीरु (नीरम् = पानी) त्वरगा—शीघ्रमृगा (शीघ्रम् = जल्दी) आकाशमु, स्वच्छमु स्नेहितुडु (स्नेही) सरल (सरल) भाषे (भाषा) मूर्खुडु (मूर्खः) आनन्दमुगा (आनन्देन) सिद्धमुगा (सिद्धम् = तैयार) जन्मभूमि, दूरमु, वर्तक (वर्तक = व्यापारी) दाहमुगा (दाहयुक्त = प्यासा) शिष्युलु (शिष्याः) मंचि (मंजु = अच्छा) भार्य (भार्या) सोमारि (सोमारिः = आलसी) शुभ्रमु (शुभ्रम् = साफ) स्नानमु, भर्त (भर्ता = देशमु (देशः) पुस्तकमु, कोंचेमु (किंचित् = कुछ) पद्यमु, शान्तमु, दीपमु, क्षमिम्पुडु (क्षमस्व) अधिकमु (अधिकम्) सौख्यमुगा (सौख्येन = सुख से) सरसमु, मुख्यमु, फलमु, समुद्रमु, मेघमु, जनमु, वधुवु, गुरुवु, वस्तुवु, चरित्रमु, पित, मात, वरुडु (वर) नायकुडु (नायकः) नायिक (नायिका) जननि (जननी) कवि, वनमु (वनम्) सूर्युडु (सूर्यः) नक्षत्रमु, रात्रि, पाठशाला, पक्षि, उरस्सु, तपस्सु, महिममु, जामु (याम, प्रहर) वज्रमु, प्रकारमु, सहायमु (सहायता) आह्वानम् (आह्वानम् = निमन्त्रण) कुक्क (कुक्कुरः = कुत्ता) काकि (काकः) अडवि (अटवी = जंगल) सिंहमु, उत्तरीयमु (उत्तरीय = दुपट्टा) चीरा (चीरम् = साड़ी) शुष्ठी (शुण्ठी = सोंठ) सैंधव लवणमु = सैंधव लवण (सैंधा नमक) धान्यमु (धान्यम् = धान) फलाहारमु (फलाहारः) कमलाफलमु (नारंगी) द्राक्षपण्डु (द्राक्षाफलम् = अंगूर) दानिम्मपंडु (दाडिम फलम् = अनार) कंचु (काचः) इत्यादि जिस भाषा में इतने अधिक संस्कृत के शब्द हों, उसके विषय में कहना कि द्राविड़ भाषा होने के कारण वह संस्कृत से सर्वथा स्वतन्त्र है, कितना असत्य है ! उत्तर भारत के निवासी पण्डित लोग भी क्योंकि इन द्राविड़ भाषाओं से प्रायः अनभिज्ञ होते हैं अतः इस सर्वथा असत्य वचन पर उनमें से बहुत-से विश्वास कर लेते हैं कि द्राविड़ भाषाओं का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं ।

मलयालम और संस्कृत

मलयालम भाषा में संस्कृत के शब्द कन्नड़ और तेलुगु से भी अधिक हैं । मलयालम भाषा में अनेक काव्य-ग्रन्थों को सुनने का मुझे दक्षिण भारत में रहते और मालाबार, तिरुवांकुर आदि प्रदेशों की यात्रा करते हुए अवसर प्राप्त हुआ ।

उनमें संस्कृत-शब्दों की अधिकता देखकर बड़ा हर्ष होता था और साथ ही उन लोगों पर आश्चर्य होता था जो कहते हैं कि दक्षिण भारत की इन भाषाओं का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं। महाकवि वल्लातोल की निम्नलिखित मलयालम भाषा की कविता को देखिए—

गीतक्कु मातावाय भूमिये दृढ़ मितु मतिरियोह कर्मयोगिये प्रसविक्कू हिमबद् विन्ध्याचल मध्यदेशत्ते काणू शममे शीलच्चे सुवितम् सिंहत्तिने।

गंगपारोलुकुन्न नाहिले शरिविकत्र मंगलम् कायकुम् कल्पपादप मुण्टायून्न नमस्ते गततर्ष। नमस्ते दुराधर्ष नमस्ते सुमहात्मन्। नमस्ते जगद्गुरो॥

इस छोटे-से पद्य में गीत, भूमि, मति, कर्मयोगी, प्रसव, हिमवद्, विन्ध्याचल, मध्यदेश, शम, शील, सिंह, मंगलम्, गतवर्ष, सुमहात्मन्, नमस्ते, जगद्गुरु आदि बहुत-से शुद्ध संस्कृत के शब्द विद्यमान हैं। तद्भव शब्दों की तो गणना ही क्या की जाये ! भारतीय लोकसभा के तत्कालीन उपाध्यक्ष श्रीयुत अनन्तशयनम् अय्यंगार ने ११ दिसम्बर १९५३ को दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत परिषद् का उद्घाटन करते हुए ठीक ही कहा था कि—

The Sanskrit was the fountain head of all Indian languages. All Indian languages were offshoots of Sanskrit, Banglai and Talugu had about 75 percent Sanskrit words, while Malayalam had about 90 percent. The only change was that the Sanskrit words had been absorbed with slight changes here land there.

—Shri Anantshayaṇam Ayyangar's speech as reported in
The Hindustan Times, New Delhi, 13.12.1953

अर्थात् संस्कृत सब भारतीय भाषाओं का स्रोत है। सब भारतीय भाषाएं संस्कृत की पुत्रियां हैं। बंगला और तेलुगु में लगभग ७५ प्रतिशत संस्कृत के शब्द हैं, जब कि मलयालम में ९० प्रतिशत संस्कृत-शब्द पाये जाते हैं। परिवर्तन इतना ही है कि कहीं-कहीं संस्कृत-शब्दों को कुछ अन्तर के साथ इन भाषाओं में ले लिया गया है।

मेरी उपस्थिति में १ मई १९५४ को दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी में इन्द्रप्रस्थीय संस्कृत परिषत् के उत्सव में भाषण देते हुए श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार ने कहा कि तेलुगु में ७५ प्रतिशतक, कन्नड़ में ८० प्रतिशतक, मलयालम में ९० प्रतिशतक और तमिल में ५० प्रतिशतक संस्कृत के शब्द हैं।

तमिल भाषा और संस्कृत

अन्य द्राविड़ भाषाओं का संस्कृत से सम्बन्ध दिखाने के पश्चात् अब मैं तमिल के साथ संस्कृत का सम्बन्ध दिखाना चाहता हूं। प्राय: यह कहा जाता है कि तमिल के साथ संस्कृत का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह बात सर्वथा अशुद्ध है। श्रीयुत अनन्तशयनम् अय्यङ्गार के उपरिलिखित भाषण में तो यह स्पष्ट कहा ही गया है कि संस्कृत सब भारतीय भाषाओं का (जिनमें तमिल भी सम्मिलित है) स्रोत है और सब भारतीय भाषाएं (तमिल-समेत) संस्कृत की शाखाएं हैं। किन्तु 'तमिल भाषा का संस्कृत से सम्बन्ध' इस शीर्षक के श्री दौरैस्वामी अय्यङ्गार नामक विद्वान् के 'सार्वदेशिक' दिल्ली के मई १९४७ के अङ्क में प्रकाशित निम्न लेख को अविकल रूप में उद्धृत करना मुझे उचित प्रतीत होता है। श्री दौरैस्वामी अय्यङ्गार की मातृभाषा श्री अनन्तशयनम् अय्यङ्गार के समान तमिल ही है। आपने इस लेख में लिखा—

यह प्राय: कहा जाता है मद्रास की तमिल भाषा एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भाषा है। यह संस्कृत से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं रखती। इसके उदाहरण के लिए 'कम्ब रामायण' को दर्शाया जाता है। परन्तु यह बात भ्रममात्र है, क्योंकि न केवल

आधुनिक तमिल-ग्रन्थों में, प्रत्युत पुरातन ग्रन्थों में जो तमिल कविताएं पाई जाती हैं उनमें बहुत-से संस्कृत के शब्द (कई जैसे के तैसे और कई अपभ्रंश रूप में) प्रयुक्त किये गये हैं। तमिल की बोल-चाल की भाषा तो संस्कृत-शब्दों से भरी पड़ी है। इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। 'कम्ब रामायण' को भी ध्यान से पढ़ें तो उसमें भी अपभ्रंश रूप से अनेक संस्कृत-शब्द मिल जायेंगे। स्थालीपुलाक-न्याय से कुछ थोड़े-से उदाहरण हम अपने वक्तव्य की पुष्टि में देते हैं—

'तिरुप्पवै' में जो पुरातन तमिल-शास्त्र है, बहुत-से संस्कृत-शब्द मिलते हैं जैसे नीराह (स्नान करना, पानी में खेलना इत्यादि)। नीर जलवाचक संस्कृत शब्द है। 'नालारं तिरुवाम् माषि' में जो तमिल वेद कहा जाता है बहुत-से संस्कृत शब्द हैं 'यथा—नैट्टकले दैवमनरु' में दैवं संस्कृत शब्द है। 'अङ्गङ्गिलाद पड़ि तंगु प्रकाशमाम् आनन्द पूर्तियहि' इसमें प्रकाश, आनन्द, पूर्ति शुद्ध संस्कृत है। दैनिक बोलचाल की भाषा में जलम् (पानी) संस्कृत-शब्द तमिल में प्रचलित है ही। शक्करै (शक्कर) संस्कृत के शर्करा शब्द का अपभ्रंश है। आम् (हां) शुद्ध संस्कृत-शब्द है।

इस तरह अन्य भी बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। तमिल लिपि में अक्षर कम होने के कारण उसमें संस्कृत शब्द स्पष्ट रूप में नहीं लिखे जाते। इसलिए संस्कृत के प्रकाशनार्थ अलग लिपि बन गई है जो ग्रन्थाक्षरम् के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ग्रन्थ, अक्षरम्, दोनों ही संस्कृत के शब्द हैं।

इस प्रकार तमिल भाषा भी संस्कृत के शब्दों के बिना नहीं चलती। भला, जननी की सहायता के बिना कोई सन्तान उन्नति को पा सकती है ? कदापि नहीं।

—बंगलौर नगर से प्रेषित श्री दौरेस्वामी अय्यङ्गार का लेख, सार्वदेशिक, दिल्ली-मई १९४७ का अङ्क

तमिल की पुस्तकों में श्री राम मिथुलिम नगर चेडू शिव धनुषै अति शीघ्र बडैथु जनकपुत्रि सीता देव्यै विवाहं मुदिन्ददूं प्रजैकल दम्पतिकुलै अति संतोष तुड़न अङ्गिहारं शैनदत्॥ इसके समान वाक्य पाये जाते हैं जिनमें नगर, शिवधनुष, अतिशीघ्र, जनकपुत्रि, विवाह, प्रजा, दम्पती, अति सन्तोष, इत्यादि अनेक शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं। इस पुस्तक को लिखते समय दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास द्वारा प्रकाशित और श्री एस० महालिङ्गम् बी०ए० द्वारा लिखित 'तमिल स्वयं-शिक्षक' नामक पुस्तक मेरे हाथ में है। उसमें से निम्नलिखित कुछ शब्दों को पाठकों के अवलोकनार्थ यहां अङ्कित करता हूं।

तमिल	संस्कृत	हिन्दी
वार्तै	वार्ता	बात
ग्रामम्	ग्रामः	गांव
पट्टणम्	पत्तनम्	शहर
शुद्दमान	शुद्धम्	शुद्ध
जलम्	जलम्	जल
दूरम्	दूरम्	दूर
पुस्तकम्	पुस्तकम्	पुस्तक
अदिहम्	अधिकम्	अधिक
पशु	पशु	पशु
मात्रम्	मात्रम्	मात्र, केवल
आम् आम्	आम् आम्	हां, हां
शीग्रम्	शीघ्रम्	शीघ्र

कै	करः	हाथ
पात्तिरम्	पात्रम्	पात्र
पलम्	फलम्	फल
पाडम्	पाठः	पाठ
मनिदन्	मनुजः	मनुष्य
मइ	मसिः	स्याही
शत्तिरम्	सत्रम्	धर्मशाला
उत्सवम्	उत्सवः	उत्सव
निजम्	निजम्	सत्य
सायन्दिरम्	सायम्	सायंकाल
कोबम्	कोपः	क्रोध
पन्दु	कन्दुकम्	गेंद
वर्षम्	वर्षा	वर्षा
कूट्टम्	कूटः	भीड़
समाचारम्	समाचारः	समाचार
जनंगल	जनाः	लोग
अरै	अर्धम्	आधा
कदै	कथा	कथा
अनेह	अनेके	कई
गडियारम्	घटिका	घड़ी
इडम्	इडा	भूमिं वा स्थान
पो	प्रयाहि	जा
आश	आशा या इच्छा	इच्छा
कुदि	कूर्दस्व	कूद
परीक्षै	परीक्षा	परीक्षा
आरंबत्तिल्	आरम्भे	शुरू में
जलदोषम्	जलदोषः	जुकाम
रत्तम्	रक्तम्	रुधिर
वन्दनोपचारम्	वन्दनोपचारः	धन्यवाद
विवरम्	विवरणम्	वृत्तान्त
करगोषम्	करघोषः	ताली
चित्तिरै	चैत्रम्	चैत्र
कार्त्तिहै	कार्तिकम्	कार्तिक
मार्हषि	मार्गशीर्षः	मार्गशीष
मासम्	मासः	मास
पंगुनि	फाल्गुनः	फाल्गुन

माशि	माघः	माघ
बुदन्	बुधवारः	बुधवार
शनि किषमे	शनिवारः	शनिवार
शक्करै	शर्करा	शक्कर
सीतापलम्	सीताफलम्	शरीफा
दिराक्षै	द्राक्षा	किशमिश
मुत्तु	मुक्ता	मोती
नीलम्	नीलमणिः	पन्ना
गंदहम्	गंधकम्	गन्धक
पित्तलै	पित्तलम्	पीतल
पादरसम्	पारदः	पारा
नच्चन्	तक्षा	बढ़ई
वैद्यन्	वैद्यः	वैद्य
हृदयम्	हृदयम्	हृदय
नहम्	नखम्	नख
मीन्	मीनः	मछली

ग्रन्थविस्तार-भय से इतने ही उदाहरण इस बात की असत्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि समस्त द्राविड़ भाषाओं विशेषतः तमिल का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं। तमिल में भी कम से कम ५० प्रतिशतक संस्कृत के शब्द विद्यमान हैं ऐसा श्री अनन्तशयनम् अय्यङ्गार तथा अन्य तमिल और संस्कृत दोनों के विद्वानों का मत है। तमिल के दो भजन लिखकर द्राविड़ भाषाओं के संस्कृत के साथ सम्बन्ध के इस प्रकरण को मैं शीघ्र समाप्त करना चाहता हूं। वे भजन निम्नलिखित हैं—

ओंकार सत्य ज्योति शुद्ध ब्रह्मे नमः।
ओं तत्सत् ओम् एन्नादि वेद उण्मै ओदुम् पोरुले॥

वानुम् पुवियुम् कानुम् कडलुम् वालुयिर्गल् याविलुम्।
ताने तानारु तलैक्कुम् सच्चिदानन्दमय ज्ञान पोरुले॥

(२) परि पूरणानन्द मे ओ३म् पर ब्रह्मे नमः—परिपूरणानन्द मे जाति मत निर वेदम् कडन्दोलिट् आदियन्तमिल्लाद आत्मस्वरूपमे। परिनाम रूपातीतामान निर्गुणमे ओं तत्सत् एन वेदम् औदुम् सुयं ज्योतिये॥

—भजन कीर्तन, मद्रास १२३-१२४

इन भजनों में ओंकार, सत्य ज्योति, परब्रह्म नमः, सच्चिदानन्दमय ज्ञान, परिपूरणानन्दम्, जाति, मत, आदि, अन्त, आत्मस्वरूप, नाम, रूपातीतामान, निर्गुणम्, सुयं ज्योति (स्वयं ज्योति) इत्यादि संस्कृत के तत्सम वा तद्भव शब्द कितनी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं इसे पाठक स्वयं देख सकते हैं। ये भजन तमिल के सुप्रसिद्ध लेखक और कवि योगी श्री शुद्धानन्द जी भारती के बनाये हुए हैं।

अन्य भी हज़ारों उद्धरण दिये जा सकते हैं किन्तु 'तमिल स्वयंशिक्षक' से दिये इतने उदाहरण भी इस बात को दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि तमिल में संस्कृत के तत्सम और तद्‌भव शब्द कितनी अधिक संख्या में पाये जाते हैं । यदि पाठक इस बात को ध्यान में रखेंगे कि तमिल लिपि में अक्षर बहुत कम हैं—व्यजनों में केवल क, ङ, च, ञ, ट, ण, त, न, प, म, य, र, ल, व, ष़, ल, र, ज, ष, स, ह, क्ष । इस प्रकार क ख ग घ सबके लिए क का प्रयोग होता है । च छ ज झ सबका काम च से लिया जाता है । ट ठ ड ढ सबके लिए ट का प्रयोग होता है । त थ द ध सबका काम त से और प फ ब भ सबका काम प से ही निकालना पड़ता है । इस प्रकार संस्कृत-शब्दों के शुद्ध उच्चारण में कठिनता हो जाती है और प्राय: अपभ्रंश इसी के कारण हो जाते हैं । ह का काम प्राय: क और स श का च से ही निकाला जाता हैं । इसी कारण संस्कृत-शब्दों के जो अपभ्रंश हो जाते हैं उनको पाठक ऊपर के उदाहरणों से भली-भांति समझ सकते हैं । ये उदाहरण अधिकतर 'तमिल स्वयं-शिक्षक' के आधार पर दिये गये हैं ।

'तमिल लैक्सिकॉन' के नाम से तमिल का प्रामाणिक कोष मद्रास यूनिवर्सिटी की ओर से कई भागों में प्रकाशित हुआ है । इसकी परामर्शदात्री समिति के अध्यक्ष श्री के०वी० कृष्णस्वामी ऐयर् थे । प्रधान सम्पादक तमिल-उपाध्याय श्री वैयापुरी पिल्ले और उप-सम्पादक श्री नारायण ऐयर् थे । कोष-समिति में म० म० श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री, म० म० डॉ० स्वामीनाथ् ऐयर्, डा० कुन्हन् राजा, श्री लक्ष्मणस्वामी मुदलियार्, रेवरेण्ड गॉर्डन मैथ्यू इत्यादि विद्वान् थे । इस कोष के देखने से ज्ञात होता है कि तमिल में संस्कृत के शब्द बहुत अधिक संख्या में विद्यमान हैं, किन्तु मुख्यत: तमिल लिपि की विचित्रताओं के कारण उनके रूप में कुछ अन्तर अवश्य हो गया है । अब मैं इस तमिल-कोष में से निम्न शब्दों का उनके मूल संस्कृत-शब्द और अर्थ-सहित (जिसका निर्देश स्वयं इस कोष में किया गया है, न कि अपनी कल्पना से) उल्लेख करता हूं । पाठक इसे ध्यानपूर्वक पढ़ें और स्वयं परिणाम निकालें । इस कोष में अर्थ अंग्रेजी में दिये गये हैं और सुगमता के लिए मैं उनका हिन्दी अर्थ दे रहा हूं—

तमिल शब्द	**तमिल कोष के अनुसार मूल संस्कृत शब्द**	**हिन्दी अर्थ**
अक्कतम्	अक्षतम्	अक्षत वा भुना हुआ धान्य
अक्कत योनि	अक्षतयोनि	अक्षतयो, निकुमारी
अक्कम्	अक्ष:	अक्ष (एक कल्पित स्थिर रेखा जो पृथिवी के भीतरी केन्द्र से होती हुई उसके आर-पार दोनों ध्रुवों पर निकलती है)
अक्कम्	अर्घ:	मूल्य
अक्करम्	अक्षरम्	अकार
अक्करम्	अक्षरम्	मुक्ति
अक्कानि	अक्षाणि	इन्द्रियां अथवा भौतिक शरीर
अक्कितारै	अक्षितारा	आंखों का तारा
अक्कियाति	अख्याति:	अविद्या
अक्कियानी	अज्ञानी	अज्ञानी
अक्किर चन्मन्	अग्रजन्मा	बड़ा भाई, ब्राह्मण
अक्किरमि	अक्रमम्	क्रम वा मर्यादा-रहित, बुरा कार्य व शरारत करना

अक्किनि	अग्निः	अग्नि
अक्किनि चन्मन्	अग्निजन्मा	स्कन्द
अक्किनि चित्	अग्निचित्	नियमित रूप से अग्निहोत्र करनेवाला ब्राह्मण
अक्किनि तिरयम्	अग्नित्रयम्	यज्ञ की ३ अग्नियां—गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि
अक्किनि नीर	अग्निनीरम्	नत्रिकाम्ल
अक्कनिप्पिरलयम्	अग्निप्रलयः	अग्नि द्वारा जगत् का प्रलय
अक्किनिप्पोरि	अग्निपूर्णः	बन्दूक
अक्किनि पक्वान्	अग्नि भगवान्	अग्नि भगवान्
अक्किनि मण्टलम्	अग्निमण्डलम्	अग्निमण्डल
अक्किनि मन्तम्	अग्निमान्द्यम्	मन्दाग्नि अथवा अपचन
अक्किनि मुकच्चूरणम्	अग्निमुखचूर्णम्	एक प्रकार का चूर्ण
अक्किनियन्	आग्नेयः	मङ्गल ग्रह
अक्किनियारातनैक्कारन्	अग्नि+आराधनाकारः =अग्न्याराधकः	पारसी
अक्किनिहोत्तिरम्	अग्निहोत्रम्	अग्निहोत्र वा हवन
अक्किनिवीरियम्	अग्निवीर्यम्	सुवर्ण
अक्किनिष्टोमम्	अग्निष्टोमः	अग्निष्टोम नामक यज्ञ
अक्किनिस्तम्पम्	अग्निस्तम्भ	अग्निस्तम्भ
अक्किनिस्तम्पनम्	अग्निस्तम्भनम्	अग्नि की क्रिया को रोकने की विद्या

पाठक इन शब्दों पर ध्यान देंगे तो उनहें सुगमता से ज्ञात हो जाएगा कि संस्कृत के बहुत-से शब्दों का तमिल में थोड़े भेद से प्रयोग और उच्चारण होता है, क्योंकि उसकी लिपि में अक्षर बहुत कम हैं और इसलिए संस्कृत-शब्दों का उच्चारण भी भिन्न रूप से हो जाता है। उदाहरणार्थ अग्नि में ग् है जिसके लिए तमिल लिपि में भिन्न अक्षर नहीं है। क से ही क, ख, ग, घ, चारों अक्षरों का काम निकालना पड़ता है, अतः अग्नि हुआ और उसका बिगड़कर (जैसा प्राकृत भाषाओं में प्रायः हुआ है) अक्किनि हो गया है, क्योंकि संस्कृत-अक्षरों का उच्चारण सर्वसाधारण कठिनता से कर सकते हैं। पाठकों को सम्भवतः आश्चर्य तो होगा और कुछ हंसी भी आएगी, पर इस शब्द-सूची में जो तमिल कोष से उद्धृत की गई है, भगवान् के स्थान में तमिल में पकवान् लिखा गया है, क्योंकि प, फ, ब, भ सबके लिए एक प का प्रयोग है और क, ख, ग, घ सबके लिए क का। इसलिए भगवान् के स्थान पर पकवान् लिखा जाता है और बहुत-कुछ इसी समान साधारण लोग उच्चारण करते हैं। थोड़ी-सी भी संस्कृत जानने से झट समझ जाते हैं कि यह शब्द भगवान् है। मण्डलम् का मण्टलम्, अग्र-जन्मा का अक्किर चन्मन् सब इसी कारण होता है, क्योंकि ट, ठ, ड, ढ चारों के लिए ट का और च, छ, ज, झ और कभी-कभी स के लिए भी च का प्रयोग होता है। इस अन्तर को यदि हटा दिया जाये तो अन्त के अनुस्वार में जैसे अक्कम्, अक्करम्, अक्किनि तिरयम् (अग्नि त्रयम्) इत्यादि में संस्कृत से अद्भुत समानता है, यद्यपि संस्कृत में जो शब्द पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं अक्ष, अर्ध आदि, वे भी प्रायः तमिल (और मलयालम में भी) नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं जैसा अनेक शब्दों में पाठकों ने देखा होगा। तमिल व्याकरण का मूल ऐन्द्र नामक संस्कृत व्याकरण है। इस पर कुछ प्रकाश डालने से पूर्व कुछ

अन्य उदाहरण दिखाना आवश्यक समझता हूं जिससे यह ज्ञात होगा कि तमिल-साहित्य में कितने सुन्दर संस्कृत-शब्द थोड़े अपभ्रष्ट रूप में और कई शुद्ध रूप में भी विद्यमान हैं जहां उपर्युक्त लिपि-दोष का प्रभाव नहीं पड़ा। शब्दों के कई उदाहरण पहले दिखाये जा चुके हैं। दो-चार और दिखाने पर्याप्त होंगे। परमेश्वर के लिए तमिल-साहित्य में कहीं-कहीं अकायम् शब्द का प्रयोग है, जैसा इस तमिल-कोष में बताया गया है और उसका अर्थ शरीर-रहित परमेश्वर दिया है। परमेश्वर के लिए अकारी शब्द का भी कहीं-कहीं प्रयोग पाया जाता है, क्योंकि वह स्वार्थपूर्ण क्रिया से रहित होने के कारण कर्ता होते हुए भी अकारी है। तमिल-कोष में इसका अर्थ परमेश्वर दिया है। अकारणम्—यह शब्द संस्कृत अकारणम् के ठीक समान है जिसका अर्थ तमिल कोष में Accident अथवा आकस्मिक दुर्घटना दिया है। ठीक संस्कृत के समान अकारुण्यम् शब्द का निर्दयता के अर्थ में प्रयोग है। थोड़े-से नाममात्र भेद के साथ जो संस्कृत के सुन्दर शब्द तमिल साहित्य में विद्यमान हैं उनमें से निम्नलिखित कुछ शब्दों का निर्देश इस प्रकरण में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक होगा—

तमिल में प्रचलित	संस्कृत मूल	अर्थ
अकटना कटन सामरत्तियम्	अघटना घटनासामर्थ्यम्	असम्भव-सी घटना को भी संभव करने की शक्ति
अकण्टाकार ञानम्	अखण्डाकार ज्ञानम्	सर्वज्ञता
अकण्टाकार विरुत्ति	अखण्डाकार वृत्तिः	आध्यात्मिक अभीप्सा
अकत कारन्	अगदकारः	नीरोग कर देने वाला वैद्य
अकम्	अघम्	पाप-आसक्ति, घृणादि
अकम् पिरमम्	अहं परम्	अहङ्कार व अभिमान
अकर्मकर्तरिप्पिरयोगम्	अकर्मकर्तरि प्रयोगः	व्याकरण में धातु का अकर्मक प्रयोग
अकिलप्पिरकासन्	अखिल प्रकाशः	जिसका प्रकाश सब जगह फैला हुआ हो, सुप्रसिद्ध
अङ्क चङ्कम्	अङ्गसङ्ग	मैथुन
अङ्कचेतन वित्तै	अङ्गच्छेदन विद्या	Anatomy वा अङ्गच्छेदन विद्या
अकूटकन्तम्	अगूढ़गन्धम्	हींग—जिसकी गन्ध को छिपाया नहीं जा सकता

इसी प्रकार हजारों मनोरंजक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

तमिल व्याकरण का आधार

यहां इस प्रकरण में इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि तमिल का जो सुप्रसिद्ध तोल्कप्पियम् नामक प्राचीनतम उपलब्ध व्याकरण है, उसका लेखक जमदग्नि का पुत्र और अगस्त्य का शिष्य तोलकोप्पियनार था जिसका दूसरा नाम तृणधूमाग्नि था। उसके समकालीन पनम्बरनार ने तोल्कप्पियम् की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि तोल्कप्पिनार् ने इन्द्र के संस्कृत-व्याकरण पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर लिया था। "दी एन्शेन्ट ड्रैविडियन्स" (The Ancient Dravidians) नामक पुस्तक के लेखक श्री टी०आर० शेष अय्यङ्गार एम०ए० नामक मद्रासी विद्वान् ने अपनी पुस्तक के पृ० १०१ में इस बात का उल्लेख किया है। उसके अनुसार तोल्कप्पियम् की रचना का काल ईसवी सन् से चतुर्थ शताब्दी के पीछे का नहीं। जर्मन विद्वान् डॉ० ए०सी० बुर्नल् पी—एच०डी० ने अपने The Aindra School of

Sanskrit Grammarians नामक, सन् १८७५ में बेसल मिशन मंगलौर (द० कर्नाटक) से प्रकाशित ग्रन्थ में इस बात को अनेक उदाहरणों द्वारा दिखाने का यत्न किया था कि तोल्कप्पियम् नामक तमिल-व्याकरण का आधार संस्कृत ऐन्द्र व्याकरण-परम्परा थी जिस परम्परा में उन्होंने कातन्त्र नामक व्याकरण, कात्यायन वृत्ति और प्रातिशाख्यों का भी समावेश किया है। तोल्कप्पियम् के अंग्रेजी-अनुवादक डॉ० पी०एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने अपनी भूमिका में तमिल के उस व्याकरणकर्ता के विषय में लिखा है कि—

Tolkappiyanar was conversant with Vedas, Dharma Shastras, Kama Sutra, early Alankar literature, the Source book of Natya Shastra, Pratishakhyas, Work on Vykarana, Nirukta in Sanskrit literature and made uses of them in Planning Tolkappiyam. —Introduction to Tolkappiyam, Euglish Translation, Vol. I, P. _XXXIII

अर्थात् तोल्कप्पियम् नामक तमिल-व्याकरण का लेखक तोल्कप्पियनार् वेदों, धर्मशास्त्रों, कामसूत्र, अलङ्कार-साहित्य, नाट्यशास्त्र के मूलस्रोत, प्रातिशाख्यों तथा संस्कृत-साहित्य के व्याकरण, निरुक्तादि ग्रन्थों से भली भांति परिचित और इनमें निपुण था।

ऐसी अवस्था में यह स्पष्टतया सिद्ध किया जा सकता है कि केवल कुछ शब्दों में मेल के कारण ही नहीं, अपितु व्याकरण, ध्वनि, रूप-रचना और वाक्य-रचनादि की दृष्टि से भी संस्कृत के साथ तमिल तथा दक्षिण की अन्य भाषाओं का विशेष सम्बन्ध है।

अन्य दाक्षिणात्य वैयाकरणों का मत

१२वीं शताब्दी के कन्नड़ भाषा के व्याकरण-प्रणेता नाग वर्मा ने तमिल, तेलुगु और कन्नड़ को संस्कृत माता की पुत्री बताया। १३वीं शताब्दी के तेलुगु भाषा के व्याकरण-प्रणेता केतन ने लिखा है कि संस्कृत सब भाषाओं की माता है। १४वीं शताब्दी के लीलातिलक नामक मलयालम-व्याकरण के संस्कृत में रचयिता ने लिखा—

"इह तावत् संस्कृतमनादि, अन्यदादिमत्; तस्य संस्कृतात् प्रभवः स्यात्, तत्र प्रकृतित्वेन स्थितं संस्कृतं क्वचिदूहविषयो भवति, क्वचिदत्यन्ततिरोभावादूहो न शक्यते, तत्र रूढत्वमुच्यते अन्यत्र संस्कृतभवत्वम्॥"

—लीलातिलकम्, पृ० १३

अर्थात् संस्कृत अनादि है और सब भाषाएं आदिवाली हैं; इसलिए उनकी संस्कृत से उत्पत्ति है। कहीं वह दूसरी भाषा का शब्द स्पष्ट संस्कृत से निकला प्रतीत होता है और कहीं उसके मूल पर ऊह अथवा विचार करने की आवश्यकता हो जाती है। जहां ऐसा ऊह करना कठिन हो वहां उसे रूढ़ मानना चाहिए, अन्य स्थानों पर संस्कृत से उद्भूत। इसके बहुत-से उदाहरण लीलातिलककार ने दिये हैं।

'Heritage of India' Series में प्रकाशित 'A History of Telugu Literature' नामक तेलुगु साहित्य के इतिहास के लेखकों ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि—

'An analysis of Telugu as it has been for centuries confirms the traditional view that Telugu is derived from Sanskrit.'

(P. 16)

अर्थात् तेलुगु भाषा (जैसी गति अनेक शताब्दियों से प्रचलित रही है) के विश्लेषण से इस परम्परागत विचार की पुष्टि होती है कि तेलुगु संस्कृत से निकली है।

डॉ० नारायण राव ने 'History of the Telugu Language' (तेलुगु भाषा का इतिहास) नामक अपने बृहद् ग्रन्थ में भी यही विचार प्रकट किया है कि—

Telugu is one of the descendants of a main Aryan dialect.

अर्थात् तेलुगु एक मुख्य आर्य भाषा की पुत्रियों में से है।[१]

तिरुवांकुर के श्रीयुत एल्०ए० रवि वर्मा ने 'आर्य द्राविड़ भाषा कलुटे परस्परसम्बन्धम्' (आर्य और द्राविड़ भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध) नामक अपनी पुस्तक में उदाहरणार्थ मलयालम के ७०० शब्द चुनकर उनका संस्कृत-मूल बताया है।

इस प्रकार कई शब्दों के मेल के कारण ही नहीं, अपितु व्याकरणादि की दृष्टि से भी द्राविड़ भाषाओं का संस्कृत से सम्बन्ध स्पष्ट है।

'वैदिक एज्' तथा अन्य जिन किन्हीं ग्रन्थों में द्राविड़ भाषाओं को संस्कृत भाषा से सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र और असम्बद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है उसकी निस्सारता चारों द्राविड़ भाषाओं के संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध-द्योतक उपुर्यक्त विवेचन से स्पष्ट है।

तमिल वेद और वेदादि शास्त्र

इस प्रसङ्ग में 'तमिल वेद' के नाम से प्रसिद्ध तमिल के अतिविख्यात त्रिक्कुरल (तिरुवल्लुवार् नामक सन्त द्वारा प्रणीत ग्रन्थ) का वेदादि शास्त्रों से सम्बन्ध सूचित करना भी अनुचित न होगा। इस ग्रन्थ के निर्माण का समय सुनिश्चित नहीं, तथापि ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ में आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक विषयों पर उत्तम विचार प्रकट किये गये हैं, किन्तु उन्हें सर्वथा नवीन व मौलिक कहना वेदादि शास्त्रों से नितान्त अनभिज्ञता सूचित करना होगा। इन पंक्तियों को लिखते हुए मेरे सम्मुख 'तमिल वेद' का श्री क्षेमानन्द राहत कृत अनुवाद है जिसकी भूमिका स्वर्गीय श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने लिखी है जो तमिल के धुरन्धर विद्वान् थे और जिन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था। उन्होंने भूमिका में इस ग्रन्थ के महत्त्व को बताते हुए ठीक ही लिखा है कि 'उत्तर भारतवासी देखेंगे कि इस पुस्तक में उत्तरी सभ्यता और संस्कृति का तमिल जाति से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध और तादात्म्य है।'

'तमिल वेद' को पढ़ते हुए हमें वेदों तथा शास्त्रों और नीतिग्रन्थों के अनेक वचनों का स्मरण आये बिना नहीं रह सकता। हमारा विश्वास है कि लेखक ने इन ग्रन्थों को अवश्य पढ़ा या सुना होगा तथा उनकी इन ग्रन्थों और ऋषि-मुनियों में बड़ी श्रद्धा रही होगी। बहुत स्थानों पर त्रिक्कुरल में वेदादि के उपदेशों का स्पष्ट अनुवाद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ निम्न वाक्यों में देखिए—

(१) तप की महिमा बताते हुए तिरुवल्लुवार कहते हैं—

देखो, जिन लोगों ने तप करके शक्ति और सिद्धि प्राप्त कर ली है वे मृत्यु को जीतने में भी सफल हो सकते हैं।

—तमिल वेद, पृ० २९

---

१. ये उद्धरणादि यहां अधिकतर 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषत्' (All India Oriental Conference) के दिसम्बर १९३७ में त्रिवेन्द्रम् में हुए नवम अधिवेशन के द्राविड़ भाषा विभाग के अध्यक्ष स्व० महाकवि उल्लूर परमेश्वर ऐयर् के अध्यक्षीय अभिभाषण से दिये गये हैं।

यह स्पष्टतया **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'** (अथर्व. ६. १८) इस वेद मन्त्र का अनुवाद है जिसमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तप से विद्वान् लोग मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं।

(२) त्याग के विषय में तमिल वेद में लिखा है—

त्याग से अनेक प्रकार के सुख उत्पन्न होते हैं, इसलिए अगर तुम उन्हें अधिक समय तक भोगना चाहो तो शीघ्र त्याग करो। यह **"तेन त्यक्तेन भुंजीथा:"** यजु. ४०.१ का अनुवाद है। —तमिल वेद, पृ० ४८

(३) शिक्षा के विषय में तमिल वेद में लिखा है—

प्राप्त करने योग्य जो ज्ञान है उसे सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करना चाहिए और उसे प्राप्त करने के पश्चात् उसके अनुसार व्यवहार करना चाहिए। —तमिल वेद, पृ० ५६

यह मन्त्र **"मन्त्रश्रुत्यं चरामसि"** (सामवेद मं० १७६) अथवा **"मय्येवास्तु मयि श्रुतम्"** (अथर्व. १. १. २) का भावानुवाद है जिनमें वेदज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुसार आचरण करने और उसे इस प्रकार अपने अन्दर धारण करने का उपदेश दिया गया है।

(४) सत्य की महिमा वर्णन करते हुए तमिल वेद में लिखा है—

मैंने इस संसार में बहुत-सी चीजें देखी हैं, मगर मैंने जो चीजें देखी हैं उनमें सत्य से बढ़कर उच्च और कोई चीज नहीं। —तमिल वेद, पृ० ४३

यह स्पष्टतया **"नास्ति सत्यात्परो धर्म:"** अर्थात् 'सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं' इसका अनुवाद मात्र है।

—शान्तिपर्व, १६२. १२४

(५) सत्य के विषय में यह वचन कि सचाई क्या है जिससे दूसरों को किसी तरह का जरा भी नुकसान न पहुंचे? उस बात को बोलना ही सचाई है। —तमिल वेद, पृ० ४१

महाभारत वनपर्व २०८. ४ के **"यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।"** अथवा योगदर्शन २. ३० के व्यास-भाष्य के **'तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्'** का स्मरण कराता है और उन्हीं का अनुवाद प्रतीत होता है जिनमें कहा गया है कि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित हो वह सत्य है और इसलिए परीक्षा करके सारे प्राणियों के हितकारक सत्य को ही बोलना चाहिए।

(६) 'तमिल वेद' का यह कथन कि—

'मनुष्य-जैसी उच्च योनि को प्राप्त कर लेने से भी कोई लाभ नहीं, अगर आत्मा ने सत्य का आस्वादन नहीं किया' तथा 'वह पुरुष धन्य है जिसने गम्भीरतापूर्वक स्वाध्याय किया है और सत्य को पा लिया है। वह ऐसे रास्ते में चलेगा जिससे फिर उसे इस दुनिया में आना न पड़ेगा।'

—तमिल वेद, पृ० ५०

स्पष्टतया "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:। भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥" (२. ५) इस केन उपनिषद्-वचन का अनुवाद मात्र है जिसका अर्थ है यदि इस जीवन में उस सत्यस्वरूप को जान लिया तो ठीक है, अन्यथा बड़ी भारी हानि है। जो उस सत्यस्वरूप ब्रह्म को सब प्राणियों में देखते हैं वे मरकर अमर हो जाते हैं।

(७) तमिल वेद का यह कथन कि—

यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी सम्पत्ति कम न हो तो तुम अपने पड़ोसी के धन-वैभव को ग्रसने की कामना मत करो ।

—तमिल वेद, पृ० २८

"मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" यजुः० ४०. १ के इस वेद मन्त्र का भावानुवाद है ।

(८) तमिल वेद का यह कथन कि—

यदि समस्त प्रजा की पहुंच राजा तक हो और राजा कभी कठोर वचन न बोले तो उसका राज्य सबसे ऊपर होगा ।

—तमिल वेद, पृ० ६

"विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधिभ्रशत्" (ऋग् १०. १७३) तथा **"विशि राजा प्रतिष्ठितः"** (यजुः० २०. ९) का अनुवाद मात्र है जिनमें राजा की स्थिति प्रजा पर मानी गई और कहा गया है कि सारी प्रजाएं तुम्हें चाहनेवाली हों, ताकि तुम्हें कभी राज्य से भ्रष्ट न होना पड़े ।

(९) साधु प्रकृति पुरुषों को ही ब्राह्मण कहना चाहिए । वही लोग सब प्राणियों पर दया रखते हैं ।

—तमिल वेद, पृ० ५

यह वेदशास्त्रोक्त ब्राह्मण आदर्श के अनुकूल वचन है जो आदर्श **'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे'** (यजुः० ३६. १८) तथा **'कुर्यादन्यन्न वा कुर्याद् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'** । (मनु० २. ८७) इत्यादि में प्रकट किया गया है ।

(१०) आत्म-संयम के प्रकरण में 'तमिल वेद' के पृ० २० पर जो यह लिखा है कि—

जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उसी तरह अपने में खींचकर रखता है जिस तरह कछुआ अपने हाथ-पांव को खींचकर भीतर छिपा लेता है, उसने अपने समस्त आगामी जन्मों के लिए खजाना जमा कर रखा है । —तमिल वेद, पृ० २०

यह उपमा स्पष्टतया भगवद्गीता (२. ५८) के **'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥'** इस श्लोक से ली हुई है जिसमें स्थितप्रज्ञ का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से ऐसे अन्दर की ओर खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अङ्गों को, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

(११) श्री तिरुवल्लुवार् की यह उक्ति कि—

घमण्ड में चूर होकर जिन्होंने तुम्हें हानि पहुंचाई है उन्हें अपनी भलमनसाहत से विजय कर लो । विदुर नीति तथा महाभारत के **'अक्रोधेन जयेत्क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत् । जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतः ॥** (उद्योगपर्व ७१. ५९ तथा **'न पापे प्रति पापः स्यात्, साधुरेव सदा भवेत्'**) ॥ इत्यादि से ली हुई प्रतीत होती है, जिनका अभिप्राय यह है कि क्रोध को अक्रोध से, दुर्जन को सज्जनता से, कृपण को दान से और असत्य को सत्य से जीतना चाहिए । पापी के प्रति भी पापी नहीं बनना चाहिए, प्रत्युत सदा साधु ही बने रहना चाहिए ।

(१२) निरामिष भोजन के विषय में श्री तिरुवल्लुवार् के निम्न प्रकार के उपदेश अत्युत्तम हैं जिनमें उन्होंने कहा है—

१. भला उसके दिल में तरस कैसे आयेगा जो अपना मांस बढ़ाने की खातिर दूसरों का मांस खाता है ?

२. फजूल खर्च करनेवाले के पास जैसे धन नहीं ठहरता, ठीक इसी तरह मांस खानेवाले के हृदय में दया नहीं रहती ।

३. जीवों की हत्या करना निस्सन्देह क्रूरता है, मगर उनका मांस खाना तो एकदम पाप है।

४. अगर दुनिया खाने के लिए मांस की कामना न करे तो उसे बेचनेवाला कोई आदमी ही न रहेगा।

५. अगर मनुष्य दूसरे प्राणियों की पीड़ा और यन्त्रणा को एक बार समझ सके, तो फिर वह कभी मांस खाने की इच्छा न करे।

६. जानदारों को मारने और खाने से परहेज करना सैकड़ों यज्ञों में बलि अथवा आहुति देने से बढ़कर है।

७. देखो ! जो पुरुष हिंसा नहीं करता और मांस खाने से परहेज करता है, सारा संसार हाथ जोड़कर उसका सम्मान करता है।

—तमिल वेद, पृ० ३७-३८

ये वचन 'यथा मांसं यथा सुरा, यथाक्षा अधिदेवने। **यथा पुंसो वृषण्यतः स्त्रियां निहन्यते मनः ॥**'

"पशूंस्त्रायेथाम्।" "कृत्यामपसुव" (हिंसा का परित्याग करो) इत्यादि वेद-वचनों और—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा, मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः, तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ५. ४८।
समुत्पत्तिं च मांसस्य, वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्तेत, सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ५. ४९।
अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥ ५. ५१।

इत्यादि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों से लिये प्रतीत होते हैं जिनका भावार्थ यह है कि मांस, शराब, जुआ, व्यभिचार ये सब परित्याज्य हैं और मन को नीच बनानेवाले हैं। पशुओं की रक्षा करनी चाहिए और उनकी हिंसा का परित्याग करना चाहिए। प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस की प्राप्ति नहीं होती और हिंसा करना स्वर्ग की ओर ले-जाने वाला पुण्य-कर्म नहीं, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मांस का परित्याग कर दे। मांस की उत्पत्ति और प्राणियों की हिंसा और बन्धन को देखकर सब प्रकार के मांस से मनुष्य को निवृत्त रहना चाहिए। न केवल पशुहिंसा करनेवाला घातक (हत्यारा) कहलाता है बल्कि उसके लिए अनुमति देनेवाला, काटनेवाला, उसे खरीदने और बेचनेवाला, उसमें मसाले आदि लगानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला ये सब घातक माने जाते हैं।

(१३) 'त्रिक्कुरल' का यह वचन कि—

शरीर की स्वच्छता का सम्बन्ध तो जल से है, मगर मन की पवित्रता सत्य-भाषण से ही सिद्ध होती है।

—तमिल वेद, पृ० ४२

मनुस्मृति (५. १०९) के **"अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति ॥"** का अनुवादमात्र है।

(१४) त्रिक्कुरल का यह वचन कि—

जन्मों की जननी अविद्या से छुटकारा पाना और सच्चिदानन्द को प्राप्त करने की चेष्टा करना ही बुद्धिमानी है।

—तमिल वेद, पृष्ठ ५२

तस्य हेतुरविद्या अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। —योग पा० २
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥ — केन० २.५

इत्यादि योगदर्शन और उपनिषद्-वचनों का अनुवाद है। अन्य भी सैकड़ों वचन 'त्रिक्कुरल' से उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे स्पष्ट है कि वे वेदों, उपनिषदों, मनुस्मृति, महाभारत, गीता तथा योगदर्शनादि से लिये गये हैं। उनके लिए मौलिकता का दावा करना संस्कृत-साहित्य से अपनी नितान्त अनभिज्ञता प्रकट करना है।

(१५) वह पुरुष धन्य है, जिसने गम्भीरतापूर्वक स्वाध्याय किया है और सत्य को पा लिया है।

—तमिल वेद, पृ० ५०

इत्यादि वाक्यों में निर्दिष्ट स्वाध्याय से वेदादि का स्वाध्याय अभीष्ट प्रतीत होता है।

(१६) 'वेद भी अगर विस्मृत हो जाएं तो फिर याद कर लिये जा सकते हैं, मगर सदाचार से यदि एक बार भी मनुष्य स्खलित हो गया तो सदा के लिए अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाता है।'

—तमिल वेद, पृ० २२

इत्यादि वाक्यों में भी वेदों को स्मरण करना उत्तम माना गया है। ऋषि-महर्षियों के प्रति 'त्रिक्कुरल' के लेखक की अगाध श्रद्धा निम्न प्रकार के अनेक वचनों द्वारा प्रकट होती है—

(१७) यदि आत्मिक शक्ति से परिपूर्ण ऋषिगण तुम पर क्रुद्ध हैं तो विविध प्रकार के आनन्दोच्छ्वास से उल्लसित तुम्हारा जीवन और समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण तुम्हारा धन कहां होगा ?

—तमिल वेद, पृ० १५

(१८) वह महान् देश है जो फसल की पैदावार में कभी नहीं चूकता और जो ऋषि-मुनियों तथा धार्मिक धनिकों का निवास-स्थान हो।

—तमिल वेद, पृ० ९६

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्राविड़ों के परम मान्य (जिन्हें वे महर्षि तक की उच्च पदवी से सम्मानित करते हैं) श्री तिरुवल्लुवार् आर्य धर्म, आर्य साहित्य और आर्य संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे। यह सर्वसम्मत है कि इनका प्रभाव दक्षिण भारत के साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा।

द्राविड़ सभ्यता की देन

'वैदिक एज्' के लेखकों ने द्राविड़ सभ्यता को श्रेष्ठ बताने और आर्य सभ्यता को हीन दिखाने का प्रयत्न स्थान-स्थान पर किया प्रतीत होता है। पृ० १५४ पर लिखा है—

These Dravidian-speaking mediterranean people in India were responsible for cities and a city culture—for a real civilisation, in the true sense of the word including international trade. —*Vedic Age*, P. 154

ये द्राविड़ भाषा-भाषी थे जो नगरों और नागरिक संस्कृति के लिए अथवा सच्चे अर्थों में सभ्यता के लिए उत्तरदाता थे। यह बात उनके द्राविड़ सभ्यता के प्रति पक्षपात को छोड़कर और कुछ सूचित नहीं करती। प्रथम तो यह बात सर्वथा सन्दिग्ध है कि हड़प्पा और मोहंजोदड़ो की सभ्यता द्राविड़ों से ही प्रधानतया प्रभावित थी, क्योंकि उसकी लिपि को अब तक ठीक-ठीक पढ़ा नहीं जा सका और 'वैदिक एज्' के लेखकों को भी स्वीकार करना पड़ा है कि इस बात को निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता।

We are not absolutely certain that the city-builders of Harappa and Mohanjodaro in south Punjab and Sind, whom the Aryans doubtless encountered spoke Dravidian, but there is a balance of probability that they did. This matter cannot be proved or disproved until we find the clue to the script in hundreds of seals found in Harappa and Mohanjodaro. (P. 156)

अर्थ यही है कि "हमें इस बात का पूर्णतया निश्चय नहीं कि हड़प्पा और मोहंजोदड़ो के नगर-निर्माता द्राविड़ भाषा-भाषी थे, यद्यपि अधिक सम्भावना यही है कि वे ऐसे ही थे। जब तक उन सैकड़ों मुहरों की लिपि का ज्ञान न हो जाये,

इसे न सिद्ध किया जा सकता है और न इस विचार का खण्डन किया जा सकता है।" विद्वानों का इस विषय में गम्भीर मतभेद है और अनेक विद्वान् इस विचार के हैं कि आर्यों ने ही इन नगरों का निर्माण किया था। हम जो द्राविड़ों को आर्यों की ही शाखा मानते हैं, इस वाद-विवाद को ही निरर्थक और हानिकारक समझते हैं। प्राचीन आर्य जो रामायणकाल और उससे भी पूर्व वैदिक युग के थे, नगरों और बड़े-बड़े भवनों का निर्माण करने में बड़े सिद्धहस्त थे। वेदों में हजारों स्तम्भों वाले भवनों का वर्णन है जहां राजा और उसके प्रधानमन्त्री निवास करें, यथा—

राजानानभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसते॥ —ऋग्० २. ४१. ५

अथर्ववेद का शाला सूक्त इस विषय में दर्शनीय है, जहां—

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षा दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीम् अग्निर्गर्भ इवाशये॥ —अथर्व० ९. ३. २१

इस प्रकार के मन्त्रों में २, ४, ६, ८ या १० तक कमरोंवाले मकानों के बनाने का विधान है। इन बातों को छोड़ भी दें तो रामायणकाल में अयोध्यानगरी का जो वर्णन है उस पर ध्यान देने से यह कहने का किसी निष्पक्ष व्यक्ति को साहस नहीं हो सकता कि नगर बनाना आर्यों ने द्राविड़ों से सीखा। आर्यों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि मुनि ने लिखा है—

अयोध्या नाम नगरी, तत्रासील्लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण, या पुरी निर्मिता स्वयम्॥
राजमार्गेण महता, सुविभक्तेन शोभिता। मुक्तपुष्पावकीर्णेन, जलसिक्तेन नित्यशः॥
गृहगाढामविच्छिन्नां, समभूमौ निवेशिताम्। कपाटतोरणवतीं, सुविभक्तान्तरापणाम्॥
उच्चाट्टालध्वजवतीं, शतघ्नीशतसंकुलाम्। प्रासादै रत्नविकृतैः, पर्वतैरिव शोभिताम्॥
उद्यानाम्रवणोपेतां, महतीं सालमेखलाम्। सर्वरत्नसमाकीर्णां, विमानगृहशोभिताम्॥
चित्रामष्टापदाकारां, वरनारीगुणैर्युताम्। दुर्गगम्भीरपरिखां, दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्॥
सर्वयन्त्रायुधवतीम्, उषितां सर्वशिल्पिभिः। वाजि वारण संपूर्णां, गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा॥
सामन्तराजसंघैश्च, बलिकर्मभिरावृताम्। नानादेशनिवासैश्च, वणिग्भिरुपशोभिताम्॥
सूतमागधसंबाधां, श्रीमतीमतुलप्रभाम्। वधूनाटकसंघैश्च, संयुक्तां सर्वतः पुरीम्॥
तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः। पुरीमावासयामास, दिवि देवपतिर्यथा॥

—वाल्मीकि रामायण, बा० कां०, सर्ग ३

अर्थात् अयोध्या नाम की जगद्विख्यात नगरी थी जिसे स्वयं महाराज मनु ने बनवाया था। उसमें बड़े चौड़े-चौड़े राजमार्ग बने हुए थे जिन पर प्रतिदिन छिड़काव होता था। रत्नों से जटित पर्वतों की तरह महलों से वह नगरी शोभित थी। सब जगह तोरणध्वजादि लगे हुए थे। वहां बाजार आदि उत्तमता से बने हुए थे। सैकड़ों तोपें वहां थीं। आमों के बड़े-बड़े बाग चारों ओर थे और साल के वृक्ष बड़ी संख्या में लगे हुए थे। विमानगृहों से वह शोभित थी। किले के चारों ओर खाई खुदी हुई थी और इस प्रकार शत्रु उस पर सुगमता से आक्रमण नहीं कर सकते थे। सब प्रकार के यन्त्र और अस्त्रशस्त्र वहां रखे हुए थे और सब प्रकार के शिल्पी उसमें निवास करते थे। हाथी, घोड़े, गौ, ऊंट, गधे आदि पशुओं से भी वह भरी हुई थी। भिन्न-भिन्न देशों से आये हुए राजदूत और व्यापारी वहां निवास करते थे। महिलोपयोगी नाटकादि की भी वहां अच्छी व्यवस्था थी। ऐसी पुरी में उस समय दशरथ राज्य करता था।

आयता दश च द्वे च, योजनानि महापुरी। श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा, सुविभक्तमहापथा॥ —बालकाण्ड ३. ३

अर्थात् यह अयोध्या नगरी १२ योजन (४८ मील लम्बी) और ३ योजन (१२ मील) चौड़ी थी। बड़ी-बड़ी सड़कें एक विशेष क्रम में विभक्त थीं। रामराज्य में वहां की सदाचार-विषयक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

प्रहृष्टमुदितो लोकः, पुष्टस्तुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो विशोकश्च, रामे राज्यं प्रशासति॥

नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥

कामी वा न कदर्यो वा, नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां, नाविद्वान् न च नास्तिकः॥ —बा० कां०, ४. ४

अर्थात् सब लोग अत्यन्त प्रसन्न थे। सब हृष्ट-पुष्ट, बहुत ही धार्मिक, रोग और शोक से रहित थे। अपने-अपने धन से सब सन्तुष्ट और लोभरहित तथा सत्यवादी थे। सदाचार और उत्तम स्वभाव के कारण सब प्रसन्न तथा महर्षियों की तरह पवित्र थे। सारी अयोध्या में एक भी कामी, कृपण, क्रूर, अविद्वान्, नास्तिक दिखाई नहीं देता था।

नानाहिताग्निर्नायज्वा, न क्षुद्रो वा न तस्करः। कश्चिदासीदयोध्यायां, न चावृत्तो न संकरः॥

—बा० कां०, ४. ८

अर्थात् कोई अग्निहोत्रादि नियमों का पालन न करनेवाला, कमीना, चोर, दुराचारी और व्यभिचारोत्पन्न अयोध्या नगरी में न था। सर्ग ८ में वाल्मीकि कहते हैं—

शुचीनामेकबुद्धीनां, सर्वेषां संप्रजानताम्।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा, मृषावादी नरः क्वचित्॥ १४॥

क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्॥ १५॥

अर्थात् सब अयोध्यावासी ज्ञान-सम्पन्न, पवित्र और मिलकर विचार करनेवाले थे। उस सारे अयोध्या नगर में ही नहीं, सारे राष्ट्र में भी कहीं कोई असत्यवादी पुरुष न था। कहीं दुष्ट और व्यभिचारी परस्त्रीसङ्ग करनेवाले पुरुष का चिह्न तक वहां दिखाई न देता था। इस प्रकार वह अयोध्या का नगर और सारा राष्ट्र अत्यन्त शान्ति से युक्त था।

महाभारत में इन्द्रप्रस्थादि का जो आश्चर्यजनक वर्णन पाया जाता है उसका ग्रन्थविस्तार-भय से यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। किन्तु इतना लिखना पर्याप्त है कि इस प्रकार के वर्णनों से 'वैदिक एज्' के लेखकों के इस कथन की अयथार्थता सिद्ध होती है कि नगरनिर्माण-विद्या और नागरिक सभ्यता द्राविड़-भाषाभाषियों की देन है। इन द्राविड़ लोगों के विषय में कहा जाता है कि ये समुद्रों की यात्रा जहाजों द्वारा करते हुए अन्य देशों से व्यापार करते थे। यह अच्छी बात है, किन्तु जहाजों में केवल द्राविड़ लोग यात्रा और व्यापार करते थे इसका कोई प्रमाण नहीं। वेदों में जहाजों का वर्णन तो अनेक मन्त्रों में है—

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विनाऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥ —ऋग्० १. ११६. ५

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥

ऋग्० १०. ६३. १०

सौ चप्पू वाली 'नौ' छोटी नौका नहीं हो सकती। गहरे समुद्र में चलनेवाली 'नौ' जहाज ही हो सकता है। वेद के आदेशानुसार आर्य लोग भी जहाजों में समुद्र की यात्रा और व्यापार किया करते थे, जैसा सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने Shipping in Ancient India नामक पुस्तक में सप्रमाण बताया है। अतः इसे द्राविड़ों की ही मौलिक देन कहना एक भूल है।

जहां तक धर्म और समाज के क्षेत्र में द्राविड़ों की देन का प्रश्न है, स्वयं द्राविड़ लेखकों के उदाहरणरूपेण Origin and Spread of the Tamils के लेखक श्री रामचन्द्र दीक्षितार् और The Ancient Dravidians के लेखक श्री टी० आर० शेष अय्यंगार एम०ए० के अनुसार ये निम्नलिखित हैं—

(१) माता के रूप में देवी की पूजा (The worship of the mother goddess) काली, भद्रकाली, भगवती, अम्मां, दुर्गा इत्यादि के रूप में जो पूजा प्रचलित है वह द्रविड़ों ने चलाई। वह पूजा मांसमद्यमीनादि द्वारा तन्त्रग्रन्थों में बताई गई जैसा 'कुलार्णव तन्त्र' में लिखा है—

मद्यमांसविहीनेन्, न कुर्यात्पूजनं शिवे। न तुष्यामि वरारोहे, भगलिङ्गामृतं विना॥

अर्थात् हे पार्वति ! मद्यमांस के बिना पूजा न करनी चाहिए। मैं उसके और लिङ्ग-पूजादि के बिना सन्तुष्ट नहीं होता। यदि यह मानें कि इस कुत्सित रूप में पूजा द्राविड़ों की देन है (जैसा सभी मानते हैं) तो इसमें अभिमान की नहीं, वस्तुतः लज्जा की बात है। हां, वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर को पिता के साथ-साथ माता के रूप में भी माना गया है 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे'॥—ऋग्० (८. ९८. ११) "पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥" (ऋग्० ६. १. ५) किन्तु यह भैंसों, बकरों, शराब, सम्भोगादि द्वारा कुत्सित पूजा द्रविड़ों की देन है।

(२) इसके साथ ही सम्बद्ध लिङ्ग (पुरुष के जननेन्द्रिय और नारी की योनि) की पूजा (Phallic worship) है जो द्रविड़ों ने प्रचलित की। इसे उपर्युक्त दोनों तथा अन्य लेखक मानते हैं। शिव की पूजा को भी अधिकतर द्रविड़ों की देन बताया जाता है। The Ancient Dravidians के लेखक श्री शेष अय्यङ्गार एम०ए० ने डॉ० स्टीवन्सन के मत को उद्धृत करते हुए उसका समर्थन किया है कि—

Dr. Stevenson holds that Siva was the Tamilian God and was worshipped in two forms, one as a spiritual object of meditation and the ... as a material symbol or Linga to represent the invisible to the visible eyes. It is said of Ravana that he was a staunch votary of Linga which he worshipped with incense and flowers. From this, it may be inferred that Siva was a Dravidian deity. —*The Ancient Dravidians,*
by T.R. Shesha Iyengar, P. 156

भावार्थ यह है कि डॉ० स्टीवन्सन का मत है कि शिव तमिलवालों का देव है जिसकी दो रूप में पूजा की जाती थी; एक तो ध्यान का आध्यात्मिक तत्त्व और एक भौतिक प्रतीक—लिङ्ग—अदृश्य के प्रतिनिधि के रूप में। रावण के विषय में कहा जाता है कि वह लिङ्ग का बड़ा पक्का उपासक था जिसकी पूजा वह गन्ध-पुष्पादि से करता था। इस कुत्सित लिङ्ग पूजा पर क्या गर्व किया जा सकता है ? इससे तो हमारे देश के सदाचार का नाश ही हुआ है।

यत्र यत्र प्रयाति स्म, रावणो राक्षसेश्वरः । जाम्बूनदमयं लिङ्ग तत्र तत्र स्म नीयते ॥

ऐसा वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि रावण जहां-जहां जाता था वह सुवर्णमय लिङ्ग को साथ ले जाता था।

वेदों में शिश्नदेवों (कामियों) की बड़ी निन्दा है और लिखा है "मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः" अर्थात् लिङ्ग की पूजा करनेवाले कामी व्यसनी पुरुष हमारे यज्ञों में कभी न आयें।

—ऋग्० ७. २१. ५ ॥ शिश्नदेवाः—अब्रह्मचर्याः, निरु० ४. ३. १९

(३) द्राविड़ों की तीसरी देन वृषभ और नागपूजा की है। मोहंजोदड़ो में भी लिङ्गपूजा और उसके साथ वृषभ और नाग (बैल और सांप) की पूजा प्रचलित होने के प्रमाण पाये गये हैं। इन दोनों पर भी क्या गर्व किया जा सकता है ? ये सब अज्ञानसूचक बातें हैं जिनसे व्यक्ति, समाज वा राष्ट्र का भला नहीं हो सकता, यद्यपि श्री रामचन्द्र दीक्षितार् ने बड़े गर्व के साथ लिखा है कि—

We in South India still worship snakes in the shape of Nagakkal. Though it is popular in South India, it is still more popular in Malabar. It is connected with the fertility cult. There is still the belief that a barren woman becomes big with a child if she offers proper prayers to the Snake Lord.

—*Origin and Spread of the Tamils,* P. 4

अर्थात् हम दक्षिण भारत में नागक्काल (नाग देवता) के रूप में सर्प की पूजा करते हैं। यद्यपि सारे दक्षिण भारत में यह नाग-पूजा लोकप्रिय है, मालाबार में तो यह विशेषतया लोकप्रिय है। इसका सन्तानोत्पत्ति से सम्बन्ध माना जाता है। अब तक भी यह विश्वास प्रचलित है कि एक वन्ध्या स्त्री सन्तानवती हो जाती है, यदि वह नाग देवता की पूजा करती है।

ऐसे अन्धविश्वास और इस प्रकार की नागादिपूजा को हम तो अत्यन्त हानिकारक तथा अज्ञानसूचक समझते हैं। इस पर क्या कोई गर्व कर सकता है ?

(४) द्राविड़ों की चतुर्थ देन चन्द्र की पूजा है—

The authors of the early Tamil culture worshipped the moon.

—*Origin and Spread of the Tamils,* P. 48

यह भी अज्ञानसूचक प्रथा है; और कुछ नहीं। देवदासी की कुत्सित प्रथा भी द्राविड़ों की देन है। इसी प्रकार देवी-देवताओं को बाल भेंट करने की प्रथा है। प्रायः लेखकों ने बताया है कि द्राविड़ों के सम्पर्क से ये सब प्रथाएं बैबीलोन, सुमेरिया, ग्रीस तथा अन्य देशों में भी प्रचलित हुईं, किन्तु हमें इनमें कोई ऐसी बात प्रतीत नहीं होती जिसे वस्तुतः उच्च सभ्यता और ज्ञान की उन्नति का द्योतक माना जाये। ये तो अज्ञान युग की हानिकारक प्रथाएं थीं। वे यदि अन्य देशों में प्रचलित भी हुईं तो इन पर क्या हर्ष प्रकट किया जा सकता है ?

हां, एक बात है जिस पर वस्तुतः गर्व किया जा सकता था, यदि वह सचमुच ठीक होती। 'The Ancient Dravidians' के लेखक श्री टी०आर० शेष अय्यङ्गार ने प्रो० मैक्डॉनल्ड का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि—

The doctrine of Transmigration is entirely absent from the Vedas and the early Brahmanas. It seems probable that the Indian Aryas borrowed the idea in a rudimentary form from the aborigines i.e. most probably from the Dravidians.

—*The Ancient Dravidians,* P. 158

अर्थात् पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेदों और प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों में बिल्कुल नहीं पाया जाता । यह सम्भव है कि वेदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं । हम इसकी अयथार्थता को आगे दशम अध्याय में सप्रमाण बतायेंगे, अतः इस विषय के विवेचन को हम सर विलियम हन्टर की Indian Empire के एक उद्धरण के साथ अभी यहीं समाप्त करते हैं । सर विलियम हन्टर ने लिखा—

Orthodox Hindus are unfortunately in the habit of claiming the authority of the Veda for their medieval institutions, for the evil as well as for the good. As a matter of fact, these medieval institutions, which form the basis of modern Hinduism are the joint product of non-Aryan darkness and of Aryan light. The Scythic and Naga and the so-called aboriginal races with their indifference to human suffering, their polyandric household, and their worship of fear and blood have left their mark deep in the Hindu law cods, in the terrorising of Hindu religion, and in the degradation of woman. English scholarship has shown that the worst feature of Hinduism, widow burning had no authority in the Veda. When it is equally understood that the other dark features of Hinduism also rest, not upon the Vedic Scripture, but are the result of a human compromise between Aryan civilisation and non-Aryan barbarism, the task of the Indian reformer will be half accomplished. It is with a true instinct that the great religious movements of India in our day reject the authority of medieval Hinduism and appeal back to the Veda.

—*The Indian Empire* by Sir William Hunter, 1882 Edition

अर्थात् कट्टरपन्थी हिन्दू दुर्भाग्यवश मध्यकालीन अच्छी-बुरी सब प्रथाओं के लिए वेद के प्रमाण का दावा करने का स्वभाव रखते हैं । वास्तविक तथ्य यह है कि ये मध्यकालीन प्रथाएं जो आधुनिक हिन्दू धर्म का आधारभूत हैं, अनार्यों के अन्धकार और आर्यों की ज्योति का संयुक्त परिणाम हैं । शक, नाग और तथाकथित आदिनिवासियों ने मानव-कष्ट के प्रति अपनी उपेक्षा और उदासीनता, बहुपतित्व की प्रथा और भय तथा रुधिर की पूजा आदि के कारण हिन्दू विधिविधान, हिन्दू धर्म को भयङ्कर बनाना और महिलाओं की स्थिति को निकृष्ट बनाना, इन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है । पाश्चात्य विद्वानों के अनुसन्धान ने सिद्ध कर दिया है कि हिन्दू धर्म के सबसे बुरे रूप—सती प्रथा—का वेदों में कोई प्रमाण नहीं । जब इस बात को समझ लिया जायेगा कि हिन्दू धर्म के अन्य काले रूप भी वेदों पर आश्रित नहीं, अपितु वे आर्य सभ्यता और अनार्य बर्बरता के मध्य एक समझौते का परिणाम हैं, तब सुधारकों का आधा काम पूर्ण हो जायेगा । यह एक सच्ची अन्तःप्रेरणा है कि भारत के महत्त्वपूर्ण आधुनिक आन्दोलन मध्यकालीन हिन्दू धर्म की प्रामाणिकता को अस्वीकृत करते हुए वेद के नाम पर अपील करते हैं ।

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि सर विलियम हन्टर का संकेत मुख्यतया वेदों पर आश्रित आर्यसमाज के आन्दोलन की ओर है । □

नवम अध्याय

वेदों के अंगभंग (काट-छांट) का अनुचित प्रयत्न

'वैदिक एज्' में जहां अन्य आक्षेप-योग्य बातें हैं जिनमें से कइयों पर हमने इस पुस्तक के गत अध्यायों में सप्रमाण विचार किया है, वहां एक बड़ी आक्षेप-योग्य बात उनकी वेदों के अङ्ग-भङ्ग वा काट-छांट की अत्यन्त अनुचित दुस्साहसपूर्ण चेष्टा है । उनके अनुसार ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में बालखिल्य सूक्त, जो संख्या ११ हैं, पीछे से ऋग्वेद में मिलाये गये । दशम मण्डल सारा पीछे से ऋग्वेद में जोड़ दिया गया, क्योंकि इसकी भाषा अन्य मण्डलों से भिन्न है और श्रद्धा, दान, नासदीय सूक्तादि दार्शनिक तथा अन्य प्रकार के सूक्त हैं ।

अथर्ववेद के १५, १७, १८, १९ और २० काण्ड पीछे से मिलाये गये और सारा अथर्ववेद ही पीछे से वेदों में सम्मिलित किया गया, पहले नहीं था । यजुर्वेद में भी तैत्तिरीय संहिता वा कृष्ण यजुर्वेद ही प्राचीन है, वाजसनेय संहिता जिसे शुक्ल यजुर्वेद के नाम से भी कहा जाता है, अपेक्षया अर्वाचीन है । सामवेद तो ऋग्वेद के मन्त्रों की चोरी है; इसमें नवीनता वा मौलिकता कुछ नहीं । ऐसे ही अन्य वेदों के अनेक भाग हैं जिन्हें पीछे की मिलावट सिद्ध करने का प्रयास 'वैदिक एज्' के लेखकों ने किया है । हम इन बातों का सप्रमाण विवेचन इस अध्याय में करेंगे । यह तो स्पष्ट है कि इन विषयों में 'वैदिक एज्' के लेखकों ने कोई मौलिकता नहीं दिखाई, पाश्चात्य लेखकों का ही अविवेकपूर्ण अनुसरण किया है । वैदिक शिक्षाओं के विषय में जो भ्रान्तियां इस ग्रन्थ में पाई जाती हैं—वेदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अभाव, अथर्ववेद तथा अन्य वेदों में जादू-टोने, बहुविवाह का प्रतिपादन इत्यादि, इनका विवेचन हम अगले अध्याय में सप्रमाण करके उपसंहार करेंगे ।

क्या दशम मण्डल पीछे से मिलाया गया ?

सबसे पहले हम दशम मण्डल के विषय में विचार करेंगे कि उसे पीछे की मिलावट क्यों माना जाये ? अन्य पाश्चात्य विद्वानों का इस विषय में अविवेकपूर्वक अनुसरण करते हुए 'वैदिक एज्' के लेखकों ने भी पृ० २२८ पर लिख दिया है कि—

> The tenth Mandala is manifestly a later addition, often Atharvanic in character.
>
> —Vedic Age, P. 228

अर्थात् ऋग्वेद का दशम मण्डल स्पष्टतया पीछे की मिलावट है जिसमें अथर्ववेद जैसी जादू-टोने की बातें पाई जाती हैं । एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

> That the tenth Mandala is later in origin than the first nine is however, perfectly certain from the evidence of the language. —Vedic Age, P. 229

अर्थात् दशम मण्डल पहले ९ मण्डलों की अपेक्षा पीछे बना, यह बात भाषा की साक्षी से पूर्णतया निश्चित है ।

इसके उदाहरण के रूप में जो बातें 'वैदिक एज्' में पृ० ३३९ पर दिखाई गई हैं वे अधिकतर कल्पित हैं । एक ही ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में कई प्रकार की भाषा का प्रयोग कर देता है । कहीं भाषा सरल होती है, कहीं उसकी अपेक्षा कठिन । वेद तो सभी प्रकार के मनुष्यों के लाभार्थ हैं । उनमें कहीं तो 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव ॥'

जैसे अतिसरलार्थक मन्त्र हैं और कहीं ऐसे कठिन कि बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी उनका वास्तविक अर्थ जानने के लिए मस्तिष्क की पूर्ण शक्ति का प्रयोग करना पड़े। ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुक प्रकार के शब्द वहां अवश्य आने चाहिएं और यदि वे शब्द न आयें तो उसे नवीन समझ लेना चाहिए। 'वैदिक एज्' के लेखक कहते हैं कि दशम मण्डल में लोक, मोघ, विसर्ग, गुप् इत्यादि कई नये शब्द आते हैं जो सिवाय प्रक्षिप्त भागों और बालखिल्य सूक्तों के ऋग्वेद के अन्य भागों में नहीं पाये जाते हैं। जहां वे पाये जाते हैं उन्हें अपनी कल्पना से पहले ही प्रक्षिप्त मान लेते हैं जिसके लिए कोई प्रमाण आपके पास नहीं। बालखिल्य सूक्तों पर हम इसी अध्याय में आगे विचार करके दर्शाएंगे कि उन्हें प्रक्षिप्त मानने का कोई कारण नहीं।

'लोक' शब्द ऋग्वेद के अन्य मण्डलों में

वस्तुतः लोकः यह शब्द दशम मण्डल के अतिरिक्त निम्न स्थानों पर आया है—

ऋग्वेद १. ९३. ६; २. ३०. ६; ३. २. ९; ४. १७. १७; ५. ४. ११; ६. २३. ३, ७; ६. ४७. ८; ६. ७३. २; ७. २०. २; ७. ३३. ५; ७. ६०. ९; ७. ८४. २; ७. ९९. ४; ८. १००. १२; ९. ९२. ६; 'लोकाः' यह बहुवचनान्त शब्द ऋग्० ९. ११३. ९ 'लोके' यह सप्तमी एकवचन का प्रयोग ऋग्० ३. २९. ८; ५. १. ६; ९. ११३. ७२; इतने स्थलों पर दशम मण्डल के १०. ८५. २४ के अतिरिक्त आये हैं। इन भागों को 'वैदिक एज्' वाले भी प्रक्षिप्त नहीं मानते। फिर आश्चर्य है कि ऐसी अयथार्थ, तथ्यविरुद्ध बात उन्होंने कैसे लिख दी !

'मोघ' शब्द अन्य मण्डलों में

'मोघम्' का प्रयोग ऋग्वेद के दशम मण्डल के अतिरिक्त सप्तम मण्डल के निम्न मन्त्रों में पाया जाता है—

यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवां अप्यूहे अग्ने। —ऋग्० ७. १०४. १४
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह। —ऋग्० ७। १०४। १५

अतः 'वैदिक एज्' वालों का कथन अयथार्थ है।

'विसर्ग' शब्द सप्तम मण्डल में

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के १०३ सूक्त के नवम मन्त्र में तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गम् इस रूप में विसर्ग शब्द आया है। दशम में भी केवल १०. ५. ६ में ही है। **विजय** शब्द ऋग्वेद दशम मण्डल में भी केवल एक बार १०. ८४. ४ में आया है, पर **'विजयन्ते'** का प्रयोग ऋग्० २. १२. ९ में, 'यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासः' इस रूप में आया है। इसके अतिरिक्त **'जयति'** का प्रयोग ऋग्० १. ३६. ४; ४. ५०. ९; ६. ७५. ५; ७. ३०. ९; ९. ८६. ४२; **जयतु** का ऋग्० ६. ४७. २६ में, **जयन्** का ऋग्० ४. १७. १०; ५. ३१. ६; ६. ७३. २; ९. ८५. ४२ में, **जयन्तम्** का ऋग्० १. ९१. २१; ५. ४४. १; ६. ७५. १८ में, **जयन्ति** का ऋग्० ८. १६. ५ में, **जयती** का १. ११६. १७; १. १२३. २ में, **जयन्तु** का ऋग्० ६. ६. ४७, ३१, **जयसि** का ऋग्० ९. ८५. ३ में, **जयाति** का ऋग्० ५. ३७. ५, **जयामसि** का ऋग्० ४. ५७. १, **'जयाव'** का ऋग्० १. १७९. ३ में, **जयेम** का १. ८. ३; १. १०२. ४; १. १२३. ५; २. ४०. ५; ४. ९. ३; ५. २. ११; ८. २१. १२; ८. ६८. ९; ८. ९२. ११; ९. ६१. २३; ९. ८५. ८ इत्यादि में प्रयोग है, इसलिए 'विजय' शब्द के आधार पर दशम मण्डल की अर्वाचीनता का प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ है। विजय शब्द न आकर यदि **वयं जयेम त्वमा युजा** इत्यादि प्रयोग आते हैं तो इसमें क्या अन्तर पड़ गया ?

'सोम' के विषय में आप कहते हैं कि ऋग्वेद के प्रथम ९ मण्डलों में यह ५० बार आया है और दशम मण्डल में केवल एक बार। इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। आया तो है, यह आप मानते हैं। आवश्यक नहीं कि एक शब्द बार-बार

अनावश्यक रूप से आये । आज्य, काल, लोहित और विजय ये शब्द पहली बार दशम मण्डल में आये हैं, पर इससे कुछ सिद्ध नहीं होता । भिन्न-भिन्न मण्डलों में यदि भिन्न-भिन्न विषयों और तत्प्रतिपादक शब्दों की सत्ता पाई जाये तो इससे उसकी नवीनता कैसे हो जाती है ? सर्व, भगवान्, प्राण, हृदय आदि शब्द आप कहते हैं कि Mostly, though not exclusively प्रायः, सर्वथा नहीं, इस दशम मण्डल में आते हैं । जब वे शब्द दूसरे मण्डलों में भी आते हैं तो फिर आप की यह नवीनता की युक्ति क्या बनी ? यदि इस बात को कथंचित् मान भी लिया जाये कि कुछ नये अथवा पहले अप्रयुक्त शब्द आने से नवीनता सिद्ध होती है, इसे हम नहीं मानते । वेद को हम ईश्वरीय वाक् मानते हैं जिसमें आवश्यकतानुसार पूर्ण बुद्धिपूर्वक शब्दों का प्रयोग है । बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे । —वैशेषिक दर्शन

हमारा कोई अधिकार नहीं और यह हमारा मूर्खतापूर्ण दुस्साहस है कि हम कहें कि अमुक-अमुक शब्द पहले मण्डलों में क्यों नहीं आये और इस स्थान वा अमुक मण्डल में क्यों आये हैं ? विषयभेद से भी भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है—इस बात को साधारण लेखक भी जानते हैं ।

एक ही लेखक अपने ग्रन्थों में विषयभेद के कारण भिन्न प्रकार और शैली की भाषा का प्रयोग करता है, इसके कुछ स्पष्ट उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

१. पाणिनि के अष्टाध्यायी-सूत्रों की भाषा उसके 'जाम्बवती विजय महाकाव्य' की भाषा से भिन्न है ।

२. जैमिनीय मीमांसा सूत्रों की भाषा का जैमिनीय ब्राह्मण की भाषा से अत्यधिक अन्तर है ।

३. शौनक के ऋक् प्रातिशाख्य से शौनकप्रोक्त ऐतरेय आरण्यक के पंचम आरण्यक की भाषा भिन्न प्रकार की है ।

४. कात्यायन श्रौतसूत्र से कात्यायन स्मृति की भाषा सर्वथा भिन्न है ।

ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । वर्तमान काल के सुप्रसिद्ध लेखकों का ही उदाहरण लेना हो तो कहा जा सकता है कि अरविन्द जी के Life Divine की क्लिष्ट भाषा और शैली से The Yoga and its object या Bases of Yoga आदि की सरल भाषा और शैली में आकाश-पाताल का अन्तर है ।

पृत्सु, गिर्वणः, विचर्षणिः, वीती जैसे प्रयोग इस दशम मण्डल में नहीं पाये जाते, जब कि पहले मण्डलों में वे साधारण हैं । तो क्या हुआ ? क्या एक ही प्रकार के शब्दों का सर्वत्र प्रयोग आवश्यक है ? विचर्षणि के स्थान पर यदि प्रचेता या विश्ववेदाः जैसे शब्दों का प्रयोग दशम मण्डल में पाया जाये तो इससे क्या अन्तर पड़ता है ? विचर्षणिः—यह शब्द पंचम और सप्तम मण्डल में भी नहीं; तो क्या इससे वे अर्वाचीन सिद्ध हो जाते हैं ? ऐसे ही इन लेखकों की दशम मण्डल की भाषा अन्य मण्डलों से पृथक् होने की कल्पना है, जिसमें हमें कोई सार प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः यह सारी बात ही मैक्डॉनल इत्यादि पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थों से ली गई है जिन्हें हिरण्यगर्भ सूक्त, नासदीय सूक्त, श्रद्धासूक्त, मन्युसूक्तादि देखकर आश्चर्य हुआ कि जंगली लोग ऐसे आध्यात्मिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विषयों पर कैसे विचार प्रकट कर सके, अतः यह सब पीछे की उपज होनी चाहिए । भाषा-भेद का तो एक बहाना बनाया गया जिसके विषय में सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी ने 'त्रयीपरिचय' नामक अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में ठीक ही लिखा कि—

> **एवं दशममण्डलस्य ऋक्परिशिष्टरूपत्वं कल्पयितुं तैः (पाश्चात्यविपश्चिद्भिः) भाषापार्थक्य-प्रदर्शनादिप्रयासः स्वीकृतः—दशममण्डलस्य भाषा मन्त्रार्थगततात्पर्याणि च प्रथममण्डलादिभ्यः पृथगेवेति नूनं तस्य नवममण्डलपरिशिष्टरूपत्वमिति तदाशयः । किमत्र ब्रूमो वयम् ? अस्मच्छ्रुतिषु हि दशममण्डलस्य मण्डलान्तराणां च भाषा एकविधैवोपलभ्यते, अस्मद्बुद्धिषु च तथैकविधमेव तात्पर्यमिति न जानीमहे केषां**

बुद्धिमालिन्यं केषां वा हठकारित्वमिति ॥ (त्रयीपरिचयः, पृ० ४९)

प्रथमादिमण्डलेषु श्रुतानां बहूनां सूक्तानां दशममण्डलस्थितानां च बहूनां सूक्तानां द्रष्टारोऽभिन्ना एवावगम्यन्ते । परिशिष्टवादिनां मते तत् कथमुपपद्येतेति विचारयन्त्वत्र माध्यस्थ्यपदमादधाना एवेति ॥

(त्रयीपरिचयः, पृ० ५१)

अर्थात् इस प्रकार दशममण्डल को ऋग्वेद का परिशिष्ट दिखाने के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने भाषा की पृथक्ता आदि को कारण माना है । उनका कथन है कि दशममण्डल की भाषा और मन्त्रों के तात्पर्य पहले मण्डलों से पृथक् ही हैं, अतः यह नवममण्डल का परिशिष्ट है । हमारे सुनने में तो दशममण्डल और दूसरे मण्डलों की भाषा एक ही तरह की है और हमारी बुद्धि में उनका तात्पर्य भी एक ही जैसा (अन्य मण्डलों के सदृश) है । हम नहीं जानते कि किनकी बुद्धि मलिन है और कौन हठी हैं ?

प्रथम तथा अन्य मण्डलों के सूक्तों और दशम मण्डल के बहुत-से सूक्तों के द्रष्टा ऋषि एक ही हैं । परिशिष्टवादियों के मत में यह बात कैसे सिद्ध हो सकती है—यह पक्षपातरहित विद्वान् ही विचार करें ।

वास्तविक बात यह है कि पाश्चात्य विकासवादी अथवा ईसाइयत के पक्षपाती विद्वानों को हिरण्यगर्भ सूक्त विशेषतः '**प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ॥**' इत्यादि मन्त्रों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद को देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ । इसलिए उन्होंने दशममण्डल के पीछे से बनाये जाने की कल्पना की । यहां तक कि प्रो० मैक्समूलर को यह लिखना पड़ा कि—

"This is one of the hymns which have always been suspected as modern by European interpreters." —*Vedic Hymns* by Prof. Max Muller

अर्थात् यह हिरण्यगर्भ सूक्त उन सूक्तों में से है जिन पर यूरोपियन व्याख्याकारों ने सदा ही नवीन होने का सन्देह किया है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव—इस मन्त्र पर टिप्पणी करते हुए प्रो० मैक्समूलर ने ईसाईमत-जन्य पक्षपात के कारण लिखा है कि—

"The last verse is to my mind the most suspicious of all."

अर्थात् मेरे विचार में यह अन्तिम मन्त्र तो अत्यन्त सन्दिग्ध है ।

वास्तव में देखा जाये तो अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र इत्यादि नामों से मुख्यतया परमेश्वर का ही ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में भी ग्रहण है और प्रथम मण्डल में ही यह कहा गया है कि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ —ऋ० १. १६४. ४६

अर्थात् विद्वान् उस एक ही परमेश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं । ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥ —ऋ० २. १. ३

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः ॥ —ऋ० २. १. ४

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा एक परमेश्वर को ही अग्नि, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि नामों से पुकारते हुए एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थन किया गया है जो किसी प्रकार भी दशम मण्डल से कम नहीं।

तृतीय मण्डल में भी इन्द्र नाम से परमेश्वर को स्मरण करते हुए जो—

त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतान्येको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः ।
तव द्यावापृथिवी पर्वतासोऽनु व्रताय निमितेव तस्थुः ॥ —ऋ० ३. ३०. ४

उताभये पुरुहूत श्रवोभिः, एकोदृलहमवदो वृत्रहा सन्।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत् संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते ॥ —ऋ० ३. ३०. ५ ॥

इत्यादि मन्त्रों में वर्णन आया है कि तू एक ही है जो सब विघ्नों, पापों तथा अज्ञानादि को नष्ट करनेवाला है। पृथिवी, आकाश, पर्वत, आदि सब तेरे नियमों के अनुसार कार्य कर रहे हैं। इन सबको हे परमेश्वर, तू ही वश में रखनेवाला है। यह सब दशम मण्डल के एकेश्वरवाद-प्रतिपादक मन्त्रों के समान ही है। चतुर्थ मण्डल के—

य एक इच्च्यावयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः ।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः ॥ —ऋ० ४. १७. ५

इत्यादि मन्त्रों में भी एकेश्वर-पूजा का भाव अत्यन्त स्पष्ट है कि एक ईश्वर ही सब मनुष्यों का राजा है। उस सत्यस्वरूप परमेश्वर के दान का सब विद्वान् कीर्तन करते हैं। पंचम मण्डल के—

एकं नु त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु ।
तं मे जगृभ्र आशसो नविष्ठं दोषा वस्तोर्हवमानास इन्द्रम् ॥ —ऋ० ५. ३२. ११

इत्यादि मन्त्रों में भी यही कहा है कि परमेश्वर एक है। वही सबका उत्तम स्वामी और सबका हितकारी है। षष्ठ मण्डल के—

य एक इत्तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः । पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥ —ऋ० ६. ४५. १६

इत्यादि में स्पष्ट आदेश है कि जो परमेश्वर सर्वज्ञ, सबका स्वामी और सर्वशक्तिमान् है, हे मनुष्य, तू उसी एक की सदा स्तुति कर।

ऐसे ही अन्य सब मण्डलों में इस प्रकार के सैकड़ों एकेश्वर-पूजा-प्रतिपादक मन्त्र हैं। अतः यह समझना कि दशम मण्डल में ही ऐसे कुछ-कुछ एकेश्वर-पूजाप्रतिपादक वा दार्शनिक भावों के मन्त्र हैं, अन्य मण्डलों में नहीं, सर्वथा अशुद्ध है।

दशम मण्डल में जैसे श्रद्धा-विषयक मन्त्र हैं, वैसे द्वितीय मण्डल के—

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥ —ऋ० २. २६. ३

तथा अन्य मण्डलों के मन्त्रों में भी श्रद्धा का प्रतिपादन करते हुए उसके उत्तम फल का वर्णन है।

अत: दशम मण्डल के नवीन मानने में पाश्चात्य लेखकों के पक्षपात के अतिरिक्त और कोई वास्तविक कारण नहीं। भाषा-भेद की भी एक कोरी कल्पनामात्र है जिसमें कोई सार नहीं जैसे यहां दिखाया गया है। इस विषय में एक बात और उल्लेखनीय है कि एक ओर तो डॉ० मैक्डॉनल आदि ने भाषाभेदादि के कल्पित आधार पर दशम मण्डल को पीछे की रचना बताने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर लिखा कि—

Nevertheless the supplements collected in it (Tenth Mandal) appear for the most part to be older than the additions which occur in the earlier books.

—*The History of Sanskrit Literature* by Macdonel, P. 44

अर्थात् तो भी इस दशम मण्डल के सूक्त अधिकतर उन मिलावटों से प्राचीन प्रतीत होते हैं जो अन्य मण्डलों में की गई हैं।

अन्य मण्डलों में मिलावट है वा नहीं यह दूसरा प्रश्न है जिस पर हम आगे प्रकाश डालेंगे, पर इससे उनकी अपनी भाषा-भेदादि के आधार पर दशम मण्डल के नवीन होने की कल्पना स्वयं कट जाती है इसमें सन्देह नहीं। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि दशम मण्डल के बहुत-से ऋषि अति प्राचीन हैं। उदाहरणार्थ—

वैन्य पृथु	१०. १४८।
अदिति दाक्षायणी	१०. ७२।
प्रजापति परमेष्ठी	१०. १२९। नासदीय सूक्त का ऋषि
विवस्वान्	१०. १३।
यम वैवस्वत	१०. १४।
यमी वैवस्वती	१०. १५४।
यम-यमी	१०. १०।
नाभा नेदिष्ठ	१०. ६१-६२।
शर्यात	१०.९२
बुध	१०. १०१।
मेरूरवा	१०. ९१।
शची पौलोमी	१०. १५९।
त्रिशिरा:	१०. ८९।
बृहस्पति आङ्गिरस	१०. ७१। ज्ञान सूक्त
च्यवन	१०.१९।
मान्धाता यौवनाश्व	१०. १३४।
जमदग्नि	१०. ११०।

जिन सूक्तों के ऋषि ही इतने प्राचीन (वैवस्वत मनु के पास के) हों उन्हें नवीन रचना बताना कितना दुस्साहस है! मन्यु शब्द ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में तीन बार, द्वितीय में दो बार, चतुर्थ में दो बार, पंचम और षष्ठ में दो बार, सप्तम में चार बार, नवम में एक बार और दशम मण्डल में चार बार आया है, अत: यह कहना कि यह शब्द नवीन है जो दशम मण्डल में ही प्रथम बार आया और अतएव उसकी नवीनता को सिद्ध करता है, सर्वथा अशुद्ध (भ्रान्त) है।

श्रद्धा शब्द भी ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में तीन बार, द्वितीय, षष्ठ, सप्तम, अष्टम में एक-एक बार, नवम में दो बार और दशम में ५ बार आया है; अतः उसके कारण दशम मण्डल की अर्वाचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न सर्वथा अशुद्ध है।

'विश्वे देवाः' यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में तीन सूक्तों का देवता है, तृतीय में दो का, चतुर्थ, पंचम, सप्तम और अष्टम में एक-एक का, षष्ठ और नवम में दो का और दशम मण्डल में तीन का, इस प्रकार इस आधार पर भी दशम मण्डल की अर्वाचीनता सिद्ध करने का प्रयास सर्वथा असङ्गत है, इसमें सन्देह नहीं।

उषस् यह शब्द प्रथम मण्डल में ३२ बार, द्वितीय में ९, तृतीय में १६, चतुर्थ में २७, पंचम में ९, षष्ठ में १४, सप्तम में २९, अष्टम में २, नवम में ८ और दशम में २३ बार आया है। इसके आधार पर भी ऋग्वेद के दशम मण्डल को नवीन सिद्ध करने का प्रयत्न नितान्त असङ्गत है। अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह में लिखा है—

अध्यायाश्च चतुःषष्टिः, मण्डलानि दशैव तु। अर्थात् ऋग्वेद में ६४ अध्याय और १० मण्डल हैं।

१० मण्डल होने के कारण ही ऋग्वेद का निर्देश यास्काचार्य कृत निरुक्त में 'दाशतयी' के नाम से किया गया है। दशम मण्डल की अर्वाचीनता के विषय में मैक्डॉनल महोदय की यह युक्ति कि इसके सूक्तों की संख्या प्रथम मण्डल के बराबर है इतनी उपहासास्पद है कि इसकी मीमांसा करना भी अनावश्यक है। अब हम बालखिल्य सूक्तों के विषय में विचार करना चाहते हैं।

क्या बालखिल्य सूक्त प्रक्षिप्त हैं ?

अष्टम मण्डल में ४९ से ५९ तक ११ सूक्त हैं जिनके प्रचारक बालखिल्य होने के कारण उन्हें बालखिल्य सूक्त के नाम से पुकारा जाता है। इसके विषय में अनेक पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायी विद्वानों का जिनमें 'वैदिक एज्' के लेखक भी सम्मिलित हैं यह विचार है कि ये बालखिल्य सूक्त पीछे से अष्टम मण्डल में किसी ने मिला दिये। इतना ही नहीं, वे तो दो परस्पर विरुद्ध-सी बातें इस अष्टम मण्डल के सम्बन्ध में लिख गये हैं। 'वैदिक एज्' के पृ० २२९ पर अष्टम मण्डल की अन्य मण्डलों से कुछ विशेषता लिखकर वे कहते हैं—

This peculiarity of the eighth Mandala does suggest—but by no means proves, that the eighth Mandala was subjoined at a later date to the kernel constituted by the family Mandalas. But there is positive reason to believe that there was a time when the eighth Mandala was actually considered to be the last in the Samhita, for why else should the Balakhilya hymns be thrust into the eighth Mandala and not added after the tenth.

—*Vedic Age,* P. 229

अर्थात् अष्टम मण्डल की इस विशेषता से ऐसा संकेत मिलता है—किन्तु सर्वथा सिद्ध नहीं होता—कि अष्टम मण्डल को पीछे से परिवारों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मण्डलों (द्वितीय से सप्तम तक) के साथ जोड़ दिया गया। किन्तु यह मानने का स्पष्ट कारण है कि एक समय ऐसा था जब कि अष्टम मण्डल को ऋग्वेद-संहिता में अन्तिम समझा जाता था। यदि ऐसा न होता तो बालखिल्य सूक्तों को अष्टम मण्डल में ही क्यों घुसेड़ा गया ? क्यों न दशम मण्डल के अन्त में उन्हें जोड़ा गया ? विचार करने पर यह सारी युक्ति-परम्परा ही असङ्गत प्रतीत होती है। प्रथम तो लेखक स्वयं मानते हैं कि इससे एक निर्देश-मात्र मिलता है, पर सर्वथा सिद्ध नहीं होता कि अष्टम मण्डल संहिता में पीछे जोड़ा गया, फिर ऐसी अनिश्चित-सी बात को क्यों एक तथ्य के रूप में लिखा जाये ? यह कहना कि निश्चित रूप से किसी समय अष्टम मण्डल पर ही ऋग्वेद-संहिता की समाप्ति समझी जाती थी, यह एक तो अष्टम मण्डल के प्रक्षिप्त होने की बात को काट देता है और बालखिल्य

सूक्तों के प्रक्षिप्त होने की बात को भी जो स्वयं साध्य है, सिद्ध मानकर चलता है जो सर्वथा असमीचीन है जैसे हम सप्रमाण दिखायेंगे। बालखिल्य सूक्तों के प्रक्षिप्त होने में यह युक्ति दी जाती है कि ऐतरेय ब्राह्मण २८. ८ में लिखा है 'वज्रेण बालखिल्याभिर्वाय: कूटेन' इसकी व्याख्या में सायणाचार्य ने लिखा है—

बालखिल्यनामका: केचन महर्षय: तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते॥

अर्थात् बालखिल्य नामक कोई महर्षि थे। उनके ८ सूक्त बालखिल्यं नामक ग्रन्थ में संकलित किये गये हैं। सायणाचार्य के इस लेख से ज्ञात होता है कि बालखिल्य नामक किसी महर्षि के विषय में उसने कहीं सुना होगा, पर कोई निश्चित ज्ञान उसे नहीं था और बालखिल्य नामक ग्रन्थ भी कहीं देखने में नहीं आया। सम्भव है कि ऋग्वेद में से ही बालखिल्य महर्षि द्वारा प्रचारित कुछ सूक्तों को, जिनमें—

योनो दाता वसूनामिन्द्रं तं हूमहे वयम्॥ —८. ५१. ५॥

यस्मै त्वं वसो दानाय शिक्षसि स रायस्पोषमश्नुते।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वण: सुतावन्तो हवामहे॥ —८. ५१. ६॥

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥ —८. ५१. ७

यो नो दाता स न: पिता महां उग्र ईशानकृत्। —८. ५२. ५

विश्वा द्वेषांसि जहि चाव चा कृधि विश्वे सन्वन्त्वा वसु॥ —८. ५३. ४

यदिन्द्र राधो अस्ति ते माघोनं मघवत्तम।
तेन नो बोधि सधमाद्यो वृधे मघो दानाय वृत्रहन्॥ —ऋ० ८. ५४. ५

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्त: सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित् तत्र यजमानस्य संवित्॥ —ऋ० ८. ५८. १

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक: सूर्यो विश्वमनु प्रभूत:।
एकैवोषा: सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ —ऋ० ८. ५८. २

इन्द्रावरुणा सौमनसमदृप्तं रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम्।
प्रजां पुष्टिं भूतिमस्मासु धत्तं दीर्घायुत्वाय प्रतिरतं न आयु:॥ —ऋ० ८. ५९. ७

इत्यादि सरलार्थक और अत्यन्त उपयोगी मन्त्र हैं। संभव है कि इन्हें पृथक् ग्रन्थरूप में व्याख्या-सहित संकलित कर लिया गया हो जैसे वेदप्रेमी संगठन सूक्त ऋ० १०. १९१, स्वराज्य सूक्त ऋ० १. ८०, शिवसंकल्प मन्त्र यजु:० ३४. १-६ इत्यादि को कर लेते हैं। इससे इनकी प्रक्षिप्तता सिद्ध नहीं हो सकती, किन्तु सरलता के कारण अधिक प्रसिद्धता वा लोकप्रियता ही सिद्ध होती है।

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि ऐतरेय ब्राह्मण के जिस वचन के आधार पर कुछ विद्वान् (जिनमें पाश्चात्यों के अतिरिक्त स्वा० हरिप्रसाद जी, पं० रघुनन्दन शर्मादि भी है) बालखिल्य सूक्तों को प्रक्षिप्त मानते हैं, वे स्वयं ऐतरेय ब्राह्मण के विद्वानों के विचारानुसार प्रक्षिप्त माने जाने वाले अध्याय में हैं, जैसे कि—Encyclopedia Britanica के Ancient Sanskrit Literature विषयक लेख में सिद्ध किया गया है। ऐसी अवस्था में एक स्वयं ही सन्दिग्ध और

प्रक्षिप्त वाक्य द्वारा कुछ सूक्तों की प्रक्षिप्तता सिद्ध नहीं की जा सकती। ये सूक्त ऋग्वेद-संहिता के अन्दर प्रारम्भ से हैं चाहे किसी-किसी शाखा में वे न पाये जाते हों। शाखाओं में तो ऐसा भेद विद्यमान ही है, क्योंकि उनका संकलन विशेष उद्देश्यों से किया गया। इनकी भाषा और भाव ऋग्वेद के अन्य सूक्तों वा भावों के ही समान हैं। इनमें कोई भेद नहीं प्रतीत होता। प्रो० मैक्समूलर ने जो ऋग्वेद का शुद्ध संस्करण यूरोप में निकाला था उसमें भी ये सूक्त विद्यमान हैं।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० विन्टर्नीज़ ने इन सूक्तों की प्राचीनता के विषय में 'भारतीय साहित्य के इतिहास' विषयक अपनी पुस्तक में लिखा था कि—

The word khila means, 'supplement' and this name in itself indicates that they are texts which were collected and added to the Samhita only after the latter had already been conducted. This does not exclude the possibility that some of these khilas are of no less antiquity than the hymns of the Rigveda Samhita, but for some reason unknown to us were not included in the collection.

— *A History of Indian Literature* by Dr. Winternitz, P. 59-60

इसका भावार्थ यह है कि खिल का अर्थ परिशिष्ट है और इस नाम से सूचित होता है कि ये वे मन्त्र हैं जिनका संग्रह किया गया और उन्हें संहिता में जोड़ दिया गया; पर इससे इस संभावना का निषेध नहीं होता कि इनमें से कुछ ऋग्वेद-संहिता के अन्य सूक्तों से कम प्राचीन नहीं हैं, किन्तु ऐसे कारण से जिसका हमें ज्ञान नहीं उन्हें संहिता में स्थान न मिला था।

डॉ० विन्टर्नीज़ के इस विचार से भी हम पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि हमें तो इन ४९ से ५९ तक के सूक्तों को भाषा और भाव की दृष्टि से अन्य ऋग्वेदीय सूक्तों से पृथक् करनेवाली कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती, तथापि उन्होंने इनकी प्राचीनता की जो संभावना प्रकट की है वह ध्यान देने योग्य है।

डॉ० विन्टर्नीज ने यह भी स्पष्टतया स्वीकार किया कि ये ११ सूक्त सब हस्तलिखित प्रतियों में पाये जाते हैं—

The eleven Bal-Khilya hymns.....in all manuscripts are found at the end of the book.

—VIII, P. 60

मि० ग्रिफिथ ने यह बड़ी अनुचित बात की कि इन्हें आठवें मण्डल के बीच में से निकालकर अन्त में रख दिया। ऐसा करने का उन्हें कोई अधिकार न था। केवल इसलिए कि इन सूक्तों के प्रारम्भ में 'अथ' और अन्त में 'इति' लिखा हुआ पाया जाता है, यह कहना ठीक न होगा कि ये पीछे से जोड़े गये। यह तो प्रतीत होता है कि अधिक प्रचार होने पर जब पृथक् भी ये संकलित कर लिये गये, तब अथ और इति इनके आदि-अन्त में लिखा जाने लगा। इससे इनकी अर्वाचीनता वा प्रक्षिप्तता सिद्ध नहीं होती।

वेदों की शुद्धता की रक्षा

वस्तुत: वेदों की शुद्ध रूप में रक्षा का इतना अधिक प्रबन्ध आर्यों ने प्रारम्भ से ही कर लिया था कि उनमें प्रक्षेप करना सम्भव ही न था। क्रम के अतिरिक्त जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ, घन इन आठ प्रकारों से वेदमन्त्रों के उच्चारण का विधान किया गया जो अब तक भी अनेक स्थानों पर प्रचलित है।

इतने विविध प्रकारों के होते हुए किसी का भी वेदमन्त्रों में प्रक्षेप करना और पकड़ा न जाना असम्भव था। यह पाठ-क्रम अत्यधिक प्राचीन काल से चला आ रहा है और ऐतरेयारण्यक, प्रातिशाख्यादि में भी उसका उल्लेख है। इन जटा, माला, शिखा के नियम व्याड़ि ऋषि प्रणीत विकृतवल्ली नामक ग्रन्थ में पाये जाते हैं।

इनके उद्देश्य के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक डॉ० भण्डारकर ने अपने "Indian Antiquary" के सन् १८७४ के अङ्क में प्रकाशित लेख में ठीक ही लिखा था कि—

The object of these different arrangements is simply the most accurate preservation of the sacred text.

अर्थात् इन विविध क्रमों का उद्देश्य पवित्र पुस्तक के पाठ को अतीव शुद्धता से सुरक्षित रखने का है।

दूसरा उपाय जो वेदों के शुद्ध पाठ को सुरक्षित रखने के लिए किया गया था वह यह था कि वेदों की छन्दः-संख्या, पद-संख्या, तथा मन्त्रानुक्रम से छन्द, ऋषि, देवता को बताने के लिए अनेक अनुक्रमणियां तैयार की गईं जो अब भी शौनकानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, कात्यायनीयानुक्रमणी, सर्वानुक्रमणी, ऋग्विधान, बृहद्देवता, मन्त्रार्षाध्याय, कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी, प्रातिशाख्य सूत्रादि के नामों से पाई जाती है।

प्रो० मैक्समूलर का मत

इन अनुक्रमणियों पर विचार करते हुए प्रो० मैक्समूलर ने Ancient Sanskrit Literature के पृ० ११७ पर लिखा है 'ऋग्वेद की अनुक्रमणी से हम उसके सूक्तों और पदों की पड़ताल करके निर्भीकता से कह सकते हैं कि अब भी ऋग्वेद के मन्त्रों, शब्दों और पदों की वही संख्या है जो कात्यायन के समय थी।'

एक और स्थान पर Origin of Religion पृ० १३१ में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा कि—

The texts of the Veda have been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word or even an uncertain accent in the whole of the Rigveda. —*Origin of Religion* by Prof. Maxmuller, P. 131

अर्थात् वेदों के पाठ हमारे पास इतनी शुद्धता से पहुंचाये गये हैं कि कठिनाई से कोई पाठभेद अथवा स्वरभेद तक सम्पूर्ण ऋग्वेद में मिल सके।

Rigveda Vol. I, P. XXX में प्रो० मैक्समूलर ने पुनः इस बात पर बल देते हुए लिखा—

As far as we are able to Judge at present, we can hardly speak of various readings in the Vedic hymns in the usual sense of that word. Various readings to be gathered from a collection of different manuscripts now accessible to us there are none.

अर्थात् वेदों के पाठभेद को भी साधारणतया प्रचलित अर्थ में कह नहीं सकते। वस्तुतः ऐसे भिन्न पाठ जो विविध हस्तलिखित प्रतियों से संकलित किये जा सकें, कोई भी नहीं।

प्रो० मैक्डॉनल की सम्मति

प्रो० मैक्डॉनल ने भी इस विषय में स्पष्ट लिखा है—

Extraordinary precautions soon began to be taken to guard the canonical text, thus fixed against the possibility of any change or loss. The result has been its preservation with a faithfulness unique in literary history.

—*A History of Sanskrit Literature* by Macdonell, P. 50

अर्थात् आर्यों ने अति प्राचीन काल से असाधारण सावधानता का वैदिक पाठ की शुद्धता रखने और उसे परिवर्तन अथवा नाश से बचाने के लिए उपयोग किया । इसका परिणाम यह हुआ है कि इसे इतनी शुद्धता से सुरक्षित रक्खा गया है जो साहित्यिक इतिहास में अनुपम है ।

उनके इस लेख से दशम मण्डल की अर्वाचीनता-विषयक मत का स्वयं खण्डन हो जाता है ।

केगी का मत

डॉ० केगी ने भी कम से कम गत ३००० वर्षों से (जो उनके अनुसार सम्भवत: वेद का निर्माणकाल है) वेदों के पाठ में कोई अन्तर नहीं हुआ, ऐसा निम्न शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

Since that time, nearly 3000 years ago, it (the text of the Veda) has suffered no changes whatsoever, with a care such that the history of other literatures has nothing similar to compare with it. —Kaegi's *Rigveda*, P. 22

क्या कृष्ण यजुर्वेद अधिक प्राचीन है ?

जहां तक यजुर्वेद का सम्बन्ध है सभी आर्य वाजसनेयी संहिता को ही (जिसे माध्यन्दिनी संहिता के नाम से भी कहा जाता है) मूल यजुर्वेद के नाम से पुकारते हैं । तैत्तिरीय संहिता को कृष्ण यजुर्वेद के नाम से पुकारा जाता है । इनके अन्तर पर विस्तार से विचार करने की यहां आवश्यकता नहीं, किन्तु मुख्य बात यह है कि शुद्ध मूल पाठ होने से वाजसनेयी वा माध्यन्दिनी संहिता को शुक्ल यजुर्वेद के नाम से ब्राह्मण-पाठ तथा अन्य मिश्रण होने से तैत्तिरीय संहिता को कृष्ण यजुर्वेद कहा जाता है जो शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन और अनेक अंशों में मिश्रण वा प्रक्षेपादि के कारण वेदविरुद्ध होने पर अप्रामाणिक भी है । द्विवेद गङ्ग ने अपने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में लिखा है—

शुक्लानि यजूंषि शुद्धानि, यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकाणि कृष्णानि ॥

अर्थात् यजुर्मन्त्रों को शुक्ल के नाम से, और ब्राह्मणों से मिश्रित मन्त्र जिसमें पाये जाते हैं उसको कृष्ण यजुर्वेद के नाम से कहा जाता है । इससे शुक्ल यजुर्वेद की ही प्रामाणिकता, प्राचीनता और अपौरुषेयता स्पष्ट है ।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय शाखाओं में भी माध्यन्दिनी की प्रधानता क्यों है, इस पर निम्न लेख से जो गवर्नमेंट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास के सूचीपत्र तृतीय भाग पृ० ३४२६ पर ग्रन्थ-संख्या २४५६ 'माध्यन्दिन शाखा विषय:' नामक है पाया जाता है, प्रकाश पड़ता है । वहां लिखा है—

अथ पञ्चदश शाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या । तथा चेदं होलीरभाष्यम्—
यजुर्वेदस्य मूलं हि, भेदो माध्यन्दिनीयक: । तस्मान्माध्यन्दिनशाखा एवं पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणी च । अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—
माध्यन्दिनी तु या शाखा, सर्वसाधारणी तु सा ॥

अर्थात् वाजसनेयी शाखा की १५ शाखाओं में माध्यन्दिनी ही मुख्य और सर्वसाधारण है । इसी बात को वसिष्ठ ने भी कहा है । यही मूल वेद है ।

इस स्थिति को न समझकर 'वैदिक एज्' के लेखकों ने कुछ बड़ी ही अशुद्ध और असङ्गत बातें लिख दी हैं यथा—

Re. Shukla and Krishna Yajurveda—

The fact that the Gopath Brahmana (1.29) in reciting the first words of the different Vedas quotes in the case of the Yajurveda the beginning of the Vajasaneya Samhita may suggest that the white Yajurveda represents the original tradition of which the Black Yajurveda with all its variations is a later variation. But the truth should rather be just the opposite, for it is hardly possible that Mantra and Brahmana kept separate as in white Yajurveda tradition, should have got mixed up at a later date. It is generally assumed therefore that the Black Yajurveda with Mantra and Brahmana mixed up throughout is older than the white Yajurveda in which the Brahmana was separated from the Samhita, perhaps in imitation of the Rigvedic model.

In the Taittiriya Brahmana too, which is merely a continuation of the Taittiriya Samhita (but not necessarily later than it for that reason) and which too owes its origin as a separate treatise to the influence of the Rigvedic tradition, Mantra and Brahmana have not been separated. It is peculiar feature of the Taittiriya texts that the Samhita and the Brahmana of this school supplement each other in such a way that each seems to presuppose the other. — *Vedic Age,* P. 231

अर्थात् यह तथ्य कि गोपथ ब्राह्मण में भिन्न-भिन्न वेदों के प्रारम्भिक शब्दों का उल्लेख करते हुए यजुर्वेद के विषय में वाजसनेयी संहिता के प्रारम्भ के शब्दों को उद्धृत किया गया है, निर्देश करता है कि शुक्ल यजुर्वेद ही मूल वेद है और कृष्ण यजुर्वेद अपनी सब शाखाओं के साथ उसकी पीछे से बनी एक शाखा है। किन्तु सत्य इससे ठीक विपरीत है, क्योंकि यह कठिनाई से सम्भव है कि शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार पृथक्-पृथक् मन्त्र और ब्राह्मण पीछे जाकर एक में मिल गये हों। इसलिए यह प्राय: माना जाता है कि कृष्ण यजुर्वेद जिसमें मन्त्र और ब्राह्मण सर्वत्र मिले हुए हैं, शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा जिसमें ब्राह्मण-भाग को मन्त्र-संहिता से सम्भवत: ऋग्वेद के प्रकार के अनुकरण में पृथक् कर दिया गया, पुराना है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी जो तैत्तिरीय संहिता की परम्परा में है (पर जो इस कारण आवश्यक तौर पर उससे पीछे का नहीं कहा जा सकता) मन्त्र और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् नहीं किये गये। यह तैत्तिरीय पाठों की विशेषता है कि इस सम्प्रदाय के संहिता और ब्राह्मण एक-दूसरे के इस प्रकार सहायक-से हैं कि प्रत्येक दूसरे के अस्तित्व की पहले से कल्पना करता प्रतीत होता है।

समालोचना—हमारे विचार में यहां जो कल्पना की गई है वह सर्वथा असमीचीन है। गोपथ ब्राह्मण के आधार पर जो बात लिखी गई है वह तो ठीक ही है। यदि कृष्ण यजुर्वेद अथवा तैत्तिरीय संहिता ही मूल वेद माना जाता तो क्यों उसके प्रारम्भिक शब्द न उद्धृत करके शुक्ल यजुर्वेद के उद्धृत किये जाते ? यह कहना कि ऐसा मानना संभव नहीं कि जो मन्त्र और ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद में पृथक्-पृथक् थे उन्हें पीछे से मिला दिया गया, सर्वथा निर्हेतुक है।

वस्तुत: शुक्ल यजुर्वेद में तो ब्राह्मण के मिलाने वा पृथक् होने का प्रश्न ही नहीं। उसमें मूल वेदमन्त्र ही थे। उनकी व्याख्या जो ब्राह्मण-रूप में हैं पीछे की गई जैसा महाभाष्यकार पतंजलि ने ब्राह्मण शब्द की व्याख्या करते हुए ५. १. १. में कहा है—

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभि: ब्राह्मणैर्महर्षिभि: प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि।

अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण महर्षियों ने जो ब्रह्म वा वेद के व्याख्यान किये उन्हें ब्राह्मण कहते हैं। उसका मिश्रण तैत्तिरीय संहिता में होने से उसे पीछे की रचना मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। जिसमें ब्राह्मण-रूप व्याख्या-भाग मिला हुआ है उसे

मूल की अपेक्षा प्राचीन मानना बुद्धिसंगत और तर्कसंगत नहीं है । बृहत्पाराशरी स्मृति में भी ब्राह्मण का निम्नलिखित लक्षण पाया जाता है जो युक्तियुक्त तथा यथार्थ होने से यहां उल्लेखनीय है—

अस्य मन्त्रस्य चार्थोऽयम् अयं मन्त्रोऽत्र वर्तते ।
तत्तस्य ब्राह्मणं ज्ञेयं, मन्त्रस्येति श्रुतिक्रमः ॥ —बृहत्पाराशर २. ४४

अर्थात् इस मन्त्र का यह अर्थ है, यह मन्त्र इस कार्य में विनियुक्त है, इसे बतानेवाले ग्रन्थ को उस मन्त्र वा मन्त्रसंहिता (वेद) का ब्राह्मण समझना चाहिए । इसके अनुसार भी ब्राह्मण-भाग-मिश्रित भाग की मूल वेद से अर्वाचीनता स्पष्ट है । मूल वेद के विषय में तो वहां लिखा है—

क्षीयन्ते नैव वेदाश्च नैवापि प्रभवन्ति ते ।
न कश्चिद् वेदकर्तास्ति, वेदस्मर्ता चतुर्मुखः ॥ —बृहत्पारा० स्मृ० १. २०

अर्थात् वेद न नष्ट होते हैं और न उत्पन्न होते हैं । वेद का कर्ता कोई पुरुष नहीं ।

सायणाचार्य यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते थे तथापि उन्होंने एक बड़ी अच्छी बात इस सम्बन्ध में काण्व संहिता और तैत्तिरीय संहिता की भूमिका में लिखी है जो यहां उल्लेखनीय है । वे लिखते हैं—

तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिता ग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति । —काण्व संहिता भाष्यम्

अर्थात् शतपथब्राह्मण मन्त्रों की व्याख्या-रूप है, इसलिए जिन मन्त्रों की व्याख्या करनी है उनका प्रतिपादक संहिता-ग्रन्थ पूर्व-भावी होने से प्रथम होता है ।

तैत्तिरीय संहिता के विषय में काण्व संहिता के भाष्य में सायणाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि—

बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद् यजुः कृष्णमितीर्यते ॥ —काण्वसंहिता भाष्यम्

अर्थात् बुद्धि की मलिनता के कारण इसे कृष्ण यजुर्वेद कहा जाता है, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं पाई जाती ।

महीधराचार्य ने भी शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य में इस प्रकार की प्रसिद्ध पौराणिक कथा का उल्लेख करते हुए कहा—

तत्र व्यासशिष्यो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यादिभ्यः स्वशिष्येभ्यो यजुर्वेदमध्यापयत् । तत्र दैवात् केनापि हेतुना क्रुद्धो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यं प्रत्युवाच मदधीतं त्यजेति । स योगसामर्थ्यान्मूर्तां विद्यां विधायोद्ववाम । वान्तानि यजूंषि गृहणीतेति गुरुणोक्ता अन्ये वैशम्पायनशिष्यास्तित्तरयो भूत्वा यजूंष्यभक्षयन् । तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यात् कृष्णानि जातानि । ततो दुःखितो याज्ञवल्क्यः सूर्यमाराध्य अन्यानि शुक्लानि यजूंषि प्राप्तवान् । तानि च पञ्चदशशिष्येभ्यः पाठितवान् । तथा च श्रुतिः—आदित्यानीमानी शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते । बृह० ५. ५. ३३ । अस्यार्थः आदित्यादधीतानि आदित्यानि शुक्लानि शुद्धानि ।

—शुक्ल यजुर्वेद संहिता, उव्वट-महीधरभाष्यसंवलिता

यहां जो कथा दी गई है वह अनेक असम्भवादि दोषों से ग्रस्त है कि किसी कारण से क्रुद्ध वैशम्पायन ने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य को कहा कि मुझसे तूने जो कुछ पढ़ा है उसे छोड़ दे । उसने विद्या को अपने योगबल से मूर्तरूप देकर

वमन कर दिया। वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने उसे तीतर बनकर चुग लिया। बुद्धि की मलिनता के कारण वे यजुर्वेद के मन्त्र कृष्ण यजुर्वेद हो गये। तब याज्ञवल्क्य ने आदित्य की आराधना करके उसकी कृपा से शुद्ध रूप में यजुर्वेद को प्राप्त किया।

आदित्य का अर्थ यदि—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

—यजुः० ३२. १

यजुर्वेद के इस मन्त्र के अनुसार परमेश्वर लिया जाये तो भाव यह प्रतीत होता है कि परमेश्वर की कृपा और उसकी उपासना से याज्ञवल्क्य ने शुद्ध रूप में यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। कुछ भी हो, कृष्ण यजुर्वेद के साथ बुद्धिमालिन्य का योग यहां भी स्पष्ट माना गया है। 'वैदिक एज्' के लेखकों का उसे शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन मानना नितान्त युक्तिविरुद्ध और असङ्गत है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने लिखा है—

यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस्तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः॥

यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहलाते हैं (पौराणिक मन्तव्यानुसार), तथापि ब्राह्मण क्योंकि मन्त्रों के व्याख्यान-रूप होते हैं इसलिए पहले मन्त्र ही कहे गये हैं। हमें अत्यन्त आश्चर्य है कि 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखकों ने इस छोटी-सी बात के समझने में भी कैसी भूल की और इस भूल के आधार पर तैत्तिरीय संहिता के शुक्ल यजुर्वेद से पूर्व होने की कैसी असङ्गत कल्पना कर ली जब कि तैत्तिरीय संहिता में यजुर्वेद के मन्त्रों और शब्दों की व्याख्या स्पष्टतया पाई जाती है। उदाहरणार्थ, यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए तैत्तिरीय संहिता में कहा है—

यजमानस्य पशून् पाहि—इत्याह पशूनां गोपीथाय।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।

यजुः० ११.४ की व्याख्या में तैत्तिरीय संहिता में लिखा गया—

व्रतेन मेध्योऽग्निर्व्रतपतिः, ब्राह्मणो व्रतभृद् व्रतमुपेष्य ब्रूयाद् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामीत्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एतं प्रति प्रोच्य व्रतमालभत इति।

अनृतात् सत्यमुपैमीति मानुषाद् दैव्यमुपैमि दैवीं वाचं यच्छामीति॥

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति। इस यजुः० १.५ की व्याख्या में तित्तिरि ने कहा—

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्तीत्याह प्रजापतिर्वैकः प्रजापतिनैनं युनक्तीति॥

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धुर्व। यजुः० १.७ की व्याख्या में तैत्तिरीय संहिता में कहा गया कि—

धूरसीत्याह एष वै धुर्योऽग्निः तं यदनुपस्पृश्यातीयात् अध्वर्युं यजमानं च दहेत्। उस्पृश्यात्येति अध्वर्योश्च यजमानस्य चाप्रदाहाय। धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्वं तं योऽस्मान् धूर्वति। धूर्व तं यं वयं धूर्वाम इत्याह। द्वावेव पुरुषौ यं चैव धूर्वति तावुभौ शुचार्यतीति शोकेन योजयतीत्यर्थः॥

इसी प्रकार हजारों उद्धरण तैत्तिरीय संहिता से दिये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि उसमें यजुर्वेद के मन्त्रों का व्याख्यान और विनियोगादि है। उसे मूल वेद और मूल शुक्ल यजुर्वेद से प्राचीन मानना 'वैदिक एज्' के लेखकों का भारी भ्रम है।

क्या अथर्ववेद पीछे बनाया गया ?

अथर्ववेद के विषय में 'वैदिक एज्' के लेखकों ने पाश्चात्य लेखकों में से ब्लूमफील्ड का अविवेकपूर्वक अनुसरण किया है। ब्लूमफील्ड की अथर्ववेद-विषयक पुस्तक *The Atharva Veda* by M. Bloomfield, Trubner 1899 के विषय में उन्होंने लिखा है कि—

Bloomfield's excellent monograph on the Atharva Veda like which unfortunately there is as yet nothing on any of the other Samhitas—offers practically everything that a student of the Vedic literature might wish to know about the Atharva Veda. The section on the Atharva Veda in this chapter is mainly based on Bloomfield's monograph.

—*Vedic Age*, P. 239

अर्थात् ब्लूमफील्ड की अथर्ववेद-विषयक आदर्श पुस्तक जिसके समान अन्य संहिताओं पर दुर्भाग्यवश और पुस्तक नहीं लिखी गई, वह सब-कुछ बता देती है जिसकी वैदिक साहित्य के विद्यार्थी को जानने की आवश्यकता है। इस अध्याय में अर्थववेद-विषयक विभाग का आधार मुख्यतया ब्लूमफील्ड की इसी अथर्ववेद-विषयक पुस्तक पर है। ब्लूमफील्ड का भी कथन यह है कि अथर्ववेद पहले वेद नहीं माना जाता था। यह अर्वाचीन है जिसे बहुत समय के पश्चात् वेदों में गिना जाने लगा। किन्तु यह बात सर्वथा अशुद्ध है। यह भ्रम बहुत संभवतः ब्लूमफील्ड को 'त्रयी विद्या' शब्द के प्रयोग को देखकर हुआ होगा, किन्तु उसका ठीक-ठीक अर्थ तो मीमांसाशास्त्र के अध्ययन से ही ज्ञात हो सकता है। त्रयी विद्या का प्रयोग चारों वेदों में प्रयुक्त तीन प्रकार की गद्य, पद्य और गीतिमय शैली व भाषा प्रकार के आधार पर है जिन्हें ऋक्०, यजुः० और साम० के नाम से कहते हैं और जिनके निम्नलिखित लक्षण मीमांसाशास्त्रकार जैमिनि मुनि ने दिये हैं—

तत्र ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ मी० २. १. ३२ ॥ **गीतिषु सामाख्या** ॥ २. १. ३३ ॥
शेषे यजुः शब्दः ॥ २. १. ३४ ॥

अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवश पादों की व्यवस्था है अथवा दूसरे स्पष्ट शब्दों में जो छन्दोबद्ध रचना है उसे ऋक् कहते हैं; जो मन्त्र गानात्मक हैं उन्हें साम, और शेष को यजुः के नाम से कहा जाता है। जिसमें जिस प्रकार के मन्त्रों की प्रधानता है उस वेद को उसी नाम से कहा जाता है। सर्वानुक्रमणी की भूमिका में षड् गुरुशिष्य ने इसके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि—

विनियोक्तव्यरूपश्च, त्रिविधः स प्रदर्श्यते। ऋग्यजुः सामरूपेण, मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥ १ ॥

अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते। चतुर्ष्वपि हि वेदेषु, त्रिधैव विनियुज्यते ॥ २ ॥

अर्थात् यद्यपि वेद चार हैं तथापि ऋक्, यजुः, साम अर्थात् पद्य, गान और गद्य-रूप से वेदमन्त्रों का तीन प्रकार भेद किया जाता है। अतः त्रयी कहने से यह परिणाम निकालना अशुद्ध है कि उस समय तीन ही वेद माने जाते थे। ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीन मुख्य विषयों के कारण भी चारों वेद त्रयी विद्या कहलाते हैं।

अथर्ववेद की प्रामाणिकता के स्पष्ट प्रमाण

ब्लूमफील्ड तथा अन्य बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि मूल वेद तो केवल एक ऋग्वेद ही है। शेष वेद उसी के मन्त्रों का संकलन करके और अन्य मन्त्र जोड़कर बना दिये गये हैं। किन्तु यह विचार भी सर्वथा अशुद्ध है। इस सबसे प्रथम और पुराने माने जाने वाले ऋग्वेद में ही अनेक मन्त्रों से चारों वेदों की (अथर्ववेद की भी) सत्ता के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्० १०. ९० के सुप्रसिद्ध मन्त्र में उस पूजनीय परमेश्वर से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद की उत्पत्ति का स्पष्ट विधान किया गया है—

(१) **तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥** —मं० ७

अथर्ववेद को छन्दोवेद के नाम से भी पुकारा जाता है। छन्दांसि ये यहां अथर्ववेद का ही ग्रहण है। इसका स्पष्ट प्रमाण ऋग्० ९. ११३. ६ से मिलता है "यत्र ब्रह्मा पवमानश्छन्दस्यां वाचं वदन्" द्वारा ब्रह्मा के साथ छन्दस्या वाक् का प्रयोग किया गया है। ब्रह्मा के वरण के सम्बन्ध में गोपथ ब्राह्मण २. २४ में यह विधान मिलता है—

(२) ऋग्वेदविदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्भिरध्वर्युं, सामविदमुद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् तथा हास्य यज्ञश्चतुष्पात् प्रतिष्ठति ॥ —गोपथ ब्राह्मण, २. २४

अर्थात् ऋग्वेद जाननेवाले को होता, यजुर्वेद जाननेवाले को अध्वर्यु, सामवेद जाननेवाले को उद्गाता और अथर्ववेद जाननेवाले को ब्रह्मा चुनना चाहिए। इस प्रकार यह यज्ञ प्रतिष्ठित होता है।

गोपथ ३. २ में भी ऐसा ही विधान है—

प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। स ऋचैव होतारमकृणोत्, यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् ॥

इसी प्रकार का विधान अन्य ग्रन्थों में भी है। ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता है। अथर्ववेद का वह विशेषज्ञ होता है। इस प्रकार उपर्युक्त ऋग्वेद के दोनों मन्त्रों में अथर्ववेद और उसे जाननेवाले ब्रह्मा का निर्देश स्पष्ट है।

दशम मण्डल प्रक्षिप्त नहीं—इस बात को हम सप्रमाण पहले इसी अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं, अतः उसके वचन की प्रामाणिकता में सन्देह का कोई कारण नहीं। 'यत्र ब्रह्मा पवमानश्छन्दस्यां वाचं वदन्।' यह वचन नवम मण्डल का है।

३. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥ —ऋग्० १०. ७१. ११

इस मन्त्र में भी 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्' इस पंक्ति द्वारा अथर्ववेद-ज्ञाता ब्रह्मा का स्पष्ट निर्देश है। यास्काचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ निरुक्त में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

ऋचाम् एकः पोषम् आस्ते पुपुष्वान् होता। ऋक् अर्चनी। गायत्रम् एको गायति शक्वरीषु उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः। तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीत्वमिति विज्ञायते। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृद्धः श्रुततः। ब्रह्म परिवृद्धं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः, अध्वर्युः। अध्वर्युः अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा। अध्वरं इति यज्ञनाम, ध्वरतिर्हिंसा कर्मा। तत्प्रतिषेधः ॥ — नि० २. ७

इस पर भी यदि किसी का आग्रह हो कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के अतिरिक्त अन्य स्थलों से प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिएं तो ऋग्वेद के ४. ५८. ३ के निम्न मन्त्र को निरुक्त की व्याख्या-सहित प्रस्तुत किया जा सकता है—

(४) चत्वारिशृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ —ऋग्० ४. ५८. ३

यह मन्त्र अनेकार्थक है किन्तु यास्काचार्य ने निरुक्त में जो इसकी व्याख्या की है उसमें चारों वेदों का (अथर्ववेद का भी) ग्रहण है, यथा—

चत्वारि शृंगेति वेदा वा एत उक्ताः ॥ —निरुक्त १३. ०

अर्थात् इस मन्त्र में चत्वारि शृङ्गाः से चार वेदों का ग्रहण है जिनमें अथर्ववेद भी सम्मिलित है।

ऋग्० ८. ६०. ९ में एक और मन्त्र द्वारा चारों वेदों की वाणी का स्पष्ट निर्देश है—

(५) पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥

यहां प्रायः सभी भाष्यकारों का ऐकमत्य है कि एकया, द्वितीयया, तिसृभिः तथा चतसृभिः से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की वाणियों से रक्षा की प्रार्थना की गई है।

यह मन्त्र यजुर्वेद २०. ४३ और सामवेद मं० ३६ और १५५४ में भी आया है। अथर्वा शब्द का अर्थ थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः है अर्थात् स्थिरबुद्धि पुरुष जो अथर्ववेद में विशेष रूप से निष्णात हो। ऐसे अथर्वा अथवा अङ्गिरा का निर्देश ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में है। उदाहरणार्थ—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ॥ —ऋग्० १. ८३. ५

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ —ऋग्० ६. १६. १. ३
यजुः० ११. ३२; १५. २२ साम मं० ९

अग्निर्जातो अथर्वणः ॥ —ऋग्० १०. २१. ५

सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिस्सखा सन्।
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ —ऋग्० १. १००. ४

इस प्रकार अथर्ववेद के ऋग्वेद के समान प्राचीन और प्रामाणिक होने में कोई सन्देह का कारण नहीं। यजुर्वेद और सामवेद के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि उनका भी इन मन्त्रों में निर्देश है। वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी अथर्ववेद का निर्देश वेदरूप से अति स्पष्ट है। काण्व संहिता ४०. ७ में कहा है—

ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति ॥

यहां अथर्ववेद के मन्त्रों का जप से विशेष सम्बन्ध माना गया है। मुण्डकोपनिषत् में अन्य वेदों के साथ ही अथर्व वेद का नाम आया है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ॥ —मु० उ० १. १. ५

बृहदारण्यकोपनिषत् में भी अन्य वेदों के साथ अथर्ववेद का नाम लेकर उसे भगवान् का निःश्वास-रूप अथवा ईश्वरीय ज्ञान कहा है, यथा—

एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

—बृ० उ० ४. ५. ११

तैत्तिरीय ब्राह्मण काण्ड ३ प्रपाठक १२ अनुवाक ८ में लिखा है—

ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसश्च ये ॥

छान्दोग्योपनिषद् में भी नारद ने अन्य वेदों के साथ अथर्व का नाम लिया है—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् ॥ —छा० ७. १. २

ऐतरेय ब्राह्मण ५. ८ में लिखा है—

अथर्वक्षेत्रवान् ब्रह्मा, वेदेष्वन्येषु भागवान्।
तस्माद् ब्रह्माणं धर्मिष्ठमिति ह्यारण्यके श्रुतम् ॥

यहां अथर्ववेद के विशेष ज्ञाता को सबसे अधिक धर्मात्मा ब्रह्मा कहा है।

ऐसे ही अन्य सैकड़ों प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं जिन्हें ग्रन्थविस्तार-भय से उद्धृत करना अनावश्यक है। इन प्रमाणों से ब्लूमफील्ड और तत्सदृश विद्वानों के अथर्ववेद की अर्वाचीनता-विषयक विचार की अयथार्थता स्पष्टतया सिद्ध होती है।

परस्पर-विरोध

अथर्ववेद के विषय में ब्लूमफील्ड की पुस्तक पर निर्भर रहकर 'वैदिक एज्' के लेखकों ने अनेक परस्पर-विरुद्ध बातें लिख दी हैं। एक ओर तो वे इसे अन्य वेदों की अपेक्षा नवीन और पीछे से घड़ा हुआ बताते हैं और दूसरी ओर इसे अनेक अंशों में सबसे पुराना भी बताते हैं। इस विषय में उनके शब्द ये हैं जिनमें ब्लूमफील्ड को ही फिर आप्त पुरुष के रूप में उद्धृत किया गया है—

In its present form the Atharva Veda is certainly the latest of the four samhitas, but in contents, it is by no means so, for there can be no doubt that Bloomfield was perfectly right in characterising the Atharva Veda as follows—On the whole, Atharva Veda is the bearer of the old tradition not only in the line of the popular charms, but also to some extent, albeit slight, its hieratic (sacred pertaining to priests) materials are likely to be the products of independent tradition that has eluded the collectors of the other Vedas, the Rigveda not excepted. —*Vedic Age,* P. 232

अर्थात् वर्तमान रूप में अथर्ववेद निश्चय से अन्य वेदों की अपेक्षा सबसे नवीन है, किन्तु अपने प्रतिपाद्य विषयों में यह ऐसा नवीन नहीं, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद का जो निम्न प्रकार चित्रण किया वह बिल्कुल ठीक था कि—सम्पूर्णतया अथर्ववेद प्राचीन परम्परा का सूचक है। केवल लोकप्रिय जादुओं के ही क्षेत्र में नहीं, बल्कि कुछ अंश तक इसकी पवित्र वा पुरोहितों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री भी एक स्वतन्त्र परम्परा की उपज है जो अन्य वेदों के संग्रहकर्ताओं की (ऋग्वेद भी इसमें सम्मिलित है) दृष्टि से बच गई थी।

इसका तात्पर्य हुआ कि इसके अनेक अंश अन्य वेदों से भी प्राचीन हैं। इस प्रकार यह परस्पर-विरोध नहीं तो क्या है ? यह बिल्कुल वही बात हुई जो मैक्डॉनल ने ऋग्वेद के दशम मण्डल के विषय में लिखी है जिसके परस्पर-विरोध को हम इसी अध्याय में दिखा चुके हैं।

अथर्ववेद में प्रक्षेपों की निराधार कल्पना

एक ओर तो ब्लूमफील्ड और उसके परम भक्त और अनुयायी 'वैदिक एज्' के लेखक अथर्ववेद को ही अर्वाचीन मानते हैं, पर साथ ही वे उसके १५वें, १७वें, १८वें, १९वें और २०वें काण्ड को पीछे की मिलावट सिद्ध करने का विचित्र प्रयत्न करते हैं। उनकी इस सम्बन्ध में बड़ी विचित्र युक्तियां हैं। उनकी मुख्य युक्ति तो पैप्पलाद शाखा में शौनक शाखा के अथर्ववेद के कुछ अंशों का न होना है। पर जैसे हम अभी उनके लेख को उद्धृत करके दिखायेंगे, यह युक्ति उनके अपने ही लेखों से खण्डित हो जाती है, क्योंकि बहुत-से ऐसे भागों और काण्डों को भी उन्होंने प्रक्षिप्त मान लिया है जो पैप्पलाद शाखा में विद्यमान हैं—ऐसा उन्होंने भी स्वीकार किया है। वस्तुत: शाखाओं में सम्पूर्ण वेदों को नहीं लिया गया। कई-कई भागों का अपने विशेष उद्देश्य अथवा दृष्टिकोण को लेकर उनमें संग्रह और व्याख्यान किया गया है तथा कई स्थानों पर अर्थ की दृष्टि से पाठभेद भी किया गया है। उनमें किसी भाग का न होना मूल वेद में से उस भाग को प्रक्षिप्त मानने के लिए

कोई कारण नहीं बन सकता। तथापि देखिये ब्लूमफील्ड का अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए 'वैदिक एज्' के लेखकों ने अथर्ववेद के साथ क्या खिलवाड़ किया है। पृ० २३३ पर वे लिखते हैं—

Of the 20 Kandas of the Atharva Veda, the last one is manifestly a latter addition manufactured almost wholly out efo the borrowings from the Rigveda to serve as a manual for the priest called Brahmanacchansin who had a definite though minor role to play at the Soma sacrifice. Moreover, the Kuntap Suktas of this Kanda are without any *Pada Patha* and nothing parallel to them can be found in the Paippalada recention—showing that they had been given a place in this late Kanda of the Samhita at a very late date.

In fact, the 19th Kanda ends with significant prayer which strongly suggests that the Samhita at one time was considered to end with it. —*Vedic Age,* P. 233

अर्थात् अथववेद के २० कांडों में से अन्तिम कांड (२०वां) स्पष्टतया पीछे की मिलावट है जो लगभग सम्पूर्णतया ऋग्वेद में से ले लिया गया है—ब्राह्मणाच्छंसी नामक ऋत्विक् की सोमयज्ञ में कार्य-पूर्ति के लिए आदर्श ग्रन्थ के रूप में। कुन्ताप सूक्तों में जो इसी कांड में हैं कोई पदपाठ नहीं और पैप्पलाद शाखा में उसके समान कोई चीज नहीं है, जिससे यह सूचित होता है कि उन्हें इस अन्तिम कांड में बहुत पीछे मिलाया गया। वस्तुतः १९वें कांड की समाप्ति एक ऐसी प्रार्थना के साथ हुई है जिससे इस बात का प्रबल निर्देश मिलता है कि एक समय था जब अथर्ववेद-संहिता की समाप्ति इसके साथ होती थी।

समालोचना—२०वें कांड में ऋग्वेद से लिये गये यदि बहुत-से मन्त्र विद्यमान हैं तो इससे उसकी अर्वाचीनता कैसे सिद्ध होती है ? तब तो आपके इस मन्तव्य के अनुसार कि ऋग्वेद सबसे पुराना और एकमात्र वेद है और शेष वेदों में तो उसी से अधिकतर मन्त्र लिये गये हैं, उन मन्त्रों की प्राचीनता ही सिद्ध होनी चाहिए। ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विक् को यज्ञ में स्थान देने के लिए ही ये मन्त्र ऋग्वेद में से लिये गये—यह आपकी कल्पना मात्र है। वस्तुतः इस सूक्त में इन्द्र सूक्त, स्वराज्य सूक्त तथा अन्य बहुत-से अत्युत्तम और सरलार्थक भावपूर्ण सूक्त तथा मन्त्र हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार व बल देने के लिए दुबारा पढ़ा गया है। यह पुनरुक्ति नहीं किन्तु अभ्यास अथवा सार्थक पुनरावृत्ति है जिसे सभी उत्तम लेखक वा वक्ता प्रयोग में लाते हैं। केवल ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विक् को काम देने के लिए इन मन्त्रों का संकलन किया गया—यह असङ्गत कोरी कल्पना है। जो एक वेद के मन्त्र दूसरे वेदों में आये हैं उनके विषय में वैदिक धर्मोद्धारक-शिरोमणि, कलियुग में वेदों के अनुपम ज्ञाता महर्षि दयानन्द का निम्न लेख भी सदा ध्यान में रखना चाहिए, तब व्यर्थ पुनरुक्ति का भ्रम न उत्पन्न होगा। महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में लिखा है कि 'जो मन्त्र चारों वेदों में आते हैं ('शन्नो देवीरभिष्टये' इत्यादि) वे ऋग्वेद में पदार्थों के गुणों के प्रकाश के लिए और यजुर्वेद में यज्ञ के लिए, साम में ज्ञान और क्रिया अर्थात् कर्मयोग और ज्ञानयोग के लिए और अथर्व में फलसिद्धि अर्थात् नीतिविद्यादितत्त्व-विचारों के लिए है। महर्षि दयानन्द का मूल संस्कृत लेख इन शब्दों में है—

अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति तद्यथा ऋग्भिः स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति। ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति। तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रियया ऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति। तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः षोऽन्तकर्मणि एवं अथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः। —ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—प्रश्नोत्तर विषयः

महर्षि के इस निर्देश के द्वारा कई वेदों में आये मन्त्रों के अभिप्राय को हम समझ सकते हैं, उदाहरणार्थ—

शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्त्रवन्तु नः ॥ —ऋग्० १०. ९. १४; यजु: ३६. १२

यह मन्त्र जब ऋग्वेद में आता है तो जल के गुणों के प्रतिपादन में इसका मुख्य तात्पर्य है, यजुर्वेद में आचमनादि क्रिया के लिए इसका उपयोग है, सामवेद में उपासना का विषय प्रधान होने के कारण इसका परमात्मपरक अर्थ मुख्यतया ग्रहण करना उचित है और अथर्ववेद में शिल्पविद्या में जल के उपयोग अथवा स्त्रीधर्मादि-विषयक बोध में इसकी संगति लग सकती है। इसे पुनरुक्ति समझना भूल है। कुन्ताप सूक्तों का पैप्पलाद शाखा में न होना वा पद-पाठ न होना मात्र उन्हें प्रक्षिप्त मानने में कोई कारण नहीं हो सकता। सायणाचार्य ने भी लिखा है—

मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन। —ऋग्वेद-भाष्य की सायण-भूमिका

आश्वलायन श्रौत सूत्र के—

तस्मादूर्ध्वं कुन्तापम्-तस्मादितश्चतुर्दशविग्राहं निनर्दं शंसेत, चतुर्दश्यामेकेन द्वाभ्यां च विग्रहः।

इत्यादि सूत्रों में कुन्ताप सूक्तों के विषय में वर्णन है। ऐसे ही ऐतरेय ब्राह्मण पंजिका ६, अध्याय ५, खंड ७ में ऐतश प्रलाप का जो कुन्ताप सूक्तान्तर्गत है, वर्णन है, अत: इनको प्रक्षिप्त मान लेना ठीक नहीं। १९वें कांड की समाप्ति पर जिस उपसंहारसूचक मन्त्र का 'वैदिक एज्' के लेखकों ने ब्लूमफील्ड के अनुसार निर्देश किया है वह निम्न है—

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ —अ० १९. ७१. १

इसका भाव यह है कि वेद को जिस कोष (बस्ता आदि) में से हमने निकाला था, अब उसी में उसे फिर सुरक्षा के लिए रख देते हैं। परमात्मा की प्रदत्त शक्ति से जो यज्ञादि शुभ कार्य हम करते हैं सत्यनिष्ठ ज्ञानी लोग तप द्वारा उसकी रक्षा करें, इत्यादि—

इसमें अथर्ववेद-संहिता की समाप्ति की सूचना का वाचक शब्द कोई नहीं। अध्याय अथवा काण्ड की समाप्ति पर भी ऐसे मन्त्रों का प्रयोग हो ही सकता है। १९वें काण्ड की समाप्ति यहां होती है अत: उसकी संगति भली प्रकार लग जाती है। किन्तु हमें हंसी तब आती है और आश्चर्य भी होता है जब इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा अथर्ववेद की समाप्ति की सूचना का निर्देश करने के पश्चात् (जो आवश्यक नहीं जैसा कि हम अभी दिखा चुके हैं) हम 'वैदिक एज्' के लेखकों को पुनः ब्लूमफील्ड का अनुकरण करके यह लिखते हुए पाते हैं कि-

But there are reasons to believe that the 19th Kanda itself is a late compilation, for its hymns though found in the Paippalada recention, are scattered throughout that text. —*Vedic Age*, P. 234

अर्थात् यह मानने के कारण हैं कि १९वां काण्ड भी पीछे की मिलावट है, क्योंकि इसके सूक्त यद्यपि पैप्पलाद शाखा में पाये जाते हैं किन्तु वे उसमें इधर-उधर फैले हुए वा अस्त-व्यस्त से हैं।

इससे लेखकों की १९वें काण्ड पर अथर्ववेद-संहिता की समाप्ति की अन्तिम मन्त्रसूचक बात स्वयं कट गई तथा पैप्पलाद शाखा में न होने की प्रक्षिप्तता की युक्ति भी कट गई, क्योंकि वे स्वयं मानते हैं कि ये सूक्त पैप्पलाद शाखा में पाये जाते हैं यद्यपि उनका क्रम भिन्न है। शाखाओं में क्रमभेद पाया ही जाता है जिसका कारण उनका अपना संकलन का विशेष उद्देश्य वा प्रयोजन प्रतीत होता है—मुख्यतया यज्ञादि-विषयक। पैप्पलाद शाखा के २०वें काण्ड को ही देखें तो

उसके प्रथम सूक्त के सब मन्त्र (एक मन्त्र को छोड़कर जो शौनक शाखा के नाम से पुकारे जाने वाले मूल अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड से लिया हुआ है) शेष ९ मन्त्र सप्तम काण्ड से लिये हुए हैं। द्वितीय सूक्त के मन्त्रों में से तीन सप्तम काण्ड से, एक द्वितीय काण्ड से, एक तृतीय और एक चतुर्थ काण्ड में से लिये हुए हैं। तृतीय सूक्त के १० में से ९ मन्त्र मूल अथर्ववेद के सप्तम काण्ड से लिये हुए हैं। अत: वस्तुत: इसके आधार पर कोई परिणाम निकालना ही अशुद्ध (भ्रान्त) है।

१८वें काण्ड की प्रक्षिप्तता पर विचार

इसलिए १८वें काण्ड के प्रक्षिप्त होने के विषय में 'वैदिक एज्' के लेखकों की यह युक्ति भी अमान्य है कि—

The eighteenth Kanda, consisting of four funeral hymns, should also be regarded as a latter addition, for its contents are absent in the Paippalada recention.

अर्थात् १८वें काण्ड को भी प्रक्षिप्त समझना चाहिए, क्योंकि पैप्पलाद शाखा में इसके मन्त्र नहीं पाये जाते।

जैसा हम पहले दिखा चुके हैं यह कोई युक्ति नहीं। यदि यह युक्ति सचमुच मानी जाए तो फिर उन काण्डों वा सूक्तों को प्रक्षिप्त मानने का लेखक को कोई अधिकार नहीं जो पैप्पलाद शाखा में पाये जाते हैं।

१७वें काण्ड की प्रक्षिप्तता पर विचार

उदाहरणार्थ १७वें काण्ड पर विचार करते हुए 'वैदिक एज्' में उसे भी प्रक्षिप्त बताया गया है, यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि उसके अनेक मन्त्र पैप्पलाद शाखा में आये हैं। वे कहते हैं—

The 17th Kanda, consisting of only one hymn of purely magical contents, is a curious anomaly and must be regarded as a late accretion, though partly appearing also in the Paippalada text.
—*Vedic Age*, P. 234

अर्थात् सप्तदश काण्ड में केवल एक सूक्त है जो विशुद्ध रूप में जादू से सम्बन्ध रखनेवाला है, इसलिए यद्यपि इसके कुछ मन्त्र पैप्पलाद शाखा में भी पाये जाते हैं, तो भी इसे पीछे की मिलावट समझना चाहिए।

इस प्रकार सप्तदश काण्ड को प्रक्षिप्त मानने का कोई कारण लेखक ने नहीं दिया। क्या आपके कहने से ही इसे प्रक्षिप्त मान लिया जाये ? आपने इस काण्ड के विषय में लिखा है कि यह विशुद्ध रूप से जादू से सम्बन्ध रखनेवाला काण्ड (Purely of magical contents) है; किन्तु हमने उसे ध्यानपूर्वक आद्योपान्त पढ़ने पर भी जादू से सम्बन्ध रखनेवाली कोई बात उसमें नहीं पाई। उसमें इन्द्र के नाम से परमेश्वर का स्मरण करते हुए बड़ी उत्तम प्रार्थनाएं हैं। उदाहरणार्थ उसका प्रारम्भिक मन्त्र है—

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।..... ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम्॥ मं० १॥
प्रियो देवानां भूयासम्॥ मं० २॥
प्रियः प्रजानां भूयासम्॥ मं० ३॥
प्रियः पशूनां भूयासम्॥ मं० ४॥
प्रियः समानानां भूयासम्॥ मं० ५॥

सर्वशक्तिमान परमेश्वर का मैं स्मरण करता हूं। उसकी कृपा से मैं आयुष्मान् बनूं, मैं सत्यनिष्ठ विद्वानों का प्रिय बनूं॥ मं० २॥ मैं प्रजाओं का प्रिय बनूं॥ मं० ३॥ पशुओं के साथ प्रेममय व्यवहार करके मैं पशुओं का भी प्रिय बनूं॥ मं० ४॥ अपने समान लोगों का मैं प्रिय बनूं॥ मं० ५॥

६ से १९ के मन्त्रों में परमेश्वर को विष्णु, इन्द्र, महेन्द्र, प्रजापति आदि नामों से स्मरण करते हुए—

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः ।
तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ॥ (मं० १८)

सब के अन्त में प्रार्थना है—

सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥

अर्थात् हे सर्वव्यापक प्रभो ! मुझे भक्ति-सुधा का सदा पान कराओ । उत्तम परम रक्षिका भक्ति की अमृतमयी अवस्था में मुझे सदा रखो, क्योंकि तुम ही सब दिशाओं की रक्षा करनेवाले सर्वव्यापक परमेश्वर हो ।

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रः त्वं शोचिषा नभसी विभासि । त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ॥ (मं० १६)

इसी प्रकार मं० २७ में प्रजापति परमेश्वर की कृपा से उत्तम कर्म करते हुए उसके सर्वरक्षक कवच को धारण करके मैं दीर्घायु को प्राप्त करूं ऐसी प्रार्थना है—

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । जरदष्टि कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ (मं० २७)

अन्तिम ३०वें मन्त्र में इस प्रार्थना के साथ सूक्त की समाप्ति है कि—

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन् सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् । व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥ (मं० ३०)

अर्थात् अग्नि (भौतिक और सर्वज्ञ अग्रणी परमेश्वर) मेरी चारों ओर से रक्षा करे । उदय होता हुआ भौतिक वा ज्ञान-सूर्य मृत्यु के पाशों (रोगों और आध्यात्मिक बन्धनों) को दूर करे । उषाएं और पर्वतादि मेरे अन्दर सहस्रगुणित प्राणशक्ति को धारण करायें, इत्यादि । इन स्फूर्तिदायिनी प्रार्थनाओं और उत्तम भावनाओं में हमें तो कहीं कल्पित जादू का नामोनिशान भी दिखाई नहीं देता । ये विशुद्ध आध्यात्मिक उन्नति की प्रार्थनाएं हैं । ब्लूमफील्ड की दृष्टि से देखनेवालों को सर्वत्र अथर्ववेद में जादू ही दीखना स्वाभाविक है जिसकी भ्रान्ति का निराकरण हम अगले अध्याय में सप्रमाण करेंगे ।

पंचदश काण्ड की प्रक्षिप्तता

पंचदश काण्ड को भी पीछे की मिलावट सिद्ध करने का यत्न करते हुए आप लिखते हैं—

The most interesting of all the Kandas is the 15th, composed not in verse but in typical Brahmana prose, and devoted to the mystic exaltation of the Vratya. Probably this Vratya Kanda was the first of the additions successively made to the original text of the Atharva Veda. There is no reason to doubt the antiquity and authenticity of the other Kandas of the Atharva Veda.

—*Vedic Age,* P. 234

अर्थात् १५वां काण्ड जिसमें व्रात्य की रहस्यमय प्रशंसा है और जो पद्य में नहीं किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों की शैली के गद्य में है, सबसे अधिक मनोरंजक है । संभवतः यह १५वां काण्ड मूल अथर्ववेद-संहिता में सबसे पहले जोड़ा जाने वाला काण्ड है ।

समीक्षा

इस व्रात्य काण्ड को प्रक्षिप्त मानने के लिए लेखकों ने कोई कारण नहीं दिया। उन्होंने संभवत: व्रात्य का अर्थ उपनयनादि संस्कार-रहित पतित व्यक्ति समझ लिया और इसलिए उन्हें उसकी इतनी प्रशंसा इस काण्ड में देखकर आश्चर्य हुआ, किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। 'व्रात्या:' का पाठ निघण्टु २.३ में मनुष्य के नामों में है, अत: व्रात्य का अर्थ मनुष्यों के लिए हितकारी संन्यासी आदि मान्य महानुभाव होता है जिसके सत्कार का इस काण्ड के मन्त्रों में विधान है कि—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीः, व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ —अथर्व० १५. ११. २

अर्थात् जिसके घर में ऐसा सर्वजन-हितकारी विद्वान् आये वह उठकर और उसके पास जाकर उसका सत्कार उत्तम मधुर वाणी, जल, फल, भोजनादि द्वारा करे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं रहती और अतिथि-सत्कार की महिमा सूचित होती है। जब व्रात्य के इस वास्तविक अर्थ को समझ लिया जाये जैसा महर्षि दयानन्द ने 'पंचमहायज्ञ विधि' आदि में इन मन्त्रों को उद्धृत करते हुए अतिथि-यज्ञ के प्रकरण में बताया है, तब इस काण्ड को प्रक्षिप्त मानने का कोई कारण ही प्रतीत नहीं होता। शेष काण्डों के विषय में तो स्वयं ही 'वैदिक एज्' के लेखकों ने लिख दिया कि शेष काण्डों की प्राचीनता और प्रामाणिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं।

पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी में न केवल शौनक शाखा का किन्तु शौनकीया शिक्षा, कौशिक श्रौत सूत्रादि अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्य ग्रन्थों का भी निर्देश पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

शौनकादिभ्यश्छन्दसि (अष्टाध्यायी ४. ३. १०५) शौनकीया शिक्षा "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः" (४. ३. १०३) आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा आथर्वणः।

इस प्रकार न केवल अथर्ववेद-संहिता किन्तु शौनकी शिक्षा, कौशिक सूत्र, अथर्ववेदीय कल्पसूत्रादि का भी ज्ञान पाणिनि को था—यह स्पष्ट सिद्ध होता है। जब अथर्ववेद और इससे सम्बद्ध इतने ग्रन्थों का ज्ञान पाणिनि को था तो यह कहना कि यजुर्वेद का पाणिनि को ज्ञान न था और अष्टाध्यायी में शुक्ल यजुर्वेद का कहीं निर्देश नहीं, कितना असत्य है जैसा 'वैदिक एज्' में लिखा है।

'वैदिक एज्' के लेखकों की असत्य स्थापना

जब हमने 'वैदिक एज्' पृ० ४१६-४१७ में यह बात पढ़ी कि शुक्ल यजुर्वेद का पाणिनि को ज्ञान था यह सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका अष्टाध्यायी के सूत्रों में निर्देश नहीं तो हमें आश्चर्य हुआ। 'वैदिक एज्' के शब्द ये हैं—

It cannot be proved that Panini was acquainted with the Samhita or the Brahmanas of the white Yajur Veda, though he certainly knew all the other Samhita texts known to us as well as the Aitareya Brahmana. —*Vedic Age,* P. 416-417

जब सूत्रों पर दृष्टिपात किया तो 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखकों की एतद्विषयक असत्य स्थापना को देखकर अत्यन्त दु:ख और आश्चर्य हुआ।

पाणिनीय सूत्रों में यजुर्वेद का स्पष्ट निर्देश

(१) अष्टाध्यायी ६. १. ११५ का सूत्र है—**यजुष्युरः॥**

इसका अर्थ है यजुर्वेद में अकार के परे उर: शब्द का उरो पदान्त एङ् होता है वह प्रकृति करके रहे। 'उरो अन्तरिक्ष' यह शुक्ल यजुर्वेद अ० ४ के मं० ७ का पाठ है—

आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष ।
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ —यजु:० ४. ७ ॥

(२) अष्टाध्यायी ६. १. ११६ का सूत्र है—

आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठे अम्बे अम्बाले अम्बिके पूर्वे ।

यजुर्वेद में आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे ये एङन्त शब्द अकार से पूर्व हों तो प्रकृति करके रहें और अम्बिक शब्द से पूर्व अम्बे, अम्बाले, अम्बिके हों तो ये दो शब्द इसी प्रकार रहें । जैसे—

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु । यजुर्वेद ४. २
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा । यजु:० ३. १०
वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः । यजु:० ७.१
वर्षिष्ठे अधिनाके । यजु:० १. २२
अम्बे अम्बाले अम्बिके । यजु:० २३. १८

(३) अष्टाध्यायी ६. १. ११७ का सूत्र है **"अङ्ग इत्यादौ च ।"**

अर्थात् जो यजुर्वेद में अकार परे हो तो 'अङ्गे' एङन्त पद प्रकृति करके रह जाये और जो अङ्गे इसके परे आदि एङ् हो सो भी प्रकृति करके रहता है जैसे **'ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे-अङ्ग निदीध्यत्'** इत्यादि । (य० ६. २०)

(४) **अनुदात्ते च कुध परे ।** (६. १. ११८)

यजुर्वेद में जिस अनुदात्त अकार से परे कवर्ग और धकार हों उसके परे पदान्त एङ् प्रकृति करके रह जायें जैसे **अयं सो अग्निः** (य० १२. ४७) **सो अध्वरा** (य० २१. ४७) ।

इत्यादि अन्य भी अनेक उदाहरण हैं जिनसे 'वैदिक एज्' के लेखकों की उक्ति की अयथार्थता सिद्ध होती है । विद्वानों को बिना पूर्ण विवेचन किये इस प्रकार की अशुद्ध और भ्रमजनक बातें लिख देना शोभा नहीं देता ।

क्या सामवेद की पृथक् कोई सत्ता नहीं ?

'वैदिक एज्' के अनुसार सामवेद के प्रायः सब मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं अतः उसकी पृथक् कोई सत्ता नहीं । केवल सोमयागादि में गान के लिए ही उसका उपयोग है ।

The Sama Veda hardly counts at all as an independent text.

—*Vedic Age*, P. 225

The literary and historical value of the Sama Veda is, therefore, practically nil, though its importance for the Soma-ritual cannot be overestimated.—Vedic Age, P. 230

ऐसे शब्दों का प्रयोग 'वैदिक एज्' में किया गया है । जहां तक ऐतिहासिक महत्त्व का प्रश्न है वह तो किसी वेद का भी नहीं है, क्योंकि वेदों में इतिहास नहीं है । वे तो दिव्य सार्वभौम ज्ञान का भण्डार हैं जिनमें से भ्रम से जबरदस्ती इतिहास निकालने का यत्न किया जाता है और जब उसमें सफलता नहीं होती तो 'वैदिक एज्' के लेखकों की तरह अन्यों को भी स्वीकार करना पड़ा है कि—'Naturally it (Rigveda) is poor in historical data.'

—*Vedic Age*, P. 225

अर्थात् स्वाभाविकतया ऋग्वेद ऐतिहासिक सामग्री में बहुत निर्धन-सा है ।

किन्तु सामवेद के विषय में भी यह लिखना कि सिवाय यज्ञों में गीत के इसका कोई महत्व नहीं और इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, प्राय: सारे मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं, सर्वथा अशुद्ध है । यदि इसकी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता न होती और यह ऋग्वेद से ही लगभग सारा लिया हुआ होता तो ऋग्वेद में सामवेद और उसके गीतों का अनेक स्थानों पर निर्देश न होता जैसा निम्नलिखित तथा अन्य मन्त्रों में पाया जाता है ।

ऋग्वेद में सामवेद का निर्देश

(१) **अङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः ॥ ऋग्० १. १०. ७. २ ॥**

(२) **अङ्गिरसो न सामभिः ॥ ऋग्० १०. ७८. ५ ॥**

(३) **उभौ वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति ।**
उद्गातेव शकुने साम गायसि, ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि ॥ ऋग्० २. ४३. २ ॥

यहां उद्गाता, सामगादि का स्पष्ट वर्णन है ।

(४) **यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ॥ ऋग्० ५. ४४. १४ ॥**

यहां सामवेद के सामों का ऋग्वेद की ऋचाओं के साथ-साथ वर्णन है जिससे सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है ।

(५) **तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ॥ ऋग्० १०. १०७. ६ ॥**

यहां सामवेद का गान करने के लिए सामगा और विशेषतः अथर्ववेद जाननेवाले के लिए ब्रह्मा शब्द का प्रयोग उनकी वेद के रूप में स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्ट निर्देश करता है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता ।

ऋग्० ८. ९८. १ में कहा है—

(६) **इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ॥**

यहां परमेश्वर की स्तुति के लिए बृहत् साम के गान का विधान है ।

(७) **बृहस्पतिः सामभिः ऋक्वो अर्चतु ॥ ऋग्० १०. ३६. ५ ॥**

(८) **ऋतस्य सामन् रणयन्त देवाः ॥ ऋग्० १. १४७. १ ॥**

(९) **गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ॥ ऋग्० १. १६४. २४ ॥**

(१०) **साम कृण्वन् सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेति ॥ ऋग्० ९. ९६. २२ ॥**

(११) **परावतो न साम तद् यत्रा रणन्ति धीतयः ॥ ऋग्० ९. १११. २ ॥**

(१२) **तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋग्० १०. ९०. ९ ॥

यहां परम पूजनीय परमेश्वर से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद सबकी उत्पत्ति सूचित की गई है ।

(१३) **आङ्गूष्यं शवसानाय साम ॥ ऋग्० १. ६२. २ ॥**

(१४) **ये न परः साम्नो विदुः ॥ ऋग्० २. २३. १६ ॥**

(१५) **त्वष्टाजनत् साम्नः साम्नः कविः ॥ ऋग्० २. २२. १७ ॥**

(१६) **स हि द्युता विद्युता वेति साम ॥ ऋग्० १०. ९९. २ ॥**

इस प्रकार ऋग्वेद में सामवेद और उसके अनेक गानों का नाम होने से इस वाद की अयथार्थता सिद्ध होती है कि सामवेद की पृथक् कोई सत्ता नहीं। वस्तुतः बात यह है कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना है और ऋग्वेद का ज्ञान। अतः ऋग्वेद के भी जो मन्त्र सामवेद में आये हैं उनके विषय में यह जान लेना चाहिए कि सामवेद में उनके भक्तिप्रधान आध्यात्मिक अर्थों की ही प्रधानता है, जब कि ऋग्वेद में ज्ञान और यजुर्वेद में कर्मपरक अर्थ की प्रधानता है।

यजुर्वेद में सामवेद का निर्देश—

यजुर्वेद में भी अनेक स्थानों पर साम के गानों के नाम पाये जाते हैं, यथा—

रथन्तरम्—यजुः० १०. १० **बृहत्**—यजुः० १०. ११ **वैरूपम्**—यजुः० १०. १२ **वैराजम्**—यजुः० १०. १३ **वैखानसं वामदेव्यम्, यज्ञायज्ञियम्**—यजुः० १२. ४ **शाक्वरं रैवतम्**—यजुः० १०. ४ **गायत्रं, गौरिवीतम्, अभीवर्तम्, प्रजापति हृदयम् इत्यादि।**

इस प्रकार सामवेद की पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। ऋग्वेद के मन्त्र भी उस वेद के क्रम से नहीं हैं और प्रायः उनका अर्थ भी बदलता है, यह समझ लेना चाहिए।

शुक्ल यजुर्वेद की काट-छांट

पहले तो 'वैदिक एज्' के लेखकों ने कृष्ण यजुर्वेद को ही प्राचीन सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया (जिसकी सप्रमाण युक्तियुक्त विवेचना हमने इसी अध्याय में की है) उसके पश्चात् पृ० २३२ पर शुक्ल यजुर्वेद की काट-छांट करते हुए वे कहते हैं—

Of the forty odd Adhyayas of the Vajasaneyi Samhita, it is quite evident that the last twenty-two were added later gradually to a basic text consisting of the first eighteen. As a rule, only the formulas formed in the first eighteen Adhyayas occur also in the Taittiriya Samhita, while those of the last 22 are met with in the Taittiriya Brahmana. —See Eggling S. B. E. XII P. XXX

The next three Adhyayas (XIX-XXI) give the Mantras of the Sautramani, a sacrifice performed to expiate the sin of excessive indulgence in Soma, and the following four (XXI-XXV) those of the horse sacrifice. The remaining 15 Adhyayas (XXVI-XL) are expressly called Khila in the auxiliary literature. —*Vedic Age*, P. 232

अर्थात् वाजसनेयी संहिता के ४० अध्यायों में से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पिछले २२ अध्याय १८ अध्याय की मूल संहिता में पीछे से धीरे-धीरे जोड़ दिये गये। एक नियम के तौर पर केवल प्रथम १८ अध्यायों में दिये संकेत ही तैत्तिरीय संहिता में पाये जाते हैं और शेष २२ अध्यायों के तैत्तिरीय ब्राह्मण में।

समीक्षा

क्योंकि ऐग्लिग ने यह बात लिखी है इसलिए 'वैदिक एज्' के लेखकों ने भी उसको प्रामाणिक मानकर उसका विवेचन करना वा पाठकों के सम्मुख इस स्थापना के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं समझा। इससे उनकी दास-

मनोवृत्ति ही सर्वत्र सूचित होती है जो अनुसन्धान करनेवाले विद्वानों को शोभा नहीं देती । तैत्तिरीय संहिता का हमारे लिए वह प्रामाण्य सर्वथा नहीं जो मूल यजुर्वेद-संहिता का है जिसे वाजसनेयी संहिता के नाम से भी कहा जाता है । जो तैत्तिरीय संहिता को प्रामाणिक और वाजसनेयी संहिता से भी प्राचीन मानते हैं उनके लिए तो तैत्तिरीय ब्राह्मण भी उतना ही प्रामाणिक है । अत: इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता । केवल इस तुच्छ-से कल्पित आधार पर ऐग्लिग नामक पाश्चात्य विद्वान् के लिख देने से १८ को छोड़कर शेष अध्यायों को पीछे की मिलावट मान लेना सर्वथा अनुचित है । इसके पश्चात् वे लिखते हैं कि—

अगले ३ अध्याय (१९ से २१) सोमरस के अत्यधिक पान के प्रायश्चित्त-रूप में सौत्रामणी याग का विधान करते हैं और उससे अगले ४ (२२ से २५ अ० तक) अश्वमेध यज्ञ का विधान करते हैं । २६ से ४० तक के १५ अध्यायों को सहायक साहित्य में 'खिल' कहा गया है ।

समीक्षा

केवल सौत्रामणी अथवा अश्वमेधादि के लिए ये यजुर्वेद के इन अध्यायों के मन्त्र हैं और इनका अन्य कोई उपयोग नहीं है—ऐसा मानना भी अशुद्ध है । अश्वमेध के लिए लेखकों ने यहां Horse Sacrifice शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि उनके अनुसार इस यज्ञ में घोड़े की बलि दी जाती है । इस विचार की अशुद्धता को हम वैदिक यज्ञ-विषयक अध्याय में सप्रमाण दिखा चुके हैं । महर्षि दयानन्द ने सौत्रामणी का अर्थ यजु:० १९. ३१ की व्याख्या में—

सूत्राणि यज्ञोपवीतानि मणिनां ग्रन्थिना युक्तानि धीयन्ते यस्मिन् स: ।

ऐसा किया है जिसमें मणि की गांठ से युक्त यज्ञोपवीतादि धारण किया जाये । इसको सोम के अधिक पान के प्रायश्चित्त के रूप में करने की बात भी लेखकों की कल्पित है । शतपथ १२. ७. २. १२ के अनुसार तो सौत्रामणी का अर्थ सोम भी है । वहां लिखा है 'सोमो वै सौत्रामणी ।'

२६ से ४० तक के अध्याय जिनमें सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त (अ० ३१), सर्वमेध यज्ञ (अ० ३२), शान्ति के उपायों का विशेष रूप से प्रतिपादन करनेवाला और उपनिषदों का मूल ४०वां अध्याय भी है (जिसके लिए यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय होने और उस पर ही उपनिषदों का आधार होने से वेदान्त शब्द का प्रयोग प्रचलित है) । इन सबको आप खिल वा परिशिष्ट बताते हैं और आश्चर्य है कि इतनी असङ्गत स्थापना के लिए जिसके अनुसार यजुर्वेद के सरल और अत्यधिक उपयोगी ये सब अध्याय मूल से उड़ जाते हैं, आप कोई प्रमाण देना भी आवश्यक नहीं समझते—सिवाय इसके कि वीबर साहब का अध्याय के अन्त की टिप्पणियों में बड़े आप्त विद्वान् के रूप में निर्देश करते हुए लिखते हैं कि—

For further details about the Vajasaneyi Samhita, see Weber HIL 107 ff. P. 239.

वीबर साहब हमारे लिए कोई आप्त वेदज्ञ विद्वान् नहीं जिनकी बात को हम बिना प्रमाण के मान लें । उनकी एक अशुद्ध बात को अपनी कोरी कल्पना से लिख देने से वह प्रामाणिक नहीं बन जाती । सारे परवर्ती साहित्य में २६ से ४० तक के अध्यायों को खिल वा परिशिष्ट माना गया है, इस स्थापना के लिए भी यहां कोई प्रमाण नहीं दिया गया । केवल वीबर साहब का नाम ले लिया गया है । इससे अधिक शोचनीय मानसिक दासता का क्या प्रमाण हो सकता है ? इन तुच्छ निराधार कल्पनाओं से यजुर्वेद के १९ से ४० तक के अध्यायों को प्रक्षिप्त वा परिशिष्टरूप बताना सर्वथा असङ्गत है ।

इतनी विवेचना के साथ हम इस अध्याय को समाप्त करना चाहते हैं । इससे निष्पक्ष पाठकों को ज्ञात हो जायेगा कि 'वैदिक एज्' के लेखकों ने वेदों की काट-छांट का जो दुस्साहस किया वह सर्वथा अनुचित है । वह प्राय: पाश्चात्य लेखकों का अविवेकपूर्ण अनुकरणमात्र होने से अमान्य है । □

दशम अध्याय

वैदिक शिक्षा विषयक भ्रान्ति-निवारण

इस अध्याय में हम 'वैदिक एज्' में वैदिक शिक्षाओं के विषय में जो भ्रम फैलाये गये हैं उनका निराकरण करना चाहते हैं। ऐसी भ्रान्तियां बहुत-सी हैं, किन्तु ग्रन्थविस्तार-भय से हम पुनर्जन्म, कर्म-नियम, अथर्ववेद में जादू-टोने, मांस-मद्य विधान और बहुविवाह—इन पर विवेचन करेंगे।

क्या पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेदों में नहीं ?

'वैदिक एज्' के पृष्ठ ३८१ पर लिखा है—

As the Rigvedic Aryas were full of the joie de viver (joy of life) they were not particularly interested in the life after death, much less had they any special doctrines about it. We can therefore glean only a few notices of the life beyond, that are scattered throughout the Rigveda. In our search for any reference implicit or explicit, to rebirth or transmigration, we come across only a few doubtful passages. According to Rig. 1. 164. 30, the soul (jivah) of the dead-one moves in its own power' the immortal one having a common origin with the mortal one (the body). But this translation is not certain.

So we may conclude that only the germs of the conception of rebirth, were there, and those developed either naturally or through the influence of ideas current among the original tribes with whom the Aryans came into contact.

—*Vedic Age,* P. 381-382

अर्थात् क्योंकि ऋग्वेदकालीन आर्य जीवन के आनन्द से पूर्ण थे, उनकी मृत्यु के पीछे के जीवन व परलोकादि-विषयक बातों में कोई विशेष रुचि न थी। इन विषयों में उनके कोई निश्चित सिद्धान्त तो सर्वथा न थे। इसलिए हम इस विषय में सम्पूर्ण ऋग्वेद में इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वाक्यों को ही पा सकते हैं जिनमें परलोक का निर्देश किया गया हो। जब हम पुनर्जन्म के विषय में कुछ स्पष्ट अथवा अस्पष्ट निर्देशों की खोज करने लगते हैं तो हमें केवल थोड़े-से सन्दिग्ध वाक्य ही मिलते हैं। ऋग्वेद १. १६४. ३० के अनुसार मृत का आत्मा अपनी शक्ति से इधर-उधर विचरण करता है। अमर की मरणशील शरीर के साथ एक ही योनि है।

किन्तु यह अनुवाद अनिश्चित है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त के केवल बीज वैदिक आर्यों में विद्यमान थे और इनका या तो स्वाभाविक रूप में स्वयं या आदिवासियों के विचारों के प्रभाव से, जिनके साथ आर्यों का सम्पर्क हुआ, विकास हुआ।

समीक्षा

यह विचार कि वैदिक आर्यों को आत्मा, पुनर्जन्मादि के विषय में कोई निश्चित ज्ञान न था, वे इन विषयों में कोई रुचि न रखते थे और केवल पुनर्जनम-विषयक सिद्धान्त के बीज उनमें विद्यमान थे—सर्वथा अशुद्ध है।

आत्मा के विषय में वैदिक सिद्धान्त

वेदों में आत्मा और पुनर्जन्म का अति स्पष्ट और उत्तम प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को देखना चाहिए—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वाऽ वर्धमानः ॥ —ऋग्० ६. ९. ४

यह जो श्रेष्ठ होता-ज्ञान ग्रहण करनेवाला आत्मा है इसे देखो **(मर्त्येषु इदम् अमृतं ज्योतिः)** मरणशील मनुष्यों में यह अमर ज्योति है। यह **(ध्रुवः)** नित्य और **(अमर्त्यः)** अमर है जो शरीर के अन्दर रहता है। उसकी वृद्धि के साथ बढ़ता-सा दिखाई देता है। यहां नित्य अमर चेतन आत्मा की सत्ता का जो शरीर से पृथक् और उसका अधिष्ठाता है, अति स्पष्ट वर्णन है जिसमें किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता।

'अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

Behold this (individual spirit) the first being which enjoys (consequence of his actions) as it is the immortal light placed within the mortal frame. That has manifested itself. This immortal soul is staying (in the body) while it seems growing with the growth of its body.

आत्मा और पुनर्जन्म

निम्न मन्त्र में जो ऋग्० १. १६४. ३१ और १०. १७०. ३ में पाया जाता है, आत्मा और पुनर्जन्म का अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन है, जहां कहा है कि—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

अर्थात् मैंने (गोपाम्) इन्द्रियों के रक्षक (अनिपद्यमानम्) अमर इस आत्मा का (अपश्यम्) साक्षात्कार किया जो जन्म-मरण के मार्गों से विचरण करता रहता है। वह अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल अनेक योनियों में संसार के अन्दर भ्रमण करता रहता है। इससे बढ़कर नित्य आत्मा और पुनर्जन्म का और क्या वर्णन हो सकता है ?

इस मन्त्र का अंग्रेजी में अनुवाद निम्न है—

May I have a glance at the indestructible lord of the sense organs (i.e. the individual soul) which ever walk, through the pathways of coming (birth) and departure (death); it traverses its path with its body and even without it and having covered itself with its actions (i.e. in accordance with its good and evil actions) it comes (takes birth) again and again in the various worlds.

ऐसे स्पष्ट वर्णन होते हुए यह कहना कि वैदिक ऋषि आत्मा के विषय में सोचते भी न थे और पुनर्जन्म के विषय में उनका कोई सिद्धान्त न था, वैदिक साहित्य से अपनी नितान्त अनभिज्ञता अथवा पक्षपात सूचित करना है, और कुछ नहीं।

आत्मा और परमात्मा

इस आत्मा के परमेश्वर के साथ सम्बन्ध और उससे अन्तर का मन्त्र में निम्न प्रकार प्रतिपादन है । इसमें आत्मा के कर्मानुसार फल भोगने का भी स्पष्ट विधान है जबकि परमेश्वर को केवल द्रष्टा और साक्षी बताया गया है । इस मन्त्र का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, अतः केवल निर्देश ही पर्याप्त है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥ —ऋग्० १. ६४. २०

इसमें कहा है कि नित्य प्रकृतिरूपी वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा नामक दो पक्षी बैठे हैं जो नित्यता की दृष्टि से समान और परस्पर मित्र हैं । उनमें से एक जीव तो अपने कर्मानुसार मधुर या कटु फलों का भोग करता है, और दूसरा (परमात्मा) भोग न करता हुआ साक्षी बनकर उसे देखता है । इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध, उनका अन्तर तथा कर्म-नियम का इस मन्त्र में उत्तमता से प्रतिपादन् किया गया है ।

इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

Like two birds there are two spirits i.e. the finite and the Supreme which, knit with the bonds of friendship, reside on the same tree (of the material universe). One of the twain (i.e. the finite spirit) enjoys the sweet ripe fruit (and also the bitter one) produced by his good or bad actions, whereas the other (i.e. the Supreme Spirit) simply looks all around without enjoying its fruitage.

अनेक योनियों में आत्मा का संचार

निम्नलिखित दो मन्त्रों में आत्मा के कर्मानुसार विविध शरीर ग्रहण करने का स्पष्ट वर्णन है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठः उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ —अथर्व १०. ८. २७-२८

आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि—

तू कभी स्त्री का रूप धारण करता है कभी पुरुष का, कभी तू कुमार बनता है कभी कुमारी । तू कभी डण्डा लेकर वृद्ध रूप में चलता है और अपने कर्मानुसार चारों दिशाओं में अनेक रूपों में प्रकट होता है ।

यह आत्मा कभी इनका पिता बन जाता है कभी पुत्र, कभी ज्येष्ठ भ्राता और कभी कनिष्ठ । यह एक आत्मदेव मन के अन्दर प्रविष्ट है और यही माता के गर्भ में प्रवेश करता है ।

पुनर्जन्म और आत्मा के विविध योनियों में कर्मानुसार संचार का यह कितना विशद वर्णन है !

"त्वं स्त्री पुमानसि·····" का अंग्रेजी अनुवाद—

O individual soul ! in accordance with thine actions, thou assumest the form of a woman and that of a man, sometimes thou becomest a virgin, thou walkest with the

help of a staff when thy body becomes old and frail, thou takest birth again and again as thy face is turned towards all directions (in accordance with thy actions).

—Atharva X. 8. 27

"उतैषां पितोत वा पुत्रः ....." का अंग्रेजी अनुवाद—

This individual soul sometimes it becomes their father and sometimes their son too, and sometimes becomes their elder brother and sometimes it even becomes their younger brother. Verily the one self or luminous soul dwelling within the mind has taken birth before and verily it again enters the womb of the mother. —Atharva X. 8. 28

यजु० १२. ३६ भी पुनर्जन्म का अति स्पष्ट प्रतिपादक है जहां 'गर्भे सन् जायसे' पुनः इन शब्दों का प्रयोग है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सन् जायसे पुनः॥

इस मन्त्र में आत्मा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हे अग्नि के समान वर्तमान जीव ! सहनशील तू जलों और सोमलतादि ओषधियों को प्राप्त होता है और गर्भ में स्थिर होकर फिर-फिर जन्म-मरण तेरे हैं ऐसा तू जान।

इस मन्त्र का उपर्युक्त प्रकार अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

ये जीवाः शरीरं त्यजन्ति ते वाय्वोषध्यादिषु च भ्रान्त्वा गर्भं प्राप्य यथासमयं सशरीरा भूत्वा पुनर्जायन्ते॥

जो जीव शरीर को छोड़ते हैं वे वायु और ओषधि आदि पदार्थों में भ्रमण करते-करते गर्भाशय को प्राप्त होकर नियत समय पर शरीर धारण करके प्रकट होते हैं।

पुनर्जन्म का कितना स्पष्ट प्रतिपादन है !

'अप्स्वग्ने सधिष्टव' का अंग्रेजी अनुवाद—

O self-luminous soul ! thou art the endurer of sufferings, thou attainest to the plants within the waters, thou takest birth again and again in the womb of the mother.

—Yaj. 12. 36

इसी सम्बन्ध में मरण पर जीव की गति का प्रतिपादक १२. ३८ का मन्त्र है—

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने। संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः॥

हे प्रकाशमान पुरुष, सूर्य के समान प्रशंसित प्रकाश से युक्त जीव ! तू शरीर-दाह के पीछे पृथिवी, अग्नि आदि और जलों के बीच देह-धारण के कारण को प्राप्त हो और माताओं के उदरों में वास करके फिर शरीर को प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे जीवो ! तुम जब शरीर को छोड़ो तब यह शरीर राख-रूप करके पृथिवी आदि पांच भूतों के साथ युक्त करो। तुम और तुम्हारे आत्मा माता के शरीर में गर्भाशय में पहुंच फिर शरीर धारण किये हुए वर्तमान होते हो।

'प्रसद्य भस्मना योनिम्' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

O self-luminous soul ! thou art full of light, after thy body becomes ashes, thou reachest water and earth, the source of birth, and dwelling within the womb of the mother, thou takest birth again and again. —Yaj. XII. 38

इतने पर भी यदि किसी को निश्चय न हो कि वेदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है तो उन्हें निम्नलिखित अन्य प्रमाणों को देखना चाहिए। ऋग्वेद १०. ५९. ६ में मन्त्र आता है—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः, पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥

इन मन्त्रों में पुनः अस्मासु चक्षुः पुनः प्राणं धेहि इत्यादि प्रयोग आये हैं जिनमें पुनर्जन्म का स्पष्ट निर्देश प्रार्थना के रूप में किया गया है कि जीवनप्रद परमेश्वर ! आप भविष्य-काल में मृत्यु के पश्चात् भी हमें फिर उत्तम दृष्टिशक्ति दें, उत्तम प्राण धारण करायें जिससे हम सूर्य को चिरकाल तक देखते रहें। आप हमें सुखी करें।

यजुः ४. १५ में इसी विषय को अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया गया है—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।
वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥

अर्थात् यह देह छोड़ने के पश्चात् फिर मन, आयु, प्राण, आत्मा, आंख, कान आदि की शक्ति की प्राप्ति हो। सर्वजनहितकारी और सर्वशक्तिमान् नेता परमेश्वर हमें सदा पाप से बचायें। इस प्रकार पुनः शब्द का बार-बार प्रयोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादक है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता।

'असुनीते पुनरस्मासु.....' का अंग्रेजी अनुवाद—

O God of Life ! Please give us eyes again in our future-life and give us breath in this world and confer on us all necessary objects of enjoyment; O most Gracious Being ! may we see the rising sun for a long time, be kind upon us and give us blessings.

—Rig. X. 59. 6

'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्' का अंग्रेजी अनुवाद—

May I receive, through the grace of God, my mind again in future-life, may I have life again, may I get breath again, may my soul return again and may I be the possessor of eyes and ears again in future-life; may Self refulgent God the Protector of my body who is the Ever-living God keep us safe from misfortune and dishonour.

—Yaj. IV. 15

अथर्ववेद १४. ४. २० में भी 'स उ जायते पुनः' इन शब्दों का प्रयोग करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन है—

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि जीव माता के गर्भ में बार-बार प्रविष्ट होता है और अपने शुभ कर्मानुसार सत्यनिष्ठ विद्वानों के घर में जन्म लेता है।

वह बार-बार जन्म लेता है अर्थात् शरीर से संयुक्त होता है। स्वयं अपनी नित्यता के कारण वह भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब कालों में रहता है और जब वह पिता बनता है तो पुत्र के शरीर में अपनी शक्तियों के साथ—संस्कारादि के रूप में—वह मानो प्रवेश करता है।

'अन्तर्गर्भश्चरति' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

The individual soul wanders within the womb of mother and takes birth again and again in the bodies of enlightened persons. It exists in past, present and future; when it becomes a father, it again enters into the body of a son with the powers of his actions.

—Atharva 14. 4. 20

इस प्रसङ्ग की समाप्ति से पूर्व 'वैदिक एज्' में जिस मन्त्र का अनुवाद देकर यह टिप्पणी दे दी गई है कि—'This translation is uncertain' अर्थात् यह अनुवाद अनिश्चित है, उस पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। वह मन्त्र निम्नलिखित है—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ —ऋग्० १. १६४. ३०

यह जीव के विषय में वर्णन है कि वह जीव (ध्रुवम्) धारण करनेवाला और स्थिर (तुरगातु) अति वेग से इन्द्रियों में गति उत्पन्न करता हुआ (एजत्) शरीर को संचालित करता हुआ (पस्त्यानां मध्ये) शरीररूप गृह के अन्दर (अनत्) प्राण देता हुआ, चेतना-रूप होकर (शये) व्याप रहा है। वह (जीवः) जीवात्मा (मृतस्य) मरनेवाले जड़ देह के बीच में (स्वधाभिः) अपनी धारक शक्तियों या अन्नों द्वारा (चरति) विचरता है। वह स्वयं (अमर्त्यः) अमर होकर (मर्त्येन) मरनेवाले शरीर के साथ (सयोनिः) एक ही आश्रय में रहता है।

'वैदिक एज्' के पृ० ३८१ में इस मन्त्र का जो अंग्रेजी-अनुवाद दिया गया है, उसमें कुछ अशुद्धि होने के कारण भाव स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। वहां अनुवाद इन शब्दों में दिया गया है—

The soul of the dead one moves in its own power, the immortal one having a common origin with the mortal one.

वास्तव में यह अनुवाद अंग्रेजी में इस प्रकार होना चाहिए—

The soul of the dead-one moves by its own power; being immortal, it remains in the body which is mortal.

इस प्रकार अनुवाद होने से भाव स्पष्ट है कि आत्मा अमर है जब कि यह शरीर नश्वर है। यह अमर इस नश्वर शरीर के अन्दर रहता है और शरीर के नष्ट होने पर अपनी शक्ति से कर्मों के अनुसार वह भिन्न-भिन्न योनियों में विचरण करता है। इससे भी नित्य अमर आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्ट समर्थन होता है।

ऋग्वेद १०. ५९. ७ और अथर्व ७. ६७. १ के निम्न दो मन्त्र भी इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण उद्धृत किये जाते हैं—

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनर्नः पूषा पथ्यांइ या स्वस्तिः ॥

अर्थात् पृथिवी हमें फिर जीवन दे । अन्तरिक्ष, आकाशादि पुनः जीवन दें । शान्ति का मूल परमेश्वर हमें फिर शरीर दे और पुष्टिकारक परमात्मा हमें कल्याणकारक मार्ग दिखाये ।

अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भी उल्लेखनीय है—

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥

अर्थात् फिर मुझे इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त हो, फिर आत्मा, ऐश्वर्य और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जिसमें मैं यज्ञादि करता रहूं और समृद्धि पाऊं । इस प्रकार वेदों में पुनर्जन्म के प्रतिपादक इतने स्पष्ट मन्त्र होने पर भी 'वैदिक एज्' के लेखकों का यह कहना कि वेदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का केवल बीज़ ही विद्यमान है और इस विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त वैदिक आर्यों का नहीं था, सर्वथा अशुद्ध है ।

'पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु ..... ' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

May the earth give us breath again and may the shining heavenly region and the atmosphere restore the same to us; may Soma, All creating God give us body again (after our death) and may the All-Nourishing God lead us on the path of peace and happiness.

'पुनर्मैत्विन्द्रियम् .....' का अंग्रेजी अनुवाद—

May I again receive my sense-organs in my future-life and may I receive my spirit, together with worldly possessions and knowledge Divine so that I may perform fire-offering on the altars and may ever attain prosperity. —*Atharva*, VII. 67. 1

खुशामद, लोभ और न्याय

एक अत्यन्त भयङ्कर आरोप जो 'वैदिक एज्' के लेखकों में से प्रो० वी०के० घोष ने Language and Literature शीर्षक १६वें अध्याय में लगाया है, उस पर विचार करना और उससे उत्पन्न भ्रम का निराकरण करना हमें आवश्यक प्रतीत होता है । उषा देवता वाले ऋग्वेद १. ४८ सूक्त पर अपने विचार प्रकट करते और उसकी कविता की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं—

Here it is simplicity and not greed that is begging of the goddess gifts and more gifts. But it can not escape even the most superficial reader that in hymns such as this, the means that the poets have in view for attaining their object is simply to please the deity by flattering songs and ritual sacrifices. There is no suggestion as yet of a belief in the existence of a supreme justice from which flow all punishment and reward. In the hymns to Varuna, however, this sentiment is already in the horizon.

—*Vedic Age*, P. 342

That Virtue is its own reward and as a spiritual quality, is incommensurable in terms of material advantage, does not seem to have been realised by the Rigvedic poets. The spirit of the people that peeps through the thick veil of ritual pedantry is one of gladness, aspiring ever for more, never knowing rest or contentment. Absence of evil is not what they pray for most. Their supreme desire is to triumph over poverty and resistance. Their cheef god is Indra who does not possess a single spiritual trait.

—*Vedic Age*, P. 343

तात्पर्य यह है कि यह सरलता है और लोभ नहीं जो देवी (उषा) से अधिकाधिक भेंट मांगने को प्रेरित करती है। किन्तु साधारण दृष्टि से देखने पर भी इस बात से कोई अपरिचित नहीं रह सकता कि जो साधन ऋषि वा वैदिक कवि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम में लाते हैं वह देवता को खुशामद से भरे हुए गीतों और यज्ञों से प्रसन्न करना है। अभी तक इस बात का कोई निर्देश नहीं मिलता कि महती न्याय-शक्ति में जो अच्छा या बुरा कर्म-फल देनेवाली है उनका विश्वास हो। किन्तु वरुण के सूक्तों में इस विश्वास का आभास मिलता है।

आगे आप लिखते हैं कि—अच्छाई स्वयं अपना फल है और आध्यात्मिक गुण के रूप में इसका भौतिक लाभ के साथ सम्बन्ध नहीं, यह बात ऋग्वेद के कवियों के अनुभव में नहीं आई थी। यज्ञों के मोटे आवरण वा पर्दे के पीछे लोगों की जो भावना दृष्टिगोचर होती है वह अधिकाधिक कामना की है जिसमें कहीं सन्तोष वा विश्राम नहीं। वे निष्पापता वा पाप से मुक्ति की सबसे अधिक प्रार्थना नहीं करते। उनकी सबसे बड़ी इच्छा निर्धनता और संघर्ष पर विजय प्राप्त करने की है। उनका सबसे बड़ा देव इन्द्र है जिसके अन्दर एक भी आध्यात्मिक तत्त्व वा गुण नहीं है।

समीक्षा

उपर्युक्त समस्त आलोचना उषा और रायः इत्यादि वैदिक शब्दों के आध्यात्मिक भाव को न समझकर की गई है, इसमें सन्देह नहीं। यदि 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखक सुप्रसिद्ध योगी और विचारक श्री अरविन्द जी के आर्य (Arya) पत्र में Secret of the Vedas इस शीर्षक से प्रकाशित लेखमाला या उस लेखमाला के राष्ट्रभाषा में 'वेद रहस्य' के नाम से तीन खण्डों में आचार्य अभयदेव जी द्वारा अनूदित पुस्तक को देखने का कष्ट करते तो उनके बहुत-से भ्रम दूर हो सकते थे। यह आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में यूरोप और अमेरिका के विद्वानों द्वारा लिखी वेद-विषयक प्रायः पक्षपातपूर्ण पुस्तकों को पढ़ने का तो उन्होंने कष्ट उठाया है और उन्हें आप्त मानकर उनका प्रायः आंख मूंदकर अनुसरण किया है, किन्तु महर्षि दयानन्द कृत 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका', 'वेद भाष्य' तथा सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द के Hymns to the Mystic Fire, On the Vedas, श्री कपाली शास्त्री जी कृत Light on the Vedas, Further light on the Vedas आदि पुस्तकों को पढ़ने का उन्होंने कष्ट नहीं उठाया और न उनकी पुस्तक-सूची में कहीं इनका निर्देश है। अस्तु, जो बात हम यहां लिखना चाहते हैं वह यह है कि उषा के सूक्तों में बाह्य उषा को तो प्रतीक मात्र के रूप में लिया गया है। मुख्यतया इन सूक्तों का तात्पर्य आध्यात्मिक उषा वा Spiritual Dawn or illumination से है जिसे योगदर्शन में 'विशोका वा ज्योतिष्मती' इस सूत्र में बताया गया है। जिस ऋग्० १. ४८ का निर्देश किया गया है उसमें इस आध्यात्मिक अर्थ की प्रधानता के स्पष्ट निर्देश हैं। यथा मन्त्र ४ में—

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
अत्राह तत् कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्॥

कहा गया है कि जो मेधावी (कण्व इति मेधाविनाम, निघण्टु ३. १५) उषा के यामों में अथवा ब्राह्ममुहूर्त में उठकर परमेश्वर के प्रति ध्यान-धारणा समाधि द्वारा अपने को समर्पित करते हैं, उन्हें परमेश्वर की कृपा से अद्‌भुत ज्योति की प्राप्ति होती है। उषा से यह प्रार्थना कि—

अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्त्रिधः ॥ मं० ८ ॥

यह आध्यात्मिक उषा व ज्योति हमारी द्वेष-भावना और हिंसा को दूर करे, आध्यात्मिक दृष्टि को ही स्पष्टतया सूचित करती है। उषा का सूनृता और सूनरी यह विशेषण भी, जिसका अर्थ 'सत्य और प्रिय वचनों का प्रयोग करानेवाली तथा सच्चे मार्ग की ओर ले-जानेवाली है', अध्यात्मिक भाव की सूचना देता है। अतः जिस रयि वा ऐश्वर्य की प्रार्थना—

सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसम् उषा ददातु सुग्म्यम्।

मन्त्र १३ में की गई है और जिस पर लेखकों ने वह टिप्पणी दी है जिसकी हम आलोचना कर रहे हैं, वह ऐश्वर्य भी भौतिक नहीं बल्कि ज्ञान, भक्ति, सदाचार, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानादि-रूप है जिसे षट्क सम्पत्ति नाम से वेदान्त-ग्रन्थों में पुकारा जाता है अथवा अभय, चित्त-शुद्धि, ज्ञान और योग-समन्वय, दम, सत्य, स्वाध्यायादि जिसे भगवद्गीता में दैवी सम्पत्ति कहा गया है। रयि वा ऐश्वर्य के लिए विश्ववारम्, सुपेशसम्, सुग्म्यम् ये सब विशेषण भी उसके इस आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। 'विश्ववारम्' का अर्थ है 'विश्वैर्वरणीयम्'—सबके लिए स्वीकार करने योग्य; सुग्म्यम् का अर्थ है सच्चा आनन्ददायक—'सुग्म्यमिति सुख नाम' निघं० २. ६; 'सुपेशसम्' सुन्दर अश्व-गौ आदि शब्द भी मुख्यतया शक्ति और ज्ञान को सूचित करते हैं। सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी ने अपनी 'वेद रहस्य' विषयिणी लेखमाला में इन विषयों पर बड़ा उत्तम प्रकाश डाला है। उसे न समझकर देवता को प्रसन्न करने के लिए खुशामद अथवा असत्य स्तुति का आरोप वैदिक ऋषियों पर लगाना नितान्त अनुचित है। जिस महत्तम न्यायकारिणी शक्ति में विश्वास का अभाव वैदिक ऋषियों में था—ऐसा ये लेखक पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करते हुए कहते हैं। वेद तो स्थान-स्थान पर उसका अर्यमा, विधाता आदि शब्दों द्वारा निर्देश करते और उसके अटल नियमों को ऋत के नाम से पुकारते हैं—

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ — यजुः० ३६

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ —ऋग्० १०. ८२. ३

इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों में परमात्मा को अर्यमा अर्थात् न्यायकारी और विधाता अर्थात् कर्मफलदाता इस नाम से पुकारा गया है। निम्न मन्त्रों द्वारा उसके व्रतों वा अटल नियमों का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है—

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि ॥ —ऋग्० १. २४. १०

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्य ३ स्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ —ऋग्० १. २५. १०

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥ —ऋग्० ३. ५९. २

त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते। दक्षं दधासि जीवसे ॥ —ऋग्० १. ९१. ७

आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राट् विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि ॥ —यजुः० ४. ३०

अर्थात् उस सर्वज्ञ, अज्ञानान्धकार-नाशक परमेश्वर के अटल नियम हैं। जो उनके अनुसार अपने को चलाता है वह पूर्ण दीर्घायु से पूर्व मरता नहीं और न वह किसी से दबता है। उसको पास या दूर से पाप नहीं प्राप्त होता।

उस उस ऋत (परमेश्वरीय अटल सत्य नियम) का पालन करनेवाले को, चाहे वह युवा हो या वृद्ध, शान्ति का स्रोत भगवान् उत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए शक्ति प्रदान करता है ।

ग्रिफिथ का '**त्वं सोम महे भगम्**' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

To him who keeps the law, whether old or young, thou givest happiness and energy that he may live well.

इस प्रकार परमेश्वर को न्यायकारी और कर्मफलदाता मानने का भाव वेदों के हजारों मन्त्रों में विद्यमान है ।

ऋग्० ६. १५. ९ का निम्न मन्त्र स्पष्ट होने के कारण यहां उद्धृत किया जाता है—

विभूषन्नग्न उभयां अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव ॥

इसका अर्थ यह है कि (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! तू (देवानाम्) सत्यनिष्ठ विद्वानों का (दूतः) दुःख-विनाशक होता हुआ (उभयान्) देवों और मर्त्यों को अर्थात् निष्काम ज्ञानी तथा साधारण मनुष्यों को, जीवन्मुक्त तथा मृत्युग्रस्त को (व्रता अनु) उनके कर्मों के अनुसार (विभूषन्) विभूषित करता हुआ, उत्तम गति देता हुआ (रजसी समीयसे) दोनों लोकों को एकरस व्याप रहा है (यत्) यतः (ते धीतिम्) तेरे ध्यान तथा (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान को हम (आवृणीमहे) स्वीकार करते वा धारण करते हैं (अध) अतः (त्रिवरूथः) तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ तू (नः) हमारे लिए (शिवः स्म भव) कल्याणकारी हो ।

इस मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् 'व्रता अनु' कर्मों के अनुसार ही सबको फल देता है । केवल खुशामद से वह पापी को उत्तम फल दे देता है और सब इच्छाओं की पूर्ति कर देता है—ऐसा मानना वैदिक शिक्षा से नितान्त अनभिज्ञता प्रकट करता है । साथ ही वेद की शिक्षा तो पुरुषार्थ और उद्योग की है । केवल प्रार्थना और स्तुति अथवा यज्ञों से सब-कुछ सिद्ध हो जाता है—यह वेदों की शिक्षा नहीं ।

न वा अश्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥ —ऋग्० ४. ३३. १५

अर्थात् परमेश्वरीय शक्तियां और विद्वान् लोग उसकी सहायता नहीं करते वा उसके मित्र नहीं बनते जो स्वयं परिश्रम करके थक नहीं जाता । अतः 'वैदिक एज्' के लेखकों की टिप्पणी उनकी यथार्थ वैदिक शिक्षा से अनभिज्ञता को सूचित करती है ।

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ —यजुः० ३. ४७

यह मन्त्र भी इस विषय में उल्लेखनीय है जहां कहा है कि कर्मशील पुरुषार्थी सुखदायिनी उत्तम मधुर वाणी के साथ कर्म करते हैं । इस प्रकार हे मनुष्यो ! तुम भी विद्वानों के अथवा दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए मिलकर कर्म करते हुए घरों को जाओ । वेदों में निष्काम भाव से कर्म करने की सूचना अनेक मन्त्रों में है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ —यजुः० ४०. २

इस मन्त्र में कहा है कि सौ वर्षों तक कर्मों को करते हुए ही मनुष्य जीने की इच्छा करे; अन्य कोई प्रकार मोक्ष-प्राप्ति का नहीं है जिससे कर्म मनुष्य के अन्दर लिप्त न हो । यह निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश है ।

यद्यपि सर्वसाधारण कामनाओं से प्रेरित होकर, अथवा दुर्गति न हो इस भय से दानादि कर्म करते हैं, तथापि उत्तम कोटि के सात्त्विक पुरुष ईश्वरार्पित बुद्धि से केवल कर्तव्य समझकर ही दानादि परोपकार के कार्य करते हैं यह बात ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध दानसूक्त (ऋग्० १०. १०७) में निम्न मन्त्र में कही है—

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति ।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ॥

जो कुत्सित आचरण करनेवाले लोग हैं उनकी दानादि शुभ कर्मों और परमेश्वर तथा विद्वानों की पूजादि में प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु बहुत-से दान देनेवाले अवद्य निन्दा वा दुर्गति आदि के भय से दानादि कार्य करते हैं । यहां 'बहवः अवद्यभिया पृणन्ति' से यह ध्वनि निकलती है कि कई ऐसे सात्त्विक सज्जन होते हैं जो केवल कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर ये दानादि शुभ कर्म करते हैं । असन्तोष वा लोभ की बात भी, जिसका उन्होंने निर्देश किया है, सर्वथा अशुद्ध है ।

वेदों की शिक्षा तो अधिक से अधिक दान की है । सर्वत्र उसी पर बल है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त ३१ और १२५ तथा दशम मंडल के १०७ और ११७ ये सूक्त तो हैं ही उस विषय के जिनमें यहां तक कहा गया है कि—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥

अर्थात् जो भौतिक और आध्यात्मिक धन का दान करनेवाला होता है उसी को ऋषि, ब्रह्मा, यज्ञ का नेता, सामगायक और ईश्वर का सच्चा भक्त कहते हैं ।

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वत ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ॥ —ऋग्० १. ३१. १५

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! जो उदार दानी पुरुष होता है तू उसकी चारों ओर से कवच की तरह रक्षा करता है । जो उत्तम अन्न-सम्पन्न होकर अन्यों के लिए सुखदायक होता है और सब प्राणियों के कल्याण के लिए यज्ञ करता है वही इस पृथिवी पर मानो स्वर्ग को स्थापित करता है ।

'त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरम् ……' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

O Self refulgent Lord ! like a well-sewn armour thou dost protect the man from all sides who is liberal in benefactions to others, the man possessed of tasteful means of subsistence who remains ever engaged in gratifying others and who performs sacrifice for all the living beings, is really the type of heaven (on earth).

—Rig. 1.31.15

जो दान करनेवाले उदार पुरुष होते हैं उनके लिए संसार वस्तुतः कल्याणकारक बन जाता है और उन्हें यज्ञ-भावना को धारण करने से अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा वे दीर्घायु होते हैं । इस बात का ऋग्० १. १२५. ६ में कितना सुन्दर काव्यमय उपदेश है—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः ।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते, दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः ॥ —ऋग्० १. १२५. ६

इसका भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है ।

'दक्षिणावतामिदिमानि ..... ' का अंग्रेजी अनुवाद यह है—

Surely all these wonderful objects of the world belong to such persons who are of charitable disposition, even the sun and the stars shine in the heaven for the liberal-minded, the benevolent men attain immortality and fully qualified persons enjoy full life.

वेद ऐसे ही उपदेशों से भरा हुआ है । इन पर असन्तोष अथवा लोभ का आरोप करना नितान्त अनुचित और अन्यायपूर्ण है ।

ऋग्० १०. ११७ का 'वैदिक एज्' में भी उल्लेख किया गया है, किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि उसके भाव को अन्यथा समझकर असङ्गत टिप्पणी निम्न शब्दों में दी गई है—

The hymn (10.117) is packed with noble sentiments and its every word is charged with vigour. Yet it should not be forgotten that the hectoring eloquence of this energetic priest was probably directed mainly to the purpose of frightening the wealthy into ceding a part of wealth to the Brahmanas especially, and not to the poor of every class, for of genuine sympathy for the poor, there is not much in the Rigveda.

—*Vedic Age,* P. 342

अर्थात् इस सूक्त में उत्तम भाव बड़ी ओजस्विनी भाषा में भरे हुए हैं । किन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि इस शक्तिशाली पुरोहित की उत्तेजनापूर्ण वक्तृता का उद्देश्य संभवत: धनियों को डरा-धमकाकर उनके धन का एक भाग विशेषतया ब्राह्मणों के लिए प्राप्त करना था, न कि प्रत्येक वर्ग के गरीबों के लिए, क्योंकि ऋग्वेद में गरीबों के प्रति वास्तविक सहानुभूति की बात अधिक नहीं है ।

समीक्षा

इस टिप्पणी द्वारा 'वैदिक एज्' के लेखकों विशेषत: डॉ० घोष ने वैदिक ऋषियों ही नहीं, वैदिक शिक्षाओं के साथ अज्ञानवश घोर अन्याय कर दिया है । इस सारे सूक्त को हमने बार-बार ध्यानपूर्वक आद्योपान्त बढ़ा, किंतु हमें डॉ० घोष की उपर्युल्लिखित टिप्पणी सर्वथा असङ्गत और अन्यायपूर्ण प्रतीत हुई । यहां न तो तथाकथित पुरोहित की अपने लिए किसी भिक्षा का निर्देश है और न ब्राह्मणों के लिए, किंतु जिन शब्दों का मन्त्रों में प्रयोग हुआ है वे स्पष्टतया सब निर्धनों, दरिद्रों, अपाङ्गों और कथित दु:खितों को सूचित करते हैं । उदाहरणार्थ इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र को लीजिये—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोप जग्मुषे ।
स्थिरं मन: कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते ।।

अर्थात् जो (अन्नवान् सन्) अपने पास अन्न रखता हुआ (पित्व: चकमानाय) अन्न की इच्छा करनेवाले (रफिताय) बुरी अवस्था में पड़े (उप जग्मुषे) पास आये (आध्राय) गरीब के लिए अपना (मन: स्थिरं कृणुते) मन कठोर करता है (उत पुर: सेवते) और उसके सामने ही मज़े से अन्न खाता है (चित् स:) निश्चय से वह (मर्डितारं न विन्दते) किसी सुख देनेवाले को नहीं पाता ।

आध्राय, पित्व: चकमानाय, रफिताय ये सब विशेषण बुरी अवस्था में पड़े दु:खित निर्धन मात्र को सूचित करते हैं । ब्राह्मण वा किसी वर्गविशेष का नाम तक इस सारे सूक्त में कहीं नहीं ।

'य आध्राय चकमानाय पित्वः .....' का अंग्रेजी अनुवाद—

The man possessing means of subsistence; to whom when any needy person, fallen in miserable condition, comes begging for food, hardens his heart against that poor man and enjoys (his food) in his very presence, such a person does not find any comforter when he falls in need.

१०. ११७. ३ में कहा है—

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥

इस मन्त्र में भी भोज अर्थात् उदार पुरुष की प्रशंसा है जो (अन्नकामाय कृशाय गृहवे ददाति) अन्न की कामना करनेवाले, निर्बल, घर-घर में भिक्षार्थ फिरनेवाले निर्धन को अन्नादि देता है, उसके पास ईश्वर की कृपा से पर्याप्त अन्नादि रहता है और आपत्ति के समय उसकी सहायता करनेवाले भी अनेक मित्र होते हैं। यहां भी भिक्षुक के विशेषण अन्नकाम, कृश आदि हैं जो निर्धनमात्र और निर्बल व्यक्तियों को सूचित करते हैं और जिनमें ब्राह्मणादि वर्गविशेष का कहीं निर्देश नहीं।

'स इद् भोजो यो गृहवे ददाति' का अंग्रेजी अनुवाद—

Verily that man takes delight in his possession who gives liberally to such a feeble person that comes to his house being in need of food. Such a man gets sufficient means for charity at proper time and he befriends others on the occasion of his future difficulties.

इस उत्तम सूक्त का एक और मन्त्र उद्धृत करते हुए, जो वैदिक शिक्षा के ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, हम इस टिप्पणी की समालोचना को समाप्त करते हैं—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ —मं० ६

अर्थात् जो (अप्रचेताः) अज्ञानी है उसको व्यर्थ ही अन्नादि प्राप्त होता है। मैं (सत्यं ब्रवीमि) सत्य कहता हूं कि ऐसा अन्न-धनादि उसके नाश का कारण बन जाता है, जो (न अर्यमणं पुष्यति नो सखायम्) न न्यायकारी पुरुष का वा उस के द्वारा संचालित शुभ कर्मों का पोषण करता है और न मित्र की सहायता करता है। ऐसा (केवलादी) केवल अपना ही पेट भरनेवाला (केवलाघो भवति) केवल पाप को खानेवाला होता है।

कितने कठोर शब्दों में वेद केवल स्वार्थ में धन-अन्नादि का उपभोग करनेवाले की निन्दा करके परोपकार की प्रेरणा करता है और 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' द्वारा त्यागपूर्वक संसार के पदार्थों को भोगने और लोभ न करने का उपदेश करता है।

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः .....' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

The foolish man acquires means of subsistence with fruitless labour or in vain. I tell you the truth that the very means of subsistence and his wealth will be the cause

of his ruin for with that he neither serves his friends nor does good to the noble-minded justice-loving persons. Verily the man who enjoys his wealth alone without utilising it for the good of others is the embodiment of sin only. —Rig. 10.117.6

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वैदिक एज्' के लेखकों ने वेदों के अत्यन्त सरल और स्पष्ट सूक्तों के समझने में भी कई जगह भयङ्कर भूलें की हैं।

क्या निष्पापता पर वेदों में अधिक बल नहीं ?

'वैदिक एज्' की पृ० ३४३ की जिस टिप्पणी की हमने पिछले पृष्ठों में आलोचना की है, उसमें एक अत्यधिक भयङ्कर आरोप वैदिक ऋषियों पर यह लगाया गया है कि—

Absence of evil is not what they pray for most. Their supreme desire is to triumph over poverty and resistance. —*Vedic Age,* P. 343

अर्थात् वे अधिकतर निष्पापता की प्रार्थना नहीं करते। उनकी सबसे बड़ी इच्छा गरीबी और संघर्ष पर विजय प्राप्त करने की है।

समीक्षा

यह टिप्पणी नितान्त अन्यायपूर्ण और अशुद्ध है। चारों वेदों में यदि किसी वस्तु की सबसे अधिक प्रार्थना है तो वह निष्पापता की है। इस विषय के मन्त्र बहुत अधिक हैं। उदाहरणार्थ कुछ अत्यधिक स्पष्ट और सरल मन्त्रों को हम यहां उद्धृत करते हैं—

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ९७वें सूक्त में ८ मन्त्र हैं जिनमें से प्रत्येक के अन्त में ये शब्द आते हैं 'अप नः शोशुचदघम्' अर्थात् परमात्मा हमारे पाप को सर्वथा नष्ट कर दे।

१. **प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्। अप नः शोशुचदघम्॥**—मं० ४

२. **त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥**—मं० ६

३. **स नः सिन्धुमिव नावयातिपर्षा स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम्॥**—मं० ८

इनका तात्पर्य यह है कि—

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! हम विद्वान् तेरे ही बन जायें। हमारा पाप तेरी कृपा से सर्वथा नष्ट हो जाये। (मं० ४)

हे परमेश्वर ! तू सर्वव्यापक है। तेरी कृपा से हमारा पाप सर्वथा नष्ट हो जाये अर्थात् तेरी सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता को जान कर हम कभी पाप में प्रवृत्त न हों। (मं० ६)

जिस प्रकार जहाज द्वारा समुद्र को पार किया जाता है वैसे हे परमेश्वर ! तू हमें कल्याण के लिए भवसागर से पार करा और हमारे पाप को सर्वथा नष्ट कर दे। निष्पापता के लिए कितनी उत्सुकता यहां प्रकट की गई है ! (मं० ८)

४. ऋग्० २. २७. ५ में कहा है—**युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम्॥**

अर्थात् हे अध्यापकोपदेशको ! तुम्हारे नेतृत्व में मैं पापों से, जो गड्ढे की तरह मुझे गिरानेवाले हैं, सर्वथा दूर हो जाऊं !

५. ऋग्० ४. ११. ६ में प्रार्थना है—**आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि ॥**

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर तू (यत् निपासि) क्योंकि अच्छी प्रकार हमारी रक्षा करनेवाला है इसलिए तुझसे हम प्रार्थना करते हैं (अस्मत्) हमसे (अमतिम्) निर्बुद्धिता वा अज्ञान को (आरे) दूर रख (अंहः आरे) पाप को दूर रख और (विश्वां दुर्मतिम् आरे) सारी दुर्बुद्धि को भी सदा दूर रख।

६. ऋग्० ५. ४५. ११ में कहा है—**अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः ॥**

अर्थात् हे विद्वानो ! इस शुद्ध बुद्धि द्वारा हम भगवान् के भक्त बनें (अया धिया) इस शुद्ध बुद्धि से (अंहः अति तुतुर्याम) पाप से बिल्कुल परे चले जायें।

७. ऋग्० ७. १५. १३ में प्रार्थना है—**अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रतिष्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह ॥**

अर्थात् हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर तू (अंहसः नः रक्ष) पाप से हमारी रक्षा कर, हिंसक से हमारी रक्षा कर और अजर-अमर तू अपनी दुष्टसन्तापक शक्तियों से पाप को जला डाल।

८. ऋग्० ७. १५. १५ में प्रार्थना है—**त्वं नः पाह्यंहसो दोषावस्तरघायतः। दिवा नक्तमदाभ्यः ॥**

हे ज्ञानस्वरूप प्रभो (त्वम्) तू (अंहसः) पाप से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर (अघायतः) पाप की कामना करनेवाले से (दोषावस्तः-दिवानक्तम्) दिन-रात निरन्तर तू हमारी रक्षा कर।

९. ऋग्० ७. ६५. ३ में प्रार्थना है—**ऋतस्य मित्रावरुणा पथा वाम् अपो न नावा दुरिता तरेम ॥**

हे सबको मित्रदृष्टि से देखने और अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले अध्यापकोपदेशको ! आपके बताए हुए (ऋतस्य पथा) सत्य मार्ग से चलकर (नावा अप इव) नौका से नदी की तरह (दुरिता तरेम) सब पापों से हम परे चले जायें—पाप-नदी को तर जायें।

१०. **उरुष्या णो मा परा दा अघायते जातवेदः। दुराध्ये मर्ताय ॥** —ऋग् ८. ७१. ७

हे सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमेश्वर ! तू (मा उरुष्य) मेरी सदा रक्षा कर (अघायते दुराध्ये मर्ताय मा परा दाः) मुझे कभी पाप की इच्छा रखनेवाले दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य की सङ्गति में मत पड़ने दे।

ये १० मन्त्र हमने ऋग्वेद से उद्धृत किये हैं। ऐसे ही अन्य तीनों वेदों से उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पाप से मुक्त होने की भावना वेदों में ओत-प्रोत है और सबसे अधिक बल उस पर है। विस्तारभय से अधिक मन्त्रों को उद्धृत करना यहां संभव नहीं। परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का मुख्य फल ही वेदों के अनुसार पाप से बचाव है।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥ —ऋग्० २. २३. ५

अर्थात् हे ज्ञान के स्वामिन् ! जिसकी तुम रक्षा करते हो (तम् अंहः कुतश्चन न दुरितं न) उसके पास कहीं से भी पाप नहीं फटक सकता और न दुःख आ सकता है।

यजुर्वेद के तीन मन्त्र

ऋग्वेद की तरह यजुर्वेद में भी निष्पापता और पवित्रता पर सबसे अधिक बल दिया गया है। यजुः० ३. ४५ में प्रार्थना है—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। तदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे ॥

अर्थात् ग्राम, वन, सभा में और वैयक्तिक इन्द्रिय-व्यवहार में (यत् एनः वयं चकृम) हमने जो पाप किया है (इदं तत् अव यजामहे) उसको हम अपने से अब सर्वथा दूर कर देते हैं। भविष्य में कभी पाप न करने का दृढ़ निश्चय करते हैं।

यजुः० ४.४ में पवित्रतार्थ कितनी उत्तम प्रार्थना है—

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥

अर्थात् चित्त का स्वामी परमेश्वर मुझे पवित्र करे, वाणी का स्वामी मुझे पवित्र करे, सर्वोत्पादक परमेश्वर मुझे सर्वथा पवित्र बनाये।

यजुः० ४.२८ में प्रार्थना है—**परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज॥**

अर्थात् हे ज्ञानस्वरूप (मा दुश्चरितात् परि बाधस्व) मुझे दुश्चरित्र वा पाप के आचरण से सर्वथा दूर करो (मा सुचरिते भज) मुझे पूर्ण सदाचार में स्थिर करो। ऐसे ही अन्य सैकड़ों मन्त्र हैं।

सामवेद के तीन मन्त्र

सामवेद मुख्यतया उपासना का प्रतिपादक वेद है अतः उसमें भी निष्पापता के उपदेश तथा प्रार्थनाएं सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। उदाहरणार्थ पूर्वार्चिक ५७.१.७ में आदित्य-समान तेजस्वी विद्वानों को सम्बोधित करते हुए यह प्रार्थना की गई है—

अपामीवामपस्त्रधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥

अर्थात् हे सूर्यवत् तेजस्वी ज्ञानप्रकाशक विद्वानो ! तुम हमसे रोग, हिंसा, दुर्मति आदि को दूर करो और (नः) हमें (अंहसः) पाप से (युयोतन) दूर करो।

परमात्मा की उपासना का फल ही पाप से दूर होना है, इसलिए साम० ३२९ में कहा है—

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सं जितं धनानि॥

हम ज्ञान की प्राप्ति के कार्य में उस परमात्मा को सदा अपनी रक्षा के लिए स्मरण करें जो हमारी सच्ची प्रार्थनाओं को सुननेवाला और (वृत्राणि घ्नन्तम्) [पाप्मा वै वृत्रः, शत० ११.१.५.७] पापों का नाश करनेवाला है।

ऐसा ही यजुः० ३३.५ में कहा है—

हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः॥

जो परमेश्वर सब पापों का नाशक व ज्ञान और शक्ति देनेवाला है उसी की हम सदा उपासना करें।

अथर्ववेद के मन्त्र

अथर्ववेद में भी जिसे भ्रान्तिवश 'वैदिक एज्' के लेखक जादू-टोने का वेद समझते हैं, पाप से मुक्त होने की भावना सर्वत्र ओत-प्रोत है। उदाहरणार्थ ६.११५ में विद्वानों से प्रार्थना है—

(१) **यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।**
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः॥

अर्थात् जान-बूझकर वा बिना जाने हे सत्यनिष्ठ ज्ञानियो ! हम जो पाप करते हैं उनसे तुम हमें उपदेश देकर छुड़वाओ ।

(२) पाप को छोड़ने के लिए दृढ़ भावना और इच्छाशक्ति को काम में लाना चाहिए । इसका उपदेश अथर्व ६. २६. २ में इस प्रकार है—

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ॥

अर्थात् हे पाप ! तू जो हमें नहीं छोड़ता हम तुझे सर्वथा छोड़ देते हैं । हम कभी अब पाप में प्रवृत्त न होंगे ।

(३) अथर्व १६. ६. १ में इस विषय में कैसे दृढ़ निश्चय का उपदेश किया गया है —

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥

अर्थात् आज ही हम विजय कर लेंगे, हम सुख-शान्ति-आनन्द का भोग करेंगे और हम आज ही (अनागसः अभूम) पापरहित हो गये हैं ।

(४) अथर्व वेद के एक अन्य सूक्त ३. १३ की टेक ही यह है—

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥

अर्थात् मैं (सर्वेण पाप्मना) सारे पाप से दूर रहूंगा (वि यक्ष्मेण) सब रोगों से दूर रहूंगा और (आयुषा सम्) दीर्घ और उत्तम जीवन से संयुक्त हो जाऊंगा ।

ग्रन्थविस्तार-भय से अभी इतने ही उद्धरणों पर हम सन्तोष करते हैं जिनसे 'वैदिक एज्' के लेखकों की यह स्थापना सर्वथा असत्य सिद्ध होती है कि वैदिक ऋषियों की प्रार्थना अधिकतर या मुख्यतया पाप की निवृत्ति के लिए न थी, गरीबी को दूर करने के लिए ही थी ।

इन्द्र-विषयक सर्वथा अशुद्ध (भ्रान्त) कथन

इसी प्रसङ्ग में 'वैदिक एज्' में प्रो० मैक्डॉनल आदि पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण करते हुए यह बात लिखी गई है कि—

Their Chief God is Indra who does not possess a single spiritual trait.

—*Vedic Age*, P. 343

अर्थात् वैदिक ऋषियों वा आर्यों का मुख्य देव इन्द्र है जिसके अन्दर एक भी आध्यात्मिक गुण नहीं है ।

समीक्षा

यह बात भी इन्द्र के वास्तविक अर्थ और स्वरूप को न समझने के कारण लिखी गई है । हम जैसे कि "अनेक देवता और एकेश्वर पूजा" विषयक अध्याय में सप्रमाण दिखा चुके हैं, इन्द्र मुख्यतया परमेश्वर का नाम है । आधिभौतिक दृष्टि से वह राष्ट्रपति और आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा तथा शुद्ध मन के लिए भी प्रयुक्त होता है ।

इन्द्र का जो वर्णन वैदिक सूक्तों में आया है उसमें आध्यात्मिक गुणों की प्रधानता है । उदाहरणार्थ ऋग्वेद २. १२ के सूक्त में जिसके प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'स जनास इन्द्रः' ऐसा आता है, प्रथम मन्त्र में कहा है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ॥

अर्थात् जिस ज्ञानसम्पन्न परमेश्वर ने संसार को बनाते ही विद्वानों को ज्ञान से भूषित कर दिया।

मन्त्र १५ में कहा है—

वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः। वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥

हे परमेश्वर ! तू (वाजम्) ज्ञान और शक्ति को अच्छी प्रकार देता है इसलिए (स किल सत्यः असि) तू निश्चय से सत्यस्वरूप है। हम तेरे सदा प्रिय होकर और सुवीर बनकर ज्ञान का उपदेश करते रहें।

ऋग्० २. १५. १ में भी इन्द्र (परमेश्वर) को सत्यस्वरूप बताया गया है—

प्र घा न्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्॥

अर्थात् इस सत्यस्वरूप महान् परमेश्वर के ये सब कार्य भी अत्यन्त अद्भुत तथा सत्य हैं। सत्य के द्वारा ही उस सत्यस्वरूप भगवान् की प्राप्ति होती है।

सत्यमिद् वा उ तं वयम् इन्द्रं स्तवाम नानृतम्। महां असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः। भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥

—ऋग्० ८. ६२. १२

अर्थात् उस सत्यस्वरूप इन्द्र (परमेश्वर) की हम सच्चे रूप में सदा स्तुति-उपासना करें, असत्य रूप में नहीं। जो उसकी उपासना और यज्ञादि नहीं करता उसका महाविनाश होता है और यज्ञादि करनेवाले को बड़ी ज्योति प्राप्त होती है। उस इन्द्र (परमेश्वर) के बहुत कल्याणकारी दान हैं।

इस प्रकार इन्द्र के वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूप को समझ लेने पर, जिसकी प्राप्ति सत्य, अहिंसा, परोपकारादि द्वारा होती है, यह भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता कि इन्द्र के अन्दर एक भी आध्यात्मिक गुण नहीं है। वह तो सब श्रेष्ठ गुणों का समुद्र है—

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ —ऋग्० ८. ३. ४

सहस्रों ऋषि तत्त्वज्ञानी लोग जिस इन्द्र की महिमा का गान करते हैं, जो समुद्र की तरह गुणों का समुद्र सर्वत्र व्याप्त है, उसकी वह महिमा सत्य है, कल्पित नहीं।

आश्चर्य है कि 'वैदिक एज्' के लेखकों ने इन्द्रादि के तत्त्व को न समझकर कैसे भयङ्कर आरोप वेदों पर लगा दिये हैं ! इन्द्र ने अपने पिता त्वष्टा को मार दिया। यह निराधार बात 'वैदिक एज्' ने मैक्डॉनल की पुस्तक Hymns of the Vedas P. 46 से नकल करके न जाने कैसे लिख दी ! त्वष्टा तो ऐतरेय ब्राह्मण के इस वचन में इन्द्र का ही नाम बताया गया है—**इन्द्रो वै त्वष्टा** (ऐ० ६. १०)।

वेदों में बहुविवाहादि-विषयक भ्रान्ति का निवारण

वेदों के विषय में जहां 'वैदिक एज्' के लेखकों ने अनेक भ्रम फैलाये हैं, उनमें से एक यह भी है कि वेदों में बहुविवाह की अनुमति दी गई है। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि नियम एक विवाह का ही होगा। उनका लेख इस प्रकार है—

The Rigveda certainly permits polygamy, though monogamy may have been the rule. Whether monogamy developed from polygamy in the Regvedic Age as Zimmer

thinks in 'Altindische Leben' or whether polygamy is secondary as Weber believes in "Indische Studeiern" can not be decided. Probably polygamy, though allowed, was practically confined to the Rajanya class. Polyandry is not referred to anywhere in the Rigveda.

—*Vedic Age,* P. 390

अर्थात् 'बहुविवाह की अनुमति ऋग्वेदीय काल में निश्चय से थी—यद्यपि नियम एक विवाह का ही होगा । क्या बहुविवाह से ऋग्वेद के काल में एक विवाह विकसित हुआ जैसा ज़िम्मर का विचार है वा जैसा वीबर का विचार है कि बहुविवाह गौण है—इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता । संभवतः बहुविवाह की अनुमति यद्यपि दी जाती थी, किन्तु यह क्रियात्मक रूपेण क्षत्रिय-वर्ग तक ही सीमित था । बहुपतित्व का ऋग्वेद में कहीं निर्देश नहीं ।' इत्यादि—

समीक्षा

एक विवाह का ही वैदिक काल में नियम था, इसे तो 'वैदिक एज्' के लेखक भी स्वीकार करते हैं । यही आदर्श है जिसका वेदों में सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है जिनके कुछ निर्देश 'वैदिक एज्' में भी दिये गये हैं । उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद १. १२४. ७, ४. ३. २ और १०. ७१. ४ में 'जायेव पत्य उशती सुवासाः' ये शब्द आये हैं जिनका तात्पर्य है कि जिस प्रकार उत्तम वस्त्र धारण किये हुए, कामना करनेवाली पत्नी अपने पति के सम्मुख आती है, इस प्रकार विद्या अपना स्वरूप विद्वान् के सम्मुख प्रकट करती है—

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः । —ऋग्० १०. ७१. ४

जाया और पत्ये दोनों जगह एक वचन का प्रयोग एक विवाह के आदर्श का प्रतिपादक है ।

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा ।
पुरः सदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ॥ —ऋग्० १. ३. ३

इस मन्त्र में परमेश्वर की पति से प्रेम करनेवाली सच्चरित्रा साध्वी पत्नी के साथ भी उपमा दी गई है । इससे भी एक विवाह का आदर्श ही सूचित होता है ।

'देवो न यः पृथिवीं .....' का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

He who is like the sun, the supporter of the universe;
Who abides on earth like a king with good friends,
Who is like heroes at home that sit in front,
And who is like the irreproachable wife beloved of her husband.

—*The Call of the Vedas* by Dr. A.C. Bose, P. 99

ऋग्० १०. १४९. ४ का निम्न मन्त्र भी इस विषय में उल्लेखनीय है—

गाव इव ग्रामं युयुधिरिवाश्वान् वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना ।
पतिरिव जायाम् अभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥

इस मन्त्र में अनेक उपमाओं द्वारा परमेश्वर से प्रेम प्रकट किया गया है और उससे मेल की आतुरता प्रकट की गई है । पहली उपमा गौओं के ग्राम में लौटने की है, दूसरी योद्धाओं के अश्व से प्रेम की है, तीसरी गौओं के अपने बछड़ों से प्रेम की, और चौथी पति के पत्नी से प्रेमपूर्वक मेल की है । जाया, पतिम् दोनों स्थानों पर एकवचन का प्रयोग है ।

"गाव इव ग्रामम् ..... विश्ववारः ।" इसका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

As kine turn to the village, as warriors to their steeds, as loving milk-giving cows to their calves. As the husband to the wife, so may the Deity, the upholder of the heavens, Lord of all bliss, turn towards us.

केवल उपमा पर ही हमारा बल नहीं, क्योंकि वेदों में एकांश को लेकर अनेक प्रकार की उपमाएं पाई जाती हैं, किन्तु वेदों की सारी शिक्षा एक विवाह के आदर्श का समर्थन करती है । ऋग्वेद १०. ८५ के विवाह सूक्त में इसके स्पष्ट निर्देश हैं । उदाहरणार्थ—ऋग्० १०. ८५. २० में सूर्य-कान्ति समान तेजस्विनी कन्या को सूर्या के नाम से सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—

आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं, स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥

हे सूर्यकान्तिवत् तेजस्विनी ! तुम इस रथ पर चढ़ो और अपने पति के लिए सुख का सदा विस्तार करो ।

मन्त्र २३ में कहा गया है कि—

सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥

यह पति-पत्नी-सम्बन्ध उत्तम नियमित रूप से संयमपूर्वक सदा चलता रहे ।

मन्त्र २४—**ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ।**

अर्थात् हे वधु ! तुझे पति के साथ सदा पुण्य और सत्य के मार्ग में नीरोगता-सहित संयुक्त करता हूं ।

मन्त्र ४२—**इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥**

अर्थात् तुम दोनों इस संसार वा गृहस्थ आश्रम में सुखपूर्वक निवास करो । तुम्हारा कभी परस्पर वियोग न हो । सदा प्रसन्नतापूर्वक अपने घर में रहो ।

मन्त्र ४७— **समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ । सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥**

हम दोनों (वर-वधू) सब विद्वानों के सम्मुख घोषणा करते हैं—हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त और परस्पर मिले हुए रहेंगे । प्राणवायु जैसे हमें प्रिय है वैसे हमारा परस्पर प्रेम होगा । परमेश्वर ऐसी कृपादृष्टि हमारे ऊपर सदा रक्खें । इस प्रकार वेद की सारी शिक्षा एक विवाह के आदर्श की है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता । अथर्ववेद के विवाह-विषयक चतुर्दश कांड से और अन्य सूक्तों से भी इसी का समर्थन होता है । अथर्व ७. ३५. ४ में पति-पत्नी के मुख से कहलाया है—

अन्तः कृणुष्व मां हृदि, मन इन्नौ सहासति ॥

अर्थात् तुम मुझे अपने हृदय में बैठा लो, हम दोनों का मन एक ही हो जाये । तथा पत्नी के मुख से—

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ —अ० ७. ३८. ४

अर्थात् तुम केवल मेरे बनकर रहो । अन्य स्त्रियों का कभी कीर्तन वा व्यर्थ प्रशंसादि भी न करो । इत्यादि वचनों से इसी एक विवाह के आदर्श का समर्थन होता है ।

इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती । प्रजयैनो स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ॥ —ऋग्० १४. २. ६४

जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ —अ० ३. ३०. २

इत्यादि मन्त्रों से भी, जिनमें पति-पत्नी को चकवा-चकवी की तरह परस्पर प्रेमयुक्त करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई है तथा पत्नी पति के साथ ऐसी मिठास से भरी वाणी का प्रयोग करे जो शांतिदायिनी हो, इसी एकविवाह-आदर्श का पूर्ण समर्थन होता है । 'वैदिक एज्' में कुछ मन्त्रों में दी हुई उपमाओं के आधार पर जो बहुविवाह की अनुमति की बात कही गई है, वह इतने प्रबल प्रमाणों के होते हुए तुच्छ हो जाती है । उन्हीं उदाहरणों में दो तो स्पष्टतया बहुविवाह की निन्दा करनेवाली उपमाएं हैं । यथा—ऋग्० १०. १०५. ८ की उपमा निम्न है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ॥

यहां 'सांसारिक आधियां मुझे सन्तप्त कर रही वा दुःख दे रही हैं जैसे सौतें करती हैं ।' यह उपमा तो स्पष्टतया बहुविवाह को दुःखदायक बताने के लिए दी गई है । इससे बहुविवाह की अनुमति सूचित नहीं होती ।

१०. १०१. ११ में जो उपमा दी गई है—

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः ।

वह बहुविवाह की निन्दा करने के लिए है । मन्त्रार्थ इस प्रकार है कि हिनहिनानेवाला रथ का घोड़ा दोनों धुराओं के मध्य में दबा हुआ चलता है जैसे एक समय में दो स्त्रियां करनेवाला (द्विजानिः) पति दबा हुआ होता है । अर्थात् जिस प्रकार टमटम का घोड़ा दोनों धुराओं के बीच में जकड़ा जाने के कारण इधर-उधर हिल नहीं सकता उसी प्रकार दो पत्नियों का पति पूर्णतया परतन्त्र हो जाता है । इसलिए एक समय दो वा अधिक पत्नियां करना उचित नहीं है ।

आपद्धर्म के रूप में वेदों में नियोग का विधान है । इस प्रकार वैदिक एक विवाह के आदर्श को मानना चाहिए ।

केवल एक वचन व बहुवचन से ही परिणाम निकालना हो तो—

तां पूषन् शिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ —ऋग्० १०. ८५. ३७

इसका यह अर्थ समझा जायेगा कि एक स्त्री के अनेक पति होते हैं और वे उसमें वीर्याधान करते हैं, यस्याम्—स्त्रीलिंग सप्तमी एकवचन, मनुष्याः—बहुवचन; यस्याम्—स्त्रीलिंग सप्तमी एकवचन, उशन्तः—प्रथमा बहुवचन ।

इससे तो बहुपतित्व वा Polyandry सिद्ध होगी जिसे 'वैदिक एज्' के लेखक भी नहीं मानते । वस्तुतः उपमाओं में वचन अविवक्षित होता है, क्योंकि उपमा ही एकदेशीय होती है—यही मानना उचित है । सपत्नीघ्नसूक्त का यदि बाह्यतः प्रतीयमान अर्थ भी लें (यद्यपि वस्तुतः वह अविद्या-विषयक है) तो सपत्नी के द्वेषमय भावों का प्रदर्शन करके बहुविवाह की निन्दा में ही उसका तात्पर्य है ।

इस विषय को समाप्त करने से पूर्व एक वेदमन्त्र पर प्रकाश आवश्यक प्रतीत होता है जिसे अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् वेदों में बहुविवाह का प्रतिपादक सिद्ध करने के लिए प्रायः उद्धृत करते हैं । वह मन्त्र निम्नलिखित है—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् । मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः ॥ —ऋग्० ८. १९. ३ ।

इस मन्त्र का ऋषि 'सोभरिः काण्वः' और देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय 'त्रसदस्योर्दानस्तुतिः' है । सायणाचार्य आदि के अनुसार निम्न कथा का प्रतिपादन इस सूक्त के मन्त्रों में किया गया है जो विष्णु पुराण, भागवत आदि में कुछ-कुछ भेद से पाई जाती है—

सोभरि ऋषि जल में निमग्न हो १२ वर्ष तप करते रहे । एक समय संमद नाम का मीनराज अपने परिवार के साथ क्रीड़ा करता हुआ इनके निकट रहने लगा । ऋषि भी इसकी क्रीड़ा को देखकर मुग्ध हो गये और सोचने लगे कि मैं भी इस मीन की तरह भोग भोगूं तो कैसे आनन्द से दिन कटें । विवाहार्थी हो मान्धाता राजा के पास पहुंचे । उसकी ५० कन्याएं थीं । राजा ने कहा कि हमारी कन्याएं स्वयंवरविधि से विवाह करती हैं । वे वृद्ध के साथ विवाह करना पसन्द न करेंगी । इनके अन्तःपुर में जाने और योगबल से तरुण बन जाने पर सब कन्याओं ने इनसे विवाह की इच्छा प्रकट की । अतः राजा ने सबके साथ सोभरि का विवाह कर दिया, जिससे इनके १५० बच्चे हुए । वस्तुतः मन्त्रों में इस कथा का कोई वर्णन नहीं । हां, सोभरि शब्द मन्त्रों में २ बार आया है । एक तो मन्त्र २ में जो निम्नलिखित है—

विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम् ।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥

इस मन्त्र में 'सोभरि' अर्थात् 'सुष्ठु विद्ययात्मानं भरतीति सोभरि'—अच्छी प्रकार विद्या से अपने को भरपूर करनेवाले विद्वान् को सम्बोधन करते हुए यह उपदेश दिया गया है कि हे 'सोभरे', हे (विप्र) ज्ञानिन् , तू (विभूतरातिम्) बहुत प्रकार का दान देनेवाले (चित्रशोचिषम्) अद्भुत तेजोयुक्त (अस्य सोम्यस्य मेधस्य यन्तुरम्) इस सुन्दर संसाररूप यज्ञ वा सङ्गत कर्म के नियामक (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप अग्रणी—नेता परमेश्वर की ही (अध्वराय) हिंसारहित शुभ कार्य की पूर्ति के लिए (ईळिष्व) स्तुति कर । यह सोभरि अर्थात् उत्तम शक्ति, विद्यादि को अपने में धारण करनेवाले ज्ञानी को सम्बोधन है । कहीं ऐसा न समझ लिया जाये कि वह कोई एक व्यक्तिविशेष है ।

इसी सूक्त के मं० ३२ में 'सोभरयः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग आया है—

तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे । सम्राजं त्रासदस्यवम् ॥ —ऋ० ८

अर्थात् हे विद्यादि से अपने को भरपूर करनेवाले उपासक ! (अवसे) रक्षा, ज्ञान और वृद्धि के लिए (तम्) उस (सहस्रमुष्कम्) अपरिमित तेजवाले, सहस्राणि—असंख्यातानि मुष्णन्तितमांसि हरन्तीति मुष्काणि तेजांसि यस्य तम् (स्वभीष्टम्) शोभनमिष्टम् उत्तम इष्टदेव (सम्राजम्) अच्छी प्रकार से सर्वत्र प्रकाशमान (त्रासदस्यवम्) त्रस्यन्ति बिभ्यति दस्यवो दुष्टा यस्मात् तं दुष्टनियन्तारम्—दुष्टों के नियन्ता परमेश्वर को (आगन्म) प्राप्त हुए हैं, उसी की शरण में आये हैं । 'त्रासदस्यवः' इसमें 'स्वार्थे ष्यञ्' ष्यञ् प्रत्यय का प्रयोग त्रसदस्यु के ही अर्थ में हुआ है । इस प्रकार किसी एक सोभरि नामक व्यक्ति-विशेष का नहीं किन्तु सब ज्ञानी उपासकों द्वारा रक्षा, ज्ञान और वृद्धि के लिए उस सबके सम्राट् दुष्टनियन्ता परमेश्वर की ही शरण में जाने का मन्त्र में उपदेश है और 'अदान्मे पौरुकुत्स्यः' इस मन्त्र में उस परमेश्वर की ही अद्भुत देनों का वर्णन है । जैसा हमने ऊपर दिखाया है—सोभरि वह ज्ञानी उपासक कहलाता है जो ज्ञान, शक्ति, आदि से अपने को अच्छी तरह से भरपूर कर लेता है । सुष्ठु भरणकर्ता=सोभरिः । उसके लिए काण्वः का भी प्रयोग हुआ है, क्योंकि वह मेधा-बुद्धिसम्पन्न पिता का सच्चा पुत्र होता है । कण्व इति मेधावि नाम —निघं० ३. १५ ।

ऐसे मेधावी विद्वान् के सच्चे पुत्र वा शिष्य सोभरि द्वारा ईश्वर के दानों का वर्णन मन्त्र में इस रूप में किया गया है कि—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् ।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः ॥ —ऋग्० ८. १९. ३६

अर्थात् उस (पौरुकुत्स्यः) पुरवः बहवः कुत्साः पापदुःखनिवारकबलरूपवज्रा यस्य; कुत्स इति वज्रनाम निघं० २. २०; पुरु कुत्स एव पौरुकुत्स्यः (स्वार्थे ष्यञ्) जिसके पास पाप और दुःख के निवारक बलरूपी अनेक वज्र हैं ऐसे (मंहिष्ठः) सबसे बड़े दानी (सत्पतिः) सज्जनों के पालक और (त्रसदस्युः—दुष्टनियन्ता) दुष्टों के नियन्ता (अर्यः) संसार के स्वामी परमेश्वर

ने [अर्यः स्वामि वैश्ययोः ॥ अष्टाध्यायी अ० सू० ३-१-१०३] (मे) मेरे लिए (वधूनाम्) वहन्ति प्रापयन्ति सुखमिति वध्वः तासाम्, सुख को प्राप्त करानेवाली शक्तियों तथा पदार्थों की (पंचाशतम्) ५० संख्या को (अदात्) दिया है अथवा देता है। 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः' अष्टा० ३-४-६ के अनुसार सामान्यकाल में यह प्रयोग है। वे ५० सुखदायिनी शक्तियां वा पदार्थ निम्नलिखित हैं—

१० इन्द्रिय, १० प्राण, मन बुद्धि-चित्त-अहङ्कार ये चार, अन्तः करण, विद्यास्वभाव, शरीर और बल ये ४, इस प्रकार २८ हुए जिनकी उपर्युक्त प्रकार से गणना महर्षि दयानन्द ने 'अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे क्षेमं प्रपद्ये योगं च योगं प्रपद्ये क्षेमं च। नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु।' अथर्व कां० १९ के इस मन्त्र की व्याख्या इस में ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के उपासना प्रकरण में की है। ४ वेद और चार धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये पुरुषार्थ मिला कर ३६ हो गये। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इस सुप्रसिद्ध षट्क सम्पत्ति को मिलाने से ३६+६=४२ संख्या हो गई। निम्न ८ सिद्धियों को मिलाने से, जिनकी गणना 'ऊहादिभिः सिद्धिः' इस सांख्य-सूत्र की व्याख्या में की गई है, यह ५० की संख्या पूरी हो जाती है—

ऊहः शब्दो ऽध्ययनं, दुःख विघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽकुशस्त्रिविधः॥

अर्थात् ऊह—पूर्वजन्म के अभ्यास और प्रबल संस्कारों के कारण इस जन्म में विशेष उपदेशादि के बिना भी तत्त्व का बोध हो जाना, किसी अन्य के उपदेश से ज्ञान हो जाना, वेदादि के अध्ययन से सिद्धि, आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति, तत्त्वज्ञानी मित्रों की प्राप्ति और दान—इन ८ सिद्धियों की प्राप्ति परमेश्वर की कृपा से ही सच्चे उपासक को होती है जिसके लिए वह परमेश्वर का बार-बार धन्यवाद करता है, जैसे इस सूक्त के—

तव क्रत्वा सनेयं, तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाऽग्ने हर्षस्व दातवे॥ —ऋग्० ८. १९. २९

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमावरः॥ —ऋग्० ८. १९. ३०

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के (रातिभिः) दानों से ही मनुष्य सुख को प्राप्त करता है। वह जिसकी मित्रता को प्राप्त करता है वही पुरुष संसार में वृद्धि और उन्नति को प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि मन्त्र ३२ में प्रयुक्त त्रासदस्यव और मन्त्र ३६ में प्रयुक्त मंहिष्ठः, अर्यः, सत्पतिः इत्यादि विशेषणयुक्त त्रसदस्युः परमात्मा ही है, कोई राजविशेष नहीं है; तथा सोभरिः, सोभरयः इत्यादि पदों से उत्तम विद्यादि को अपने में अच्छी प्रकार धारण करने वाले ज्ञानी उपासकों का ग्रहण है जिन्हें भगवान् की कृपा से सुखदायक ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, देवदत्त, कूर्म, कृकल, नाग और धनंजय ये १० प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर, बल, ४ वेद, ४ पुरुषार्थ, शमादि षट्क सम्पत्ति, ऊह, शब्द अध्ययन, विविध दुःखनाशादि ८ सिद्धियां—ये ५० वधुएं [अर्थात् वहन्ति प्रापयन्ति सुखम् इति। देखो उणादि कोष १. ८३ वहेर्धश्च वहति सुखानि प्रापयतीति वधूः] प्राप्त होती हैं। ५० वधुओं से तात्पर्य १० इन्द्रियों की शक्ति को पंचगुणित करने का भी लिया जा सकता है। इसमें ५० स्त्रियों के साथ वृद्ध सोभरि नामक ऋषि के विवाह की कहीं कोई चर्चा नहीं, जैसा सायणाचार्यादि तथा पाश्चात्य लेखकों ने भ्रम से समझ लिया। वेदों में जब 'सं मातपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।' ऋग्० १. १०५. ८, तथा—'उभे धुरौ वह्निरापब्दिमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।' ऋग्० १०. १०१. ११ के द्वारा सपत्नीत्व और द्विभार्यत्व की इतनी निन्दा है और उसे दुःखजनक बताया गया है तो ५० स्त्रियों से विवाह का प्रतिपादन हो ही कैसे सकता है ?

क्या अथर्ववेद जादू-टोनों का वेद है ?

क्या अथर्ववेद जादू-टोनों का वेद है ?

वैसे तो सारे ही वेदों के विषय में 'वैदिक एज्' में बहुत-से अशुद्ध विचार प्रकट किये गये हैं जिनकी समालोचना हमने गत पृष्ठों में की है, किन्तु अथर्ववेद के विषय में तो उन्होंने बहुत ही अशुद्ध, भ्रांतिपूर्ण बातें लिखीं और इसे जादू-टोनों का वेद बताया है। यह बात यद्यपि प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने लिखी है, तथापि यह सर्वथा अशुद्ध है। अथर्ववेद के अन्दर ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक अनेक सूक्त विद्यमान हैं। योगविद्या का भी इसके अनेक सूक्तों में प्रतिपादन है। इसलिए अथर्ववेद का एक नाम ही ब्रह्मवेद है जिसके लिए अनेक प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ गोपथ ब्राह्मण २. १६ में लिखा है—

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ॥

यहां अथर्ववेद के लिए ब्रह्मवेद आया है। अथर्ववेद १५. ६. ८ में स्वयं अपने लिए ब्रह्मवेद लिखा है—

तम् ऋचः सामानि यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलन्।

इत्यादि मन्त्रों द्वारा ब्रह्मवेद शब्द का प्रयोग है। इससे भी ज्ञात होता है कि केवल ब्रह्मा का मुख्य वेद होने से इसे ब्रह्मवेद नहीं कहते जैसा कई विद्वानों का विचार है, किन्तु ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक होने से इसे ब्रह्मवेद कहते हैं। अथर्व काण्ड २ में—

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥ — अ० २. २. १

वरुण सूक्त ४. १६, अथर्व १०. २, केन सूक्त १०. ७, स्कम्भ सूक्त १०. ८, ब्रह्म सूक्त
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

इत्यादि ११. ७ उच्छिष्ट सूक्त इत्यादि में ब्रह्मविद्या का अत्युत्तम प्रतिपादन है। इससे कोई निष्पक्ष व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। इस बात को ब्लूमफील्ड ने भी स्वीकार किया है और लिखा है—

The Atharvan is a sacred text in more than one respect, aside from the material which it shares with the Rig and Yajur Vedas, many of its hymns and practices are benevolent (bheshaj) and are in general well-regarded, though even these; as we shall see, do not altogether escape the blight of comtempt. Many hymns of the Atharvaveda are theosophic in character. On whatsoever ground they found shelter in the Atharvan collection, they can not have been otherwise than highly esteemed. The class of charms designed to establish harmony in family and village life and reconciliation of enemies (the so-called Sammanasyani) and the royal ceremonies (Raj Karmani) are obviously auspicious in their nature. Even the sorceries of the Atharvans necessarily show a double face, they are useful to one self, harmful to others.

—*Hymns of the Atharva Veda* Translated by
M. Bloomfield, Introduction P. XXIX

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि अथर्ववेद अनेक दृष्टियों से। ऋग्वेद और यजुर्वेद के समान जो मन्त्र इसके अन्दर हैं उनके अतिरिक्त इसकी बहुत-सी क्रियाएं और सूक्त लाभकारक (भेषज) हैं और इनके विषय में लोग आदर का भाव रखते हैं। इस वेद के बहुत-से सूक्त ब्रह्मविद्या के साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

परिवार, ग्रामीण जीवन और सांमनस्य तथा राज-कर्म-विषयक जादू अपनी प्रकृति में मंगलस्वरूप हैं। इसकी कृत्या, अभिचारादि क्रियाएं भी दोनों प्रकार की हैं; वे करनेवाले के लिए तो लाभदायक और दूसरों के लिए हानिप्रद हैं।

हम आगे दिखायेंगे कि अथर्ववेद उस प्रकार के जादू-टोनों का वेद नहीं है जैसा इसको भूल से प्रायः सभी पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने समझ रखा है। ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या और योग से सम्बन्ध रखनेवाले सूक्त इसके अन्दर बहुत बड़ी संख्या में हैं। अथर्वा शब्द का अर्थ 'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' है अर्थात् चंचलता का निषेध व दूसरे शब्दों में चित्तवृत्तिनिरोध व स्थितप्रज्ञता की अवस्था और उसके साधनों का प्रतिपादन होने से इसे अथर्ववेद कहते हैं।

इस वेद में चिकित्सा के सूक्त भी बहुत सारे हैं इसलिए अथर्व० ११. ६. १४ में 'ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि' के द्वारा इसके लिए 'भेषजा' का प्रयोग है। गोपथ पूर्वार्ध ३. ४ में 'येऽथर्वाणस्तद् भेषजं यद् भेषजं तदमृतं तद् ब्रह्म' ऐसा वाक्य आया है जिससे स्पष्ट होता है कि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति के उपायों का प्रतिपादन इसके अन्दर है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण १२. ९. १० में अथर्ववेद के सूक्तों के विषय में लिखा है—

"भेषजं वा आथर्वणानि।"

अर्थात् अथर्ववेद के सूक्त अधिकतर चिकित्सा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। यह चिकित्सा शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी प्रकार के रोगों की है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण १६. १०. १० में भी यही बात और स्पष्ट रूप से कही गई है—

भेषजं वै देवानामथर्वाणः (अथर्वणा ऋषिणा दृष्टा मन्त्राः) भैषज्यायैवारिष्ट्यै।

अर्थात् अथर्वा ऋषि द्वारा दृष्ट ये अथर्ववेद के मन्त्र देवों के लिए भेषजों—औषधों के प्रतिपादक हैं जिनसे आरोग्य की प्राप्ति हो सकती है।

शारीरिक रोग-चिकित्सा होने के कारण आयुर्वेद का मूल इस वेद को बताया गया है—

इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य। (सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १०)

इसी प्रकार चरक सूत्रस्थान अ० ३०. २० में भी कहा है—

वेदो ह्याथर्वण ····· चिकित्सां प्राह॥

अथर्ववेद चिकित्सा के विषय का प्रतिपादक है।

वस्तुतः वे आयुर्वेदिक और वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रयोग अथर्ववेद में प्रतिपादित हैं जिन्हें भ्रम से जादू-टोने समझ लिया जाता है।

अथर्ववेद में जिस प्रकार की मन्त्रविद्या है उसके ५ विभाग किये जा सकते हैं—

१. प्रथम संकल्प वा आवेश।

२. अभिमर्श और मार्जन (Mesmerism)।

३. आदेश (Hypnotism)।

४. मणिबन्धन।

५. कृत्या और अभिचार।

(१) **संकल्प वा आवेश** के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं कुछ संकल्प द्रष्टव्य हैं—

पाप को हटाने के संकल्प—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। (अथर्व० ६. ४५. १)

सफलता-प्राप्ति के संकल्प—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। (अ० ७. ५८. ८)

रोग दूर करने के संकल्प—

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर। (अ० २०. ९६. २४)

हस्तिबल को अपने अन्दर धारण करने का संकल्प—

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव। (अ० ३. २२. १)

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है कि यह संकल्पशक्ति का विषय मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है। इसमें जादू-टोने की कोई बात नहीं, यह स्पष्ट ही है।

(२) **अभिमर्श**—यह शरीर में सनसनाहट उत्पन्न करनेवाले स्पर्श का नाम है। अभिमर्श से अनेक रोग तथा मानसिक दोष दूर किये जा सकते हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अभिमर्श-विद्या को मैस्मरिज्म (Mesmerism) के नाम से कहते हैं। अभिमर्श-विद्या के मूल मन्त्र निम्नलिखित हैं—

अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥ अथर्व० ४. १३. ६, ७

अर्थात् यह मेरा हाथ भाग्यवान्, यशस्वी है, यह मेरा अत्यधिक भाग्यवान् वा यशस्वी है। (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ समस्त रोगों को शान्त करनेवाला ओषधरूप है। (अयं शिवाभिमर्शनः) यह सुख-शान्ति के स्पर्शवाला है।

दसों अंगुलियों सहित हाथों से तथा आरोग्यकारक इन हाथों से (त्वा अभि मृशामसि) हे प्यारे रोगिन्! हम तेरा स्पर्श करते हैं तथा शुद्ध प्रबल वाणी द्वारा तुझे नीरोग होने का आदेश देते हैं।

यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब प्रेमयुक्त पवित्र भावना के साथ इस प्रकार रोगी के शरीर के अवयवों का स्पर्श किया जाता है और उसके अन्दर भी यह भावना भरी जाती है कि उसका रोग और कष्ट क्रमशः दूर होता जा रहा है तो उस का प्रभाव रोगी पर भी अवश्य पड़ता है और वह अपने रोग तथा तज्जन्य कष्ट में कमी अनुभव करता है।

इसी हस्ताभिमर्श के साथ सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु मार्जन वा पुरश्चरण है जो जल, वस्त्र वा कूर्च (बाल, विशेषतः चवरी, गौ की पूंछ के बाल इत्यादि) के साथ किया जाता है। इसकाभी सम्बन्ध मनोविज्ञान, आयुर्वेद तथा जीवन-विद्या के साथ है। इसे भी जादू-टोना समझ लेना भूल है।

(२) **आदेश-विद्या** और संवशीकरण का भी अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में प्रतिपादन है। आदेश से प्रायः सभी रोगों में लाभ होता है, किन्तु मानसिक और मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों में तो विशेष लाभ होता है। किसी पात्र पर प्रभाव डालने के लिए पहले उसके मन को अपनी ओर खींचना चाहिए जिसे—

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेव वा। तद् व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ — अथर्व० ७. १३. ४

इत्यादि मन्त्रों की भावना द्वारा किया जाता है जिनमें कहा गया है कि तुम्हारा जो मन इधर-उधर गया हुआ है उसे मैं अपनी ओर खींचता हूं। वह मन मेरे में ही रमण करे।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ — अथर्व० ३. ८. ६

इनमें रोगियों को सम्बोधन करते हुए प्रयोजक आदेश देता है कि मैं तुम्हारे मनों और चित्तों को अपने मन और चित्त के साथ मिला देता हूं। तुम्हारे हृदयों को मैं अपने वश में कर लेता हूं जिससे तुम मेरे अनुगामी बनकर रहो। इस प्रकार आदेश द्वारा रोगी को अपना अनुगामी बनाकर प्रयोजक उनकी ईर्ष्या, उन्माद आदि को दूर करने का प्रयत्न करता और प्रायः उसमें सफलता प्राप्त करता है। आत्मविश्वास के साथ वह रोगी को सम्बोधित करते हुए कहता है कि—

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥ — अथर्व० ६. १११. २

अर्थात् हे प्यारे रोगिन् ! यदि तेरा मन उचाट हो गया या अव्यवस्थित हो गया हो तो अग्नि उसे शान्त कर दे, और मैं विद्वान् ऐसे साधन तेरे लिए प्रस्तुत करूंगा जिससे तू उन्मादरहित हो जाये। अग्नि जलाकर उसमें कर्पूर, चन्दन, तुलसी-बीज आदि डालकर हवन करने से उन्माद रोगी को लाभ होता है—ऐसा मन्त्र में बताया गया है। यक्ष्म ज्वर वा क्षय रोग को दूर करने के लिए भी वेदों में आदेश निम्न मन्त्रों द्वारा बताया गया है—

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्मम् अंगेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ — अथर्व० ५. ३. ८-९

अर्थात् तू भयभीत न हो। तुझे मैं दीर्घायु बनाता हूं। मैं तेरे अङ्ग-अङ्ग से ज्वर को दूर कर देता हूं। तेरा जो अङ्गों का टूटना, अङ्गों में ज्वर, हृदय-रोग इत्यादि हैं उन सब को मैं वाणी तथा हवनादि के प्रभाव से दूर कर देता हूं।

एक और मन्त्र का उल्लेख करके हम मणिबन्धन के विषय पर आते हैं—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथम् अथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ — अथर्व० ८. १. ६

हे पुरुष ! तेरी सदा उन्नति हो, कभी तेरी अवनति न हो। तेरे उत्तम जीवन के लिए मैं तेरी शक्ति का विस्तार करता हूं। इस अमृतमय शरीर-रथ पर तू सवार हो जा और फिर वृद्ध तथा अनुभवी होकर लोगों को ज्ञान का उपदेश कर।

इस प्रकार आदेश-विद्या के मन्त्रों से अथर्ववेद के अनेक सूक्त भरे पड़े हैं। इन्हें भी जादू-टोने का नाम देना भूल है।

(४) मणिबन्धनादि-विषयक विचार

यह एक ऐसा विषय है जिससे अनेक विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि सचमुच अथर्ववेद में जादू-टोने की तथा गण्डा, तावीज (Talisman) इत्यादि बांधने की-सी कई बातें हैं; किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध

आयुर्वेद तथा युद्धविद्या आदि से है। उदाहरणार्थ अथर्व कांड ४ सू० ९ में आंजनमणि, ४.१० में शङ्खमणि, १.२९ में अभीवर्तमणि, ८.५ में प्रतिसर मणि, १०.३ में वरणमणि, २.४ तथा १९.३४-३५ में जङ्गिडमणि, ३.५ में पर्णमणि, १९.३६ में शतवार मणि, २.११ और ८.५ में स्राक्त्य मणि और १९.३१ में औदुम्बर मणि का वर्णन पाया जाता है। इनसे सम्बद्ध सूक्तों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इनके दो प्रकार के अर्थ हैं और इन्हें ध्यान में रखने पर ही मन्त्रों का आशय ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके लिए मणि शब्द का अर्थ समझना सबसे अधिक आवश्यक है।

मणि शब्द का अर्थ

मणि शब्द कई धातुओं से बनता है। उणादि कोष ४.११८ के सर्वधातुभ्य इन् इस सूत्र के अनुसार मणि शब्द मण् शब्दे इस धातु से इन् प्रत्यय करने पर बनता है। इस प्रकार उत्तम वक्ता—नेता को मणि नाम से कह सकते हैं।

मणति शब्दयतीति मणिः वाग्मी नेता।

मनु ज्ञाने, (दिवादिः) मन स्तम्भे, मनु अवबोधने (तनादि)—इन तीनों धातुओं से भी मणि शब्द बन सकता है जिसका अर्थ होगा जो ज्ञानवान् हो, जो शत्रुओं और रोगों का स्तम्भन (रोकथाम) करे, जो दूसरों को ज्ञान करावे वा बुद्धि दे।

इस अर्थ में भी विद्वान् ज्ञानी नेता मणि वा नरमणि कहे जा सकते हैं, किन्तु साथ ही रोगों का स्तम्भन करनेवाले औषधादि के लिए भी मणि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उपरिनिर्दिष्ट सूक्तों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनमें इन दोनों अर्थों में मणि शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जब ऐसे ज्ञानी वा वीर नेताओं के लिए मणि शब्द का प्रयोग होता है तो उनके बन्धन का अर्थ उन्हें किसी पद पर बांध देना वा नियुक्त करना होता है। उदाहरणार्थ स्राक्त्य मणि के सम्बन्ध में यह मन्त्र अ० ८.५ में आया है—

स्राक्त्य मणि

स्राक्त्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा। अजैषं सर्वाः पृतना विमृधो हन्ति रक्षसः॥

अर्थात् इस स्राक्त्य मणि द्वारा जो ऋषि वा तत्त्वदर्शी के समान बुद्धिमान् है मैं सारी सेनाओं पर विजय प्राप्त कर लेता और सब हिंसक राक्षसों का नाश कर देता हूं। यहां जो स्राक्त्य शब्द आया है उसका अर्थ अ० २. ११. १ को देखने से स्पष्ट हो जाता है, जहां वीर को सम्बोधन करते हुए कहा है—

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।

अर्थात् तू (स्रक्त्योऽसि) गतिशील है (प्रतिसरोऽसि) शत्रुओं का मुकाबला करने में तू समर्थ है (प्रति चरणोऽसि) तू अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्य करके उन पर आक्रमण करने में समर्थ है। उसी के लिए यह आदेश है कि—

प्रति तम् अभिचर योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।

अर्थात् जो हमारे साथ द्वेष करता है और इसलिए हम जिसके साथ द्वेष करते हैं उस पर तू आक्रमण कर।

ऐसे प्रगतिशील वीर-शिरोमणि के लिए मुख्यतया स्राक्त्यमणि शब्द का प्रयोग इस सूक्त में है।

ऐसे ही अन्य अनेक सूक्तों में नरमणि वा वीरशिरोमणि के लिए मणि शब्द का प्रयोग है, किन्तु उसके अतिरिक्त जहां उपर्युक्त अर्थ लेने पर संगति न लगे वहां निम्न अर्थों का ग्रहण करना उचित है जिनका आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी वेदों

के आधार पर प्रतिपादन है। विस्तारभय से यहां प्रत्येक अर्थ के लिए प्रमाण देना संभव नहीं प्रतीत होता। जिन्हें विस्तार से सप्रमाण इस विषय का अध्ययन करना हो उन्हें श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष (वर्तमान स्वा० ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक) कृत 'अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र' और 'वैदिक मन्त्र विद्या' इन दो ग्रन्थों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

आंजन मणि

आंजन मणि से तात्पर्य अंजन वा सुरमे की बनी गुटिका वा गोली आदि का हैं जिसका यथोचित प्रयोग करने से अनेक रोग दूर होते हैं। अथर्व० ४. ९. ३ में स्पष्ट कहा है कि—

अथो असि जीवभोजनम् अथो हरितभेषजम्॥

अर्थात् यह आंजनमणि जीवधारियों को पुष्टि देकर धारण करनेवाली और हरितरोग (पाण्डु वा कामला) की ओषधि है।

यहां भेषजम् शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि यह आयुर्वेद, विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाला विषय है, न कि जादू-टोना।

शङ्ख मणि

शङ्ख मणि के विषय में अ० ४. १०. ३ में कहा है कि—

शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः॥

अर्थात् यह मोतीवाला शङ्ख अनेक रोगों को दूर करनेवाला है। वह हमें (अंहसः) रोग तथा पापजन्य दुःख से बचाये। अंहः शब्द का अर्थ प्रायः पाप ही समझा जाता है, किन्तु उणादि कोष ४. २१३ 'अमेर्हुक् च' के अनुसार उसकी निम्न व्युत्पत्ति है—

अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत् अंहः॥

जिससे दुःख की प्राप्ति हो, अतः रोग के लिए भी अंहः का प्रयोग हो सकता है जैसे इस सूक्त में दो बार हुआ है।

जङ्गिड मणि

बृहत्सर्वानुक्रमणी में अ० २. ४ तथा १९. ३४-३५ में जङ्गिडमणि शब्द सोम के लिए मुख्यतया प्रयुक्त हुआ है। 'जङ्गिडो नामक कश्चिदोषधिविशेषः स चोत्तरदेशे प्रसिद्धः' ऐसा सायणाचार्य ने अथर्व० १९. ३४. १ के भाष्य में लिखा है। अथर्ववेद बृहत्सर्वानुक्रमणी में अ० २. ४ पर लिखा है—

दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसम् उत जङ्गिडदेवताकम्।

अथर्व बृहत्सर्वानुक्रमणी में १९. ३४ पर लिखा है—

जङ्गिडोऽसि जङ्गिड इति द्वे प्रथमं दशकं द्वितीयं पञ्चकमङ्गिर उभे मन्त्रोक्तदेवत्ये उत वानस्पत्ये।

इसी प्रकार काण्ड १९ सू० ३४ में जङ्गिड को वनस्पति और ओषधि के नाम से पुकारा गया है—

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ। अमीवाः सर्वाश्चातयम् जहि रक्षांस्योषधे॥

चन्द्र और सोम पर्यायवाची हैं। चन्द्रवाचक सब नाम सोम ओषधि के भी हैं। चन्द्रमाः सोमलता भेदे (वैद्यकशब्दसिन्धुः)।

अंशुमान् मुंजवांश्चैव, चन्द्रमा रजतप्रभः। एते सोमाः समाख्याताः, वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥

—सुश्रुत चिकित्सा स्थान २९. ३-६

इत्यादि प्रमाणों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट होती है। अतः जङ्गिड सोम ओषधि का नाम है यह स्पष्टतया ज्ञात होता है। १९वें काण्ड के ३४-३५ सूक्तों में—

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्। तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत्॥ १९. ३४. १०

इत्यादि मन्त्रों द्वारा सोमरसरूप जङ्गिड को विष-दोषनाशक, कृत्रिम विष-क्रियाओं का नाशक, शरीर के अङ्ग-अङ्ग में होनेवाले रोग, कफ रोग, पार्श्वपीड़ा, ज्वर, शरीर की शिथिलता, हृदयरोग, नेत्ररोग तथा अन्य कठिन रोगों का नाशक और स्वास्थ्य तथा आयुष्यवर्धक कहा है। जैसे पूर्वोद्धृत मन्त्र ९ में उसके लिए वनस्पति और 'ओषधि' का प्रयोग आया है, १९. ३५. १ और ५ में उसके लिए भेषज और विश्वभेषज शब्द का प्रयोग है, जिससे यह स्पष्ट है कि वह एक अत्युत्तम औषध है—

इन्द्रस्य नाम गृहणन्त ऋषयो जङ्गिडं ययुः। देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम्॥ १
य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः। सर्वांस्तान् विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत्॥ ५

ऐसी अवस्था में इसके सेवन का आयुर्वेद वा वैद्यक विद्या से सम्बन्ध है। इसमें जादू व टोने आदि की कोई बात नहीं। आश्चर्य है कि पाश्चात्य विद्वान् ओषधि, वनस्पति, भेषज, विश्वभेषज इत्यादि शब्दों का स्पष्ट प्रयोग देखते हुए भी जङ्गिडादि को जादू-टोने से सम्बद्ध कैसे मान लेते हैं!

पर्णमणि—सोम

अथर्ववेद ३. ५ में पर्णमणि का वर्णन है। शतपथ० ६. ५. १. १ के अनुसार पर्ण सोम का नाम है—"सोमो वै पर्णः"। इसी सूक्त के मन्त्र ४ में कहा भी है—

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेनशिष्टः।
तं प्रियासं बहुरोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥

यहां सोम के साथ पर्णमणि का सम्बन्ध अति स्पष्ट है। जङ्गिड मणि सोम की रसक्रिया गुटिका (गोली) है और पर्णमणि केवल पत्तों के रूप में है।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयुच्छन्।

इस मं० १ में ओषधियों के पयः अथवा रस का निर्देश भी है। इस प्रकार यह पर्णमणि सोम के पत्तों के रूप में सेवित किया हुआ आयुष्यवर्धक तथा रोगनाशक होता है।

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया। संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे॥ — मं० ८

इस में सोमरूप पर्णमणि को तनूपानः—शरीर की रक्षा करनेवाला और वीर्यवर्धक कहा है।

एष वै संवत्सरो य एष तपति। शत० १४. १. १. १७ के अनुसार संवत्सर सूर्य है। उसके तेज के निमित्त पर्णमणि (सोम) के सेवन करने का यहां विधान है।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयाद् रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२

इत्यादि मन्त्रों से यही ज्ञात होता है कि पर्णमणि अर्थात् सोम के सेवन करने से क्षात्रबल और ज्ञानादि ऐश्वर्य की वृद्धि होती तथा मनुष्य प्रभावशाली बनता है। ऐसा ही वैद्यक ग्रन्थों में बताया गया है।

सुश्रुत चिकित्सा स्थान २९. १९-२४ में यहां तक लिखा है कि—

ओषधीनां पतिं सोमम्, उपयुज्य विचक्षणः। दशवर्षसहस्राणि, नवां धारयते तनुम्॥
नाग्निर्न तोयं न विषं, न शस्त्रं नास्त्रमेव च। साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान्, वेदान् विन्दति तत्त्वतः॥

अर्थात् जो ओषधियों के पति इस सोम का सेवन करता है वह बड़ा दीर्घायु होता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र और अस्त्र का उस पर ऐसा प्रभाव नहीं होता जो उसकी आयु को नष्ट करनेवाला हो। साङ्गोपाङ्ग वेदों के तत्त्व को वह समझने में समर्थ होता है, इत्यादि।

शतवार मणि (ऋषभक ओषधि)

अथर्व १९. ३६ में शतवार मणि का वर्णन है। मं० १ में कहा है—

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा। आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः॥

अर्थात् यह शतवार मणि अपने तेज से अनेक रोगों और (रक्षांसि) रक्षितव्यमस्मादिति रक्षः—जिनसे अपनी रक्षा करनी चाहिए ऐसे रोगकृमियों को नष्ट करता है। यह मनुष्य को तेजस्वी बनाता है। मं० ३ में कहा है कि—

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः। सर्वान् दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत्॥

अर्थात् जो (अर्भका यक्ष्मासः) छोटे रोग हैं और जो (महान्तः) बड़े और (शब्दिनः) शब्द करनेवाले प्रलापादियुक्त रोग हैं, उन सबको यह शतवार मणि नष्ट कर देता है। इस शतवार के आयुर्वेद के ग्रन्थों में दिये नाम का निर्देश भी इसी सूक्त के पंचम मन्त्र में है।

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शतवारो अयं मणिः। दुर्णाम्नः सर्वास्तृडढ्वाऽव रक्षांस्यक्रमीत्॥

यहां ऋषभ शब्द का प्रयोग इसी शतवार ओषधि के लिए हुआ है जिसको 'मनु स्तम्भे' रोगस्तम्भक वा रोगनिवारक होने के कारण मणि नाम से भी पुकारा गया है। इस 'ऋषभ' का विशेषण 'हिरण्यशृङ्गः' दिया हुआ है जिसका अर्थ सुनहरे अग्रभाग वाला है। 'शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते' मं० २ में भी उसके शृङ्गों को निर्देश है। ऐसी ओषधि का नाम आयुर्वेद के ग्रन्थों में ऋषभ है। 'राजनिघण्टु' में उसके पर्यायवाची शब्द विषाणी, शृङ्गी इत्यादि बताये गये हैं—

ऋषभो गोपतिर्धीरो विषाणी दुर्धरो वृषः। ककुद्मान् पुंगवो वोढा, शृङ्गी धुयुश्च भूपतिः॥

'भावप्रकाश निघण्टु' में उसका वर्णन करते हुए उसे बैल के सींगों के आकारवाला कहा गया है।

जीवकर्षभौ ज्ञेयौ, हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोनकन्दवत् कन्दौ, निस्सारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥
जीवकः कूर्चिकाकारः, ऋषभो वृषशृङ्गवत्॥

यह ऋषभक ओषधि आजकल दुर्लभ कही जाती है, किन्तु यह सर्वथा अप्राप्य नहीं। आजकल जिसे साधारणतया सालम मिश्री कहते हैं वह ऋषभक है। ऐसा दोनों के गुण, आकारादि की तुलना करने पर ज्ञात होता है।

इस सूक्त में ऋषभक-रूप शतवार मणि को क्षय-जैसे कठिन रोग, रक्त आदि भक्षक कृमि, गर्भ-संबन्धी गुह्यरोग, ज्वर, पुरानी व्याधियों को नष्ट करनेवाला और पुत्रोत्पादन-शक्ति देनेवाला बताया गया है। यही गुण वैद्यक ग्रन्थों में ऋषभक ओषधि के भी बताये गये हैं, जैसे 'निघण्टु रत्न' में लिखा है—

ऋषभको मधुः शीतो गर्भसन्तानकारकः। शुक्रधातुकफानां च, कारको बलदायकः॥

वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः, पित्त रक्तातिसारजित्। रक्तरुक् कृशता वात ज्वर दाहक्षयापहः॥

यहां वेद की शतवारमणि के समान ही ऋषभक को गर्भ और सन्तानकारक, बलवीर्य-वर्धक, रक्त-विकार, ज्वर, दाह, क्षयादि का नाशक कहा गया है। इस तथा अन्य सूक्तों में जो रक्षांसि वा राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा शब्द आये हैं उनसे तात्पर्य भूत, प्रेत, चुड़ैल आदि का नहीं किन्तु रोगोत्पादक कृमि इत्यादि का है। इस विषय को समझ लेने की आवश्यकता है।

राक्षस कृमि

'रक्षांसि' वा राक्षसों के विषय में कौषीतकी ब्राह्मण १०.४ में लिखा है—**"असृग्भाजानि ह वै रक्षांसि।"**

अर्थात् रुधिर पीनेवाले कृमि रक्षांसि वा राक्षस कहलाते हैं। शत० १०. ५. ३. २० के अनुसार—

"गन्ध इत्यप्सरस उपासते।"

अर्थात् गन्धवाले स्थानों में रहनेवाले सूक्ष्म जन्तुओं को अप्सरा कहते हैं। ये सूक्ष्म जन्तु गुलाब आदि सुगन्धित फूलों के अन्दर भी रहते हैं और फूल तोड़ते ही तुरन्त नाक से मिलाकर सूंघने से नाक के अन्दर घुसकर मस्तिष्क में रोग उत्पन्न कर देते हैं।

गन्धर्व कृमि

रूपमिति गन्धर्वा उपासते। (शत० १०. ५. २. २०) के अनुसार रूप का सेवन करनेवाले अथवा रूप पर गिरनेवाले कृमियों को गन्धर्व कहते हैं।

पिशाच कृमि

'शब्द कल्पद्रुम' में पिशाच की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि—**पिशितं मांसम् अश्नातीति पिशाचः।**

'वाचस्पत्य बृहदभिधान' में 'पिशाच' की निरुक्ति करते हुए लिखा है—**पिशितं मांसम् आचामतीति पिशाचः॥**

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार मांस को खानेवाले वा मांस को चाटनेवाले कृमियों को भी पिशाच कहते हैं। अथर्ववेद ५. २९. ५ के—

यदस्य हतं विहतं यत्पराभृतम् आत्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान् पुनराभर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः॥

इस मन्त्र द्वारा 'पिशाचों के मांसभक्षक वा मांस को चाटनेवाले सूक्ष्म जन्तु' वाले इस अर्थ की सर्वथा पुष्टि होती है, क्योंकि इसमें कहा गया है कि इस मनुष्य का जो मांस पिशाचों ने चाट लिया, उखाड़ लिया, शरीर से अलग कर दिया और खा लिया, उसे शरीर में अग्नि फिर भर दे—उस घाव को पूरा कर दे।

इस प्रकार ये राक्षस, अप्सरा, गन्धर्व, पिशाचादि रोगोत्पादक सूक्ष्म जन्तु वा कृमि हैं, जिनका ऋषभक ओषधि वा शतवार मणि नाश करके मनुष्य को स्वस्थ बनाती है—यह स्पष्ट है। यह कोई जादू-टोने से सम्बन्ध रखनेवाली बात नहीं।

वरण मणि

अथर्व १०. ३ में वरण मणि का वर्णन है । इस सूक्त के तृतीय मन्त्र में वरण मणि को "विश्वभेषज:" अर्थात् समस्त रोगनिवारक औषध कहा है—**अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः ।**

मं० ८ में इसे रोग-निवारक वनस्पति कहा है—**ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥**

मं० ११ में वरण को वनस्पति के नाम से सम्बोधित करते हुए उसे छाती में अभ्रक के समान कवच बनाकर धारण करने का निर्देश है । यह हृदय-रोग को दूर करनेवाला है—

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः । स मे शत्रून् वि बाधताम् इन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥

मं० ५ में वरण के लिए वनस्पति शब्द का प्रयोग करते हुए उसे रोगनाशक बताया गया है, यथा—

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः । यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अधारयन् ॥

यह सब वर्णन देखने से स्पष्ट है कि वरण नामक एक वनस्पति है जिसे लोकभाषा में वरना कहते हैं । आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसका नाम वरुण और वरण है जैसा 'भावप्रकाश निघण्टु' में कहा है—

वरुणो वरणः सेतुः, तिक्तशाकः कुमारकः ॥

'निघण्टु रत्न' में उसके गुणों का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है—

वरुणः कृमीन्, रक्तदोषं, शीर्षवातं मूत्राघातं च हृद्रुजम् । हृद्रोगं नाशयत्येव ॥

अर्थात् यह वरण या वरुण कृमि, रुधिर, विकार, सिर के वात, मूत्र-दोष, हृदय-सम्बन्धी रोग—इन सब का नाश करता है । रोगस्तम्भक होने के कारण ही इसे मणि के नाम से पुकारा गया है जैसा 'मन स्तम्भे' के आधार पर पहले बताया गया है ।

इसका प्रयोग नवपल्लवों का रस, वस्त्रों पर उस रस का कुछ आलेप, ओषधिरूप में गोली बनाकर सेवन करने इत्यादि से बड़ा लाभकारी है । इसमें भी जादू-टोने की कोई बात नहीं ।

रोग-निवारण करनेवाली इस वनस्पति के समान अज्ञान, भयादि का निवारण करनेवाले नरमणियों को भी वरण मणि के नाम से कह सकते हैं ।

दर्भमणि (अभ्रक)

अथर्व० १९, २८, २९, ३०, ३२ में दर्भमणि का वर्णन आया है । ३२.१ में स्पष्ट लिखा है कि—

दर्भो य उग्र ओषधिः ।

अर्थात् दर्भ एक उग्र ओषधि है । ३२.३ में दर्भ के लिए दिवि ते तुलमोषधे द्वारा ओषधि शब्द का प्रयोग हुआ है । ३२. १० में इसे ओषधियों में श्रेष्ठ और रक्षक कहा है—

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वान् ओषधीनां प्रथमः सं बभूव । स नोऽयं दर्भः परिपातु विश्वतः ॥

इस प्रकार इसका ओषधि-रूप होना स्पष्ट है । यह दर्भ शब्द यहां घास या कुशा का वाचक नहीं, यह भी स्पष्ट है । यह दृदि भ्यां भः (उणादिकोष ३. १५१) से सिद्ध होता है और रोगों तथा शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करनेवाली किसी वज्र रूप वस्तु के लिए प्रयुक्त है । राजनिघण्टु व० २३ में दर्भ को वज्र का वाचक बताया ही है । 'दर्भे च कुशिके वज्रम्' अभ्रक को भी वज्र के नाम से कहते हैं ।

नीलाभ्रं दर्दुरो नागः, पिनाको वज्र इत्यपि ॥ राज निघण्टु व० १३ ।

इसलिए दर्भ शब्द इन सूक्तों में अधिकतर अभ्रक का वाचक है जिसके गुण आयुर्वेद में इन सूक्तों में वर्णित गुणों के साथ अद्‌भुत साम्य रखते हैं ।

(क) अ० १९. १८. १ में दर्भ के विषय में लिखा है 'इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे' । 'भावप्रकाश निघण्टु' में भी अभ्रक को 'अभ्रं कषायं मधुरं प्रशीतम्, आयुःकरं धातुविवर्धनं च' इत्यादि द्वारा आयुवर्धक बताया गया है ।

(ख) अ० १९. ३३. ४ में दर्भ के विषय में लिखा है 'बध्नामि जरसे स्वस्तये' ।

'भावप्रकाश निघण्टु' में अभ्रक के विषय में इसी प्रकार लिखा है कि 'द्रढयति वपुः' अर्थात् अभ्रक शरीर को दृढ़ बनाता है ।

(ग) १८. ३३. १ में दर्भ के विषय में कहा है 'सहस्रपर्ण उत्तिरः' —सहस्रों पत्तोंवाला । यही बात 'शालिग्राम निघण्टु' में अभ्रक के विषय में लिखी है कि—**अभ्रकं अब्दं व्योमघनं शुभ्रं, बहुपत्रं घनाह्वयम्** ॥ बहुपत्र शब्द सहस्रपर्ण का ही अनुवाद है ।

(घ) अ० १९. ३२. ७ में कहा है—**दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन शश्वदित्** ।

यहां इसे द्युलोक में स्तम्भित अर्थात् लटका हुआ कहा गया है । यही बात 'भावप्रकाश निघण्टु' के अभ्रक-विषयक वर्णन में है कि—**गगनात् स्खलितं यस्माद्, गगनं च ततो मतम्** ॥

ऐसे ही अन्य अनेक विषयों में समानता है, जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वैदिक दभ्र शब्द भौतिक दृष्टि से आयुर्वेदोक्त अभ्रक का वाचक है, जिसके कवचरूप में धारण करने, जहाजों में कांच के स्थान पर इसे लगाने तथा स्वयं वज्ररूप होने से अस्त्र-शस्त्रों के मसाले में पड़ने से यह संग्रामादि में विशेष रूप से उपयोगी हो सकता है । 'भावप्रकाश निघण्टु' में दर्दुर जाति के अभ्रक के विषय में लिखा है कि—

दर्दुरं त्वग्निनिक्षिप्तं, कुरुते दर्दुरध्वनिम् । गोलकान् बहुशः कृत्वा, स स्यान्मृत्युप्रदायकः ॥

अर्थात् यह दर्दुर जाति का अभ्रक अग्नि में डालने से गड़गड़ाहट की ध्वनि पैदा करता है और बहुत-से गोले बना कर मृत्यु का कारण बन सकता है ।

ऐसी अवस्था में इस अभ्रक को संग्रामों में विशेष उपयोगी बताना तथा उसके बने कवचों को धारण करना सर्वथा उचित ही है ।

इसी प्रकार अ० १९. ३१ में औदुम्बरमणि गूलरसमूह-वाचक, फालमणि कृषिवाचक तथा अस्तृतमणि व्याघ्रनख-जडित शस्त्र व्याघ्रनखादि-वाचक हैं, ऐसा विवेचन करने से ज्ञात होता है, किन्तु ग्रन्थविस्तार-भय से हम मणिबन्धन के इस प्रकरण को यहीं समाप्त करना उचित समझते हैं ।

जिन मणियों के धारण का भी वर्णन है वह शरीर रक्षा और आरोग्य की दृष्टि से है जैसा सुश्रुत सूत्रस्थान ४६ सुवर्णादि वर्ग में कहा है—

मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैडूर्यस्फटिकादयः । चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः ।
पवित्रा धारणीयाश्च, पापलक्ष्मीमलापहाः ॥

अर्थात् मोती, मूंगा, हीरा, वैदूर्य, स्फटिक आदि मणियों को इसलिए धारण करना चाहिए कि वे नेत्रशक्तिवर्धक, शीतल, मन में पवित्रता लानेवाली, अशोभा को हटानेवाली, शोभा को बढ़ानेवाली और विष को दूर करनेवाली हैं। इस प्रकार इनमें भी जादू-टोने जैसी अन्धविश्वासमूलक कोई बात नहीं, यह स्पष्ट है।

(५) कृत्या और अभिचार

कृत्या शब्द 'कृञ् हिंसायाम्' इस धातु से बना हुआ है जिसका अर्थ ऐसी हिंसक क्रिया से है जो शत्रु वा शत्रु-सेना के घात के लिए प्रयुक्त की जाती है।

अभिचार से तात्पर्य उस प्रयोग से है जो शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे रोगग्रस्त कर मार डालने तक में समर्थ हो। 'शब्दकल्पद्रुम' में अभिचार का ऐसा ही अर्थ 'अभिचारः अभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्यकरणम्' इन शब्दों द्वारा दिया गया है' अर्थात् शत्रुओं के वध के लिए कार्य करना, वह चाहे आक्रमण के रूप में हो अथवा अन्य प्रकार से। कृत्या और अभिचार का सम्बन्ध युद्ध-विद्या के साथ है, इसलिए उनका उचित ज्ञान क्षत्रियों को होना ही चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र में पुरोहितों के विषय में लिखा है कि—**पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः**। अर्थात् पुरोहित, राजा और राजपुरुषों को कृत्या और अभिचार के विषय में सब आवश्यक बातें समझा देवें। अथर्व० ८.५.५ के आधार पर ही कौटिल्य आचार्य ने यह बात लिखी प्रतीत होती है, जहां कहा है कि—

'ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥'

अर्थात् पुरोहित विद्वान् शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त हिंसक क्रियाओं का प्रतीकार करें। बहुत-सी ओषधियों और मणियों का उपयोग इन कृत्याओं के निवारणार्थ बताया गया है। उदाहरणार्थ अ० १९.३४.४ में जङ्गिडमणि वा सोम के विषय में कहा है—

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः। अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः। अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

अर्थात् यह सोम, कृत्या वा हिंसक क्रिया का नाश करनेवाला और आयुष्यवर्धक है। अथर्ववेद ८.७.१० में भी कृत्याओं के नाश के लिए ओषधियों का वर्णन है—

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्या दूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः॥

यहां विषनाशक ओषधियों को कृत्या नाशिनी कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि शत्रु-सेना का घात करने के लिए अग्नि-ज्वालाओं में किन्हीं विषैले वानस्पत्य और खनिज पदार्थों के प्रयोग का नाम कृत्या है।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥ —अथर्व० ४.१८.३

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जो हिंसारूप प्रयोग को गुप्त स्थान में तैयार करके उस हिंसाकारी प्रयोग से अन्य का घात करना चाहता है, उस जली हुई कृत्या में बहुत प्रकार के मनशिल, पोटाश आदि पत्थर फट् ऐसा शब्द बार-बार या अत्यन्त करते हैं।

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः ।
कृत्याः स्वयं कृता या उ चान्येभिराभृताः ॥ — अथर्व० ८. ५. ९

इत्यादि मन्त्रों के अनुसार ये कृत्याएं दो प्रकार की बतलाई गई हैं—एक आङ्गिरसी—स्फोटक पदार्थोंवाली, जो गिरकर मकानों को तोड़-फोड़ देनेवाली हैं; और दूसरी विषमय वस्तुओं से बनी मनुष्यों का घात करनेवाली आसुरी ।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ — अथर्व० ४. १८. ५

इस मन्त्र में कहा गया है कि क्षेत्रों में, गौओं में या पुरुषों में जो कृत्या (हिंसक क्रिया) प्रयुक्त की गई हो, इस ओषधि के द्वारा उसका मैं प्रतीकार करता हूं ।

यहां किसी जादू-टोने व टोटके की बात नहीं, किन्तु उत्तम जङ्गिडदि ओषधियों के द्वारा विष के प्रभाव को नष्ट करने का विधान है ।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यात्सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ —अथर्व० १०. १. ११

दैवैनसात् पित्र्यान्नाम ग्रहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥ —अथर्व० १०. १. २२

इस मन्त्रों में 'ओषधीः, वीरुधः' इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कृत्याओं वा घातक क्रियाओं के सारे प्रभाव को ओषधियों के प्रयोग और (ब्रह्मणा) ज्ञान द्वारा दूर करने का उपदेश है । यह ब्रह्म शब्द अथर्ववेद में अन्य वेदों की तरह बहुत जगह आया है । इसका अर्थ परमेश्वर और वेद अथवा ज्ञान होता है, किन्तु आश्चर्य है कि ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य अनुवादकों ने भ्रान्तिवश इसका अर्थ सर्वत्र Charm वा जादू कर दिया है ।

निरपराधों पर इस घातक क्रिया का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध और अति भयंकर परिणामवाला होता है, अतः भूलकर भी न करना चाहिए । यह बात अथर्व० १०. १. २९ में—

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥

इत्यादि शब्दों द्वारा चेतावनी के रूप में कही गई है जो शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । इनमें गौओं, घोड़ों तथा अन्य पशुओं और निरपराध व्यक्तियों पर घातक क्रिया के प्रयोग का अति भयंकर परिणाम बताते हुए उस कृत्या का प्रतिकार करना आवश्यक कहा गया है । इस प्रकार इनका प्रयोग रक्षात्मक वा Defensive है; स्वयं आक्रमणात्मक वा Offensive नहीं, यह इन मन्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है । ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, वैद्युतास्त्र, सौम्यास्त्र आदि का प्रयोग इसी रक्षात्मक भावना से कृत्या-निवारणार्थ बताया गया है । यह भी युद्ध तथा शस्त्रास्त्र-विद्या से सम्बन्ध रखनेवाला विषय है । इसे जादू-टोने वा टोटके Charms, Amulets, Sorcery आदि नाम देना व ऐसी वस्तु समझना बड़ी भूल है ।

अभिचार

अभिचार का शब्दार्थ किसी के शरीर पर आक्रमण कर वा शरीर में प्रविष्ट हो उसे खा जानेवाला विष-प्रयोग है, यह 'शब्दकल्पद्रुमादि' के आधार पर पहले बताया जा चुका है । ऐसी हानिकारक क्रिया से बचने के दो ही मुख्य उपाय हैं जिन्हें वेद में उन्मोचन और प्रमोचन इन नामों से कहा गया है । अथर्व० ५. ३०. २ में लिखा है—

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥

अपने सम्बन्धी या दूसरे लोगों ने जो अभिचार-क्रिया का प्रयोग किया हो, उनके प्रतीकारार्थ मैं वैद्य उन्मोचन और प्रमोचन-क्रियाओं का उपदेश करता हूं । उन्मोचन से तात्पर्य विषमय पदार्थ के वमन और विरेचन (कै या दस्त) द्वारा बाहर निकाल देने और उस विष के प्रभाव को घृत, मधु आदि के प्रयोग द्वारा अन्दर ही अन्दर शान्त कर देने से है । सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ श्लो० ७५-७६ में इसी उपाय का वर्णन है—

महासुगन्धमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक् ।
पानालेपननस्येषु, विदधीताञ्जनेषु च ।
विरेचनानि तीक्ष्णानि, कुर्यात्प्रच्छर्दनानि च ॥

अति सुगन्धित-शीतल इन ओषधियों का पान करवाने, लेप करने और नस्य (नसवार) तथा अंजन के साथ ग्रहण कराने का वैद्य उपाय करे और विरेचन (दस्त) तथा प्रच्छर्दन (वमन वा कै) द्वारा विषमय पदार्थों को बाहर निकलवा दे ।

ये दोनों क्रियाएं वा उनके प्रतीकार वैद्यक विद्या से सम्बन्ध रखते हैं । उनका कल्पित तान्त्रिक जादू-टोनों से कोई सम्बन्ध नहीं । इस प्रकार के निष्पक्ष विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि अथर्ववेद में ओषधियों, संकल्प, मार्जन, आदेश, मणिबन्धन, कृत्या, अभिचार के प्रतीकादि का जो वर्णन है वह सर्वथा वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक है । उसे जादू-टोनों वा Charms, Amulets वा Sorcery का वेद बतलाना जैसा 'वैदिक एज्' के लेखकों ने ब्लूमफील्ड, ह्विटनी आदि पाश्चात्य विद्वानों का अविवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए किया है, सर्वथा अशुद्ध है ।

श्री ब्लूमफील्ड की भयंकर भूलें

ब्लूमफील्ड की अथर्ववेद-विषयक जिस पुस्तक को "वैदिक एज्" के लेखकों ने अत्यन्त प्रामाणिक माना है, उस में स्वयं इस विषय में भयंकर अशुद्धियां हैं और सर्वत्र Charm शब्द का सर्वथा अनावश्यक रूप में प्रयोग करके वैदिक शिक्षाओं के महत्त्व को कम करने का प्रयत्न किया गया है ।

उदाहरणार्थ *Hymns of the Atharva Veda* by Bloomfield में सबसे पहले अथर्ववेद ५. २२ का अनुवाद देते हुए शीर्षक Charm against Takman (fever) and related diseases दिया है—यद्यपि यहां ब्लूमफील्ड के अपने अनुवाद के द्वारा भी ज्वरादि की चिकित्सा ओषधियों से है । ब्लूमफील्ड का अनुवाद इस प्रकार है—

The Takman that is spotted, covered with spots, like reddish sediment, him thou (O plant) of un-remitting potency, drive away down below.

—P. 7

ऐसे ही १. २२ में जहां पाण्डुरोग की चिकित्सा का वर्णन है, ब्लूमफील्ड उस का शीर्षक देते हैं-

Charm against jaundice and related diseases.

अर्थात 'पाण्डुरोग तथा तत्सदृश रोगों के विरुद्ध जादू' ।

६. १०५ में जो कास वा खांसी की चिकित्सा का वर्णन है, ब्लूमफील्ड उसका पक्षपातवश शीर्षक देते हैं—

—P. 8

Charm against cough.

अर्थात् खांसी के विरुद्ध जादू ।

ऐसे ही अ० २. ८ का अनुवाद देते हुए ब्लूमफील्ड उसका शीर्षक देते हैं—

Charm against hereditary disease.

जब कि उस सूक्त में आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा का स्पष्ट वर्णन है। स्वयं ब्लूमफील्ड के अनुवाद से ही यह बात स्पष्ट है। मं० ३ का उनका अनुवाद देखिये —

With the straw of thy brown barley, endowed with white stalks, with the blossom of the sesame—may the plant, destructive of Kshetriya (hereditary disease) shine the Kshetriya away.

अ० ४. १७ का देवता अपामार्गो वनस्पतिः है। इसमें अपामार्ग नामक ओषधि के गुणों का वर्णन है और प्रथम, द्वितीय और अष्टम मन्त्र में भेजष और ओषधि शब्द का अपामार्ग के साथ प्रयोग है—

ईशानां त्वां भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्या सर्वस्या ओषधे त्वा॥ मं० १॥

इसका अनुवाद ब्लूमफील्ड ने इस प्रकार किया है—

We take hold, O Victorious one of thee, the mistress of remedies. I have made thee a thing of thousandfold strength for every one, O plant.

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनः सराम्। सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति॥ मं० २॥

इसका ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद इस प्रकार है—

Her, the un-failingly victorious one, that wards off curses, that is powerful and defensive; (her and) all the plants have I assembled, intending that she shall save us from this trouble.

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी। तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥ मं० ६॥

इसका मि० ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद निम्न है—

The apamarga is sole ruler over all plants, with it do we wipe mishap from thee; do thou then live exempt from disease.

इस प्रकार ओषधि नाम और उसके गुणों का वर्णन होने पर भी मि० ब्लूमफील्ड इसका शीर्षक रखते हैं—

Charm with the apamarga plant, against sorcery, demons and enemies.

अर्थात् 'अपामार्ग ओषधि द्वारा भूत-प्रेत, राक्षसों और शत्रुओं के विरुद्ध जादू'।

ऐसा प्रतीत होता है कि मि० ब्लूमफील्ड के मस्तिष्क पर अथर्ववेद के 'जादू का वेद' होने का भूत सवार है कि स्पष्टतया ओषधि का नाम और गुण-वर्णन होने पर भी, जैसा निम्न मन्त्रों द्वारा इस तथा अन्य सूक्तों में है, उन्हें सर्वत्र जादू ही दिखलाई देता है। मं० ६ में इस अपामार्ग ओषधि द्वारा निम्न रोगादि की चिकित्सा बताई गई है—

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे॥

श्री ब्लूमफील्ड ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

Death from hunger and death from thirst, poverty in cattle, and failure of off-spring, all that, O apamarga, do we wipe out with thee.

इस मन्त्र में (क्षुधामारम्) क्षुधा को मारनेवाले रोग—अग्निमान्द्य, (तृष्णामारम्) तृष्णा वा प्यास को मारनेवाले रोग—वमन ग्लानि रोग को, (अगोताम्) वन्ध्यात्व को संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री को 'सा प्रसूर्धेनुका भव' अ० ३. २३. ४ में गौ कहा गया है, अत: अगोता से यहां वन्ध्यात्व वा बांझपन का तात्पर्य है, न कि Poverty in Cattle का, जैसे ब्लूमफील्ड ने बताया है, (अनपत्यताम्) सन्तान-स्तम्भन रोग—इन सबको अपामार्ग ओषधि द्वारा दूर कर सकते हैं, ऐसा बताया गया है। यही बात वैद्यक के ग्रन्थों में इस अपामार्ग ओषधि के विषय में कही है—

अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः ।
पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहा ॥
निहंन्ति हृद्रुजाध्मार्शः कण्ड शूलोदरापचीः ॥ —भावप्रकाश निघण्टु

गृहीत्वा शुभनक्षत्रे, त्वपामार्गस्य मूलकम् ।
गृहीत्वा लक्षणामूलम्, एकवर्णगवां पयः ।
पीत्वा सा लभते गर्भं, दीर्घजीवी सुतो भवेत् ॥ —दत्तात्रेय तन्त्र

इन वचनों में श्वेत अपामार्ग को आध्मा (अफारा), उदर रोग, वमन का दूर करने वाला, रोचन, पाचन और अग्निदीपन कहा है। वन्ध्यात्व को भी दूर करनेवाला इसे कहा गया है। ऐसी अवस्था में इस ओषधि के प्रयोग को जादू (Charm) का नाम देना कितना भ्रान्ति-जनक है !

अथर्व० ४. ८ में राज्याभिषेकादि का बड़ा ही उत्तम वर्णन है। मं० ४ में राजा को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु' सारी प्रजाएं तुझे चाहें। श्री ब्लूमफील्ड ने भी जिसका अनुवाद "All the clans shall wish for thee" इस प्रकार किया है, तो भी इसका शीर्षक Charms pertaining to Royalty (राजकर्माणि) अर्थात् राज्य-विषयक जादू रख दिया है जो कितना अशुद्ध है ! अथर्व० ३. ४ में राजा के चुनाव का अत्युत्तम प्रतिपादन है जिससे अच्छा प्रजातन्त्र के आदर्श का वर्णन मिलना असम्भव है। इसमें कहा गया है कि—

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥ मं० २ ॥

इसका अनुवाद श्री ब्लूमफील्ड Thee the clans, thee these regions shall choose for empire, Root thyself up on the height, the pinnacle of royalty, then do thou, mighty, distribute goods among us. ऐसा करते हैं। मं ६ में कहा है कि—

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि संह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।

इसका अनुवाद श्री ब्लूमफील्ड ने O Indra, come thou to the tribes of men, for thou hast agreed, concordant with the barunas (as if the electors) इन शब्दों में किया है। वरुणों का अर्थ चुनाव करनेवाले electors का ही है यद्यपि ब्लूमफील्ड ने व्यर्थ ही As it का प्रयोग कर दिया है।

यह सब होने पर भी श्री ब्लूमफील्ड Charms pertaining to Royalty अर्थात् राजकर्म विषयक जादू यह शीर्षक देकर इसके महत्व को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

अथर्व० ३. ३० पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाला सूक्त है जिसके कुछ मन्त्रों को हम श्री ब्लूमफील्ड के अनुवाद-सहित उद्धृत करते हैं। पाठक देखेंगे कि इनमें पारिवारिक प्रेम और कर्तव्यों का कितना सुन्दर चित्रण है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद—

Unity of heart and Unity of mind, freedom from hatred, do I procure for you. Do ye take delight in one another, as a cow in her new born calf.

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद—

The son shall be devoted to his father, be of the same mind with his mother, the wife shall speak honied, sweet words to her husband.

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

The brother shall not hate the brother, and the sister not the sister ! Harmonious, devoted to the same purpose, speak ye words in kindly spirit.

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट सराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु एत, सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद—

Following your leader, of the same mind, do ye not hold yourselves apart ! Do ye come here, co-operating, going along the same wagon-pole, speaking agreeably to one another ! I render you of the same aim, of the same mind.

—*Hymns of the Atharva Veda* _by M. Bloomfield, P. 134

इस उत्तम सूक्त के सारे महत्त्व को जिसमें सहृदयता, सांमनस्य, अद्वेष, परस्पर प्रेम और सहयोग, मधुर भाषण इत्यादि का अत्युत्तम उपदेश है, श्री ब्लूमफील्ड 'Charm to secure harmony' अर्थात् 'सांमनस्य स्थापित करने का जादू' यह शीर्षक देकर नष्ट कर डालते हैं ।

ब्रह्म शब्द का अशुद्ध अर्थ—जादू

इसके चतुर्थ मन्त्र में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ परमेश्वर के अतिरिक्त ज्ञान होता है । मन्त्र में यह कहा गया है कि तुम्हें ऐसा ज्ञान देता हूं जिसे पाकर देव (सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग) परस्पर विरोध नहीं करते और न आपस में द्वेष रखते हैं । जो सबको परस्पर मिलानेवाला है । पर इस ब्रह्म शब्द का अर्थ भी ब्लूमफील्ड Charm वा जादू करके सारी उत्तम शिक्षाओं पर चौका फेर देते हैं । वे इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

What Charm which causes the gods not to disagree, and not to hate one another, that do we prepare in your house, as a means of agreement for your work.

यहां Charm के स्थान पर Knowledge होना चाहिए था और Gods के स्थान पर Wise men, शेष अनुवाद ठीक है ।

तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ अ० ४. ३०. ४ ॥

सांमनस्यं देवता

अथर्व० ६-६४ का देवता वा प्रतिपाद्य विषय भी सांमनस्य है। हम उसके ३ मन्त्रों को श्री ब्लूमफील्ड के अनुवाद सहित उद्धृत करते हैं। उससे भी ज्ञात हो जायेगा कि सूक्त में सामाजिक उन्नति के कितने उत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन है—

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ मं० १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ मं० २ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ मं० ३ ॥

इन मन्त्रों का श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद निम्नलिखित है—

1. Do ye agree, unite yourselves, may your minds be in harmony just as the goods of old in harmony sat down to their share !

2. Same be their counsel, same their assembly, same their aim, in common their thought ! The same oblation do I sacrifice for you, do ye enter upon the same plan.

3. Same be your intention, same your hearts ! Same be your mind, so that it may be perfectly in common to you. —*Hymns of the Atharva Veda*, P. 136

यह सूक्त ऋग्वेद १०-१९१ के सूक्त के लगभग समान सूक्त है। जो परिवर्तन हैं, वे अर्थ की दृष्टि से अपना महत्त्व रखते हैं। 'समानं चेतो अभिसंविशध्वम्'—तुम सब एक चित्त के अन्दर प्रवेश कर जाओ, तुम्हारे मन सदा मिले हुए हों, तुम्हारा उद्देश्य एक-समान हो, इत्यादि भाव कितने उत्तम हैं ! पर श्री ब्लूमफील्ड इसके महत्त्व को Charm to allay discord अथवा 'विरोध को दूर करने का जादू' यह शीर्षक देकर नष्ट कर डालते हैं। ऐसे ही अन्य सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होगा कि अथर्ववेद में जादू-टोने भरे हुए हैं। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा से किस प्रकार उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सर्वोपयोगी उपदेशों के गौरव को नष्ट कर दिया गया है !

अथर्व० ७. १२—सभा समितिः पितरश्च देवताः

अथर्ववेद ७-१२ राष्ट्रीय दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इसमें सभा और समिति का, जिसे आजकल की दृष्टि से लोकसभा और राज्यसभा के समान समझा जा सकता है, उत्तम प्रतिपादन है और उसके सदस्यों को 'पितरः' इस नाम से सम्बोधित करते हुए उनके परामर्श से लाभ उठाने तथा उनके प्रति नम्रता रखने का राजा को उपदेश है। उसके प्रथम दो मन्त्रों को हम ब्लूमफील्ड के दोषपूर्ण अनुवाद-सहित उद्धृत करते हैं।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उपमा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥

इनका श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद निम्न है—

May assembly and meeting, the two daughters of Prajapati, concurrently aid me ! May he with whom I meet, co-operate with me ! May I, O ey Fathers, speak agreeably to those assembled. We know thy name, O assembly, 'Mirth' verily is thy name; may all those that sit assembled in thee utter speech in harmony with me.

—*Hymns of the Atharva Veda* by M. Bloomfield, P. 138

यह अनुवाद दोषपूर्ण है। नरिष्टा का अनुवाद 'Mirth' करना ठीक नहीं। इसका अर्थ Benevolent to the people—नृ + इष्टा=सब मनुष्यों के लिए इष्ट=हितकारिणी or that which does not allow people to suffer अथवा जो लोगों को कष्ट में न पड़ने दे, ऐसा होना चाहिए।

तथापि हम इस अनुवाद को सम्पूर्णतया बुरा नहीं कह सकते, पर जिस बात को देखकर दुःख और आश्चर्य होता है वह इस सूक्त का शीर्षक है। श्री ब्लूमफील्ड, जिनके सिर पर अथर्ववेद का जादू सवार है, इसका शीर्षक रखते हैं 'Charm to procure influence in the assembly' अथवा 'सभा में प्रभाव डालने का जादू', कितना भ्रान्तिपूर्ण है यह शीर्षक !

इस प्रकार अन्य अनेक अशुद्धियां हैं जो ब्लूमफील्ड, ह्विटनी इत्यादि ने अथर्ववेद के मन्त्रों के अर्थ और भाव को समझने में की हैं। हमें कुछ प्रसन्नता हुई जब हमने श्री ब्लूमफील्ड के इन शब्दों को अथर्ववेद के अनुवाद की भूमिका में पढ़ा—

I do not consider any translation of the Atharva Veda, at this time as final. The most difficult problem, hardly as yet ripe for final solution, is the original function of many mantras, after they have been stripped of certain adaptive modifications imparted to them to meet the immediate purpose of the Atharva Vedin, etc.

—*Introduction to the Hymns of the Atharva Veda*, _P. IXXIII

अर्थात् मैं इस समय किये अथर्ववेद के किसी अनुवाद को भी अन्तिम नहीं समझता। सबसे कठिन समस्या, जिसके समाधान का अभी समय ही परिपक्व नहीं हुआ, बहुत-से मन्त्रों का मूल विनियोग है जब कि उन्हें उन परिवर्तनों से रहित कर दिया जाता है जो किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्यर्थ अथर्ववेदियों ने कर दिये हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मध्यकालीन भाष्यकारों और श्रौत, कल्पसूत्रकारादि ने अथर्ववेद तथा अन्य वेदों के मन्त्रों का कई स्थानों पर मन्त्रार्थ से भिन्न और सर्वथा असम्बद्ध कपोलकल्पित विनियोग कर दिया है। उसे हटाकर वास्तविक मूलार्थ और विनियोगादि का पता लगाना भी आवश्यक है। हमारा इन वाक्यों को यहां उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि जब श्री ब्लूमफील्ड अभी किसी भी अथर्ववेद के अनुवाद को अन्तिम वा प्रामाणिक नहीं समझते और मानते हैं कि वेद के वास्तविक अर्थों को समझने में कठिन समस्याएं हैं जिनका समाधान करने का अभी समय ही नहीं आया, तो उनके अपने अत्यन्त त्रुटिपूर्ण, पक्षपातयुक्त अशुद्ध अनुवाद को प्रामाणिक मानकर वैदिक शिक्षाओं की समालोचना करनेवाले 'वैदिक एज्' आदि के लेखकों की क्या गति होगी ! उन्होंने वे सब अशुद्धियां तो की ही हैं जिन्हें ब्लूमफील्ड आदि ने किया था,

किन्तु वे अपनी भ्रान्त कल्पनाओं में अपने गौराङ्ग गुरुओं से भी दस कदम आगे बढ़ गये हैं। उनकी असङ्गत और भ्रान्तिमूलक टिप्पणियों और आलोचनाओं का नमूना देखिये—

Medicinal Charms या 'औषध सम्बन्धी जादू' का शीर्षक देकर वे लिखते हैं—

Quite a number of medicinal charms are included in the Atharva Veda. The chief malady that was sought to be treated magically is the Takman. From the symptoms described, it is almost certain that it was nothing but Malarial fever. The plant Kushtha is maintained as potent in fighting Takman, but whether as medicine or as amulet is not quite clear.

—*Vedic Age,* P. 4-5

अर्थात् अथर्ववेद में बहुत-से ओषधिविषयक जादू वर्णित हैं। तक्मा (जिसके वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह मलेरिया ज्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं) की चिकित्सा का विशेष वर्णन है। कुष्ठ नामक वनस्पति को तक्मा वा ज्वरनाशक बताया गया है, पर यह स्पष्ट नहीं कि ओषधि के रूप में या जादू के रूप में धारित कवच की शक्ल में उसे ज्वरनाशक माना गया है।

समीक्षा

यह लेख बड़ा भ्रमजनक है। अथर्ववेद में ज्वर ही नहीं, मूत्ररोग, नपुंसकत्व, क्षयरोग, वन्ध्यात्व, कुष्ठ इत्यादि सैकड़ों रोगों की नाशिका अपामार्ग, कुष्ठ, असिक्नी, पृश्निपर्णी, सोम, दर्भ आदि ओषधियों का वर्णन है। कुष्ठ के द्वारा ज्वर की चिकित्सा का जो अथर्व० ५-४ और १९-२९ में वर्णन है वह ओषधि के रूप में ही उसके सेवन से है, न कि जादू-टोने के रूप में। यह बात उन दोनों सूक्तों के मन्त्रों से (यदि श्री ब्लूमफील्ड का कई स्थानों पर अशुद्ध अनुवाद भी मान लिया जाये) सर्वथा स्पष्ट है। न जाने 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखकों को इसमें क्यों संदेह हो गया। उदाहरणार्थ उन सूक्तों के निम्न २-३ मन्त्रों को उद्धृत करना पर्याप्त है—

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥

—अथर्व० ५.४.१

श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद—

Thou that art born upon the mountains; as the most potent of plants, come hither O Kushtha, destroyer of the Takman to drive out from here the Takman (fever).

यहां स्पष्ट ही कुष्ठ को 'वीरुधां बलवत्तमः' अर्थात् ओषधियों में अतीव प्रभावशालिनी ओषधि कहा गया है जिस का अनुवाद श्री ब्लूमफील्ड ने The most potent of plants किया है। अथर्व० ५. ४. १० में कहा है—

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो ३ रपः। कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम्॥

श्री ब्लूमफील्ड कृत अनुवाद—

Pain in the head, affliction in the eyes and ailment of the body, all that shall the Kushtha heal—*a divinely powerful remedy.*

यहां भी सिरदर्द, आंखों के रोग, शरीर में पीड़ा इत्यादि की चिकित्सा कुष्ठ ओषधि द्वारा बताई गई है। श्री ब्लूमफील्ड का अनुवाद—A powerful remedy ही सन्देह-निवारणार्थ पर्याप्त था, फिर भी 'वैदिक एज्' के विद्वान्

लेखकों को सन्देह बना ही रहा, यह आश्चर्य की बात है। हमारे इस कथन में वस्तुतः कोई अत्युक्ति नहीं कि 'वैदिक एज्' एक सन्दिग्ध और सन्देहजनक पुस्तक है। अथर्व० १९. ३९ में कुष्ठ के लिए ५ बार 'विश्वभेषजः' इस शब्द का प्रयोग है जिसका अनुवाद श्री ब्लूमफील्ड ने Universal remedy किया है।

इस सूक्त के मं० ४ में कहा गया है—

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव।
व्याघ्रः श्वपदामिव नाद्यायं पुरुषो रिषत् यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायं प्रातरथो दिवा॥

श्री ब्लूमफील्ड ने इसका अनुवाद यों किया है—

Thou art the most superior to the plants, as a steer among cattle, as the tiger among beast to prey. Verily no harm shall suffer this person here, for whom I bespeak these morn and even, aye the entir day.

—*Hymns of the Atharva Veda* by M. Bloomfield, P. 6

यहां कुष्ठ के विषय में लिखा है 'उत्तमो असि ओषधीनाम्' अर्थात् तू ओषधियों में उत्तम है। यह भी कहा गया है कि प्रातः, सायं और दिन में तेरा सेवन करने से रोगी रोग से पीड़ित नहीं होता और स्वस्थ हो जाता है।

इस प्रकार कुछ ओषधियों के सेवन से ज्वरादि की चिकित्सा की बात सर्वथा स्पष्ट है। जादू या कवच के रूप में धारण करने का सूक्तों में कहीं नामोनिशान तक नहीं।

एक भ्रान्तिमूलक समालोचना

इस प्रसङ्ग में 'वैदिक एज्' के पृ० ४१५ में जो एक अत्यन्त भ्रमोत्पादक टिप्पणी दी गई है, उसकी समालोचना करना आवश्यक प्रतीत होता है। वहां लिखा है—

It is interesting to not that in one hymn (5.22) Takman has been asked to seize the Shudra and the Dasi or to go away to Mujavats or to the Valhikas further beyond, and the last verse, the author says quite maliciously that he is sending Takman to the Gandharis, Angas and Magadhas like one sending a treasure to a person.

—*Vedic Age*, P. 815

अर्थात् यह बात बड़ी मनोरंजक है कि अथर्व० ५.२२ में तक्मा (मलेरिया ज्वर) को कहा गया है कि वह शूद्रा या दासी को पकड़ ले या मूजवान् पर्वत अथवा दूरस्थ वाल्हीक देश को चला जाये। अन्तिम मन्त्र में लेखक अशुभ इच्छा वा शत्रुता के साथ कहता है कि वह तक्मा (ज्वर) को गान्धार, अंङ्ग और मगध को ऐसे भेज रहा है जैसे कोई खज़ाने को किसी पुरुष के पास भेज रहा हो।

समीक्षा

जिन मन्त्रों के अर्थ को ठीक न समझकर 'वैदिक एज्' के लेखक ने यह टिप्पणी दी है, वे मन्त्र निम्न हैं—

तक्मन् व्याल वि गद, व्यङ्ग भूरि यावय। दासीं तिष्टक्वरीमिच्छतां वज्रेण समर्पय।।

—अथर्व० ५. २२. ६

तक्मन् मूजवतो गच्छ, बह्लिकान् वा परस्तराम् । शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं, तां तक्मन्वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः । प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं, तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

इन मन्त्रों में प्रयुक्त दासी, शूद्रा, गन्धारी, मूजवान्, अङ्ग और मगध शब्दों के अर्थ समझने में भूल हुई है जिसे दूर करना आवश्यक है ।

'दासी' नामी एक ओषधि—काकजङ्घा

यहां मन्त्र में प्रयुक्त दासी शब्द काकजंघा नाम्नी ओषधि का वाचक है जैसा 'राजनिघण्टु' में उसके पर्यायवाची शब्द देते हुए लिखा है—

काकजंघा ध्वाङ्क्षजंघा, काकपादा तु लोमशा ।
पारावतपदी दासी, नदीकान्ता प्रचीवला ।
काकजंघा च तिक्तोष्णा रक्तपित्तज्वरापहा ॥ —राजनिघण्टु

यहां **काकजंघा** के नामों में **दासी** शब्द आया है और उसे रक्तपित्त और ज्वर को दूर करनेवाली कहा गया है । **दासी** शब्द के इस अर्थ को न समझकर लोक-प्रचलित अर्थ लेने से कितना अनर्थ हो गया !

'शूद्रा' नाम्नी ओषधि

जैसे **दासी** शब्द ओषधिवाचक है वैसे **शूद्रा** शब्द भी यहां **प्रियंगुलता** के लिए आया है । 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में **प्रियंगुलता** के लिए वैदिक शूद्रासमान शूद्रार्ता शब्द का प्रयोग पाया जाता है यथा "शूद्रार्ता प्रियंगुलतायाम्" (वैद्यक शब्द सिन्धु श० ख०) । यह प्रियंगु ज्वरनाशक भी है जैसा भावप्रकाश निघण्टु में लिखा है—

प्रियंगुः शीतला तिक्ता, तुवरानिलपित्तहा । रक्तातिसारदौर्गन्ध्य स्वेददाहज्वरापहा ॥

—भावप्रकाश निघण्टु

यहां प्रियंगुलता को स्पष्टतया ज्वर का नाश करनेवाली कहा गया है । इस प्रकार शूद्रा और दासी इन शब्दों के अर्थ समझ लेने पर मन्त्रों का अर्थ यह होगा कि—**तक्मन् व्याल विगद ····· समर्पय ॥**

(व्याल) सर्प-विष की भांति समस्त शरीर में फैलकर निस्साहस करनेवाले (विगद) विशेष रोग ! (व्यङ्ग) किसी विशेष अङ्ग से सम्बन्ध न रखकर समस्त शरीर में होनेवाले (तक्मन्) हे ज्वर ! तू (भूरि यवय) अत्यन्त दूर हो जा (निष्टक्वरीं दासीम् इच्छ) खिली हुई—खिले फूलोंवाली काकजंघा ओषधि को चाह (ताम) उसके प्रति (वज्रेण समर्पय) ज्ञान से (वज गतौ) अपना समर्पण कर ।

मन्त्र का निर्देश स्पष्ट है कि खिले फूलोंवाली काकजंघा ओषधि के सेवन से ज्वर दूर होता है ।

तक्मन् मूजवतः ····· वीवधूनुहि ॥

(तक्मन्) हे ज्वर ! तू (मूजवतः) मूंजवाले देशों में (वा) तथा (बल्हिकान्) आच्छादित स्थानों में (परस्तरां गच्छ) अत्यन्त तिरस्कृत होकर जाने योग्य है, अर्थात् ऐसे स्थानों पर ज्वर फैलता है जो घासवाले हों तथा वायु और प्रकाश से रहित होने के कारण बन्द-से हों । (तक्मन्) हे ज्वर ! तू (प्रफर्व्यं-शूद्रम्) फूली हुई प्रियंगु ओषधि को (इच्छ) चाह (ताम्) उसे (वीव-धूनुहि) अतीव कम्पित कर, उस पर अपनी वेग-शक्ति को समाप्त कर ।

यहां भी मन्त्र का स्पष्ट निर्देश है कि अधिक घासवाले और वायु तथा प्रकाशरहित प्रच्छादित-से स्थानों में ज्वर का प्रकोप अधिक होता है जो प्रियंगुलता के सेवन से दूर हो सकता है ।

बह्लिक शब्द का अर्थ

बह्लिक शब्द का अर्थ वेदों में इतिहास-भूगोल माननेवाले वह्लिक नाम का देश-विशेष समझते हैं। कई तो इस से—

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः। वह्लीका नाम ते देशाः न तत्र दिवसं वसेत्॥

इत्यादि वचनों के अनुसार पंजाब का ग्रहण करते हैं, किन्तु इससे न अर्थ की संगति लगती है और न वेद का भाव समझ में आता है। जो ऐतिहासिक प्राय: मानते हैं कि वैदिक ऋषियों ने अधिकतर पंजाब में वेदमन्त्रों की रचना की, उनके लिए तो ऐसा मानना कि ज्वर को पंजाब में फैल जाने का शाप दिया गया है, नितान्त असङ्गत है। वस्तुतः नित्य वेदों में ऐसे देशविशेष की कल्पना करना ही सर्वथा अशुद्ध है जैसा पहले हम "परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्" (मीमांसा) वाचा विरूप नित्यया (ऋग्० ८.७५.६) इत्यादि प्रमाणों द्वारा बता चुके हैं। अतः वह्लिक शब्द का यौगिक अर्थ ही लेना चाहिए जो यह है कि बह्ल—(भ्वा०) परिभाषण हिंसाच्छादनेषु से वह्लिक शब्द बनता है। वह्ल के इन तीन अर्थों में से आच्छादनपरक अर्थ का ऊपर निर्देश किया जा चुका है जो यह है कि आच्छादित प्रदेश—प्रकाश तथा वायुरहित बन्द-से स्थान। इसका हिंसापरक अर्थ भी किया जा सकता है कि जहां पशुहिंसा के कारण गन्दगी फैलती हो वहां भी ज्वरादि का प्रकोप होता है। "बवयोरभेदः" के अनुसार वह्लिक और बह्लिक को एक-सा माना गया है।

'बल्ह प्राधान्ये' ऐसी भी एक भ्वादि गण की धातु है। उससे बल्हिक शब्द की सिद्धि करनी हो तो 'अपवित्रता या अन्धकारादि का जहां प्राधान्य हो' ऐसा अर्थ लिया जा सकता है। इस प्रकार वैदिक शब्दों के ठीक अर्थ समझ लेने पर इस आक्षेप के लिए कोई स्थान नहीं रहता कि वैदिक ऋषि ने दुर्भावना के साथ ज्वर को शूद्रा वा दासी को पकड़ने का आदेश दिया है।

गन्धारि, अङ्ग और मगध शब्दों के अर्थ

गन्धारि शब्द गन्धपलाशी या कर्चूर नामक ओषधि का वाचक है। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में लिखा है—

गन्धारिः गन्धपलाश्याम्॥

भावप्रकाश निघण्टु में लिखा है—

शरी पलाशी षड्ग्रन्था, सुव्रता गन्धमूलिका। गन्धारिका गन्धवपुर्वधूः पृथुपलाशिका॥

—भावप्रकाश निघण्टु

'निघण्टु रत्नाकर' में गन्धपलाशी के पर्याय कर्चूर को ज्वरनाशक बताया गया है। यथा—

समुगन्धः कर्चूरस्तीक्ष्णो दाही कटुः स्मृतः।..... कास श्वासज्वरापहः॥

इसलिए गन्धपलाशी वा कर्चूर नामक ओषधि का ग्रहण करना सर्वथा उचित है। मूजवान् या मुंजवान् सोमवाचक है। यह बात 'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः' (ऋग्० १०. ३४. १) इस वचन में भी निर्दिष्ट है, तथापि 'वैद्यक शब्दसिन्धु' का 'मुंजवान् सोमे' यह वचन सर्वथा स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय है।

यहां अङ्ग शब्द किसी देशविशेष का वाचक नहीं जैसा ऐतिहासिकों की कल्पना है, किन्तु बोल नामक ओषधि का वाचक है जिसके लिए 'वैद्यक शब्दसिन्धु' का 'अङ्गं बोले' यह वचन प्रमाण है। 'निघण्टु रत्नाकर' में बोल के गुणों का निरूपण करते हुए उसे ज्वरनाशक बताया गया है। यथा—

रक्तबोलः कटुस्तिक्तः, तुवरोष्णश्च पावनः । प्रदराश्मरी मेहघ्नो योनिशूलज्वरप्रणुत् ॥

यहां मगध शब्द पिप्पली ओषधि का वाचक है, न कि देशविशेष का, जैसा ऐतिहासिकों की कल्पना है । मगध शब्द पुंल्लिङ्ग है पर मगधा स्त्रीलिंग में है जिसके पर्याय 'कैयदेव निघण्टु' में इस प्रकार दिये गये हैं—

पिप्पली मागधी शौण्डी, वैदेही चपला कणा । कृष्णोपकल्या मगधा, श्यामाह्वा तीक्ष्णतण्डुला ॥

यहां पिप्पली जो मागधी का पर्यायवाची बताया गया है जिसके लिए 'भावप्रकाश निघण्टु' में स्पष्ट कहा गया है कि—

पिप्पली रेचनी हन्ति, श्वास कासोदरज्वरान् ।

अर्थात् पिप्पली दस्तावर है और वह दमा, खांसी तथा ज्वर को दूर करनेवाली है । मन्त्र का तात्पर्य यह हुआ कि—

(गन्धारिभ्यः) गन्धपलाशी अर्थात् कचूर ओषधि के लिए (मूजवद्भ्यः) सोम ओषधि के लिए (अङ्गेभ्यः) बोल ओषधि के लिए (मगधेभ्यः) पिप्पली ओषधि के लिए (तक्मानम्) ज्वर को (परि दद्मसि) सुपुर्द करते हैं । (प्रैष्यं जनमिव शेवधिम्) रक्षक भृत्य जन के लिए जैसे रक्षा-योग्य कोष को सुपुर्द करते हैं ।

भावार्थ यह हुआ कि कचूर, सोम, बोल और पिप्पली नामक ओषधियों के सेवन से ज्वर को दूर किया जा सकता है, इसलिए ज्वर को मानो उनके सुपुर्द किया जाता है कि वे इसे अपने वश में कर लें ।

इस प्रकार गन्धारि, मूजवान्, अंग, मगध इत्यादि शब्दों के ठीक अर्थ समझने पर मन्त्र में असंगत बात नहीं रहती और यह ज्ञान प्राप्त होता है कि इन ओषधियों के सेवन से ज्वर की चिकित्सा हो सकती है । ऐसा वैज्ञानिक तथा आयुर्वेदिक अर्थ न लेकर समस्त अंग, मगध, वह्लिक, गन्धारि देशनिवासियों तथा मूजवान् पर्वत पर ज्वर का प्रकोप हो जाये, ऐसा शाप देना कितना असंगत है !

श्री ब्लूमफील्ड की अशुद्धियों का दुहराना

हमने पिछले पृष्ठों में श्री ब्लूमफील्ड की जिन अशुद्धियों का निर्देश किया है, 'वैदिक एज्' में उन्हें ही बार-बार दुहराया गया है । उदाहरणार्थ अथर्व० ३. ३० के सांमनस्य सूक्त का अनुवाद देते हुए(जिसके प्रारम्भ के दो मन्त्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं) —

Like in heart, of like intent non-hostile, do I make you; one another you should love, as the cow loves her new born calf. May the son do the father's will and be of one mind with the mother; may wife to husband honeyed words and peaceful always speak.

वे लिखते हैं—

Of the same type but much more elevated in tone, is the oft-quoted and justly celebrated charm for securing concord. —*Vedic Age*, P. 420

यह श्री ब्लूमफील्ड के Charm to secure harmony का अनुसरणमात्र है, इसमें सन्देह नहीं । यहां जादू का नामोनिशान तक नहीं । ये सांमनस्य-विषयक उत्तम शिक्षायें हैं, अतः Teachings to secure harmony ऐसा शीर्षक देना उचित था ।

श्री ब्लूमफील्ड की अशुद्धियों का निर्देश करते हुए हमने अथर्व ७. १२ के सभा, समिति आदि विषयक राजनैतिक आदेशों का कुछ अंश अनुवाद-सहित दिया था । वही भूल 'वैदिक एज्' के लेखकों ने भी पृ० ४११ पर की है । वे लिखते हैं—

A number of hymns of the Atharva Veda are on the bordering of magic and plitics. —P. 411

अर्थात् अथर्ववेद के कुछ सूक्त जादू और राजनीति की मध्यरेखा पर हैं। वस्तुतः वे विशुद्ध राजनीति का उपदेश करनेवाले हैं। उनमें जादू की कल्पना सर्वथा असत्य है। 'वैदिक एज्' में इस सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का निम्न अनुवाद किया गया है—

1. May the assembly and the council protect me the two daughters of Prajapati in agreement. May he whom I meet seek to help me. May I speak pleasantly at the meeting O fathers.

2. Of those seated here together, I take away splendour and discernment. Of this whole gethering, O Indra, make me the possessor of fortune.

—*Vedic Age,* P. 412

इस अनुवाद को ठीक मानने पर भी स्पष्ट है कि यहां विशुद्ध राजनैतिक आदर्शों का उपदेश है। इसमें जादू-टोने की कोई बात ही नहीं, फिर जनता में भ्रम उत्पन्न करने के लिए यह क्यों लिखा जाये कि ऐसे सूक्त जादू और राजनीति की मध्य रेखा पर हैं? यह श्री ब्लूमफील्ड का अनुसरणमात्र है जिन्होंने लगभग ऐसा ही अनुवाद देकर शीर्षक 'Charm to procure influence in the assembly' अर्थात् 'लोकसभा में प्रभाव प्राप्त करने का जादू' यह रख छोड़ा।

अभिचार-विषयक असत्य कल्पना

अथर्ववेदोक्त अभिचार के विषय में हम इस अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं, पर उनके सम्बन्ध में भी 'वैदिक एज्' में बड़ा अशुद्ध विचार प्रकट किया गया है। वे लिखते हैं—

Least savoury of the magic charms of the Atharva Veda are those of witchcraft and the like which constitute the Angirasa part of Samhita. The purpose of some is defensive, but the majority of them are offensive in purpose and directed against human enemies.

Law and primitive morality speak in these hymns. —*Vedic Age,* P. 413

यहां यह जो बात कही गई है कि अभिचारों में से अधिकतर आक्रमणात्मक हैं, न कि रक्षात्मक, यह वस्तुतः असत्य है। इनमें एक नीच और जंगली आचार का परिचय मिलता है, यह भी सर्वथा अशुद्ध (भ्रान्त) है। इनका सम्बन्ध तो युद्ध-विद्या और देश-रक्षा के साथ है। इनमें हीन आचार की कल्पना को समझना भ्रममूलक है।

वैदिक ब्राह्मणों पर स्वार्थान्धता का आरोप

'वैदिक एज्' के लेखकों ने यह अशुद्ध कल्पना करके कि अथर्ववेद के ब्राह्मण पुरोहित अपने से हीन, निर्धन और अशिक्षित ग्रामीणों के साथ सम्पर्क में आते थे और उनके जंगली अन्धविश्वासों से लाभ उठाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे, उन पर एक अत्यन्त भयंकर आरोप लगाया है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। विशेषतः इसलिए क्योंकि उन्होंने

कुछ वेदमन्त्रों का भी अशुद्ध अर्थ समझकर इस प्रकरण में उल्लेख किया है। हम उनके कुछ वाक्यों का उल्लेख करके उनकी समालोचना करेंगे। वे लिखते हैं—

Here in the Atharva Veda the Brahman priest is addressing his social inferior from whom he need not turn off the shady side of his Character. Thus in the hymn on the Brahman's wife (Brahma jaya) the priest has demanded a remarkable privilege for his class.

—*Atharva Veda,* V. 17.8

Even though there wer ten Non-Brahmana previous husbands of a woman, the Brahmana alone becomes her husband if he seizes her hand.

यहां वे कहते हैं कि ब्रह्मजाया वाले सूक्त (५-१७) में पुरोहित अपने ब्राह्मणवर्ग के लिए एक अत्यन्त उल्लेंखनीय अधिकार की मांग करता है कि यद्यपि किसी स्त्री के पहले दस अब्राह्मण पति हों, तो भी यदि ब्राह्मण उसका हाथ ग्रहण करता है तो केवल वही उसका पति होता है। इसे अगले मन्त्र में और जोर देकर बतलाया गया है कि ब्राह्मण ही एकमात्र पति होता है, न क्षत्रिय, न वैश्य; सूर्य सब मनुष्यमात्र के लिए इस बात की घोषणा करता है।

The Barhmana indeed is the husband, neither the Rajanya, nor the Vaishya, this the sun goes on proclaiming to the five tribes of men.

इस तथा अन्य अथर्ववेद के मन्त्रों के अनुवाद के सम्बन्ध में जिसके आधार पर 'वैदिक एज्' के लेखकों ने ऐसा भयंकर आरोप अथर्ववेदीय ब्राह्मणों पर लगाने का दुस्साहस किया है, उनकी यह टिप्पणी पढ़ने योग्य है—

In rendering the passages of the Atharva Veda I have, as far as possible, *followed Whitney's translation,* though it is wooden and purely etymological, for what ever it may be in other respects, it is at least literally correct. —*Vedic Age,* P. 422

अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्रों के अनुवाद में मैंने यथासम्भव ह्विटनी का अनुसरण किया है; यद्यपि यह काष्ठवत् शुष्क (भावनारहित) और शब्दों के धात्वर्थादि पर आश्रित है। अन्य विषयों की दृष्टि में यह अनुवाद जैसा भी हो, कम से कम शाब्दिक दृष्टि से ठीक है।

इस टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखक ने ह्विटनी के भावना-शून्य अनुवाद का ही अनुसरण किया है और क्योंकि उस अनुवाद में श्री ब्लूमफील्ड के अनुवाद के समान ही अनेक भयंकर अशुद्धियां हैं अतः उस अनुवाद के आधार पर की गई टिप्पणियां भी भ्रान्तिपूर्ण हैं, इसमें सन्देह नहीं।

ऊपर जिन मन्त्रों का निर्देश किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥

ब्रह्मजाया शब्द का अर्थ

ब्रह्मजाया शब्द के अर्थ को समझने में ब्लूमफील्ड, ह्विटनी और उनका अनुसरण करनेवाले 'वैदिक एज्' के लेखकों ने भूल की है। इसीलिए उनकी उपर्युल्लिखित टिप्पणी भी भ्रान्तिमूलक है। जाया शब्द उणादि कोष ४. १११ 'जनेर्यक्'

इस सूत्र के अनुसार जन् धातु से बनता है जिसका अर्थ जनन वा उत्पन्न करना है । इसलिए 'जाया' का अर्थ यहां 'जनयति उत्पादयति सुखानीति जाया विद्या' ऐसा है । ब्रह्मजाया का अर्थ ब्रह्मविद्या वा वेद-विद्या है ।

'उत यत् पतयो दशस्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः' में स्त्री का अर्थ उणादि कोष ४. १६६ के 'स्त्यायतेड्रंट्' इस सूत्र के अनुसार स्त्यै शब्द सांघतयोः इस धात्वर्थ के आधार पर करना चाहिए । यहां साधारण लौकिक स्त्री से तात्पर्य नहीं, किन्तु उपदेश देनेवाली और ज्ञान के संघात वा भण्डाररूप वेदविद्या से है । स्तृञ् आच्छादने (क्रयादि गण) इस धातु से भी स्त्री शब्द बनता है । इस प्रकार उसका अर्थ ज्ञान से आच्छादित करनेवाली वेदविद्या होगा जैसा 'छन्दांसि' इस शब्द का अर्थ होता है ।

यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।छन्दांसि छादनात् ॥ —निरुक्त ७. १२

इत्यादि से यही बात ज्ञात होती है । इसलिए स्त्री का अर्थ यहां वेदविद्या है और उसके विषय में कहा है कि सच्चा ब्राह्मण स्वार्थरहित सारी विद्याओं को जाननेवाला होता है जिसे ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रहीत् में ब्रह्मा के नाम से भी पुकारा गया है ।

ब्रह्मा परिवृढः सर्वतः वृह वृद्धौ ब्रह्मा सर्वविद्यः ।—निरुक्त ११.७

तपस्वी पुरुष ही उस वेदविद्या वा ब्रह्मविद्या का सच्चा स्वामी होता है । यदि दस भी अब्राह्मण हों जिन्होंने परमेश्वर और वेद के स्वरूप को नहीं समझा तथा जो निःस्वार्थ, शुद्ध, सदाचारी, तपस्वी नहीं तो वे वेदविद्या तथा ब्रह्मविद्या के पति—सच्चे रक्षक नहीं बन सकते, क्योंकि वेद, विद्या का रहस्य केवल तपस्वी ब्राह्मण ऋषि के आगे ही खुल सकता है ।

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ।—निरुक्त अ० १

जो ऋषि और तपस्वी नहीं उसे वेदमन्त्रों का प्रत्यक्ष वा साक्षात् यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । ऐसा ऋषि और तपस्वी ही ब्राह्मण कहाता है, चाहे उसका जन्म किसी भी कुल में क्यों न हो । इसमें जात्यभिमानादि की कोई बात नहीं और न कोई स्वार्थान्धता की बात है ।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः ।

ऐसा सच्चा सात्त्विक ब्राह्मण ही जिसके लक्षण—

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा । तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

—म० भा० शान्तिपर्व अ० १८९

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

—गीता १८

इत्यादि रूप में शास्त्रों में किये गये हैं वही ब्राह्मण वेदविद्या वा ब्रह्मविद्या का सच्चा पति वा रक्षक बन सकता है; राजस-तामस गुणयुक्त स्वार्थसम्पन्न क्षत्रिय-वैश्य नहीं ।

मानो सूर्य वा ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर स्वयं सब मनुष्यों के लिए यह घोषणा कर रहा है । यहां ब्रह्मजाया और ब्राह्मण शब्दों के अर्थ न समझने के कारण ही यह भ्रान्ति हुई है । अथर्व ५.१८-१९ का निर्देश करते हुए 'वैदिक एज्' के लेखकों ने जो यह टिप्पणी की कि—

Not only the Brahman's wife, but also his property was sought to be protected by a similar appeal to people's *superstition.*

अर्थात् ब्राह्मण की स्त्री की ही नहीं, उसकी सम्पत्ति की भी लोगों के अन्धविश्वास को अपील करके रक्षा का प्रयत्न किया गया था, वह सब भ्रान्तिमूलक है। अथर्व० ५. १८-१९ को निष्पक्ष भाव से पढ़ने पर उसमें ऐसे किसी आरोप के लिए अवकाश नहीं रहता। उसमें सम्पत्ति का कहीं नाम वा निर्देश तक नहीं। ब्राह्मण की गौ से तात्पर्य उसकी वाणी से है। उसे रोकने का यत्न करना नितान्त अनुचित और हानिकारक होता है। ब्राह्मण शब्द के वास्तविक अर्थ को यदि 'वैदिक एज्' के लेखक समझ लेते तो उन्हें ऐसी समालोचना करने का साहस न होता। यहां ब्राह्मण जात्यभिमानी भोजनभट्टों से तात्पर्य नहीं, किन्तु उन सच्चे ब्रह्मज्ञानी ईश्वरभक्तों से है जिनका निर्देश इन दोनों सूक्तों में इन शब्दों द्वारा किया गया है कि—

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव। सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ मं० ६ ॥

अर्थात् सच्चे ब्राह्मण की हिंसा कभी न करनी चाहिए; वह राष्ट्र में शरीर की अग्नि के समान है। शान्ति का स्रोत भगवान् मानो इसका सम्बन्धी है और वह परमेश्वर इसका (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षक है। सच्चे ब्राह्मणों को कोमल व निर्बल समझकर जो (देवपीयुः) विद्वानों का हिंसक (धन कामः) धन की कामना से अज्ञानपूर्वक कार्य करता है उसका नाश होता है। ब्राह्मण के विषय में लिखा है कि वह 'देवबन्धु' होता है अर्थात् दिव्य गुणों को अपने अन्दर धारण करके उनका सच्चा हितकारी मित्र होता है। ऐसे सच्चे ब्राह्मणों का तिरस्कार करनेवालों का कभी कल्याण नहीं हो सकता।

यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्। —अ० ५. १८. १३

मं० १४ में ब्राह्मणों अर्थात् इन तपस्वी, स्वार्थरहित ब्रह्मज्ञानियों के लिए (ब्रह्म अधीते तद् वेद वा तदधीते तद् वेद—ब्राह्मणः) 'वेधसः' इस शब्द का प्रयोग आया है जिसको निघण्टु ३. १५ में मेधाविनामों में पढ़ा गया है। इससे स्पष्ट है कि जिन ब्राह्मणों के मान करने और उनकी सत्यमयी गौ (वाणी) को न बन्द करने का इन सूक्तों में वर्णन है वे किसी विशेष जाति वा जन्मसिद्ध वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं, बल्कि वेधसः—विशेष रूप से मनुष्यमात्र को धारण करनेवाले मेधा-बुद्धिसम्पन्न तपस्वी महानुभाव हैं जिनकी यह भावना होती है कि—

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते। हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ मं० १४ ॥

अर्थात् (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (वै) निश्चय से (नः) हमारा (पदवायः) आगे ले-जानेवाला पथप्रदर्शक है [पदं—प्राप्तव्यस्थानं वाययति गमयतीति पदवायः] (सोमः) शान्ति का स्रोत जगदीश्वर (दायादः उच्यते) हमारा सम्बन्धी कहा जाता है। (इन्द्रः अभिशस्तिहा हन्ता) परमैश्वर्य-सम्पन्न वह प्रभु हमारी हिंसा से रक्षा करनेवाला है (तत् तथा वेधसः विदुः) सचमुच इसी तरह मेधावी ब्राह्मण जानते और अनुभव करते हैं। ऐसे सच्चे तपस्वी मेधावी ब्रह्मवेत्ताओं पर स्वार्थान्धता का दोष लगाना 'वैदिक एज्' के लेखकों के लिए कितना अनुचित था ! ऐसे सच्चे ब्राह्मणों का अपने को बलवान् समझकर अपमान करनेवाला और उनकी गौ—ओजस्विनी जनहितकारिणी कल्याणी वाणी को स्वार्थवश बन्द करनेवाला राजा जहां होता है वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है, इसमें क्या सन्देह हो सकता है !

उग्रो राजा मन्यमानोब्राह्मणं यो जिघत्सति। परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥

—अ० ५. १९. ६

तद् वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्। ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुनाः ॥

नौका के टूटने पर जल जैसे बह निकलता है, ऐसे ही वह राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है जिसमें गुणों से महान् सर्व-विद्या-सम्पन्न तपस्वी मेधावी पुरुष की लोग हिंसा करते हैं, दुर्गति उस राष्ट्र का नाश कर देती है। ब्रह्मा शब्द का यहां प्रयोग इसीलिए किया गया है कि भ्रम से कोई वर्गविशेष न समझ ले। ब्रह्मा का अर्थ निरुक्तकार यास्काचार्य ने निरुक्त के प्रथम अध्याय के सप्तम खण्ड में इस प्रकार किया है—

ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति, ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः, ब्रह्म परिवृढं सर्वतः । — निरुक्त १.७

अर्थात् ब्रह्मा उसे कहते हैं जो सर्वविद्यासम्पन्न हो, जो तीक्ष्ण मेधाबुद्धि के कारण सब-कुछ जान सके और जो शास्त्रश्रवण के कारण सब ओर बढ़ा हुआ हो । ऐसे सर्वविद्यासम्पन्न मेधावियों का अपमान करनेवाला राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, इसमें सन्देह ही क्या है ! इसे स्वार्थपरायण ब्राह्मणत्वाभिमानियों की उक्ति बतलाना नितान्त असङ्गत है । वस्तुतः यहां भी 'वैदिक एज्' के लेखकों ने कोई नई बात नहीं लिखी । श्री ब्लूमफील्ड के निम्न वाक्यों में प्रकट किये भाव का ही ब्राह्मण शब्द के अर्थ का बिना विचार किये प्रकरण और अनुसरण कर लिया है । श्री ब्लूमफील्ड ने Hymns of the Atharva Veda के पृ० ४३० पर लिखा है—

The object of the two hymns V. 18 and 19 is clearly to present in the most drastic language the danger which arises from the oppression of Brahmans and usurpation cf their property.

हमें 'वैदिक एज्' के विद्वान् लेखकों पर आश्चर्य और खेद होता है कि बिना सोचे-समझे पाश्चात्य अनुवादकों के अनुवादों और लेखों को ही प्रामाणिक मानकर कितनी अप्रिय, कटु और असत्य आलोचना वे वेदों की शिक्षाओं की कर बैठे हैं । उदाहरणार्थ उनके ये शब्द कितने कटु और असत्य हैं कि—

The Brahman's supposed privileges have thus been shamelessly asserted in the Atharva Veda, of his obligation there is hardly any mention.....To the Brahmanas of the Atharva Veda it was evidently more important to be dear to the bestower of Dakshina than to be dear to the goods. —*Vedic Age,* P. 409

इन वाक्यों में वे कहते हैं कि अथर्ववेद में निर्लज्जतापूर्वक ब्राह्मणों के कल्पित अधिकारों का प्रतिपादन है ; उनके कर्तव्य का कठिनाई से कहीं वर्णन है । अथर्ववेद के ब्राह्मण दक्षिणा देनेवालों के प्रिय बनने को ही देवों के प्रिय बनने की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं, इत्यादि । हमने ऊपर सप्रमाण जो लिखा है उससे, उनकी इस स्थापना की असत्यता अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी । ब्राह्मण, ब्रह्मा, वेधसः, देवबन्धु इत्यादि शब्द ही उनकी अयथार्थता सिद्ध करने को पर्याप्त हैं । आशा है कि निष्पक्ष भाव से इन विषयों का पुनः अनुशीलन करके सत्य को ग्रहण और प्रकट करने में वे संकोच न करेंगे ।

मांस-मद्य-द्यूत-सेवन वेद-विरुद्ध

अन्त में एक और भ्रम को जिसे 'वैदिक एज्' के लेखकों ने स्थान-स्थान पर फैलाया है, दूर करके हम इस अध्याय को समाप्त करना चाहते हैं । इस विषय पर यज्ञ के प्रकरण में भी हम प्रकाश डाल चुके हैं, तथापि भ्रम-निवारणार्थ कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है ।

'वैदिक एज्' के पृ० ४५७ पर मांस, मद्य और द्यूत के सेवन के विषय में निम्न वाक्य पाये जाते हैं—

Dice was another amusement. The number of dice, the method of dice-playing and the names of the throws are all described in detail in the various texts of this (Yajur Vedic) period. A ritual game of dice is played at the Agnyadheya and the Rajasuya ceremonies. So gambling is probably sought to be restricted by elevating racing and dicing to the rank of religious ceremoneis.

FOOD AND DRINK

Meat-eating seems to be fairly common, as in the Rigvedic age. The Shatapath Brahmana prescribes the killing of a great ox or goat in honour of a guest. Generally meat was eaten on the occasion of some ceremony or other, but such ceremonies were performed almost everyday. Its use is forbidden during the observance of a vow. It appears that the killing of cows gradually come into disfavour. The normal meat diet consisted of the flesh of the sheep, the goat and the ox, the usual sacrificial victims. What man ate, he offered to the gods. —*Vedic Age,* P. 457

Sura, an intoxicating spirituous liquor already known in the Rigvedic age is often mentioned. Though tolerated as an ordinary drinking (the drink of the people in the Sabha) it is condemned as leading to quarrels and as seducing men from the path of virtue like dicing and meat eating. —*Atharva Veda,* VI. 701

The Sautramani sacrifice is of the nature of an expiation or penance for an indulgence in sura. The method of its preparation can not be ascertained. Probably it was prepared from fermented grains and plants. —P. 457

हमने यह लम्बा उद्धरण 'वैदिक एज्' के लेखकों का दृष्टिकोण दिखाने के लिए दिया है । उनका कथन है कि यजुर्वेद-काल में जुआ एक लोकप्रिय मनोरंजन का साधन था । इसके सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश यजुर्वेद में पाये जाते हैं । अग्न्याधेय और राजसूय में जुआ खेला जाता है । सम्भवत: इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने वा इसे सीमित करने के लिए इसे धार्मिक क्रिया का रूप दे दिया गया हो ।

समीक्षा

वस्तुत: यह स्थापना अशुद्ध है । यजुर्वेद में कहां द्यूत वा जुए के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश दिये गये हैं इसका कोई प्रमाण 'वैदिक एज्' में नहीं दिया गया । बिना प्रमाण के केवल उनके कथन से किसी बात को कैसे माना जा सकता है, जब कि हम जानते हैं कि ऋग्वेद में एक सम्पूर्ण सूक्त (१०. ३४) इसी द्यूत की बुराइयां दिखाने के लिए है जिसमें इसके पासों के लिए यहां तक कह दिया गया है कि—

दिव्या अङ्गारा इरिणे व्युप्ता: शीता: सन्तो हृदयं निर्वहन्ति ॥ —१०. ३४. ९

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरत: क्व स्वित् ॥ —मं० १०

अर्थात् ये जुए के पासे अङ्गारों के समान हैं जो ऊपर से शीतल होते हुए भी हृदय को जलानेवाले हैं । जुआरी की पत्नी बड़ी दु:खित रहती है । उसकी माता इधर-उधर भटकती रहती है । उसकी सास भी उसके साथ द्वेष करने लगती है । पत्नी भी उसे रोकती है । कहीं उसे ऋणादि मांगने पर सुख देनेवाला कोई नहीं होता (न नापितो विन्दते मर्डितारम्) उसके माता, पिता, भ्राता तक कह देते हैं कि हम इसे नहीं जानते, इसे बांध दो, इत्यादि—

अन्त में स्पष्ट शब्दों में शिक्षा दी गई है कि 'अक्षैर्मा दीव्य:' —हे मनुष्य ! कभी जुआ मत खेल—

कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान: ।
तत्र गाव: कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्य: ॥ —ऋग्० १०. ३४. १

कृषि इत्यादि परिश्रम-साध्य कार्य कर और इस प्रकार धर्म और परिश्रमपूर्वक धन कमा। हे जुआरी ! ऐसा करने से ही तुझे उत्तम गौवें प्राप्त होंगी और पारिवारिक सुख प्राप्त होगा। यह ईश्वर का आदेश है। इतने स्पष्ट शब्दों में जिस वेद में जुए का निषेध हो, उसका अग्न्याधेय वा राजसूय में खेले जाने का यदि किन्हीं स्वार्थी पुरुषों ने विधान कर दिया हो तो वेदविरुद्ध होने के कारण वह सर्वथा अमान्य है। खेलने को तो धर्मराज माने जानेवाले युधिष्ठिर ने भी जुआ खेला था, पर उससे उसकी उपादेयता सिद्ध नहीं हो जाती। मिलने पर श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को कहा ही था कि—

नैतत्कृच्छ्रमनु प्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप। यद्यहं द्वारकायां स्यां, राजन् सन्निहितः पुरा॥
आगच्छेयमहं द्यूतम्, अनाहूतोऽपि पाण्डवैः।वारयेयमहं द्यूतं, बहून् दोषान् प्रदर्शयन्॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानम् एतत्काम समुत्थितम्। दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं, यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः॥

—महाभारत वनपर्व अ० १३

अर्थात् यदि मैं द्वारका में होता तो तुम्हें यह दुःख प्राप्त न होता, क्योंकि मैं बिना बुलाये भी जुए के स्थान में पहुंच जाता और इसके अनेक दोष दिखाकर सबको द्यूत से हटा देता। स्त्रियां, जुआ, शिकार और शराब पीना—ये चार काम से उत्पन्न दुःखदायक व्यसन हैं जिनसे मनुष्य शोभा और लक्ष्मी से भ्रष्ट हो जाता है।

ऐसा ही विचार सभी धर्मात्माओं का रहता है। अतः जिस किसी वेदविरोधी दुष्ट ने कभी जुआ खेला होगा, उस के आधार पर उसका समर्थन करना उचित नहीं है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि वैदिक काल में कोई धर्मात्मा जुआ खेलते थे और इसे अच्छा समझा जाता था। वेदों में उसका स्पष्ट निषेध तो 'अक्षैर्मा दीव्यः' इन शब्दों द्वारा है ही कि तू कभी जुआ न खेल।

मद्य का निषेध

जुए के समान वेदों में मद्यपान का भी स्पष्ट निषेध है—

सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकादिमभ्यंहुरो गात्। —ऋग्० १०. ५. ६

इस मन्त्र में जिन सात मर्यादाओं का निर्देश है और जिनके विषय में कहा गया है कि उनमें से एक का सेवन करने वाला पापी हो जाता है, उनमें मद्य का पान भी है। श्री यास्काचार्य ने निरुक्त (नैगमकाण्ड ६.५) में इन सात मर्यादाओं को इस प्रकार गिनाया है—

स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्यां, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यमिति।

इनमें चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, गर्भपात, असत्यभाषण, बार-बार बुरा कर्म करना, इनके साथ शराब पीने को भी गिनाया गया है।

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ — ऋ० ८. २. १२

इस मन्त्र में उपमा द्वारा बताया गया है कि शराबी लोग मस्त होकर आपस में नग्न होकर झगड़ा करते और अण्डबण्ड बकते हैं।

ऋग्० ७. ८६. ६ में उन वस्तुओं का निर्देश किया गया है जिनसे मनुष्य अधर्म में प्रवृत्त होता है, उन्हीं में सुरा (शराब) और (विभीदकः) जुए का भी परिगणन है—

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥

इस बात को 'वैदिक एज्' के लेखक ने भी—

Drink is condemned as leading to quarrels and as seducing men from the path of virtue like dicing and meat eating. —Atharva VI. 70. 1

लिखकर स्वीकार किया है । यहां जिस मन्त्र का निर्देश किया गया है और इन्हें 'वैदिक एज्' के अनुसार भी धर्म के मार्ग से हटानेवाला और लड़ाई-झगड़े में प्रवृत्त करानेवाला बताया गया है, वह है—

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने । अ० ६. ७०. १ ।

इसमें मांस, शराब और जुआ तीनों को एक कोटि में रखकर निन्दनीय और वर्जनीय बताया गया है, इसमें संदेह का कोई कारण नहीं ।

वेदों में मांस-निषेध

इस विषय के कुछ मन्त्रों को हम पहले उद्धृत कर चुके हैं । कुछ अन्यों का यहां उल्लेख करते हैं जिनमें हिंसा और तज्जन्य मांसादि का निषेध और सब पशुओं की रक्षा का उपदेश है । वे मन्त्र निम्नलिखित हैं—

१. **मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणध्वं राय आ तुजे ।**
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति ने देवासः कवत्नवे ॥ ऋग्० ७. ३२. ९ ॥

इसका अर्थ यह है कि हे (सोमिनः) शान्तियुक्त पुरुषो ! तुम (मा स्रेधत) हिंसा मत करो [स्रिध हिंसायाम्] ; सर्वविध बल के लिए प्रयत्नशील रहो । जो (तरणिः) रक्षक होता है वही जीतता है, सर्वत्र प्रेम से निवास करता और सबको पुष्ट करता है । (देवाः) सत्यनिष्ठ ज्ञानी (कवत्नवे न) हिंसादि कुत्सित आचार-व्यवहारवाले के लिए अथवा उसके समर्थक नहीं होते । कितनी उत्तमता से मन्त्र में हिंसा का निषेध किया गया है !

२. यजुः० १२. ३२ में उपदेश है—

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् । बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥

यहां मनुष्य को उपदेश है कि तू (बृहद्भिः भानुभिः) महान् ज्ञान-किरणों से प्रकाशित हो और (तन्वा) अपने शरीर से (प्रजाः मा हिंसीः) प्राणियों की हिंसा मत कर ।

३. अथर्व० ३. २८. १ में बताया गया है कि बुद्धि भ्रष्ट होने पर ही मनुष्य की पशुहिंसादि में प्रवृत्ति होती है—

यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥

अर्थात् (यत्र) जिस अवस्थाविशेष में (यमिनी) मनुष्य को नियम में रखनेवाली बुद्धि (अपर्तुः जायते) भ्रष्ट हो जाती है—बिगड़ जाती है तब वह पशुओं को शस्त्राघात से मारती तथा अन्य उपायों से हत्या करती हुई पशुओं को नष्ट करती है ।

४. धर्मात्मा सब पशुओं की रक्षा करते हैं—इसका उपदेश अथर्व० १९. ४८. ५ में इस प्रकार आया है—

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥

अर्थात् जो धर्मात्मा रात्रि में ध्यानादि योगाभ्यास करते हैं, सब प्राणियों के विषय में जो सदा सावधान रहते हैं, वे इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि किसी पशु को हमारे व्यवहार से कष्ट न पहुंचे।

५. अथर्व० अ० १७.४ में यह प्रार्थना प्रत्येक मनुष्य को करने को कहा गया है कि—

'प्रियः पशूनां भूयासम्।'

अर्थात् मैं पशुओं का प्यारा बनूं। जो पशुओं की रक्षा करता और उन्हें प्रेम-दृष्टि से देखता है, वही उनका प्रिय बन सकता है, न कि उन्हें मारनेवाला। यह बात स्पष्ट है।

६. **दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।**
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

—यजुः० ३६. १८

इस मन्त्र का हम पहले कई बार उल्लेख कर चुके हैं। इसे भी इस प्रकरण में फिर स्मरण कर लेना चाहिए कि वेद का उपदेश सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने का है, फिर उनको मारकर या मरवाकर मांस खाने का तो प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ?

७. मांस-भक्षण करनेवाले क्रव्यादों को वेद यातुधान बताता और उन्हें दण्ड देने का विधान करता है—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥

—ऋग्० १०. ८७. १६

जो पुरुष के मांस का सेवन करता है, जो घोड़े का या अन्य पशु का मांस खाता और गौओं की हत्या करके उनके दूध से अन्यों को वंचित करता है, हे राजन्! यदि अन्य उपायों से ऐसा यातुधान (हिंसक-राक्षस वृत्ति का पुरुष) न माने तो अपने तेज से उसके सिर तक को काट डाल, यह अन्तिम दण्ड है जो दिया जा सकता है।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः। गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥

—अथर्व० ८. ६. २३

इस मन्त्र में कहा है कि जो कच्चा मांस खाते हैं, जो पुरुषों द्वारा पकाया हुआ मांस खाते हैं, जो गर्भरूप अण्डों का सेवन करते हैं, उनके इस दुष्ट व्यसन का नाश करो।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदों में मांस-भक्षण का निषेध है। इसके विरुद्ध जहां कहीं कुछ लिखा गया हो वह अमान्य है।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते।

यह मन्त्र मांसभक्षण-निषेध की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः इसका सायणाचार्यकृत भाष्य भी उद्धृत किया जाता है—

यः यातुधानः—राक्षसः (पौरुषेयेण क्रविषा) पुरुषसम्बन्धिना मांसेन (समङ्क्ते) आत्मानं संगमयति (यश्च अश्व्येन) अश्वसमूहेन तदीयेन मांसेनेत्यर्थः आत्मानं संगमयति यो वा यातुधानः अन्येन पशुना आत्मानं संगमयति यो वा यातुधानः (अघ्न्यायाः) गोः (क्षीरम्) दुग्धम् (भरति) हरति, हे अग्ने! त्वं तेषां सर्वेषामपि राक्षसानाम् (शीर्षाणि) शिरांसि (हरसा) त्वदीयेन तेजसा (वृश्च) छिन्धि।

इसका अर्थ वही है जो हम दे चुके हैं।

ऋग्वेद १०. ८७ में यातुधानों अथवा राक्षसों के स्वभाव का वर्णन है। उसमें ३.४ स्थानों पर 'क्रव्यादः' इस विशेषण का प्रयोग है जिसका अर्थ मांसभक्षक है। 'यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते' यह मन्त्र उसी सूक्त का है जिसका सायणभाष्य-सहित हमने उल्लेख किया है। उसी सूक्त के निम्न दो मन्त्रों का उल्लेख भी इस प्रसङ्ग में आवश्यक प्रतीत होता है। मन्त्र २ निम्न है—

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुपस्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्वासन्॥

इसका सायणभाष्य निम्न है—

हे (जातवेदः) जातधन जातप्रज्ञ वा त्वं सम्यग्दीप्तः तीक्ष्णदंष्ट्रः सन् (यातुधानान्) राक्षसान् (अर्चिषा) ज्वालया संदह। किं च त्वं (मूरदेवान्) मूढ़देवान् मारकव्यापारान् राक्षसान् (जिह्वया) ज्वालया (रभस्व) मारयस्वेत्यर्थः। मारयित्वा च (क्रव्यादः) मांस भक्षकान् राक्षसान् (वृक्त्वी) छित्वा (आसन्) आस्ये (पिधत्स्व) अपिधेहि आच्छादयेत्यर्थः॥

यहां भी क्रव्याद् अर्थात् मांसभक्षकों को राक्षस कहा गया है; और यदि ज्ञानी ब्राह्मणों के समझाने पर भी वे न मानें तो अन्तिम दण्ड के रूप में उनके नाश का विधान है। मं० १९ में कहा है—

१०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनुदह सहमूरान् क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर वा ज्ञानी ब्राह्मण ! तू राक्षसों का सदा नाश करता है। तेरे आगे वे ठहर नहीं सकते। हिंसक व्यापारवाले मांसभक्षकों को अथवा उनके इस मांसभक्षणादि के दुर्व्यसन को जला दे। वे तेरे इस दिव्य अस्त्र से न बचें, उन पर भी तेरा प्रभाव अवश्य पड़े।

सायणः—स त्वम् अधुना अन्वनुक्रमेण (सहमूरान्) मूलेन सहितान् मारकव्यापारेण युक्तान् (क्रव्यादः) मांसभक्षकान् (दह) तेजसा भस्मीकुरु किंच तव सम्बन्धिनो दिव्यादायुधात् ते यातुधाना मुक्ता मा भूवन्॥

यह मन्त्र स्पष्टतया मांसाहार-निषेधक और मांस को राक्षस-भोजन बतानेवाला है। यह ऋग्वेद १०.८७.१९, सामवेद मं० ८० और अथर्व० ५. २९. ११ और ८. ३. १८ में आया है। तीन वेदों में इसका आना वेदों की मांसनिषेधविषयक आज्ञा पर बल देने के लिए है।

११. अथर्व० ५. २९. १० में भी क्रव्याद् अर्थात् मांसभक्षक को पिशाच बताते हुए उसके समझाने-बुझाने पर भी न मानने पर अन्तिम दण्ड तक देने का विधान है। मन्त्र निम्न है—

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः॥

इस प्रकरण में यह बात समझ लेनी चाहिए कि केवल मांसभक्षण करने पर प्राणदण्ड का विधान नहीं, किन्तु जो मांसभक्षक होकर हिंसक व्यापारवाले हों, समाज और राष्ट्र के विघातक हों उनके लिए यह अन्तिम दण्ड है। तथापि इन मन्त्रों से यह अवश्य सिद्ध होता है कि वेदों के अनुसार मांसभक्षण राक्षसों और पिशाचों का निकृष्ट भोजन है, न कि आर्यों अथवा उत्तम जनों का। इसलिए मनुस्मृति ११. ९५ में कहा है कि—

यक्षरक्षः पिशाचान्नं, मद्यं मांसमथासवम् ॥

अर्थात् मद्य-मांसादि यक्षों, राक्षसों और पिशाचों का अन्न है। उसे उत्तम पुरुषों को कभी ग्रहण न करना चाहिए।

१२. ऋग्० ७.१०४.२ के—

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने।

इस मंत्र की निरुक्त अ० ६, पाद ३, खं० ११ में भी व्याख्या आई है (ब्रह्मद्विषे) ब्राह्मणद्वेष्ट्रे (क्रव्यादे) क्रव्यमदते, क्रव्यं विकृत्ताज्जायते इति नैरुक्ताः (घोरचक्षसे) घोरख्यानाय (द्वेषः) (धत्तम्) (अनवायम्) अनवयवम् यदन्ये न व्यवेयुरद्वेषस इति वा (किमीदिने) पिशुनाय।

यहां राजा और न्यायाधीशादि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों के साथ द्वेष रखनेवाले, मांस-भक्षक, बुरी दृष्टि वाले, कमीने और पिशुन व्यक्ति के प्रति सज्जनों से अनुमोदित विरोध रखो। उनके दुर्व्यसनों को दूर करने का प्रयत्न करो। दो और मन्त्रों का उल्लेख करके, जिनमें चावल, जौ, माष, तिल आदि उत्तम अन्न के सेवन का और पशुओं के दूध को ही (न कि मांस को) सेवन करने का उपदेश है, हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

१३. अथर्व० ६. १४०. २ में स्पष्ट उपदेश है—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥

तुम स्त्री-पुरुष (व्रीहिम्) चावल (यवम्) जौ (माषम्) माष (अथो तिलम्) तिल ऐसे ही उत्तम सात्विक पदार्थों को (अत्तम्) खाओ (रत्नधेयाय) उत्तम बुद्धि तथा आरोग्य के धारण करने के लिए (एष वां भागो निहितः) यही तुम्हारे लिए भाग, भजनीय वा सेवनीय आहार नियत किया गया है। अपने माता-पिता आदि मान्य जनों की कभी हिंसा न करो। भजनीय वा सेवनीय पदार्थों में चावल, जौ, माष, तिलादि की गणना है जो बिना हिंसा के प्राप्त होते हैं, मांस की नहीं।

१४. **पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।**
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥ —अ० १९. ३१. ५

इस मन्त्र में भी कहा गया है कि मैं पशुओं की पुष्टि वा शक्ति को अपने अन्दर ग्रहण करता हूं और धान्य का सेवन करता हूं। सर्वोत्पादक ज्ञानदायक परमेश्वर ने मेरे लिए यह नियम बनाया है कि (पशूनां पयः) गौ, बकरी आदि पशुओं का दुग्ध ही ग्रहण किया जाये, न कि मांस; तथा आरोग्य के लिए ओषधियों के रस का सेवन किया जाये। यहां भी 'पशूनां पयः बृहस्पतिः मे नियच्छात्' अथात् ज्ञानप्रद परमेश्वर ने मेरे लिए यह नियम बना दिया है कि मैं गवादि पशुओं का दूध ही ग्रहण करूं, स्पष्टतया मांसनिषेधक है।

१५. अथर्व० ८. २. १८ में व्रीहि और यव अर्थात् चावल और जौ (ये धान्यों के उपलक्षण हैं) के विषय में कहा है कि—

शिवौ ते स्तां ब्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं विबाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥

हे मनुष्य ! तेरे लिए चावल, जौ आदि धान्य कल्याणकारी हैं। ये रोगों को दूर करते हैं और सात्त्विक होने के कारण पाप-वासना से दूर रखते हैं।

इनके विरुद्ध मांस पाप-वासना को बढ़ानेवाला और अनेक रोगोत्पादक है। अतः मांस शब्द की जो व्युत्पत्ति निरुक्त अ० ४ पाद १ खं० ३ में बताई गई है उसमें कहा गया है—

मांसं माननं वा, मानसं वा, मनोऽस्मिन्, सीदतीति वा ॥

मांस इसलिए कहते हैं कि यह मा+अननम् है अर्थात् इससे दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत यह आयु को क्षीण करनेवाला है। (मानसं वा) यह हिंसाजन्य होने से मानस पापों को प्रोत्साहित करनेवाला होता है। (मनोऽस्मिन् सीदतीतिं वा) जिसमें भी मनुष्य का मन लग जाये, जो मनपसन्द हो ऐसे पदार्थ को मांस कह सकते हैं। इसीलिए परमान्न वा खीर तथा फलों के गूदे इत्यादि के लिए मांस शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर आता है जैसा पहले सप्रमाण दिखाया जा चुका है। इस प्रकार मांस की अभक्ष्यता वेदों के प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होती है। इनके विरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों, स्मृतियों, गृह्यसूत्रों, श्रौत वा कल्पसूत्रों तथा महाभारतादि में जहां कहीं दिखाई दें, उन्हें वेदविरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक समझना चाहिए। 'वैदिक एज्' के लेखकों ने शतपथ ब्राह्मण के नाम से जो यह बात लिखी है कि अतिथि के आने पर बड़े बैल अथवा बकरे को मारा जाये, वह वहां नहीं पाई जाती। याज्ञवल्क्य स्मृति में 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' ऐसा पाठ मिलता है जिसका मिताक्षरा टीका में अर्थ किया है कि—

बड़ा बैल या बकरा वेदपाठी के अर्पण करें। यहां मारने का कोई विधान नहीं। वस्तुत: उक्षा और अज शब्दों पर हम पहले विस्तृत विचार करके दिखा चुके हैं कि उनसे सोम नामक ओषधि और 'अजास्तावद् व्रीहय: साप्तवार्षिका: कथ्यन्ते' (पंचतन्त्र काकोलूकीय) इत्यादि के अनुसार पुराने चावल का ग्रहण करना चाहिए।

'वैदिक एज्' के लेखक कहते हैं कि मांस का सेवन यज्ञों के अवसरों पर किया जाता था, पर ऐसे अवसर प्राय: प्रतिदिन आते रहते थे। इसके सम्बन्ध में हम पहले सप्रमाण बता चुके हैं कि यज्ञ जैसे पवित्र कर्म के साथ तो मांस का घोर विरोध है। शत० ६.२ में स्पष्ट लिखा है कि—

न मांसमश्नीयात्, यन्मांसमश्नीयात् यन्मिथुनमुपेयादिति न त्वेवैषा दीक्षा ॥

यज्ञ की दीक्षा लेनेवाले को मांस न खाना चाहिए। यदि वह मांस खाय और स्त्री-संभोग करे तो वह दीक्षा ही नहीं कहाती।

तैत्तिरीय १. १. ९. ७-८ में भी कहा है कि—

न मांसमश्नीयात्, न स्त्रियमुपेयात्। यन्मांसमश्नीयात् यत् स्त्रियमुपेयात् निर्वीर्य: स्यात् ॥

अर्थात् मांस न खाये और न स्त्री-संभोग करे। जो यज्ञ के अवसर पर भी मांस खाये और स्त्री-संभोग करे तो मनुष्य निर्वीर्य हो जाता है।

इस प्रकार ताण्ड्य महाब्राह्मण १७. १३. ६. ११. १४ में कहा है कि—

अहतं वसानोऽवभृथादुदैति चतुरो मासो न मांसमश्नाति, न स्त्रियमुपैति।

अर्थात् यजमान शुद्ध कोरे वस्त्रों को धारण करता है; न मांस खाता है और न यज्ञ के चार मासों तक स्त्री-संभोग करता है, इत्यादि।

इस प्रकार 'वैदिक एज्' के लेखकों के इस लेख की भी अयथार्थता सिद्ध होती है कि वैदिक आर्य बैल, बकरी, भेड़ इत्यादि पशुओं का यज्ञों के अवसर पर विशेष रूप से मांस खाते थे। जैसा हम वेदों के प्रबल और स्पष्ट प्रमाणों से दिखा चुके हैं, मांसभक्षण राक्षसों और पिशाचों का काम माना गया है; वह सर्वथा वर्जनीय और वेदविरुद्ध है। इस प्रकार इस आवश्यक विषय पर प्रकाश डालकर हम इस अध्याय को समाप्त करते हैं।

उपसंहार

हमने इस ग्रन्थ को १० अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय के ३ खण्डों में हमने क्रमशः प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन विद्वानों के वेद-विषयक मत का उल्लेख करके उसका निष्पक्ष भाव से विवेचन किया है।

द्वितीय अध्याय में वेदों के महत्त्व और उसके कारणों का निर्देश करते हुए पारसी, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम इत्यादि भिन्न-भिन्न मतावलम्बी निष्पक्ष विद्वानों द्वारा वेदों के प्रति समर्पित श्रद्धांजलियों का संग्रह किया गया है।

तृतीय अध्याय में 'वैदिक एज्' के लेखकों तथा अन्य अनेक विद्वानों के इस मत का सप्रमाण निराकरण किया गया है कि ऋषि वेदमन्त्रों के कर्ता थे। यह सिद्ध किया गया है कि वे मन्त्रों के द्रष्टा अथवा उनके रहस्यों के प्रकाशक और प्रचारक थे।

चतुर्थ अध्याय में देवताओं के विषय में विस्तृत विचार करते हुए सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि वेदों में विशुद्ध रूप में एकेश्वर-पूजा का ही प्रतिपादन है। वेद अनेकेश्वरवाद, हीनोथीइज्म अथवा अद्वैतवाद के प्रतिपादक नहीं।

पंचम अध्याय में वैदिक यज्ञों के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए 'वैदिक एज्' तथा तत्सदृश साहित्य में प्रकाशित इस विचार का सप्रमाण निराकरण किया गया है कि वैदिक यज्ञों में पशुओं की बलि देने का विधान है। अश्वमेध, नरमेधादि का वास्तविक अर्थ भी बताया गया है।

षष्ठ अध्याय में 'वैदिक एज्' में से अनेक उद्धरण देकर यह बताया गया है कि यह एक सन्दिग्ध और सन्देहजनक पुस्तक है।

सप्तम अध्याय में वेदोत्पत्ति-काल-विषयक अनेक अटकलपच्चू कल्पनाओं का निर्देश करते हुए और उनकी परस्पर-विरुद्धता दिखाते हुए सिद्ध किया गया है कि वेद सबसे प्राचीन और नित्य हैं।

अष्टम अध्याय में आर्य, दस्यु, दास, द्राविड़ आदि शब्दों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि आर्यों और दासों व दस्युओं में कोई जातिकृत भेद नहीं। आर्य और द्राविड़ भाषाओं के सम्बन्ध का भी पर्याप्त विस्तार से निरूपण किया गया है।

नवम अध्याय में 'वैदिक एज्' के लेखकों द्वारा किये गये वेदों की काट-छांट के प्रयत्न को नितान्त अनुचित बताते हुए उनकी समालोचनाओं का सप्रमाण उत्तर दिया गया है।

दशम अध्याय में 'वैदिक एज्' तथा तत्सदृश साहित्य में वैदिक शिक्षाओं के विषय में जो अशुद्ध विचार प्रकट किये गये हैं—पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अभाव, अथर्ववेद में जादू-टोने, वेदों में मांस, मद्य-द्यूत आदि का विधान, बहुविवाह, इत्यादि, उनका सप्रमाण विवेचन किया गया है। □

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना सभी आर्यों का परम धर्म है।

—ऋषि दयानन्द